श्री बाबू दुर्गाप्रसाद अध्यक्ष के प्रबन्ध से
श्रीदुर्गा प्रिंटिङ्ग प्रेस, धानमण्डी,
, अजमेर में मुद्रित.

* ओ३म् *

भाष्यकार की संक्षिप्त भूमिका

अथर्ववेद अर्वाचीन है ?

जगत् प्रसिद्ध चारों वेदों में चतुर्थ वेद अथर्ववेद है। बहुत से विद्वानों को इस अथर्ववेद के वेद होने में संदेह है। उनकी सम्मति में यह वेद तीन के बाद बना है। वे युक्ति देते हैं कि प्राचीन ग्रन्थों में बहुत से स्थानों पर केवल तीन वेदों का वर्णन आया है। जैसे ऐतेरय ब्राह्मण में "त्रयो वेदा अजायन्त।" तैत्तिरीय ब्राह्मण में 'वेदैरशून्यस्त्रिरेति सूर्यः।' 'यम् ऋष्य-स्त्रयीविदो विदुः ऋचः सामानि यजूंषि।' इत्यादि। परन्तु उनका इस प्रकार उद्धरणमात्र को युक्ति रूप से देना असंगत है क्योंकि उन्हीं ग्रन्थों में चारों वेदों का उल्लेख भी है। जैसे मुण्डक उपनिषत् में—'तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो' इत्यादि बृहदारण्यक (शतपथ) में—'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः।' इति।

तीन और चार संख्या की विषमता का समाधान यही है कि 'वेद-त्रयी' शब्द के प्रयोग के दो अभिप्राय हैं, एक तो यज्ञ का कर्म काण्ड प्रथम तीन वेदों से किया गया और चतुर्थ-वेद के ज्ञाता ब्रह्मा का यज्ञ में कोई कर्म विधान नहीं है। वह केवल साक्षी मात्र मौन होकर रहता है। अतः यज्ञ कर्म के सम्बन्ध में तीन वेदों का ही उल्लेख किया जाता है। तीन वेदों के कहने का दूसरा अभिप्राय यह है कि जैमिनीय मीमांसा के अनु-सार वेद की रचना तीन प्रकार की है, प्रथम 'ऋक्' जिसमें चरणों की व्यव-स्था है। द्वितीय 'साम' अर्थात् गीति या गायन प्रकार और तीसरी 'यजुः'

अर्थात् सामवेद, परन्तु क्योंकि ऋग्वेद का ज्ञाता होता, यजुर्वेद का ज्ञाता अध्वर्यु और साम का ज्ञाता उद्गाता और अथर्ववेद का ज्ञाता ब्रह्मा चारों ही मिलकर यज्ञ में भाग लेते हैं इसलिये ब्रह्मा सम्बन्धी ब्रह्मवेद या अथर्ववेद को हम वेदों की गणना में से बाहर नहीं निकाल सकते और न कोई ऐसा प्रमाण/लिखा मिलता है कि जिसमें बने ग्रन्थ में तीन वेदों का वर्णन हो और चौथे का कहीं उल्लेख न हो। जिन तैत्तिरीय आदि याजुष शाखा के ग्रन्थों में तीन वेदों का उल्लेख है उनमें ही 'अथर्वाङ्गिरोविद्' ब्रह्मा को वरण करने और उसके वेद को भी स्वीकार किया गया है। जैसे ऐतरेय ब्राह्मण में यज्ञ के दो भाग बतलाये हैं एक वाणी और दूसरा मन। वाणी अर्थात् त्रयी विद्या से आधा यज्ञ और मन से शेष आधा यज्ञ ब्रह्मा द्वारा सम्पादित होता है। इसके अतिरिक्त अथर्व-वेद के मन्त्रों में भी जैमिनीय प्रोक्त वेद के लक्षणों का ऋक्, साम, यजुः, पादव्यवस्था, गान, और गद्य उपलब्ध होने से अतः उसकी वेदता में कोई संदेह नहीं है। जिनको फिर भी सन्देह हो उनके निवृत्ति के लिये इतना लिखना पर्याप्त होगा कि चारों वेदों की परमात्मा या 'यज्ञ' प्रजापति से उत्पत्ति हुई है, इसका निदर्शक निम्नलिखित वेद का मन्त्र प्रमाण है—

तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्मात् यजुस्तस्माद् अजायत॥

ऋ० १० । ९ । ८ ॥ यजु० ३१ । ७ ॥ अथर्व० १७ । ६ । १३ ॥

इसी का अनुवाद करने हारा 'स्कम्भ' ब्रह्म-विषयक मन्त्र यह है—

यस्मादृचोऽपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन्।
सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखम्।
स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥ अथर्व० १० । ७ । २० ॥

उपरोक्त दोनों मन्त्रों से चारों वेदों का नाम निर्देश प्राप्त होता है। जब वेद के ही भीतर चारों का नाम उल्लेख है तब उसके व्याख्यान रूप ब्राह्मण

ग्रन्थ जो अत्यन्त अर्वाचीन ग्रन्थ हैं उनमें लिखे ' त्रयी ' शब्द से भ्रम में पड़ना ठीक नहीं है। वेद ने अथर्व-वेद का ग्रहण ' छन्दस् ' और ' अथर्वाङ्गिरस' दोनों नामों से किया है। जिन पाश्चात्यों के मत में ' त्रयी ' शब्द से केवल ऋक् , यजु, साम संहितायें ली जाती हैं और अथर्व अर्वाचीन मान लिया गया है वे बहुत ही भ्रम में है। क्योंकि प्राचीन किसी भी ग्रन्थ में वे वैसा नहीं दिखा सकते। और उनको ध्यान में रखना चाहिये कि 'त्रयी' नाम केवल तीन प्रकार की रचना भेद से है। कोई कहते हैं कि पाणिनि ने ' अथर्व ' का नाम नहीं लिया इसलिये ' अथर्ववेद ' अर्वाचीन है। यह भी उनका भ्रम है जिस प्रकार शाकलादि शाखाओं का नाम ऋग्वेद प्रसिद्ध हैं उसी प्रकार शौनकादि संहिताओं का नाम अथर्ववेद प्रसिद्ध है। पाणिनिने ' शाकलाद्वा ' (पा० ४ । ३ । १२८) और ' शौनकादिभ्यश्छन्दसि ' (पा० ४ । ३ । १०५) दोनों ही सूत्रों में से ऋग्वेद और अथर्ववेद दोनों की शाखाओं का उल्लेख किया है। बल्कि अथर्ववेद पर प्रसिद्ध कौशिक सूत्र का भी पाणिनि को ज्ञान था जैसा ' काश्यपकौशिकाभ्यां णिनिः । ' पा० ४ । ३ । १०३ ॥ सूत्र से विदित होता है। उसको अथर्व-वेद का भी ज्ञान था इसका पता ' आथर्वणिकस्येकलोपश्च । ' पा० ४ । ३ । १३३ ॥ इस सूत्र से पता लगता है। वहां ' आथर्वणिकानां धर्म आम्नायो आथर्वणः ' ऐसा ' आथर्वण ' शब्द सिद्ध किया है। इससे भी पूर्व निरुक्तकार यास्क तक ने अथर्व-वेद के मन्त्रों के प्रतीक दिये हैं जैसे—' शतं जीव शरदो वर्धमानः ' (निरु० १२ । ४ । ७ ॥) ' एकं पाद नोत्खिदति ' (निरु० १२ । ३ । १०) अथर्व० ११ । ६ । १ ॥ इसी प्रकार अथर्व और अंगिरा ऋषि प्रोक्त अथर्व के अनेक मन्त्र चारों वेदों में स्थल २ पर आये हैं जो पाठक प्रस्तुत ग्रन्थ में साथ दी तालिका से जान लेंगे।

वर्तमान की चारों वेद संहिताएं यज्ञ कांड के चार मुख्य स्कन्धरूप चार ऋत्विजों के भिन्न संहिताएं हैं, जैसे ऐतरेय ब्रा० (५ । ३३) में लिखा है

'ऋचा एव हौत्रं क्रियते, यजुषा आध्वर्यवं, साम्ना औद्गात्रं, अथ केन ब्रह्मत्वं क्रियते त्रय्या विद्यया इति ब्रूयात्।' अर्थात् होता का कार्य ऋग्वेद से, अध्वर्यु का कार्य यजुर्वेद से, उद्गाता का कार्य सामवेद से और ब्रह्मा का कार्य तीनों से किया जाता है। गोपथ ब्राह्मण में और भी स्पष्ट किया है कि 'अथर्वाङ्गिरोभिर्ब्रह्मत्वम्' अर्थात् ब्रह्मा का कार्य अथर्वाङ्गिरस वेद से किया जाता है। इस प्रकार चतुष्पाद् यज्ञ का निष्पादन करने के लिये संहिताएं चार प्रकार की प्रतीत होती हैं। इसके अतिरिक्त कर्म-काण्डप्रोक्त यज्ञ भी परम पुरुष का कर्ममय स्वरूप है। जब कर्मकाण्ड के एक चरण को करने के लिये ब्रह्मा और उसकी संहिता ब्रह्मवेद आवश्यक है तब यह यज्ञ जिस महान् परम पुरुष का प्रतिनिधि है उस का वर्णन करने के लिये भी 'ब्रह्मवेद' की आवश्यकता है। जब परमेश्वर स्वयं-प्रकाश है तो उसका वर्णन करने के लिये भी अपौरुषेय संहिताओं की ही आवश्यकता है। ऋषिगण तो उन संहिताओं के द्रष्टा, प्रयोक्ता और व्याख्याता मात्र हैं। और जिन महानुभावों को यह संदेह हो कि परमात्मा का प्रतिनिधि यज्ञ भी अथर्ववेद के बाद की कल्पना होगी उनको ऋग्वेद के नीचे लिखे मन्त्र का मनन करना चाहिये।

इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्या अयं सोमो वृष्णो अश्वस्य रेतः।
अयं यज्ञो विश्वस्य भुवनस्य नाभिर्ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम॥

अथर्व० ९। १०। १४॥

इस मन्त्र में विशाल यज्ञ का वर्णन यज्ञ को प्रतिनिधि रूप दर्शाते हुए किया है। और ब्रह्मा को समस्त वाणी (वेदवाणी) का 'व्योम'=स्थान बतलाया है, इसी प्रकार प्रजापति की महान् महिमा रूप ओदन वर्णन में—

ऋचा कुम्भी अधिहितार्त्विज्येन प्रेषिता॥ १४॥
ब्रह्मणा परिगृहीता साम्ना पर्यूढा॥ १५॥

अथर्व० ११। ३। १४, १५।

चारों वेदों का स्पष्ट वर्णन किया गया है। यहां 'ब्रह्म' शब्द से ब्रह्मवेद का ग्रहण है, ऋक् से ऋग्वेद का, आर्त्विज्य [ऋतु+यज्+य] से यजुर्वेद और साम से सामवेद का ग्रहण है। इसी प्रकार अथर्ववेद का वर्णन आप अथर्व० ११। ६। १३, १४॥ में भी पायेंगे।

इसके अतिरिक्त ऋग्वेद के ऋषियों पर दृष्टि डालिये तो वेन भार्गव [ऋ० ६। ८५] भृगु वारुणि [६। ६५] विरूप आंगिरस [ऋ० ८। ७६] च्यवन भार्गव [१०। १९] कवि भार्गव [ऋ० ६। ४७—४६] अष्टादंष्ट्र वैरूप [ऋ० १०। १११] नभःप्रभेदन वैरूप [१०। ११२] मूर्धन्वान् आङ्गिरस [१०। ८८] बृहद्दिव आथर्वण [१०। १२०] ... आंगिरस [५। १५] प्रभूवसु आंगिरस [ऋ० ५। ३५—३६] ... हिरण्यस्तूप आंगिरस [ऋ० १। १। ३१—३५] सव्य आंगिरस [... १। ५१—५६] सोमाहुति भार्गव [१। २। ५—६] आंगिरस ... की पत्नी शश्वती [ऋ० ८। १। ३४] इत्यादि अन्यान्य अथर्वा और अङ्गिरा गोत्रों के विद्वान् ऋग्वेद के ऋषि हुए हैं। यदि योरोपीयन विद्वानों का मत मान लें कि ये ऋषि ऋचाओं के कर्त्ता हैं, 'द्रष्टा' नहीं तब तो अथर्वा और अङ्गिरा और उनके वंशजों के बनाये अथर्ववेद की सत्ता ऋग्वेद के निर्माणकाल में ही सिद्ध हो जाती है। फलतः योरोपीयन लोगों का अथर्ववेद को ऋग्वेद के बाद का मानना उनके अपने मन्तव्य के अनुसार भी ठीक नहीं बैठता। हमारे मन्तव्य के अनुसार तो वे चारों वेद परमेश्वर के ज्ञान हैं और नित्य हैं, उनके मन्त्रों का साक्षात्कार ऋषियों ने किया है और उनके नाम मन्त्रों के साथ आदरार्थ जुड़े हैं।

बहुतसों का यह विचार है कि अथर्ववेद को बाद में अन्यवेदों से संगृहीत इस लिये मान लेते हैं कि उसमें अन्यवेदों के मन्त्र भी आये हैं, यदि संग्रह नहीं तो वे मन्त्र ज्यों के त्यों कैसे हैं। बहुत ठीक। परन्तु प्रश्न यह है कि

क्या भिन्न २ विचारकों के मस्तिष्कों में एक ही ज्ञान या विचार वैसा का वैसा ही आसकता है या नहीं ? यदि आ सकता है। तब तो एक ही ईश्वरीय ज्ञान (मन्त्र) दो मन्त्र द्रष्टाओं (विचारकों) के दिमाग में आगया इसमें विवाद ही नहीं। यदि कहें नहीं आता। तो यह माना नहीं जा सकता। आत्मा और शरीर के विषय में योरोपीयन तत्वज्ञ बर्गसन् और पूर्वी आचार्य वात्स्यायन के विचारों की तुलना करके देखलें। यदि दोनों की भाषाओं में भेद न होता तो प्रायः एक ही वाक्यधारा दोनों के मुख से या लेखनी से निकलती। परन्तु आर्षकाल में वेद की भाषा एक थी इस लिये उसके साक्षात् कर्त्ता ऋषियों ने उसका साक्षात्कार करके जब उपदेश किया तो स्थल २ पर एक समानता आ जाना क्या असम्भव है, अस्तु अब हम पुनः प्रकृत विषय पर आते हैं।

अथर्ववेदसंहिता

हमारे पास जो अथर्ववेद संहिताएं उपलब्ध हैं वे निम्नलिखित हैं—

(१) लीथो की छपी अथर्ववेद मूलसंहिता।

(२) अजमेर वैदिकयन्त्रालय में मुद्रित अथर्ववेदसंहिता।

(३) निर्णयसागर बम्बई में प्रकाशित अथर्ववेदसंहिता जिसका सम्पादन श्री पं० शङ्कर पाण्डुरंग एम. ए. ने सायणभाष्य सहित किया है।

(४) श्री क्षेमकरणदासजी त्रिवेदी (मेरठ) द्वारा मुद्रित निज भाषाभाष्य सहित। इन संहिताओं के अतिरिक्त अमेरिका की हार्वर्ड यूनिवर्सिटी द्वारा प्रकाशित पण्डित ह्विटनीकृत अथर्ववेद का आंग्लभाषानुवाद और उस पर पं० लैन्मन कृत विशेष टिप्पणी। एवं पं० ग्रीफ़िथ कृत आंग्लभाषानुवाद और उनकी स्वरचित टिप्पणियों से भी अथर्ववेद के मन्त्रों के नाना पाठभेद ज्ञात हुए हैं जिनका उल्लेख हमने अपने भाष्य की पाद-टिप्पणियों में प्रत्येक मन्त्र पर कर दिया है।

इसें इस संहिता के विषय में भी बहुत सा मतभेद दिखाई देता है। विशेष कर योरोपीयन विद्वानों ने अथर्ववेद संहिता के परिमाण पर बड़ी २ उलझी हुई शंकाएं उठाई हैं।

ह्विटनी के अनुवाद के भूमिका लेखक पं० लैन्मन ने लिखा है कि प्रथम १८ काण्ड तो अथर्ववेद संहिता के मूल हैं और १९, २० काण्ड पीछे से मिलाये गये हैं। आपकी युक्ति है कि—

(१) २० वां काण्ड केवल ऋग्वेद से संग्रह किया गया है। और अथर्ववेद से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। इसका प्रयोजन अनुमान से कल्पना किया जा सकता है।

(२) १९ वां काण्ड यह तो साफ़ परिशिष्ट है युक्ति यही कि इसका पाठ बहुत बिगड़ा हुआ है और पदपाठ भी इसका नवीन प्रतीत होता है।

(३) १ से १८ कांडों तक तो प्रपाठकों का क्रम मिलता है आगे प्रपाठक क्रम नहीं हैं।

(४) पुरानी अनुक्रमणी १८ काण्ड तक ही मिलती है।

(५) कौशिक सूत्रों में १९ वें और २० वें काण्ड के विनियोग नहीं लिखे।

(६) पन्चपटलिका और उसके भाष्यकार ने भी अथर्ववेद का वर्णन १ से १८ तक ही किया है।

(७) पैप्पलाद शाखा में १९ वें काण्ड के मन्त्र तो बहुत से उपलब्ध होते हैं परन्तु २० वें काण्ड का कुछ भी उपलब्ध नहीं होता।

इसके अतिरिक्त पण्डित ग्रीफ़िथ महाशय ने तो ऋग्वेदादि तीनों वेदों का परिशिष्ट अथर्ववेद को माना है। साथ १९, २० दोनों काण्डों को परिशिष्ट या अर्वाचीन कहने में आपने एक और युक्ति दी है। अर्थात्—

(८) अथर्वप्रातिशाख्य में उनका वर्णन नहीं है।

योरोपीयन विद्वानों ने अथर्ववेद के परिमाण पर जो इतना विवाद उठाया है यह विवाद भारतीय विद्वानों ने कभी भी नहीं किया। इन सब के दादागुरु आचार्य सायण ने भी अथर्ववेद की शौनकीय शाखा के भाष्य करने के पूर्व इस प्रकार से १९, २० काण्डों को परिशिष्ट नहीं माना। संक्षेप से हम उपरोक्त युक्तियों पर विचार करते हैं।

(१) १९, २० काण्डों को ऋग्वेद से संग्रह किया गया है और शेष अथर्ववेद से कोई सम्बन्ध नहीं। क्या अच्छी युक्ति है। क्या १८ वें काण्ड के सूक्तों में ऋग्वेद से संग्रह किया नहीं प्रतीत हुआ? और इसी प्रकार पूर्व के काण्डों में भी कितने ही सूक्त संगृहीत कहे जा सकते हैं। तो फिर १८ वें को अथर्ववेद का मानना और १९ वें को पीछे का बनाया मानना हास्यजनक प्रतीत होता है। रही सम्बन्ध की बात, सो ह्विटनि ने हमें पूर्व १८ काण्डों तक में भी किसी एक सूक्त का दूसरे सूक्त से सम्बन्ध तक नहीं दर्शाया। फिर १८ वें पर यह दोष देना एक बाल-बुद्धि का परिचय कराता है।

(२) १९ वें काण्ड के पाठ का बिगड़ा होना दूसरी युक्ति है। यदि पाठ विकृत है तो इस में शाखाभेद होने से पाठभेद होजाना कारण है न कि अथर्ववेद में इन काण्ड का पीछे से आजुड़ना। हस्तलिखित लिपियों में यदि पाठविकृति के नमूने देखने हों तो पैप्पलाद शाखा के पाठों को देखो जहां शुद्ध पाठ का पता ही नहीं चलता। लाचार होकर अशुद्ध पाठ को ही पैप्पलाद का पाठ मानकर उद्धृत कर देना पड़ा है। इससे पैप्पलाद, गत किसी मन्त्र को हम पीछे का नहीं कह सकते। लेखकों के प्रमाद से या व्याख्याता के पद-विपरिणाम से शाखाओं के मन्त्रों में पाठभेद हो जाते हैं इससे इतना ही कहा जा सकता है कि १९ वें काण्ड के पाठ-भेदों में बहुत विकार होगया है न कि उसको परिशिष्ट मान लिया जाय।

(३) प्रपाठकक्रम का न मिलना भी कोई १९, २० काण्डों के

परिशिष्ट होने में कारण नहीं, क्योंकि प्रपाठक क्रम सार्वत्रिक और सर्वसंमत नहीं। अथर्व में तो काण्ड, सूक्त, ऋचा और अनुवाक इतने ही प्रायिक विभाग हैं। किसी पाठशील आचार्य ने प्रपाठक क्रम भी इसी प्रकार बना दिया जैसे सामवेद में अध्याय क्रम पीछे से लगाया गया है। यदि हस्तलिपियों की विस्तृत कथा लिखें तो विदित हो जायगा कि बहुत कम हस्त लिपियां पूर्ण संहिता की प्राप्त हुई हैं। बहुतों में स्वर आदि एक ग्रन्थ के खंड में अंकित हैं दूसरे खण्ड में नहीं। फलतः, अभी तक योरोपीयनों के हाथ में प्रपाठक क्रम से विभक्त १६, २० काण्ड नहीं मिले यह तो ठीक है परन्तु इससे अथर्व-वेद में ये दो काण्ड नहीं है यह सिद्ध नहीं होता।

(४) पुरानी अनुक्रमणी १८ काण्ड की मिलती है यह भी कोई युक्ति नहीं क्योंकि बृहत्सर्वानुक्रमणी २० काण्ड की भी मिलती है। यह भी खण्डित ग्रन्थ से ही पं० लैन्मन् को भ्रम हुआ है।

(५) कौशिक सूत्र में विनियोग नहीं लिखे, अतः १६, २० कांड भी प्रक्षिप्त नहीं हो सकते। कारण, जिनके विनियोग नहीं हैं उनको वह लिखता भी क्यों ? उनका पाठ मात्र ही प्रयोजन है।

(६) पञ्चपटलिका और उसके टीकाकार का केवल १८ काण्डों का उल्लेख भी अथर्ववेद में १६, २० काण्डों को परिशिष्ट नहीं बना सकते क्योंकि बृहत्सर्वानुक्रमणी में २० काण्डों का विवरण दिया है। दूसरा १७, १८ काण्डों में पञ्चपटलिका ने आगा पीछा कर दिया है। इससे प्रतीत होता है कि यह पञ्चपटलिका शौनकीय संहिता की नहीं प्रत्युत किसी और १८ काण्डों वाली अथर्वशाखा की है।

(७) पैप्पलाद शाखा में २० वां कांड उपलब्ध नहीं होता अतः भी वह परिशिष्ट सिद्ध नहीं होता क्योंकि पैप्पलाद में १६ वें कांड के बहुत से मन्त्र उपलब्ध होते हैं, तिस पर १६ वें कांड को परिशिष्ट मानने का भ्रम तो पैप्पलाद ने काट दिया। और जब लैन्मन महोदय ने स्वयं देख लिया है

कि पैप्पलाद शाखा में १८ वां कांड नहीं है तो १८ वां कांड भी परिशिष्ट क्यों नहीं माना। पं० लैन्मन ने इस बात को लिख कर भी हलकी भाषा में टालना चाहा है।

(८) पं० ग्रीफ़िथ की दी प्रातिशाख्य वाली युक्ति भी संगत नहीं क्योंकि वह तो व्याकरण का ग्रन्थ है। उसमें कोई उदाहरण १९, २० कांडों में से नहीं आये इसलिये वह परिशिष्ट हैं, यह कितनी असंगत युक्ति है। यदि व्याकरण के सूत्रों के उदाहरण देते हुए किसी ग्रन्थ भाग में से कोई उदाहरण न आवे तो क्या उसका वह भाग परिशिष्ट हो जायगा? समझ में नहीं आता। क्या प्रातिशाख्य में अथर्ववेद के सभी मन्त्र उदाहरण के रूप में धर दिये हैं? क्या सभी सूक्तों में से मन्त्र प्रतीक आये हैं? नहीं। तो वे मन्त्र और सूक्त परिशिष्ट क्यों नहीं माने जाते?

बस, इस प्रकार से १९, २० काण्डों के सम्बन्ध में योरोपीयन विद्वानों के सभी तर्क संक्षेप से आलोचित कर दिये हैं।

अथर्वसंहिता की हस्तलिखित पुस्तकें

अब हम संक्षेप से अथर्व-वेद के हस्तलिखित पुस्तकों के विषय में कुछ लिखना चाहते हैं।

हस्तलिखित आदर्श पुस्तकों का अच्छा संग्रह और विवरण दो विद्वानों ने अच्छा किया है। एक तो पं० शंकर पाण्डुरंगजी एम० ए० ने, दूसरे पं० विलियम डी० ह्विटनी ने। इस कार्य में हम दोनों महानुभावों के ऋणी हैं। प्रथम ह्विटनी महोदय के निम्न लिखित आदर्श पुस्तक हैं।

पं० ह्विटनी के हस्तलिखित पुस्तक

(१) [B. P.] दो पदपाठ ग्रन्थ १८ कांडों तक। (क) [B. P.ª] १-१० काण्ड तक सुन्दर शीघ्रता से लिखा गया, अधिक शुद्ध, एक समान

रीति से स्वराङ्कित। १५६३–४ ई० में लिखित किसी दूसरे ग्रन्थ से लिपि किया गया है। (ख) [$B. P.^{b}$] दूसरा आदर्श पुस्तक १०–१८ काण्ड तक। १८ वें कांड का अन्तिम एक पत्र नहीं है। यह तीन हाथों का लिखा है। पाठ अधिक शुद्ध है।

(२) [$B. P.^{2}$] इस वर्ग में हस्तलिखित ग्रन्थ सम्मिलित है। (क) [$B. P.^{2a}$] एक काण्ड मात्र, सुन्दर, उत्तमता से स्वरांकित, १६३२ ई० में लिखा गया। स्वरचिन्ह बराबर बदलते रहते हैं। (ख) [$B. P.^{2b}$] ५–६ काण्ड तक। कागज़, आकार और हस्तलेख सर्वत्र समान है। तो भी दो भाग हैं। एक में केवल ५ वां काण्ड और दूसरे में शेष ६–६ काण्डों तक। अति शुद्ध।

(३) [B. या Bs.]—बर्लिन का आदर्श पुस्तक ६–२० तक। पाठ कुछ अशुद्ध और कीड़ों से खाई हुई। १६११ ई० में लिखित।

(४) [P. और M.] P. पैरिस पुस्तकालय की पुस्तक है। दो भागों में विभक्त। प्रथम १–१० काण्ड तक। दूसरा ११–२० काण्ड तक। M. का प्रथम भाग १–६ काण्ड तक। दूसरा ६–२० काण्ड तक। दोनों बहुत शुद्ध नहीं। सं० १८१२ वि०। स्वर रेखा से अंकित हैं।

(५) [W.] आक्सफोर्ड के बोडलीन पुस्तकालय की हस्तलिपि है। इसमें १८ वां काण्ड नहीं है। विलायती कागज़ पर लिखी गयी अर्वाचीन है। यह भी उसी मूल ग्रन्थ से उतारी गयी है जिससे P. और M. उतारी गयी है। क्योंकि इसमें प्राय: उनके समान ही अशुद्ध पाठ है। ६ वें काण्ड के अन्त में काल भी वही लिखा है। यह बहुत अशुद्ध लिखा गया है। १ म काण्ड ऋग्वेदानुसार स्वरांकित किया गया है।

(६) [E.] लंडनके इन्डियन लाईब्रेरीका ग्रन्थ है। १–२० काण्ड तक

पूर्ण है । उसमें १८ वें काण्ड का पिछला भाग नहीं है । कागज़ मोटा, भद्दा, लेख भद्दा । परन्तु पाठ शुद्ध है । स्वर चिन्ह नाना प्रकार के हैं ।

(७) [I] लण्डन के ब्रिटिश म्यूज़ियम का ग्रन्थ है । अथर्ववेद दो भागों में समाप्त । प्रथम भाग में प्रथम १६, २० काण्ड लिख कर फिर १–१० काण्ड लिखे गये हैं । दूसरे भाग में अनुक्रमणी, गोपथ ब्राह्मण और फिर ६–१७ काण्ड । फिर १८ वां काण्ड । प्रत्येक खण्ड के पृथक् पत्रांक पड़े हैं । म० पोलियर के निमित्त ये सब ग्रन्थ लिखे गये प्रतीत होते हैं । इसमें आदि मन्त्र ' शं नो देवीरभिष्टये० ' है ।

(८) [H.] यह भी इन्डियन आफिस लाइब्रेरी का है । १–६ काण्डों तक । सुन्दर लिपि, पाठ कुछ अशुद्ध ।

(९) [O.] म्यूनिच लाइब्रेरी का ग्रन्थ है । १–२० तक पूर्ण । १–६ कांडों तक पदपाठ सहित ५ भागों में । प्रथम विलायती कागज़ पर सूक्ष्माक्षरों में लिखित १–५ तक । शाके १७३७ । दूसरा ६–१२ तक वामनजी लिखित सं० १६९० । जीर्ण पत्र । केवल १८ वां कांड बड़ा नियमित हाथ का लिखा है । शाके १७३५ । इसके साथ १–३ तक पदपाठ और २० वां कांड । ४ थे खंड के १९ वां कांड प्रथम कांड के साथ । १–५ काण्ड तक की संहिता । ५ वें खंड में २० वां कांड ३ सरे कांड के साथ बंधा हुआ है । शाके १८३७ ।

(१०) [O. P.] हाग या म्यूनिच लाइब्रेरी की पदपाठ संहिता । इसम १–४, १८ और २० वां कांड है । शाके १७३७ । स्वराङ्कित, संशोधित, बहुत शुद्ध । इन खंडों में १ म खंड में १–३ तक पदपाठ और १८, २० की संहिता, २ य खंड में ४ थे कांड का पदपाठ, शाके १७३६ । ३ य खंड में १८ ? का पदपाठ, शाके १७६२ । २० वें कांड में अथर्ववेद के कुछ विशेष नहीं है ।

(११) [R.] टूबिंनूजन यूनिवर्सिटी में पं० रोथ संगृहीत। दो खंडों में। १ खंड में १–१० तक, दूसरे में ११–२० कांड तक। शाके १७४६। २० वें कांड के अन्त में शाके १६२६। बनारस में एक ब्राह्मण से प्राप्त। लेखक का नाम पटुवर्धन विट्ठल। अति शुद्ध।

(१२) [T.] तंजोर के ग्रन्थ की प्रतिलिपि। १–४ तक स्वरचिन्ह रहित। शेष स्वराङ्कित। १०–२० कांड तक पूर्ण।

(१३) [D.] डेकन कालेज पूना का ग्रन्थ। १८ वां कांड स्वररहित, अशुद्धप्रायः। १७ वें का पदपाठ भी है। २० वें का पदपाठ कुछ भागों को छोड़ कर।

(१४) [L.] बर्लिन लाइब्रेरी का ग्रन्थ, केवल १७ वें कांड तक।

(१५) [K.] बीकानेर पुस्तकालय का ग्रन्थ, पूर्ण, सं० १७३५। १६०० । पत्तन नगर के राजा अनूपवर्धन के अधीन 'अम्बागशेण' द्वारा लिखित। साथ ही पदपाठ संहिता, स्वररहित।

पं० शंकर पाण्डुरंग के हस्तलिखित ग्रन्थ

(१) [A.] अहमदाबाद निवासी जयशंकर हरिशंकर अथर्व-वेदी ब्राह्मण का ग्रन्थ। २००, ४०० वर्ष प्राचीन। स्वरांकित। उदात्त चिन्ह अक्षर के शिर पर लाल बिन्दु। १८ वां काण्ड स्वर रहित। अति शुद्ध। १–१६ काण्ड तक।

(२) [B.] अथर्व-वेदी ब्राह्मण बापूजी जीवनराम बीसानगर, (लूनवाड़ा) का ग्रन्थ। शुद्ध। १६ और २० के २६–३२ सूक्तों को छोड़ कर शेष पूर्ण। गणेशभट्ट दादा संशोधित। ११ वां, १२ काण्ड दूसरे हाथ का लिखा हुआ। सं० १७२०, आश्विन शुक्र ३।

(३) [B. P.] बापूजी जीवनरामजी वैदिक ब्राह्मण को समग्र वेद १ म P
स्थ था। उसके पाठ के अनुसार शुद्ध किया हुआ ग्रन्थ। वह वैदिक

गणेशभट्टदादा का शिष्य था। १८ वां काण्ड उसे याद नहीं था। वह कांड चिता और अन्त्येष्टि विषयक होने से अनिष्टजनक समझ कर घर में नहीं पढ़ा जाता था। अतः वह काण्ड जंगल में सुनाया गया।

(४) [B.] दो खंडों में। १ में १–१० काण्ड तक। १८ वें को छोड़ कर शेष सब।

(५) [C.] प्राचीन ग्रन्थ ११–२० तक। डेकन कालेज पूना का। २० वां अतिरिक्त पत्राङ्कित। रेखा-स्वराङ्कित। अति शुद्ध।

(६) [D.] डेकन कालेज पूना का। १८ वें को छोड़ शेष सब कांड। १९, २० पृथक्-पत्राङ्कित।

(७) [E.] अति प्राचीन पुस्तक का खंड मात्र, १०–१७ तक और १० वें के पिछले २$\frac{1}{2}$ मन्त्र और २० वां काण्ड प्रारम्भ के ४ सूक्त, २ मंत्रों को छोड़ कर। १८, १९ दोनों काण्ड नहीं है। १८ के २ मन्त्र हैं। लाल बिन्दु से स्वराङ्कित।

(८) [K.] केशवभट्ट बिनदाजी भट्ट अथर्ववेदी ब्राह्मण। संहिता और पदसंहिता कण्ठस्थ थीं। १८ वें को छोड़ समस्त याद थी।

(९) [K^m] केशवभट्ट लिखित ग्रन्थ।

(१०) [R.] जूनागढ़ के सुन्दरजी दुर्गाशंकर का। दो खंडों में। १म में १–१० तक। २ य में ११–२० तक। सं० १६५२।

(११) [S^m.] १८ वें को छोड़ शेष सब। १८ वें के बीच के पत्र ग्रन्थ में से निकाल लिये गये थे। जूनागढ़ के सदाशंकर धनशंकर का। प्रारम्भ में—' ओं नमो ब्रह्मवेदाय ॥ ओं शन्नो देवी० '।

(१२) [V.] अथर्व-वेदी वेनकम भट्टजी का। ये उत्तम वेदपाठी और

अग्निहोत्री थे । संहिता, पदपाठ कंठस्थ । वह कौशिक गृ० सूत्र को भी जानता था ।

(१३) [Dc.] १-२० तक पूर्ण ।

(१४) [Cs] पूर्ण, १८ वां नहीं है । शुद्ध । गुजरात से प्राप्त ।

(१५) [S.] सायण भाष्य । जिसके आधार पर निर्णयसागर प्रेस में 'सायण-भाष्य' छापा गया है ।

हस्त लिपियों के संक्षिप्त विवरण से एक बात तो यह स्पष्ट हो जाती है कि किसी भी हस्तलिखित ग्रन्थ में १९, २० काण्डों को परिशिष्ट नाम से उल्लेख नहीं किया । दूसरे, पाठकों को विदित हो जायगा कि पुराने विद्वान् ब्राह्मण कितने यत्न से वेदों की रक्षा करते रहे । तीसरे, वेदों की वर्त्तमान में इतनी दुर्दशा हो गयी थी कि पूर्ण ग्रन्थ भी कितना दुष्प्राप्य हो गया था । इससे वर्त्तमान के प्रकाशित अथर्ववेद के संहिता के पुस्तकों पर भी प्रकाश पड़ता है । निर्णयसागर का प्रकाशित अथर्ववेद बहुत शुद्ध है । अजमेर मुद्रित संहिता प्रकाशित संहिताओं में सब से अधिक अशुद्ध है । हमने निर्णय सागर के मुद्रित पाठ को मुख्य मान कर ही अपने ग्रन्थ की संहिता को स्थिर किया है । और पाठान्तरों को देकर संन्दिग्ध पाठों का विवेचन किया है ।

आदि मन्त्र

व्याकरण महाभाष्यकार मुनि पतञ्जलिने परपशान्हिक में * अथर्ववेद का प्रथम मन्त्र 'शं नो देवी रभिष्टये०' माना है । परन्तु वर्त्तमान उपलब्ध अथर्वसंहिताओं में प्रथम मन्त्र 'ये त्रिषप्ताः०' है । इसका समाधान यह है

* "वैदिकाः खल्वपि 'शन्नोदेवीरभिष्टये' । इषे त्वोर्जेत्वा । अग्निमीळेपुरोहितम् । अग्न आयाहि वीतये ।" इति पातञ्जल महाभाष्ये ।

कि आदि मन्त्र 'ये त्रिषप्ताः०' यही है। परन्तु अथर्ववेदियों में मङ्गल के रूप से प्रथम 'शं नो देवी०' मन्त्र का पाठ मात्र कर लिया जाता था। जैसा कि ह्विटनी और पं० शंकरपांडुरंग M. A. संगृहीत हस्त लिपियों में से कई में पाया जाता है। हमने इसी रीति से आदि में 'शं नो देवी०' मन्त्र पढ़ दिया है। दूसरे, पैप्पलाद शाखा का प्रथम मन्त्र भी 'शं नो देवी०' मन्त्र है। और शाखाओं के ग्रन्थ सर्वथा ही प्राप्त नहीं हुए।

अथर्ववेद के शाखाभेद।

चरणव्यूह परिशिष्ट में अथर्ववेद का शाखा-भेद इस प्रकार लिखा है—

"तत्र ब्रह्मवेदस्य नव भेदा भवन्ति। तद्यथा पैप्पलादाः। स्तौदाः। मोदाः। शौनकीयाः। जाजलाः। जलदाः। ब्रह्मवेदाः। देवदर्शाः। चारणवैद्याश्चेति ॥१॥
तेषामध्यायानां ऋचो द्वादशसहस्राणि अशीति त्रिशतानि च।
पर्यायिकं द्विसहस्राण्यन्यांश्चैवार्चिकान् बहून्। इति ॥ २ ॥
एतद् ग्राम्यारण्यकानि षट् सहस्राणि भवन्ति" ॥ ३ ॥

ब्रह्मवेद के ९ भेद होते हैं—पैप्पलाद, स्तोद, मोद, शौनकीय, जाजल, जलद, ब्रह्मवद, देवदर्श और चारणवैद्य। उन सब के अध्यायों (=पाठों) की १२३८० ऋचाएं, २००० पर्याय सूक्त और अन्य भी बहुत से आर्चिक (ऋगण) हैं। ये ग्राम्य और आरण्यक मिलकर छः सहस्र होते हैं। विष्णुपुराण में—

अथर्वणामथो वक्ष्ये संहितानां समुच्चयम्। अथर्ववेदं स मुनिः सुमन्तुरमितद्युतिः ॥१॥
शिष्यमध्यापयामास कबन्धं सोपि तं द्विधा। कृत्वा तु देवदर्शाय तथा पथ्याय दत्तवान् ॥२॥
देवदर्शस्य शिष्यास्तु मेधो[1] ब्रह्मबलिस्तथा। शौल्कायनिः पिप्पलादस्तथाऽन्यो द्विजसत्तम ॥३
पथ्यस्यापि त्रयः शिष्याः कृता यैर्द्विज संहिताः। जाबालिः[2] कुमुदादिश्च तृतीयः शौनको द्विज ॥४*

---

* शब्द कल्पद्रुमोद्धृतविष्णुपुराणोद्धरणे। १, 'मेधो ब्रह्म-', २, 'जाजलिः'।

शौनकस्तु द्विधा कृत्वा ददावेकां तु बभ्रवे। द्वितीयां संहितां प्रादात् सैन्धवाय[३] च संज्ञिने। सैन्धवान्[४] मुञ्जिकेशश्च द्वेधा भिन्नास्त्रिधा पुनः॥ ५॥

अथर्ववेद की शाखाओं के विषय में यह लिखा है कि—वेदव्यास के शिष्य सुमन्तु ने कबन्ध को पढ़ाया। उसने पुनः दो संहिताएं करके एक 'देवदर्श' को और दूसरी 'पथ्य' को दी। देवदर्श के चार शिष्य थे, मेध, ब्रह्मबलि, शौल्कायनि, और पिप्पलाद। पथ्य के तीन शिष्य थे, जाबालि, कुमुदादि और शौनक। शौनक ने दो संहिताएं बना कर बभ्रु और सैंधव को दीं, सैंधव ने मुंजिकेश को दी। इस प्रकार यह दो संहिताएं भी तीन भेद में फट गयीं।

वाचसपत्य बृहदभिधान में इन नौ शाखाओं का एक और भी रूप लिखा है। "अथर्वस्य नव शाखाः। पैप्पलादा, शौनकी, दामोदा, औत्ता, ब्रह्मदा, पराशौनकी[?], देवदर्शी, चारणविद्याचेति। तेषामध्ययनं द्वादशैव सहस्राणि भवन्ति। कल्पे कल्पे पञ्चशतानि भवन्ति।"

उक्त कोष में ही अन्यत्र लिखा है—

'अथर्ववेदस्य नव भेदा भवन्ति। पैप्पलाः, दान्ताः, प्रदान्ताः स्नाताः, स्नौताः, ब्रह्मदावलाः, शौनकी, देवदर्शती चरणविद्याश्च [दाता, प्रदाता, औता, ब्रह्मदीवशी, वेदशी[?], इति भाष्येन मतान्तरम्] तेषामध्ययनं पञ्चकल्पानि भवन्ति। नक्षत्रकल्पो विधानकल्पः संहिताकल्प आंगिरसकल्पः शान्तिकल्पश्चेति।'

उक्त कोश में ही हेमाद्रिका अवतरण दिया है—

'अथो अथर्ववेदस्य नव भेदा भवन्ति। पिप्पलादाः वर्त्मदाश्च भूतायनाः कातयस्तथा। जज्वला ब्रह्मवेदाश्च शौनकी कनस्त्री तथा। वेद ऋषिः चौरविद्या तेषामध्ययन शृणु॥'

---

३. 'सैंधवायन संज्ञिने', ४. सैधवा मुञ्जकेशाश्च भिन्नभेदा द्विधा पुनः'। इति पाठभेदाः॥

वाचस्पत्यबृहदभिधानोद्धृत विष्णुपुराणोद्धरणे-१ मौद्गो ब्रह्म-, ४ 'सैन्धवमुंजकेशाभ्यां भिन्ना वेदा द्विधा' इति पाठभेदः।

	अथर्व० परि०	वि० पु०	वाच० 1	वाच० 2	हेमाद्रि
१	पैप्पलादाः,	पिप्पलादः	पैप्पलादा	पैप्पलाः	पिप्पलादा
२	स्तौदाः ?				
३	मोदाः	मेधः, मोदः, मौद्गः ?	दामोदा		
४	शौनकीयाः,	शौनकः	शौनकी	शौनकी	शौनकी
५	जाजलाः	जाबालिः			जज्वला
६	जलदाः				
७	ब्रह्मवदाः	ब्रह्मबलिः	ब्रह्मदा	ब्रह्मदावला ? ब्रह्मदावशी ?	
८	देवदर्शाः	देवदर्शः	देवदर्शी	देवदर्शती, वेदशी ?	वेदऋषि
९	चारणवैद्याः		चारणविद्या	चरणविद्या	चौरविद्या
		कुमुदादिः	औता ?	औता ?	वरमदाः ?
		बभ्रुः		दाता, दांता,	भूतायनाः
		सैंधवः, सैंधवायनः		प्रदाता, प्रदांता	कातयः ?
				स्नौता ?	कनस्वी ?
				स्नाता ?	

उपरोक्त सारणी से स्पष्ट प्रतीत होता है कि ये सब लेखक तुक लगा कर लिखने वाले हैं। इनमें से एकने भी नव शाखाओं को नहीं देखा। इनमें पैप्पलाद और शौनकीय शाखाएं सर्वत्र समान हैं शेषों के शुद्ध नाम भी

न···मेलते। विष्णुपुराण की 'कुमुदादि' जलद शाखा प्रतीत होती है। वाचस्पत्य प्रोक्त 'श्रौप्त' 'स्तौद' शाखा है हमारी सम्मति में 'श्रौप्त' और स्तौद या तौद तीनों नाम अशुद्ध प्रतीत होते हैं। यही 'स्तौत' 'स्नौत' नामों से भी कहा गया है। कदाचित् यह शुद्ध शब्द 'श्रौत' या 'स्रौत' है। उपरिलिखित वत्संदाः, भूतायनाः, कातयः, कनस्वी, इन ४ का पता ही ·· चलता ये क्या हैं।

इन सब का अध्ययन प्रमाण १२००० श्लोक परिमाण बतलाया है। ··व्यूह परिशिष्ट में इनका परिमाण १२३८० बतलाया है। वाचस्पत्य के ··ण में "कल्पे कल्पे पञ्चशतानि भवन्ति" लिख दिया है। इससे पांचों ··पों में १५०० और ६ वों शाखाओं में १२००० ऋचा का बोध होता है। ··नु ये सब अभी जुबानी बातें हैं। इस प्रकार नये नपाये ग्रन्थों का अब भाव है।

वर्तमान अथर्ववेद में ५९७७ मन्त्र विद्यमान हैं। इस संहिता को पूर्वोक्त पांच कल्पों में संहिता कल्प के नाम से लिखा है। अभी ये ··ं बातें अगले खोज करने वालों के लिये हम यहां ही छोड़ते हैं।

पांच उपवेद

अथर्ववेद से उतर कर इसके पांच वेदों का उल्लेख गोपथ ब्राह्मण [१ । १०] में किया है। सर्प वेद, पिशाच वेद, असुर वेद, इतिहास वेद और पुराण वेद ये पांच अथर्ववेद के उपवेद कहे हैं, उन उपवेदों के विषय में शतपथ ब्राह्मण (१३ । ४ । ३ । ६–१२) में लिखा है—(१) वरुण ··आदित्य राजा की प्रजाएं गन्धर्व हैं। वे येही नवयुवा पुरुष हैं, उनके लिये अथर्वन् वेद है। (२) वैष्णव सोम राजा की प्रजा अप्सरायें हैं। वे सुन्दर स्त्रियां हैं। उनके लिये आंगिरस वेद है। (३) अर्बुद काद्रवेय राजा की प्रजाएं सर्प हैं, वे ये सर्प, और सर्पविद्या के जानने वाले हैं उन

के लिये 'सर्पविद्या वेद' है। (४) कुबेर वैश्रवण राजा की प्रजाएं 'रक्षः' हैं, वे ये सेलग, लोग हैं। उनके लिये 'देवजनविद्या वेद' है। (५) असित धान्व राजा की प्रजा असुर हैं वे ये कुसीदी (सूदखोर) हैं। उनका वेद मायावेद है। (६) मत्स्य सांमद राजा की प्रजा उदकचर हैं। वे ये मत्स्य और मत्स्यघाती जीव हैं उनका इतिहास वेद है। (७) वैपश्यत राजा की प्रजा 'वयस्' हैं। ये वे वायुविद्या के ज्ञाता हैं उनके वेद पुराण वेद हैं।

इस शतपथ के उद्धरण में इन वेदों को इन २ प्रजाओं का उपदेश करने का विधान भी किया है। अतः उस समय इन वेदों की पृथक् सत्ता प्रतीत होती है। नवयुवकों, स्त्रियों, सर्प चिकित्सकों, पर्वत-निवासियों, व्यापारियों, समुद्रयात्रियों और वायु-विहरण करने हारों के लिये उनके उपयोग के भिन्न २ वेद थे। और वे गोपथ के मत से अथर्ववेद के उपवेद माने जाते थे।

इसके अतिरिक्त, महर्षि दयानन्द ने 'आयुर्वेद' को अथर्ववेद का उपवेद माना है। चरण व्यूह के मत से अथर्व-वेद के उपवेद 'शस्त्र शास्त्र' माने हैं। हेमाद्रि ने तन्त्रों को अथर्ववेद का उपवेद माना है।

हमारी अपनी सम्मति है कि शस्त्र शास्त्र, तन्त्र आदि का समावेश गोपथ प्रोक्त पांचों वेदों में आ जाता है। इसीलिये उनको पृथक् नहीं कहा गया। उक्त सभी विद्याओं के मूल सूक्त अथर्ववेद में हैं इसमें भी कोई सन्देह नहीं है। कौनसी विद्या किस स्थान पर कही गयी है इसके लिये पाठक लोग अथर्ववेद की विषयसूची से ही देख सकेंगे और सुगमता से उस विषय को पा सकेंगे। इसी प्रसंग में हम महर्षि दयानन्द के इस सिद्धान्त को दोहराना चाहते हैं कि शाखा ग्रन्थ भी व्याख्या ग्रन्थ हैं। कदाचित् नव शाखा भेद विषय भेद से ही हैं। जहां तक हमारा अनुमान है 'चारण-वैद्य' शाखा में शायद चरक-विद्या, या आयुर्वेद का विज्ञान

हो। देवदर्श शाखा में भौतिक विज्ञान हो, 'ब्रह्मवद' शाखा में ब्रह्मज्ञान, 'जलद' शाखा में जल विज्ञान, 'जाजल' या 'जज्वलि' में अग्नि विज्ञान हो। 'शौनक' शाखा में विशेष रूप से व्यापक ब्रह्म की शक्ति को प्रदर्शन किया हो, 'मोद' या 'मेध' शाखा में आयु और बुद्धि वर्धन के उपाय दर्शाए हों, पैप्पलाद में ब्रह्म और जीव के कर्त्तव्यों का विशेष विधान हो। जब तक इन शाखाओं के व्याख्यान रूप ब्राह्मण ग्रन्थ आदि उपलब्ध नहीं होते या प्रचलित कल्प ग्रन्थों से अतिरिक्त कोई रहस्य-ग्रन्थ नहीं प्राप्त होते तब तक हम इस सम्बन्ध में कुछ नहीं कह सकते। तन्त्रों में विद्युज्जिह्व तन्त्र, रसार्णव तन्त्र आदि बड़े विज्ञानपूर्ण ग्रन्थ हैं। सर्पवेद या विष-विज्ञान (Toxicology=तक्षक-विद्या) भी कोई कम रहस्य का विज्ञान नहीं है। असुर-वेद या माया-वेद अर्थवेद मालूम होता है। समुद्र यात्रियों और वायु-विहारियों के लिये इतिहास और पुराणवेद का तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि जैसी २ घटनाएं घटें उनसे इनको अपने कार्य के लिये विज्ञान का संग्रह करना चाहिये। शस्त्रास्त्र विद्या धनुर्वेद है।

अथर्ववेद के भाष्य और अनुवाद

हमारे सामने पं० ह्विटनी और पं० ग्रीफ़िथ के अंग्रेजी अनुवादों के अतिरिक्त शंकरपाण्डुरंग सम्पादित सायण भाष्य और श्री क्षेमकरण त्रिवेदी रचित भाषाभाष्य उपस्थित हैं। ये सभी भाष्यकार हमारे लिये आदर के पात्र हैं। हमने अपने तुच्छ श्रम से अथर्ववेद के रहस्यों को स्पष्ट करने का यत्न किया है। योरोप के अनुवादकों पर तो सायण के विचारों और कौशिक सूत्रों का गहरा रंग है। जिन कांडों पर सायण का भाष्य प्राप्त नहीं है उन स्थलों पर प्रायः कौशिक सूत्र के विनियोग देख कर तदनुसार शब्दों और वाक्यों का अर्थ कर दिया है। इस प्रकार वेदमन्त्रों में से उत्कृष्ट अर्थ निकलता है या हीन अर्थ निकलता है, बुद्धिपूर्वक सत्यार्थ निकलता है या अबुद्धिपूर्वक ऊटपटांग अर्थ निकलता है इसकी सर्वथा परवाह नहीं की गयी। और जहां वाक्य

समझ नहीं आया वहां प्रश्नार्थक चिन्ह [?] और उस पर 'अस्पष्ट' इत्यादि टिप्पणियां लगादी हैं। तो भी शब्दार्थ रचना पूर्ण करने के लिये अर्थ अवश्य कर दिया है। उनके इस तरह के अनुवादों से वेदों का गौरव कम हो गया है और अनुवादों को पढ़ने वालों के चित्त में वेद के उलटे सूधे अर्थ बैठ जाने पर फिर सत्यार्थ की प्रतीति होनी ही असम्भव हो जाती है।

उनसे बढ़ कर सायण-भाष्य है। सायणाचार्य भाष्यकारों में से एक प्रौढ़ भाष्यकार हैं। वे वैदिक साहित्य के अगाध सागर हैं। परन्तु अथर्ववेद का भाष्य करते समय कौशिक सूत्र के विनियोगों ने सायण के हृदय पर भारी शृंखलाएं बांध दी हैं। इसलिये सायण किसी स्थान पर स्वतन्त्र वेद-भाष्य न कर सके। प्रत्युत उत्तम २ सूक्तों का भी ऐसा अनर्थकारी अर्थ कर दिया है जिससे वेद की शिष्टता में भी संदेह होने लग जाता है। और इसी कारण सायण को बहुत से स्थलों पर अन्धविश्वास और अज्ञान-पूर्ण अर्थ करने पड़ गये हैं। जैसे अभीवर्त्त मणि आदि जड़ पदार्थों पर शत्रुनाश, राष्ट्रवृद्धि करने आदि अर्थ के विशेषणों का लगा देना [अथर्व० १। २९ सू०]; स्त्रियों के दुर्भगा करण आदि [अथर्व० १। १४], दुष्टाचारियों के अश्लील कार्यों का मन्त्रों में से अर्थ निकाल देना, ऊटपटांग कार्य से बड़े २ रोगों को दूर भगाने की चेष्टा करने परक अर्थ [अथर्व० १। २२] करना आदि २, कौशिक सूत्रोक्त विनियोगों के वशीभूत होकर सायणाचार्य के किये अनर्थों का अच्छा नमूना है। हमने अपने भाष्य में स्थान २ पर सायणकृत अर्थों की त्रुटियां दर्शायीं हैं।

इसी प्रकार विनियोगों के चक्र में योरोपीयन अनुवादक भी पड़े हुए हैं।

वर्तमान समय में श्री पं० क्षेमकरणदासजी त्रिवेदी ने जो अथर्ववेद का भाष्य रचा है वह स्वतन्त्र और अन्यों की अपेक्षा अधिक गम्भीर और युक्ति पूर्ण है। परन्तु लेखनशैली कई स्थानों पर प्रति-शब्दानुवाद करते हुए

इतनी अस्पष्ट हो जाती है कि नीचे लिखे भावार्थ और शब्दों में भारी अन्तर आ जाता है। और बहुत से अस्पष्ट स्थलों पर व्याकरण के बल पर अर्थ कर दिया है। इसमें सन्देह नहीं कि वेद के ऊपर पं० क्षेमकरणजी का किया श्रम अवश्य प्रशंसनीय है।

अथर्ववेद में जादू टोना

कौशिक सूत्रों के विनियोगों ने ही योरोपीयन विद्वानों और सबसे प्रथम सायण, तदनुसारी अन्य विद्वानों और सर्व साधारण जनता तक के बीच में यह ज़बर्दस्त भ्रम फैला दिया है कि अथर्ववेद में 'जादू टोना' बहुत अधिक है। परन्तु इस स्थल पर हमें आश्चर्य से कहना पड़ता है कि हमें समस्त अथर्ववेद में किसी स्थान पर भी 'जादू-टोना' प्राप्त नहीं हुआ। भ्रमनिवारण के लिये हम कुछ दिग्दर्शन कराते हैं।

(१) प्रथम कांड के प्रथम सूक्त का विनियोग 'मेधा-जनन' कर्मों में किया गया है। कौशिक ने मेधाजनन कर्म बहुत से गिनाये हैं जैसे गूलर, ढाक, वट आदि की समिधाओं का आधान करना, धान, जौ, तिलों की आहुति देना, खीर, भात आदि पुष्टिप्रद पदार्थ खाना, उपाध्याय को भिक्षा देना, सोते हुए उपाध्याय के कान में सूक्त का जप करना, घी मिले धान्यों का होम करना, तिल धान की आहुति कर शेषों का खाना, तोता मैना आदि की जिह्वा का बन्धन और उनको खिलाना इत्यादि। उन कार्यों को करते हुए 'ये त्रिषप्ताः०' इत्यादि सूक्त को जपना चाहिये। इसी प्रकार उपनयन के दिन विद्यार्थी इस का जप करें। ग्रामसम्पत्ति की इच्छा से इस सूक्त से समिदाधान करें। समस्त सम्पत्ति चाहने वाले इस सूक्त से अपने बायें हाथ से रक्त निकाल उससे दधि, घी, मधु, जल मिलाकर खावें। युद्ध से शत्रु के हाथियों को भगा देने के लिये इसी सूक्त से उचित उपाय करे। पुष्टिकर्म, तेजःप्राप्ति, पुत्र प्राप्ति आदि सभी कार्य इस सूक्त से करने लिखे गये हैं।

परन्तु पाठक देख सकते हैं कि इस सूक्त के चारों मन्त्रों में कहीं भी उक्त कार्यों का उल्लेख नहीं है। सारे सूक्त में १म वल प्रार्थना, २य-ज्ञान प्रार्थना और ३य विद्यावृद्धि की प्रार्थना की गयी है। परन्तु कल्पकार ने बुद्धिवर्धक, वल और वीर्य से सम्बद्ध सभी कार्यों से इस सूक्त का सम्बन्ध कर दिया है। कल्पकार क्योंकि केवल क्रियामात्र का निर्देश करता है और क्रिया का फल से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं दर्शाता क्योंकि क्रिया और फल का सम्बन्ध दर्शाना उसका कार्य नहीं, वह रहस्य होने से आचार्य का कर्त्तव्य है, अतः सर्व साधारण के सामने यह एक जादू के समान प्रतीत होता है और लोग उस कर्म को अन्धविश्वास से अदृष्ट द्वारा फलजनक मान लेते हैं और कोई मन्त्र का वल या कोई मन्त्रोक्त देवता का प्रसाद मान लेते हैं। ये विनियोग इस प्रकार से वड़ा अनर्थ फैलाने वाले हुए हैं। कल्पकार कौशिक ने जितने कर्म 'मेधाजनन' या बुद्धि-उत्पादक बतलाये हैं उनमें कितनी सत्यता है यह हमारा यहां विषय न होने से इस प्रसङ्ग में हम कुछ नहीं कहते, तो भी इतना अवश्य कहेंगे कि कौशिक सूत्रोक्त विधान अपने मूल में एक सत्य रखते हैं। वह सत्य सर्वत्र एकसा नहीं है, प्रत्युत भिन्न २ प्रकार का है। कल्पों का रहस्यों के सहित ज्ञान करने से उन तत्वों का पता लग सकता है। जैसे इसी स्थान पर देखिये। वेद में वाचस्पति और वसोष्पति आचार्य और परमेश्वर से शरीर में वलों की और श्रुत=वेदोपदेश को धारण करने की प्रार्थना की है। प्रथम सूक्त के चार मन्त्रों में विचार या दृढ़ संकल्प किया है। पर उसको प्राप्त कैसे करें यह प्रश्न उठता है। कल्पकार उसका उपाय दर्शाते हैं। जैसे—(१) विद्यार्थी गूलर, वट, ढाक की समिधाएं अग्नि में रखे। अर्थात् जिस प्रकार अग्नि में काष्ठ रखने से शीघ्र जल कर प्रकाशित होता है उसी प्रकार वह भी गुरु रूप अग्नि के संग से ज्ञानवान् हो जाय। (२) धान, जौ तिलों की आहुति, अर्थात् जिस प्रकार ये पदार्थ अग्नि में पड़ कर अधिक गन्ध देते और वायु शुद्ध करते हैं उसी प्रकार आचार्य के संग से तुम भी अधिक गुण प्राप्त

करो, (३) खीर आदि पुष्टिकारक पदार्थ बुद्धि और बल को बढ़ाते ही हैं। (४) तोता मैना आदि की जिह्वा का बन्धन और उनको खिलाना। इसका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार इन जन्तुओं के अन्य बनैले जीवों के संग न रख कर बार २ एक ही पाठ पढ़ावे और शेष समय उनका मुंह बांधे रखने से वे अच्छा पढ़ जाते हैं इसी प्रकार विद्यार्थी अपनी जिह्वा पर वश करें और व्यर्थवाद न करके वेदाध्ययन का अभ्यास करें तो उनकी बुद्धि और वाणी बढ़ेगी। (५) सम्पत्ति आदि प्राप्त करने के लिये भी बुद्धि चाहिये, युद्धादि विजय और शत्रुओं के हाथी आदि के लिये बुद्धि और बल के अद्भुत प्रयोगों की आवश्यकता है, उस अवसर पर यदि ईश्वर से बल की प्रार्थना करें तो क्या असम्भव बात है। इस प्रकार कल्प ग्रन्थ सार्थक होता है। परन्तु, कल्पोक्त विनियोग वेद के अर्थों के नियामक हैं ऐसा नहीं माना जा सकता, प्रत्युत वेदमन्त्र का अपना स्वतन्त्र अर्थ रह कर भी कल्पोक्त क्रिया साधनों को अपने साथ गौण रूप से जोड़े रख सकता है।

(२) प्रथम कांड का ७ वां और ८ वां सूक्त चातन ऋषि दृष्ट हैं। कौशिक ने इन सूक्तों पर लिखा है 'चातनानाम् अपनोदनेन व्याख्यातम्'। चातन सूक्तों का प्रयोग अपनोदन सूक्तों के समान समझना चाहिये। इस पर सायण ने लिखा है—'आविष्टभूतपिशाचाद्युच्चाटनार्थं फलीकरणतुषावतक्षणहोमादीनि इत्यपनोदनसूक्तकर्तव्यानि अपनोदनानि कर्माणि अनेन गणेन कुर्यात्।' पुरुष शरीर में घुसे भूत, पिशाचों के उच्चाटन करने के लिये चातनगण में पढ़े सूक्तों का विनियोग अपनोदन सूक्त के विनियोग के समान जानकर तुष या भूसी को कूटना और होम आदि करना चाहिये। इसका अभिप्राय यह है कि अन्न की रक्षा करने के लिये जिस प्रकार भूसी को कूट २ कर अलग फटक दिया जाता है उसी प्रकार दुष्टों को कूट २ कर फटक दे अर्थात् प्रजा से बाहर कर दे। या होम कर दे अर्थात् प्रजा के हित के लिये उनको कूड़े कचरे के समान जला दे, या मृत्यु दंड दे। कौशिकोक्त कल्प का यह तात्पर्य है। परन्तु सायण को आविष्ट भूतपिशाचों के उच्चाटन के लिये भूसी को होम करना इष्ट है अतः उसने अभि

की स्तुतिपरक सूक्त की योजना कर दी है। समस्त सूक्त में भूत पिशाच किसी का नाम नहीं है। सायण के पीछे चलने वाले योरोपीयन मत विद्वान् पं० ग्रीफ़िथ ने भी लिख दिया कि यह सूक्त भूत प्रेतों को नाश करने के लिये है, इस सूक्त में भी अग्नि और इन्द्र को स्तुति की गयी है। पं० ह्विटनि ने इस सूक्त का शीर्षक लिखा है 'सोर्सरर्स' अर्थात् जादूगरों के पता लगाने के लिये अग्नि की प्रार्थना।

'सोर्सरर्ज़' अर्थात् जादू टोने चलाने वालों के पता लगाने के लिये अग्नि से प्रार्थना करना यह ह्विटनी को अभिप्रत है। फलतः 'यातुधान' शब्द का अर्थ सायण भूत प्रेत समझता है। ह्विटनी के मत में 'यातु-धान'=जादूगर हैं। ग्रीफ़िथ के मत में 'ईवल स्पिरिट्स्', 'भूत प्रेत' हैं। परन्तु यह किसी ने बतलाने का यत्न नहीं किया कि सूक्त में आये 'अग्नि' और इन्द्र क्या पदार्थ हैं। यदि इन्द्र और अग्नि का रहस्य खुल जाय तो सूक्त के अर्थ ही निर्विवाद हो जांय। योरोपीयनों के मत में ये दो देवता हैं इन्द्र और अग्नि या जातवेदा नाम से पुकारे जाते हैं। सायण के मत से इस अग्नि में 'हवि' तुष आदि डाला जाता है। अब मन्त्र को लीजिये।

'स्तुवानमग्ने आवह यातुधानं किमीदिनम्।
त्वं हि देव वन्दितो हन्ता दस्योर्बभूविथ॥' अथर्व० १।७।१॥

अर्थ—हे अग्ने! स्तुवान, किमीदी, यातुधान को लाओ। क्योंकि हे देव तू वन्दित होकर दस्यु का हन्ता रहा है।

दस्यु का अर्थ ग्रीफ़िथ के मत से एक असुर है जो बादलों में वर्षा को रोक लेता है। इन्द्र उसको मारता है। ह्विटनी के मत से दस्यु का अर्थ 'जंगली' (Barbarian) है। और यातुधान (Sorcerer) टोनेबाज़ और किमीदी=किमीदी है। फलतः स्तुति किया हुआ अग्नि टोनेबाज़ और किमीदी (?) को ले आवे, यह अर्थ हुआ। क्योंकि वह 'दस्यु' 'जंगली' या असुर (ग्री०) का मारने वाला रहा है।

सायण के मत में—हे अग्ने ! (स्तवानं) मेरे से दिये हवि को मेरे कर्म में (आवह) ले आ । (किमीदिनम्) 'अब क्या' २ इस प्रकार विचरते (यातुधानं) घात करने की इच्छा से गुप्त चरने वाले राक्षस को [(अपसारय) दूर कर] अथवा (स्तूयमानं=स्तूयमानः) तू स्तुति किया जाकर किमीदी यातुधान राक्षस को प्रतीकार के लिये इस मनुष्य में घुसा दे या निग्रह के लिये अपने पास ला । या हे अग्ने तेरे पास डर से तेरी स्तुति करते हुए यातुधान को तू ला । और हे (देव) दानादि गुणयुक्त ! तू (वन्दितः) हम से नमस्कार आदि से प्रार्थित होकर (दस्योः) दस्यु विनाशकारी राक्षसादि का (हन्ता) मारने वाला (बभूविथ) होता है ।

अर्थ तो सब ने कर दिया । परन्तु सब के मूलार्थ अस्पष्ट हैं । उन्होंने कोई न कोई शब्द मूल अर्थ में नहीं खोला और लाना आदि सब चेतन के कार्य अग्नि के लिये छोड़ दिये । अग्नि=आग में ये चेतन के गुण साक्षात् नहीं घटते । वह किसी को पकड़ कर नहीं लाता और न दस्यु को मारने जाता है । इसलिये इन वाक्यों में योग्यता नहीं होने से वाक्य दोषयुक्त हैं । परन्तु सायणने अपने भाष्य में सर्वगामी कौशल किया है । आप लिखते हैं कि—"अंगति गच्छति सर्वत्र जाठरवैद्युतादिरूपेण कृत्स्नं जगद् व्याप्नोति इति अग्निः । यद्वा अग्रणीत्वादिगुणयोगादग्निः ।" यह अग्नि सर्वव्यापक अग्नि लेना या अग्रणी आदि गुणों के होने से अग्नि लेना । इतना लिखकर भी यह नहीं बतलाया कि वह कौनसा अग्नि है, चेतन है या जड़ आग है ? यह संदेह रहने से सायण ने 'आ वह' शब्द के व्याख्यान में हवि आदि वहन करने वाला 'आग' पदार्थ ले लिया । या व्यापक अग्नि को लेकर भूत को आदमी में घुसा देने की प्रार्थना करके अपना सब किया परिश्रम मिट्टी में मिला दिया । वास्तविक बात क्या है ? अग्रणी आदि गुण के होने से अग्नि राजा है उसे आदेश या कर्त्तव्यों का उपदेश है कि वह हिंसक, किमीदी, यातुधान को पकड़े क्योंकि वह सर्व नमस्कृत है और दस्यु का मारने वाला देव राजा है । समस्त संस्कृतसाहित्य में राजा को 'देव' शब्द

से पुकारा जाता रहा है। वह संतापकारी और अग्रणी होने से 'अग्नि' है। पीड़ा या यातना देने वाले जीव 'यातुधान' हैं, वे पाप करके सदा चित्त में 'अब क्या होगा, अब क्या होगा' ऐसी चिन्ता करते या दूसरे के जान माल को 'यह क्या' २ इस प्रकार तुच्छ जान कर नाश कर देते हैं। उनका ही दूसरा रूप 'दस्यु' (=नाशकारी) है। यातुधानों को 'अत्रिणः' [७ । ३] अर्थात् दूसरों का माल खाजाने वाले कहा है।

इसके अतिरिक्त वह अग्नि ही 'इन्द्र' राजा कहागया है। वह 'बाहुमान्' बतलाया गया है। तब अब कोई संदेह नहीं रह जाता कि यह दो हाथों वाला साक्षात् राजा ही है, कोई कल्पित देव नहीं है। योरोपीयन विद्वान् तो बड़े उदार सुने जाते हैं, परन्तु वेद के अर्थ करने के समय इन्होंने बड़ी कृपणता से कार्य किया है। उन्होंने वेदों में से उच्च सभ्यता के चिन्हों को प्रकट होने देने की चेष्टा नहीं की। प्रत्युत जंगली अर्धसभ्य आदि मानकर हमारे पूर्वज ऋषियों को वर्तमान जंगली लोगों के समान भूत प्रेत, जादू टोने आदि मूर्खता और अज्ञान से भरे कार्यों में फंसा मान लिया है। उनको ईसाइयत के प्रभाव से कदाचित् वेद के काल में भी भूत चुड़ेलों के दर्शन हुए या दादागुरु सायण की भ्रमजनक पंक्तियों की ही उन पर भी छाप लगी है। वे वेदों को अधिक सरल करने का यत्न नहीं करना चाहते। ऊपर हमने निदर्शन मात्र के लिये एक मन्त्र को खोलकर बतला दिया है। पाठक ७, ८ दोनों सूक्तों की व्याख्या को प्रस्तुत पुस्तक में देखें और देखें कि किस प्रकार अथर्ववेद एक कर्तव्य-निदर्शक धर्मग्रन्थ है।

(३) 'भगम् अस्या वर्च' [का० १ । सू० १४] इस सूक्त को कौशिक सूक्त ने स्त्री या पुरुष के दौर्भाग्य करने के लिये उनकी भोगी हुई दातुन, गेन्द, माला, केश आदि के गाड़ते हुए पढ़ने का विनियोग लिखा है। यहां कौशिक का भूत आचार्य सायण पर बड़ी प्रबलता से चढ़ गया है। खेंच तान कर सूक्त के चारों मन्त्रों का अर्थ उधर ही लगाया है।

पं० ग्रिफिथ और ह्विटनी भी उधर ही बह गये हैं। इस अवसर पर हमें हर्ष से कहना पड़ता है कि पं० वेबर लडविग और ज़िम्मर आदि महोदयों ने स्वतन्त्र होकर इस सूक्त को विवाहपरक लगाया है। इस सूक्त की वास्तविक शोभा भी विवाहपरक अर्थों में ही है। जो प्रस्तुत पुस्तक में देखने से विदित होगी। वेद जैसे पवित्र धर्मग्रन्थ से स्त्री के दौर्भाग्य करने की घृणित शिक्षा प्राप्त ही नहीं हो सकती। स्थानाभाव से हम यहां वेद के प्रत्येक शब्द पर किये अनर्थों को खोल कर नहीं बतला सकते। इसके लिये एक विशाल ग्रन्थ चाहिये।

(४) 'ये अमावास्यां रात्रिम्' [अथर्व० १ । १६] सूक्त को कौशिक ने शत्रु को मारने के लिये सीसे के चूर्ण से मिले अन्न खिला देने के लिये विनियुक्त किया है। इस सूक्त में भी पिशाची के सन्तानों और 'अत्रि', 'यातु' आदि नामों से सायणने रक्षः पिशाच आदि लिये हैं। ग्रीफ़िथ ने भी 'पिशाच' शब्द से भूत, प्रेत (imps and goblins) ले लिये हैं। 'सीस' शब्द से ह्विटनी महोदय ने सीसे का तावीज़ लिया है। पं० ग्रीफिथ ने 'सीस' शब्द से सीसे का टुकड़ा ले लिया है और मन्त्र के अर्थ कर दिये हैं। यह बतलाने का यत्न नहीं किया कि अग्नि, वरुण इन्द्र आदि देवों का सीसे से क्या सम्बन्ध है, वह सीसा जत्थे २ बनाकर आक्रमण करने वाले यातुधानों को कैसे बेधेगा? कौशिक ने तीन उपाय शत्रु के नाश के बतलाये हैं एक तो शत्रुओं को बान्ध कर सीसे का चूर्ण उनको खिला २ कर मारे, दूसरे उनको लोहे की बेड़ियां पहना दे, तीसरे बांस की छड़ी (बेंत) से ठोके। परन्तु इन तीनों कार्यों का मन्त्र गत वाक्यों से सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता। वस्तुतः देखा जाय तो सीसे की गोलियां बना कर, बारूद देकर अग्नि के बल से दुष्ट शत्रुओं का मुकाबला करने का वेद ने उपदेश किया है।

(५) 'अनुसूर्यमुदयताम्०' [अथर्व० १ । २२] इस सूक्त में हृद्रोग और कामला की चिकित्सा का उपदेश किया है। परन्तु कौशिक सूत्रों में

इस सूक्त को पढ़ कर उक्त रोगों के नाश के लिये लाल बैल के रोम से मिले जलपान करने, लाल गोचर्म का तावीज़ बांधने और हल्दी से रंगे पीले भात रोगी को खिला कर, उसके जूठे भातों से रोगी को लेप लगा कर चारपाई पर बिठला कर, नीचे तोते, खुटबढ़ई और हरी चिड़ियों की बाईं टांग में रसी बांधना आदि लिखा है। उसी को लक्ष्य में रख कर सूक्त के मन्त्रों का अर्थ कर दिया है। और किसी भी पण्डितवर ने उस क्रिया का और तोतों आदि का हरिमा या पाण्डुरोग दूर करने के कार्य से सम्बन्ध दर्शाने की चेष्टा नहीं की। इसका कारण यह है कि उन पर कौशिक सूत्रों का प्रभाव रहा है। वे सभी वेद में विद्यमान आयुर्वेद के तत्व को नहीं जान सके। कल्पकारने तो कामला रोग की शान्ति के कुछ उपायों का जो उसके समय में किये जाते होंगे संग्रह कर दिया और सूक्त का विनियोग भर दर्शा दिया है पर सूक्त के रहस्य को तो दर्शाया नहीं। परन्तु इन भाष्यकारोंने बादरायण सम्बन्ध से उस में तोतों और खुट बढ़इयों पर रोग चिपटाने का अर्थ निकाल लिया। जो आयुर्वेद का गूढ़ ज्ञान है सो प्रस्तुत पुस्तक में दर्शाने का यत्न किया गया है कि सूर्य की किरणों से और 'शुक' आदि वृक्षौषधियों से किस प्रकार ये रोग नष्ट होते हैं। इसी प्रकार २३, २४ सूक्तों में भी कुछ चिकित्सा का रहस्य दर्शाया गया है। २५ में ज्वर की चिकित्सा और निदान कहा गया है।

(६) 'अमूः पारे पृदाकः०' (अथर्व० १।२७) इस सूक्त से कौशिक ने विजयार्थ आयुधों के देने का विधान किया है। ग्रीफ़िथ महोदय की सम्मति में इस सूक्त से सांप की केंचुली हाथ में लेकर कोई जादू करने का विधान है। ह्विटनी की सम्मति में भी बुरे लोगों के विरोध में मन्त्रपाठ है। यहां भी वही प्रश्न है कि वेदमन्त्र से वह विधान किस प्रकार निकलता है। इस सम्बन्ध में सभी चुप हैं। इसका विवरण आप प्रस्तुत पुस्तक में देखियेगा और योरोपीयन विद्वानों के किये अर्थों का निदर्शन यहां देखिये।

अमूः पारे पृदाक्वस्त्रिषप्ता निर्जरायवः । तासां जरायुभिर्वयमक्ष्यावपि व्ययामसि अघायोः परिपन्थिनः ॥ १ ॥

सायण के मत में—भूमि के पार नागलोक में जो कि २१ सर्प जातियां निर्जरायु=जरा रहित हैं उनकी कैंचुलियों से दुष्ट शत्रु की आंखों को बांध दें जिससे सांप की बड़ी कैंचुलियों से आंखें ढक जाने से वे हमें न देख सकें। क्या खूब कहा कि गये युद्ध विजय के लिये और सांपों की कैंचुलियों से वे वहां शत्रुओं की आंखें बन्द करेंगे जिससे वे उन्हें देखने न पावें। यदि ऐसा ही करना था तो किसी बिल में छिप जाना था।

ग्रीफ़िथ के मत में-परे तट पर २१ तरह के सांपों ने अपनी कैंचुली उतार दी हैं, तो हम उनकी कैंचुलियों से दुष्ट चोर की आंखें बांध दें। और ढक दें।

ह्विटनि के मत में—'परले तट पर २१ अजगरनी हैं. जो कैंचुली छोड़ चुकी हैं। उनकी कैंचुलियों से दुष्ट, पापी, डाकू की आंखें बांध दें'।

ये दादागुरु सायण के शिष्यों ने कैसा उत्तम अर्थ किया है। परन्तु यह किसी ने नहीं बतलाया कि जिस डाकू की आंख से छिपना चाहते हैं उसकी आंखें सांप की कैंचुलियों से बांधी कैसे जायेंगी? शायद योरोपीयन विद्वान् तो कहदेंगे कि इसका पता दादागुरु जानें, हमें तो शब्दार्थ से मतलब। संगति की हम क्या जानें, ये तो जादू के अगट सगट मन्त्र हैं। हिन्दू शिष्य कह देंगे कि मन्त्र के ज़ोर से आप से आप कैंचुलियां आंखों पर आ लिपटेंगी और शत्रु अन्धे हो जायेंगे। पर खेद है कि बुद्धि इन असंगत अर्थों को नहीं मानती। कणाद ने कहा है—"बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे।" अर्थात् वेद में वाक्य रचना अगट सगट नहीं है, वह बुद्धि पूर्वक है। और यही मन्तव्य और ऋषियों मुनियों का भी है। तो फिर इस प्रकार के अर्थों पर कब बुद्धि संतोष कर सकती है। क्षेमकरणजी ने यह मन्त्र सेना के दस्तों पर लगाया है। परन्तु हमारी तुच्छ बुद्धि में शत्रु सेना पर सांप

की केंचुली से उत्पन्न विषैले धूएं के प्रयोग से उनकी आंखें नष्ट कर देने का उपदेश किया है। वेद ने लिखा है (अक्ष्यौ अपिव्ययामसि) आंखों को हम नाश करें, न कि बांधें। वेद ने उपाय बतला दिया। आगे कल्प और रहस्य ग्रन्थ का काम है कि उसकी क्रिया और प्रयोग विधि को बतलावे। यदि वर्त्तमान के उपलब्ध कौशिक सूत्रादि भी उसका क्रियाकलाप नहीं बतला सकते तो वे भी व्यर्थ हैं। प्राचीन काल में वेद के उपवेद उन सब की पूर्ण व्याख्या करते थे। परन्तु अब उपवेदों का लोप हो गया है। हमारी सम्मति में शत्रुविनाश के इस सूक्त के क्रियाकलाप का ज्ञान 'मायावेद' या 'पिशाचवेद' या धनुर्वेद या शस्त्रास्त्रवेद से जानना चाहिये। और पूर्वोक्त चिकित्सा भाग का ज्ञान आयुर्वेद से जानना चाहिये। अंग विद्याएं न जान कर वेदों का अर्थ करने से वास्तव में अर्थों के अनर्थ किये जायेंगे।

प्रस्तुत भाष्य की विशेषताएं दर्शाने के लिये हम ने दृष्टान्त के रूप में ये ६ सूक्त उठाकर रखे हैं वस्तुतः हमारा प्रायिक मतभेद तो सभी सूक्तों के अर्थों में न्यूनाधिक रूप में है। खासकर तब जब कि योरोप के विद्वान् देवता वाचक शब्दों से केवल देवता भर मानते हैं और मन्त्रों को बुद्धि पूर्वक वाक्य न मान कर आजकल के नजरबन्दी के जादूगरी या शौबदेबाज़ी के खेल करने वालों और ओझा झाड़ा फूंका करने वालों के अगट सगट जन्तर मन्तर के समान बैठे हैं।

विनियोग।

तब प्रश्न यह उठता है कि ये विनियोग किस प्रयोजन से हैं। कौशिक सूत्र, वैतान सूत्र, शान्तिकल्प आदि नाना कल्प ग्रन्थों में सूक्तों के पाठ, जप आदि का विनियोग किस प्रयोजन का है? उसका उत्तर यही है कि विद्वानों ने वेदविद्या की रक्षा के लिये वैयक्ति, सामाजिक, और राष्ट्रीय

विशाल कार्यों तक में विनियोगों द्वारा पद्धतियां रची हैं। परन्तु उन विनियोगों के होने से क्या वेदमन्त्र के तत्वार्थ में भेद थोड़े ही आ सकता है? इसी कारण एक २ सूक्त के बीस २ विनियोग भी हैं जैसा हमने प्रथम सूक्त पर विवाद करते हुए भूमिका में ही दर्शाया है। कौशिकसूत्र या सायणभाष्य में भी यह बात देखी जा सकती है। परन्तु तो भी वेदमन्त्र का एक ही सत्यार्थ है। कल्पकार कौशिक आदि ने तो अपने काल के लोक प्रचलित विनियोगों को संग्रह कर लिया है। प्राचीन ग्रन्थ लुप्त होजाने पर फिर तो नवीन गढ़न्त भी परम्परा से चल पड़ी। बाद में विनियोगों की तो इतनी अन्धपरम्परा चल पड़ी है कि एक २ शब्द का साम्य देखकर भी मन्त्र विनियुक्त होने लगे। जैसे श्रावणी कर्म में दधि-सत्तू खाने के समय 'दधिक्राव्णोरकारिषम्०' इस मन्त्र का पाठ गृह्य सूत्रों में और कर्मकाण्ड समुच्चयों में चल पड़ा। यदि पौराणिक विनियोगों को लें तो और भी हास्य होता है। पं ह्विटनी आदि ने स्वयं स्थान २ पर लिख दिया है कि यहां विनियोग असंगत, अबुद्धिपूर्वक है।

इसके अतिरिक्त योरोप के विद्वानों के चित्त में यह कभी बैठता ही नहीं कि सामान्य रूप से या विशेष रूप से अथर्ववेद के मन्त्र, किसी प्राचीन आर्षकाल में विशाल लोकसमाज के ज्ञानप्रद गुरु, पथदर्शक और कानून और आचार और रहस्य विद्या के मूलसूत्र भी हो सकते हैं। इसी कारण उनको वेद के काल की सभ्यताको परम उच्च सभ्यता स्वीकार करने में भी संकोच होता है। हमारा अपना विचार है कि एक काल में वेद परम मान्य ग्रन्थ, सर्वोपरि कानून और प्रभुग्रन्थ थे। और अपने काल के बादमें भी जनताके हृदयों में और ऋषि मुनियों और बड़े २ दिमागों के आचार्यों पर 'श्रुति' या वेद का प्रभुत्व रहा है। और उसीका यह फल हुआ कि यद्यपि कालक्रम से लोगों के आचार विचार और साधना में भी परिवर्तन होगये तो भी वेद महामान्य ही बने रहे। अब हम

पाठकों के ज्ञापनार्थ संक्षेप से इस खण्ड के अन्तर्गत काण्डों में से ही वेदप्रतिपादित कुछ विषयों का दिग्दर्शन कराते हैं।

कुछ विषयों का दिग्-दर्शन

१. गृहस्थ प्रकरण

वर्तमान के पाश्चात्य प्रभावों में पले दिमागों का यह एक विचार है कि प्राचीन आर्ष काल में विवाह-बन्धन नहीं था। स्त्रियां उच्छृंखल रूप से जिस किसी के साथ हो लेती थीं और कोई समाजहित के लिये विवाह का कानून नहीं था। विवाह का बन्धन बाद में चला है। इसकी पुष्टि में वे प्रायः महाभारत में लिखी उद्दालक की माता की कथा कह दिया करते हैं। परन्तु हमें प्रतीत होता है कि वे कथाएं विवाहबन्धन के अभाव की सूचक नहीं प्रत्युत किसी उच्छृंखल माथे की मनगढ़न्त है। क्योंकि वेद में हमें दृढ़ विवाह-बन्धन, स्वयंवर, उत्तम संतान उत्पत्ति और परस्पर की प्रतिज्ञाएं आदि के वे सब कानून उपलब्ध होते हैं जो एक उत्तम जनसमाज की व्यवस्था के लिये आवश्यक हैं। जैसे—पिता कन्या को उत्तम, संयमी युवा पुरुष के हाथ दान करे जिससे कि वह कुल-पालिका बने। 'एषा ते कुलपा राजन् ताम् उ ते परि दद्मसि [१ । १४ । ३]। यह कन्या तुम्हारी स्त्री बन कर रहे—'एषा ते कन्या राजन् वधूर्निधूव्रतां यम'। [१ । १४ । ३] वह विवाह बन्धन का गठजोड़ा, कन्या के माता पिता या भाई के घर में बंधे। "सा मातुर्बध्यतां गृहेऽथो मातुरथो पितुः। [१ । १४ । २] कन्या पति को स्वयं वरण करे, और पति भी कन्या को वरे, दोनों का परस्पर अभिलाषा से विवाह हो 'आ इयमगन् पतिकामा, जनिकामोहममागम्' [२ । ३० । ५] अर्थात् यह स्त्री पति=अपने रक्षक पतिदेव को प्राप्त करना चाहती है और मैं पुरुष सन्तानोत्पत्ति करने वाली स्त्री को पाना चाहता हुआ यहां यज्ञमण्डप में आता हूं। पत्नी पति को इतना चाहे कि वह पति को छोड़ कर दूसरे पुरुष के पास न जावे और पति भी उससे ऐसा प्रेम करे कि वह दूसरे को मन में न रखे। 'एवा मथ्नामि ते

मनः । यथा मां कामिनी असि । यथा मत् न अपगा असः ' [२ । ३० । १] । पति पत्नी एक दूसरे का वहन करें, अर्थात् विवाह करें, दोनों की धन सम्पत्ति एक हो, धर्म, कर्म, ऐश्वर्य सब एक हों, वे एक होकर रहें और प्रेम से एक दूसरे को चाहते हुए रहें । सं चेन्नयाथः अश्विनौ, कामिनौ सं च वक्षथः । सं वां भगासः अग्मत । सम् चित्तानि । सम् उ व्रता ॥ [२ । ३० २] विवाह को नियत करने के लिये प्रथम एक विद्वान् ब्राह्मण कन्या के घर आवे वह सब वरों में से उत्तम वर के गुण बतलावे ताकि कन्या उसे अपना पति चुन सके । ' आ नः अग्ने सुमतिं सम्भरः गमेद् इमां कुमारीं सह नो भगेन । ' [२ । ३६ । १ ।] स्त्री पति को प्राप्त करे, उत्पादन में समर्थ पति (सोम) उसको सफल मनोरथ करे, वह रानी बन कर उत्तम पुत्र जने, स्त्री पति को प्राप्त करके शोभा प्राप्त करे । 'इयमग्ने नारी पतिं विदेष्ट । सोमो हि राजा सुभगां कृणोतु । सुवाना पुत्रान् महिषी भवाति । गत्वा पतिं सुभगा विराजतु ॥ ' [२ । ३६ । २] विवाह यदि केवल पति पत्नी के परस्पर प्रेम से रहने भर का आपस का समझौता हो तो वह कोई प्रबल-दमन न होने से टूट भी सकता है । परन्तु नहीं । वेद की दृष्टि में विवाह करना सामाजिक सुव्यवस्था का कार्य है जिस पर राजनियम भी होना आवश्यक है । वेद में राजा का यह कर्त्तव्य बतलाया है कि वह पति पत्नी के बन्धन को दृढ़ करे । ' सं जास्पत्यं सुयममाकृणुष्व ।' [७ । ७३ । १०] । हे राजन् ! दम्पति के सम्बन्ध को तू खूब दृढ़ बना ।

वेद इस गृहस्थ का उत्तम परिणाम पुत्रोत्पत्ति बतलाता है । स्त्री को बराबर चिरंजीवी पुत्रों की माता बनने का उपदेश है—' भवासि पुत्राणां माता जातानां जनयांश्च यान् [३ । २३ । ३] । स्त्री पुत्रों को प्राप्त करे, पुत्र उसको सुखकारी हों और वह पुत्रों को सुखकारी हो । 'विन्दस्व त्वं पुत्रं नारि यः तुभ्यं शम् असत् । शम् उ तस्मै त्वं भव [३ । २ । ३ । ५] । यदि स्त्री बंध्या हो तो उसके बांझपन को दूर करे ।

' येन वेहद् बभूविथ नाशयामसि तत् त्वत् ' [३ । २५ । १] ।

यदि गर्भ गिर जाय तो ओषधियों से उसकी रक्षा करें—

ताः त्वा पुत्रविद्याय देवीः प्रावन्तु ओषधीः । [३ । ३९ । २] ।

गृहस्थ बसा कर स्त्री घर का पालन करे वह घर के सब पुरुषों और पशुओं को पालन करे उन्हें और पुष्ट करे । 'शिवा भव पुरुषेभ्यो गोभ्यो अश्वेभ्यः शिवा'। [३ । २८ । ३] पशून् यमिनि पोषय । [३ । २८ । ४] क्या गृहस्थ के इन नमूनों को देखकर कोई कह सकता है कि ये आदर्श जंगलियों के हैं? हां, वर्त्तमान सभ्यता के अभिमानी लोग अपने पर जरा आंख डालें तो उनको योरोप में होने वाले घोर व्यभिचार और गर्भ के निरोध के लिये घातक ओषधियों के प्रयोग और विलासिता के लिये शर्म अनुभव करनी चाहिये । हमें गर्व है कि ये पाप वेद के काल में नहीं थे ।

२. कृषि, व्यापर, विज्ञान आदि

सभ्यता का दूसरा दृश्य वेदोपदिष्ट कृषि, व्यापार, व्यवसाय, उद्योग और वेतन आदि के नियमों में दिखाई देता है । संक्षेप में (१) वणिग् व्यापार में बड़े धनाढ्य लोग प्रवृत्त हों । इन्द्रम् अहं वणिजं चोदयामि । मार्ग के चोर लुटेरों को दमन करके व्यापार को अभय कर दिया जाय । 'नुदन् अरातिं परिपन्थिनं मृगं' [३ । १९ । १] । अपना माल बेच कर दूसरे देशों से धन लावें । 'यथा क्रीत्वा धनम् आहराणि' [३ । १९ । २] । व्यापारियों के लिये राजा रास्तों में पडावों का उत्तम प्रबन्ध करे । 'इमाम् अग्ने शरणिम् मीमृषः नः यम् अध्वानं अगाम दूरम् ।' हम क्रय-विक्रय के ऐसे दर नियत करें जिससे हमें लाभ हो । 'शुनं नो अस्तु प्रपणः विक्रयश्च प्रतिपणः फलिनं मा कृणोतु ।' [३ । १९ । ४] सौदा परस्पर की सलाह से पटा लें—'इदं हव्यं संविदानौ जुषेथाम् ।' व्यापार और उससे पाया नफा सब को सुखकर हो, उससे किसी को कष्ट न हो । 'शुनं नो अस्तु चरितमुत्थितं च ।' जिस धन से हम व्यापार करें वह धन बराबर बढ़े, पूंजी कमती न हो अर्थात् लिमिटेड् कम्पनी हों । येन धनेन प्रपणं चरामि धनेन देवा धनमिच्छमानः । तन् मे भूयो भवतु मा कनीयः ॥

और राजा घूंसखोर अधिकारियों को व्यापारों में बाधक न होने दे। 'अग्ने सातन्नो देवान् हविषा निषेध।' प्रत्युत राजा उनको स्वयं नौकरी दे।

जब समस्त सभ्यताभिमानी योरोप जंगली, होकर केवल मछली और जंगली जानवरों के शिकार पर पशु जीवन बिताता था उससे भी कितने युग पूर्व वेद में कृषि का वैज्ञानिक उपदेश हैं—'सीरा युञ्जन्ति कवयो। युगा वितन्वते पृथक्।' [३ । १७ । १] विद्वान् लोग हलों को चलावें और जोड़े के बैलों को जोतें। युनक्त सीरा वि युगा तनोत। कृते यौनौ वपत इह बीजम्', [३ । १७ । २] हल जोतो और जोड़े खोल दे और फिर हल से जुती भूमि में बीज बो दो। 'विराजः श्रुष्टिः सभरा असत्' तब खूब गाढ़ी अन्न की फसल हो और 'नेदीयः इत सृण्यः पक्वमायवन्' पके धान को दरातियों, हंसुओं से काट लो। कृषि से ही सब पदार्थ प्राप्त हैं। 'उदिद् वपतु गामविम्०', [३ । १७ । ३]

मांस भक्षी संसार को सिवाय मांस से अपना पेट भरने के कुछ नहीं आता। परन्तु वेद धान्य और, और पुष्टिकारक ओषधियों के संग्रह का उपदेश करता है। "पयस्वतीरोषधयः पयस्वन्मामकं वचः। अथो पयस्वतीनामा भरेहं सहस्रशः॥" ओषधियां पुष्टि करती हैं, मेरा वचन पुष्टिकारक हैं, मैं हज़ारों पुष्टिकारक ओषधियों का संग्रह करूं। अन्न उत्पन्न करने के लिये राजा हज़ारों श्रमी लगावे और फसलें कटावे तो संसार भर के खाने का अन्न पा सकता है। "शतहस्त समाहर सहस्रहस्त संकिर। कृतस्य कार्यस्य चेह स्फातिं समावह॥" (३ । २४ । ५) लोकोपकार के लिये जंगल के जन्तुओं का पालन करने का भी उपदेश किया है। "सं सं स्रवन्तु पशवः समश्वाः समु पूरुषः।" (१ । २६ । ५)

हम गो, दुग्ध, धान्य एकत्र करें: वीरों को उत्पन्न करें, स्त्रियों को घर पर ला कर बसें। आ हरामसि गवां क्षीरमाहार्षं धान्यं रसम्। आहुता अस्माकं वीरा आ पत्नीरिदमस्तकम्॥ (१ । २६ । ५)।

इन सब उन्नतियों के होते हुए उनको व्यवस्थित करने के लिये प्राचीन आर्ष काल में विज्ञान की उन्नति भी पर्याप्त रूप में थी। उदाहरण के तौर पर वेद ने जलों का 'उदक' नाम इसीलिये बतलाया है कि देव-विद्वान् पुरुष बहते हुए जलों को भी ऊपर उठा लेता है और अपनी इच्छानुसार ऊपर की भूमियों पर पहुंचा देता है। "एको वो देवो अपि अतिष्ठत् स्यन्दमाना यथावशम्।"

जलों के भीतर भी दो गुण हैं अग्नि और सोम। क्या यह तेजाब के बनाने वाली हाइड्रोजन और आक्सीजन दो तत्वों की सूचना तो नहीं है।

"अग्नीषोमौ बिभ्रत्यापः इत्ताः" (३ । १३ । ५)। जलों को जहां वैज्ञानिक विद्वान् प्रयोग में लाता है वहां वे बलपूर्वक काम करते हैं।

"इह इत्थमेत शक्वरीः यत्र इदं वेशयामि वः।" (३ । १३ । ७)

विद्युत् के विषय में वेद ने लिखा है कि विद्वान् लोग बिजली को शत्रुओं के ऊपर शस्त्र के रूप में फेंक कर प्रयोग करते हैं।

'यां त्वा देवा असृजन्त विश्व इषुं कृण्वा ना असनाम धृष्णुम्।' (१ । १३ । ४)॥

बन्दूकों के बनाने के विषय में वेद ने लिखा है कि दुष्टों के नाश के लिये सीसे की गोली बना कर अग्नि=बारूद से मारें। 'तं त्वा सीसेन विध्यामः।' (१ । १६ । ४)॥ इसी प्रकार और भी वैज्ञानिक बातों को लिखा है जिनका प्रस्तुत पुस्तक में विस्तार से रहस्य खोला गया है।

३. आयुर्वेद

आयुर्वेद तो अथर्ववेद का उपवेद है, इस सम्बन्ध में वेद में बहुत विज्ञान उपलब्ध होता है। जैसे आरोग्यता प्राप्त करने के लिये शिरोरोग, खांसी और शरीर के नस २ में बैठे क्षय को दूर करने के लिये रोगी जंगलों और पर्वत के वायु का सेवन करे।

'वनस्पतीन् सचतां पर्वतांश्च' (१ । १२ । ३)

शरीर में से रोग बाल्य काल से ही दूर करने चाहियें, खुली वायु वाले रोशनीदार मकान होने चाहियें। (२ । १० । ४, ५) प्रकाश और शुद्ध वायु से राजयक्ष्मा तक का रोग नाश हो जाता है। (२ । १० । ८) रोगकारी जन्तुओं का नाश करने का वेद ने बड़ी स्पष्टता से उपदेश किया है।

तया संपिनष्मि सं क्रिमीन् दृषदा खल्वाँ इव। (२ । ३१ १)

आंतों, पीठ, त्वचा आदि में फैलने वाले रोग-कीटों को भी नाश करे (२ । ३१ । ४)। रोगकारी कीट जल, भोजन, पर्वत, वन और पशुओं में भी पलते हैं। वे हमारे शरीर में घुस जाते हैं, उनको भी नाश करें। (२ । ३१ । ५) इसी प्रकार इन रोगकीटों की पसलियों को जड़ मूल से नाश करे उनके विष के अंगों को नष्ट कर दें (२ । ३२ । २-६)। देहों के सभी अंगों में से यक्ष्मा को भी दूर करे (२ । ३३ । १-७)।

महारोगों के नाश करने वाली ओषधियों को वर्णन करते हुए पृश्न-पर्णी नामक ओषधि से नाना प्रकार के घृणाजनक रोग दूर करने का उपदेश किया है (२ । २५ । १-५) ज्वर को नाश करने के लिये 'कूठ' ओषधि का वर्णन किया गया है। इसी से शिरो रोग चक्षु रोग का भी उपाय बतलाया है (४ । १० । १-१०), नपुंसकता को दूर करने के लिये वृष्य ओषधियों का प्रयोग दर्शाया है (४ । ४ । १-८)। विष की चिकित्सा के लिये 'ब्राह्मण' नामक अपूर्व ओषधि का प्रयोग है और भी नाना प्रकार के विषों की चिकित्सा (४ । ७ । १-७) के लिये 'प्रश्नि' नामक ओषधि का वर्णन है।

इसके अतिरिक्त ऐसे २ प्रयोग भी दर्शायें है जिनमें पूर्ण सर्पविद्या का विधान किया है जैसे आंख की ज्योति से सर्प के विष को रोकने और बीसियों सर्पों के विषों को रोकने वाले प्रबल प्रतिविषों के प्रयोग करने का दिग्दर्शन कराया है (५ । १३ । १-११)। इसके अतिरिक्त प्रसव-विद्या का भी वेद ने उपदेश किया है। (१ । ११ । १-६)

४. राजनीति और राष्ट्रपालन

प्रजा के पालन और उसमें सुख शान्ति के स्थापन के लिये राजा का स्थापन, उत्तम राजा के गुणों का वर्णन, दुष्टों का दमन, दण्डविधान, राजसभा, पर-राष्ट्र-विजय आदि का बराबर उपदेश किया है । उसको हम विस्तार से क्या दिखायें, विषय-सूची से ही इन विषयों को प्रस्तुत पुस्तक में पा सकेंगे । तो भी एक दो बातों पर पाठकों का ध्यान खेंचता हूं (१) वरुण वह राजा है जो प्रजा को दुष्टों से बचाता और जिसको प्रजाएं स्वयं अपना राजा वरण करती हैं । वह राज्य प्रबन्ध के लिये और दुष्टों का पता लगाने के लिये गुप्तचर विभाग रखे । उसके स्पश (स्पाईज़) सर्वत्र विचरें । सत्य-वादी को वे न पकड़ें प्रत्युत असत्यवादियों को पकड़ लें (४ । १६ । ६, ७) । राजा अपराधी को जब दण्ड दे तो नियमपूर्वक अपराधी के मा, बाप, वंश और कुल का नाम और दण्ड की धारा लिखकर दण्डकर्त्ता अधिकारी के हाथ सौंपे (४ । १६ । ९) । इस प्रकार की व्यवस्थित शासन प्रणाली का उपदेश वेदने किया है । हत्याकारी पुरुषों के लिये यही विधान किया गया है कि अपने किये का वे वही दण्ड पावें जैसा वे औरों से करते हैं (२ । २४ । १–८) । अपामार्ग विधान में कण्टक शोधन प्रकरण को बड़ी खूबी से रखा है (४ । १७–१९ ।) । लोगों को गुप्त हिंसाकारी प्रयोगों से मारने वालों का दण्ड विधान करते हुए वेद ने कृत्या-प्रतिहरण सूक्त में दुष्टों का विस्तार से वर्णन किया है । गुप्त हिंसा के प्रयोगों को ही वेद ने ' कृत्या ' शब्द से कहा । उनको दण्ड देने के लिये कृत्या का उन पर ही प्रयोग करने का उपदेश किया है, अर्थात् राजा उनको भी उसी दण्ड से दंडित करे । परन्तु भोले लोग उसको टोना या टोटा आदि चलाने की कोई जादू की तदबीर समझ लेते हैं । इसका विवरण कुछ अपामार्ग-विधान में और (४ । १९) में और विशेष रूप से (५ । ३१ । १–१२) में किया है ।

५. सदाचार

हम आर्यगण वेद के दर्शाये आचार को आदर्श सभ्यता स्वीकार करते हैं और विकासवाद के प्रबल प्रभाव में पले योरोपीयन लोग अभी उसको प्रारम्भिक जंगली सभ्यता बतलाना चाहते हैं। परन्तु अब हम संक्षेप से बतलाते हैं कि आदर्श वैदिक सदाचार की क्या शिक्षा है। 'मनुष्य सदा अपने को सर्वप्रिय बनाने का यत्न करे और मधुर बचन कहे उसका घर में आना, जाना और बोलना आखों से देखना तक भी मधुर प्रतीत हो (१। ३४। ३। ४)। गृहस्थ में पुरुष ऐसी प्रेममय चक्षु से अपनी पत्नी को देखे कि पत्नि प्रेम की मधुरता के वश होकर दूसरे के पास जाने की इच्छा तक न करे (१। ३४। ३। ५)। परस्पर एक दूसरे के प्रति एकहृदय, एकचित्त, द्वेष रहित होकर रहें, एक दूसरे के प्रति इतना प्रेम करें जैसे गाय अपने बछड़े से प्रेम करती है। उसी प्रेम से एक दूसरे के पास जाया आया करें। पुत्र सदा पिता की आज्ञा पालन करे, माता सम्मान करे। पति पत्नी एक दूसरे को शान्तिदायक बचन बोलें, भाई भाई से द्वेष न करे, बहन बहन से प्रेम करे, सब एकचित्त एक कार्य में लगें और कल्याण और सुखदायी बचन बोल करें। जिस वेदज्ञान के अनुकूल चल कर विद्वान् परस्पर नहीं लड़ते और द्वेष नहीं करते ऐसे वेदज्ञान का समस्त पुरुष श्रवण करें। बड़े, छोटे सब एक कार्य में लगकर ऐसे बंधे कि एक दूसरे का साथ न छोड़ें। समस्त प्रजा के लोग आपस में सुन्दर मनोहर बातें बोला करें। सब का पीना, खाना एक हो, समान हो, सब परमेश्वर की मिलकर उपासना करें, सायंकाल प्रातःकाल सब मिलकर अपने चित्त उत्तम कर लिया करें। (३। ३०। १–७) इस के अतिरिक्त वेद यह भी शिक्षा देता है कि प्रत्येक आदमी अपने को हर प्रकार के पाप के कार्य से मुक्त रखे (३। ३१। १–११) इस के लिये मनुष्य अपनी भावना को दृढ करे और पाप न करने का संकल्प करे, साथ ही पाप से मुक्त होने के लिये वह परम उपास्य परमेश्वर

की उपासना करे (४ । २३-२७) । मनुष्य अपनी आत्मशक्ति और सहिष्णुता को इतना प्रबल करे कि यदि उससे दस गुना अपवाद भी हो तो सब को वह दबा सके (५ । १५ । १-११) ।

६. परमेश्वर

मैक्समूलर, मैकडोनल आदि योरोपीयनों का अधिक विचार ऐसा है कि वेद में बहुत से देवताओं की उपासना का विधान है और उन पर विकासवाद का भी प्रभाव है कि एक परम ईश्वर की सत्ता के चरम सत्य को पूर्व ऋषियों ने क्रम से जाना है जो बाद में उपनिषदों में और दर्शनग्रन्थों में विकसित (evolved) हुआ है । परन्तु उनका यह विचार नितान्त असत्य, भ्रममूलक और वेद को न समझने के कारण है । ऋषियों ने वेद मन्त्रों में यह साक्षात् किया है कि 'प्रजापते न त्वदेतानि अन्यो विश्वा जातानि परिता बभूव ।' (अथर्व० ७ । ८ । ३) 'हे प्रजा के पालक परमेश्वर ! तुझ से दूसरा कोई भी इन उत्पन्न पदार्थों के ऊपर मालिक नहीं है ।' 'वह परमात्मा की शक्ति सृष्टि के आदि, मध्य और अन्त में भी सदा पूर्ण रहती है, अतः समस्त दिव्य तेजोमय पदार्थ उसके ही आश्रय में रहते हैं' (अथर्व० ७ । ८० । २) । 'परमात्मा तो जीवों के आत्माओं में बसा एक ऐसा परम पूज्य तत्त्व है जिसको राजा, रङ्क, बलवान् और निर्बल, सभी उसके महान् ऐश्वर्यमय रूप का अनुभव करके चाहते हैं कि हम उसकी उपासना किया करें' (३ । १६ । २) । 'वह परमात्मा सत्यरूप में आराधना करने योग्य होने से 'सत्यराधः' है, ऐश्वर्यवान्, भजन करने योग्य होने से 'भग' है । उसकी हम प्रातः सूर्योदय काल में अवश्य उपासना करें' (३ । १६ । ४) । 'हम उसीके भजन से स्वयं ऐश्वर्यवान् हो सकते हैं, वह हमारे हरेक कार्य में प्रथम उपास्य है' (३ । १६ । ५) । 'वह सब को शरीर देता है, वह दो पाये, चौपाये सब का प्रभु है' (४ । २ । १) । 'वह अपनी महत्ता से समस्त जगत् का राजा है जिसका आश्रय लेना अमृत और परे रहना मृत्यु

है' (४ । २ । २) । 'जो ज़मीन आसमान को थामे हुए है, जिसके भय से यह पृथ्वी विचलित नहीं होती । वह समस्त लोकों का रचयिता है हम सब उसकी उपासना करें । समस्त उच्च, हिमाच्छादित पर्वत जिसकी महिमा के नमूने हैं, समुद्र में पृथ्वी का खड़ा रहना जिसका आश्चर्यजनक कार्य है । ये दिशाएं जिसकी बाहू के समान फैली हैं, उसकी हम उपासना करें' (४ । २ । ४, ५) ।

उस महान् शक्ति परमेश्वर के विषय में अथर्ववेद में बड़े आश्चर्यजनक वर्णन हैं जिनके एक २ अंश उपनिषदों का रूप धारण कर रहे हैं । केन सूक्त का एकांश केनोपनिषद् है । स्कम्भसूक्त पढ़ कर तो विस्मय होता है । वरुण सर्वव्यापक परमेश्वर का वर्णन देखिए—'वह सबसे महान् परमात्मा सर्वव्यापक होकर इतने पास से देखता है कि उससे कोई चोरी नहीं कर सकता । वह पास बैठ कर बात करने में तीसरा है, छलते, छुपते और हिंसा करते पुरुष पर भी उसकी आंख रहती है । उसकी महान कोख में बड़े समुद्र छिपे हैं तो भी वह महान् इतना सूक्ष्म है कि वह पानी के छोटे से छोटे बूंद में भी छुपा है, यह भूमि, आकाश, और उसमें स्थित दूर पासके सब लोक उसी के शासन में हैं । कोई आकाश लांघ कर भी चला जाय तो परमेश्वर के पास से छूट नहीं सकता । उसने तो मनुष्यों की झपकें तक गिन रखी हैं । उसके फन्दे सत्यवादी को अभय दान करते हैं, और असत्यवादी को जकड़ लेते हैं । वह सब जनों, देशों और विद्वानों के प्रति समान भाव से रह कर भी प्रत्येक व्यक्ति पर भी खास तौर पर शासन करता है' (४ । १५ । १–६) । इसके अतिरिक्त 'वह समस्त संसार को उठाने वाला है । वह जमीन आसमान, अन्तरिक्ष छहों दिशाओं को उठा कर समस्त संसार में व्यापक हैं । वह ऐश्वर्यवान् तीनों लोकों और तीनों कालों का स्वामी है । समस्त 'देव' दिव्य शक्तियों का वस्तुतः वही स्वयं कार्य करता है । जिससे बड़ा कोई दाता नहीं, जिससे बड़ा कोई लेने वाला नहीं, वह सब से बढ़ कर सब का पोषक, सब का कर्त्ता, तेजोमय है । वही अपने रुचिर रूप होने से

इन्द्र, विश्वधारक होने से अग्नि, पालक होने से प्रजापति, सर्वोच्च उच्च होने से परमेष्ठी, है। हे लोगो! उसी सर्वहितकारी परम पुरुष की शरण में जाओ उसने सब को थामा है, उसने सब को धारण किया है। जो उस प्रभु की प्रातः सायं और मध्य दिनमें भी उपासना करते हैं, उससे बल प्राप्त करते हैं' वे कभी नाश को प्राप्त नहीं होते (४ । ११ । १-१२) । इसी प्रभु को वेद ने 'अनड्वान्' कहा है जिससे भ्रम में पड़कर यवनों ने पृथ्वी को बैल के सींगों पर मान रखा है। और अलंकारप्रिय भक्तों ने शिव और बैल की कल्पना की है। शिवपुराणकार ने रहस्य ठीक खोल दिया है।

वृषो धर्म इति प्रोक्तः तमारूस्ततो वृषी।

धारण शक्ति=धर्म ' वृष ' है उसका स्वामी ' वृषी ' महादेव है।

इन सब विषयों के साथ सदाचार, शिक्षा, आत्मज्ञान, ईश्वरोपासना, आयु 'तेज' बल की प्रार्थना, तपस्या, इन्द्रियजय, पापपरित्याग, मोक्षमार्ग, शुक्लिसाधना आदि के और भी अनेक प्रकरणों को दर्शाया है जिनसे मनुष्य का जीवन उन्नत, ज्ञानमय और सुप्रसन्न हो सकता है और जिनको आधार में रखकर उपनिषदें और दर्शनग्रन्थ प्रवृत्त हुए हैं। योरोपीयन लोग जिनको अर्वाचीन विकास कहना चाहते हैं वे वेद के ही प्राचीन यथार्थ तत्व हैं। दर्शन तो उनकी रक्षा और व्याख्या करने वाले हैं। जिनको हम यहां विस्तारभय से नहीं दर्शाते इन सब प्रकरणों को प्रस्तुत ५ काण्डों में भी पाठक पर्याप्त मात्रा में पावेंगे फिर अगले काण्ड जो अगले खण्डों में आवेंगे उनमें भी इन और अन्यान्य भी बहुत से विषयों का समावेश है। जिनको हम अगले खण्डों की भूमिका में यथास्थान दर्शावेंगे।

ब्राह्मण ग्रन्थ और गृह्य सूत्र

हमें इस वेदभाष्य में सब से अधिक सहायता ब्राह्मण ग्रन्थ और उन के आरण्यक भागों और उपनिषदों से प्राप्त हुई है। हमने प्रायः भाष्य में स्थान २ पर ब्राह्मणों द्वारा प्रदर्शित प्राचीन वैदिक परिभाषाओं को खोजने

का यत्न किया है। और कहीं २ प्राचीन गृह्यसूत्रों में भी कोई मन्त्र किसी सूक्त का आ जाने पर उसके विनियोग से मन्त्रार्थ की दिशा जानने में साहाय्य प्राप्त हुआ है। जिसको हमने स्थान २ पर दर्शाया है। हिरण्य-केशीय मानवगृह्य सूत्र में हमें कुछ स्थल प्राप्त हुए हैं।

अन्य-संहिताएं

अथर्व-वेदके मन्त्रोंके अन्यसंहिताओंमें आये पाठान्तरोंके देखनेसे अथर्व वेद के मन्त्रों के अर्थों पर बड़ा प्रकाश पड़ता है। और स्पष्ट विदित होता है कि पैप्पलाद आदि शाखाएं किस प्रकार मूल मन्त्र के कठिन पदों को परिवर्त्तित करके रखती हैं। महर्षि-दयानन्द का यह कथन कि शाखा संहिताएं मूल संहिता की व्याख्याएं हैं, पाठक लोग पाठान्तरों पर ध्यान पूर्वक दृष्टि डाल कर सहज ही जान सकेंगे। पैप्पलाद संहिता के बहुत से स्थल इतने विकृत और व्याकरण के नियमों से विपरीत हैं कि उनको मूल-वेद मानना ही असम्भव है। प्रत्युत उनकी संगति भी मूल-वेद की तुलना से ही लग सकती है।

उपसंहार

इस प्रकार हम ने भाष्य की दिशा पर्याप्त रूप से दिखा दी है। यद्यपि अथर्व-वेद के सम्बन्ध में अभी बहुत से विषयों पर बहुत सा कथन करना आवश्यक है तो भी उसका इस छोटी सी भूमिका में उल्लेख करना, असम्भव एवं अप्रासंगिक जान पड़ता है। मेरा विचार है कि 'अथर्व-आलोचन' नामक एक पृथक् पुस्तक निर्माण करके अथर्व वेद के सम्बन्ध के सभी विवाद-पूर्ण विषयों को उसमें स्पष्ट किया जाय। अन्तमें मैं पाठकोंसे नम्र निवेदन करता हूं कि अथर्ववेद के बहुत से गम्भीर रहस्यों को कितने ही अंशों में अभी मैं बहुत न्यून समझ सका हूं। प्राचीन ग्रन्थों के सर्वथा अभाव होने से हम लोग अथर्व-वेद के वास्तविक तत्व को जानने में असमर्थ हैं।

मैं चाहता हूं कि इस सम्बन्ध में और भी गहरा अनुसन्धान हो। इसके अतिरिक्त भाषा भाषियों के निमित्त इस छोटे से ग्रन्थ में यदि प्रत्येक सूक्त और मन्त्र पर थोड़ी २ टिप्पणी भी लगती तो यह ग्रन्थ मोटा पोथा हो जाता। परन्तु फिर मूल्य अधिक हो जाने से ग्राहकों की सुविधा नष्ट हो जाती और प्रकाशक भी बड़े विशाल ग्रन्थ से भय करते हैं तब अन्य भाष्यकारों के विस्तृत आलोचन का कार्य इतने स्वल्प स्थान में क्योंकर होना सम्भव था। यह सब समस्याएं देखकर हम अधिक कुछ नहीं लिखते केवल इतना ही निवेदन करते हैं कि यदि कोई वेदों के प्रेमी धनसम्पन्न दानवीर जन इस वेद के तत्वालोचन के निमित्त मासिक पत्र की आयोजना करें तो विशाल रूप में यह कार्य निरन्तर खण्ड २ के रूप में प्रकाशित हो सकता है। विद्वान् वाचकों से हमारा यह निवेदन है कि मेरे इस प्रयास में जो त्रुटियां वे पावें मुझे स्वयं जता कर अपनी महानुभावता प्रकट करें। इससे आगामी संस्करणों में उनकी सुझाई त्रुटियों को दूर कर मैं उनके ऋण से उऋण हो सकूंगा।

अन्त में ईश्वर से प्रार्थना है कि वह हमें इस पवित्र लोकसेवा, वेदाध्ययन रूप तप और वेदाचिन्तन रूप महायज्ञ में सफल करें।

अजमेर, केसर-गंज.
श्रावण, शुक्लाष्टमी,
१९८९ विक्रमाब्द।

विद्वानों का अनुचर
जयदेव शर्मा,
विद्यालंकार, मीमांसातीर्थ।

ग्रन्थ में प्रयुक्त संकेतों का विवरण

पादटिप्पणी में संक्षेप से दर्शाने के लिये जिन संक्षिप्त संकेतों को प्रयुक्त किया गया है उनका विवरण नीचे लिखे रूप से जानना चाहिये।

यन्त्र संहिता में जात्यस्वरित के लिये हमने केवल स्वरित का चिन्ह न देकर / यह चिन्ह दिया है।

जो पाठ भेद जिस सूक्त के जिस मन्त्र के जिस चरण में आया है उस को दर्शाने के लिये सूक्त का अङ्क [ ] ऐसे कोष्ठ के बीच में दिया गया है, मन्त्र का अङ्क — डैश देकर लिखा है, विशेष पद का विवरण भाष्य में लिखे शब्द पर १, २, ३. का अङ्क देकर नीचे १. २. ३. इस प्रकार देकर लिखा गया है। प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, पंचम, षष्ठ, सप्तम इन पादों को दर्शाने के लिये (प्र०), (द्वि०), (तृ०), (च०), (पं०), (ष०), (स०) इत्यादि संकेत दिया गया है, किसी विद्वान् के सम्मत पाठ को दर्शाने के लिये 'सम्मतः' शब्द से लिखा है और नये विद्वानों के अभिलषित संशोधन को 'कामितः' शब्द से दर्शाया है। आधार पुस्तकों के संकेत इस प्रकार जानने चाहिये।

अथर्व०=अथर्ववेदे

आश्व० गृ० सू०=आश्वलायनगृह्यसूत्रे

आश्व० श्रौ० सू०=आश्वलायनश्रौतसूत्रे

ऋ०=ऋग्वेदे

उ०=उणादिपाठे

ऐ० ब्रा०=ऐतरेयब्राह्मणे

उप०=उपनिषदि

क०=कठोपनिषदि

कौ०=कौशीतकीब्राह्मणे

कौ० अर्थ०=कौटिलीय अर्थशास्त्रे

गी०=गीतायाम्

गो० पू०=गोपथब्राह्मणे पूर्वार्धे

गो० उ०= ,, ,, उत्तरार्धे

गो० गृ० सू०=गोभिलीयगृह्यसूत्रे

गृ० सू०=गृह्यसूत्रे

छान्दो०=छान्दोग्योपनिषदि

जै० उ० ब्रा०=जैमिनीयोपनिषद्ब्राह्मणे

तै० सं०=तैत्तिरीयसंहितायाम्

तै० ब्रा०=तैत्तिरीयब्राह्मणे

दया०=दयानन्दः

निरु०=निरुक्तयास्कीये

पा०=पाणिनीयव्याकरणे

पा० गृ० सू०=पारस्करगृह्यसूत्रे

पेट० लाक्र०=सैंटपीटर्सबर्ग-लैक्सिकन्

पैप्प० सं०=पैप्पलादसंहितायाम्

मनु०=मनुस्मृतौ

मै० सं०=मैत्रायणीसंहितायाम्

ला० श्रौ० सू०=लाट्यायनश्रौतसूत्रे

शं० पा०=शंकरपाण्डरंगः एम० ए० सायणभाष्यसम्पादकः

शां० श्रौ० सू०=शांखायनश्रौतसूत्रे

शां० गृ० सू०= ,, गृह्यसूत्रे

हि० गृ० सू०=हिरण्यकेशीयगृह्यसूत्रे

विषय सूची

प्रथमं काण्डम् (१-१०१)

द्वितीयं काण्डम् (१०३–२०९)

तृतीयं काण्डम् (२१०–३५५)

चतुर्थं काण्डम् (३५६–५४८)

अथर्ववेद-विषय-दर्पण

१. **प्रार्थना**—बल (१ । १), ब्रह्मतेज, आयु (१ । २६), (२ । १३), (२ । १७, १८), (३ । २२), रक्षा (२ । १६), अभय (२ । १५), प्रेम, दमन (२ । १९–२३) दीर्घायु (२ । २८, २९) (३ । ११), ऐश्वर्य, सद्गुण (३ । २०), रक्षा (४ । ३१, ३२), (५ । २४) बल विजय (५ । ३) ।

२. **ईश्वर-स्तुति**—ईश्वर (१ । १०), ब्रह्म विवेचन (१ । ३२) ब्रह्मविद्या (१ । ३४), मोक्षमार्ग (२ । ३४–३५), ईश्वर-स्तुति (३ । १६), (४ । १, २, ११, १४, १६, ३०) (५ । १, २, ६, ११, १७), मृत्यु-तरण (४ । ३५) ।

३. **उपासना-योगसाधना**—अध्यात्म योग (३ । १७), अविद्या-नाश (३ । १८), दर्शनशक्ति (४ । २०), विभूति-साधना (४ । ३९) निन्दा-वशीकरण (५ । १५), आत्मशक्ति-वृद्धि (५ । १६), योगसाधना (५ । २६), ब्रह्मोपासना (५ । २७), ज्ञानाञ्जन (२ । ९), आत्म-ज्ञान (२ । ९), मन की दृढ़ता (५ । १०), चितिशक्ति (२ । २७), तपस्या (२ । १२), ब्रह्मचर्य (२ । १३) ।

४. **पापमोचन**—अलक्ष्मी, दुःस्वभाव त्याग (१ । १८), (२ । १४), पापमोचन (३ । ३१), पतितोद्धार-शुद्धि (४ । १३), (४ । २३–२९, ३३) ।

५. **राजधर्म**—प्रजापीड़कों का दमन (१ । ७, ८, १६, २८), (२ । २४), (३ । ९), (५ । १४–३१), शत्रुनाश (१ । १९), (४ । ४०), राजा के कर्त्तव्य (१ । २०, २१ ३०), (२ । ५, ६, ११) (३ । ८), रक्षा, सभ्यता, शान्ति (१ । २६), सेना-सञ्चालन (१ । २७) राजस्थापना (३ । ३, ४), (४ । २२), राष्ट्र-चक्र (१ । २९), प्रधान

पुरुष (३ । ५), प्रजा के कर्त्तव्य (१। ३०), वीर सैनिक (३ । ६), प्रजा की वृद्धि (३ । १४), शत्रुविजय (३ । १६), (५ । ३), राज्याभिषेक (४ । ८), शासन (४ । १६), न्याय-विधान (४ । ३६), भृत्यवेतन (५ । ७), सेनापति (५ । ८), सेना (२ । ४), दुन्दुभि, युद्धवीर राजा (५ । १६, २०), शस्त्रास्त्र (१ । २), कानून (१ । २) गमनागमन के साधन (१ । १५) ।

६. **विज्ञान**—जलविद्या (१ । ४, ६, ३३). वृष्टि (४ । १५), धान्य-संग्रह (१ । २४), भवन-निर्माण (३ । १२), कृषि (१ । १७) विद्युत् विद्या (१ । १३, १४), पशु-पालन (४ । २१) ।

७. **आयुर्वेद**—वस्ति-चिकित्सा (१ । ३), प्रसवविद्या (१ । ११), हृद्रोग, कामला-चिकित्सा (१ । २२), त्वग्दोष-चिकित्सा (१ । २४), आस्राव-चिकित्सा (२ । ३), प्रत्यंग रोग नाश (२ । ३३), आरोग्य (१ । १२), (५ । २६, ३०), शरीरनाड़ीविज्ञान (१ । १७), कुष्ठ, पलित चिकित्सा (१ । २३). ज्वर-चिकित्सा (१ । २५), (५ । २१), दीर्घ-जीवन (१ । ३५), (२ । २८), (३ । ११), (५ । २८), क्षेत्रिय चिकित्सा (२ । ७), नपुंसक-चिकित्सा, वृष्ययोग (४ । ४). निद्राविज्ञान (४ । ५), सर्पविष-चिकित्सा (४ । ६, ७), (५ । १३), क्षत-चिकित्सा (४ । १२), सन्तति-प्रजनन (५ । २५), रोगजन्तु-नाश (४ । ३७) (५ । ३३), सिलाची ओषधि (५ । ५), स्वास्थ्य लाभ (५ । ६), पृश्निपर्णी ओषधि (२ । २५), अञ्जन (४ । ६), कुष्ठ-चिकित्सा (५।४)

८. **सामाजिक-बन्धन, गृहस्थप्रकरण**—कन्यादान (१ । १४), स्वयंवर (१ । ३०), (३ । २५), योग्य पति-प्राप्ति (१ । ३६) परस्पर प्रेमपूर्वक रहना (३ । ३०), गर्भाधान (५ । २५) लोकोपकारक पुरुष (३ । २१), उत्तम सन्तानलाभ और उत्पत्ति की विधि (३ । ३३) ।

अथर्ववेदसंहिता

प्रथमं काण्डम्

ओ३म् । शं नो॑ दे॒वीर॒भिष्ट॑ये॒ आपो॑ भवन्तु पी॒तये॑ ।
शं॒योर॒भि स्र॑वन्तु नः ॥ अथर्व० १ । ६ । १ ॥

[१] वाचस्पति से बलों की प्रार्थना ।

अथर्वा ऋषिः । वाचस्पतिर्देवता । १—३ अनुष्टुभः, ४ चतुष्पादुरोविराड्‌बृहती । चतुर्ऋचं सूक्तम् ।

ओ३म् । ये त्रि॑ष॒प्ताः प॑रि॒यन्ति॒ विश्वा॑ रू॒पाणि॒ बिभ्र॑तः ।
वा॒चस्पति॒र्बला॒ तेषां॑ त॒न्वो॑ अ॒द्य द॑धातु मे ॥१॥

भा०—(ये) जो (त्रिपप्ताः) तीन गुना सात [२१] इक्कीस पदार्थ (विश्वा) समस्त (रूपाणि) चेतन और अचेतन पदार्थों को (बिभ्रतः) धारण करते हुए (परि यन्ति) गति कर रहे हैं । (वाचः) वाणी का (पतिः) पालक (तेषां) उनके (बला) बलों को (अद्य) आज, सदा ही, (मे तन्वः) मेरे शरीर के भीतर (दधातु) धारण करावे ।

---

[१] १–(प्र०) पर्यन्ति, (च०) 'तन्वमध्यादधाति मे' इति पैप्प० सं० ।

प्राणो वाचस्पतिः । श० ६ । ३ । १ । १६ ॥ प्रजापतिर्वै वाचस्पतिः श० ४ । १ । १ । ६ ॥ वाचस्पतिर्होता दश होतॄणाम् । तै० ३ । १२ । १५ । २ ॥ वाग् इति सर्वे देवाः । तै० १ । ६ । २ ॥ वाग् होता षड्ढोतॄणाम् । तै० ३ । १२ । ५ । २ ॥ वाग् वै यज्ञः । तै० ५ । २४ ॥ वाग् इति मनः । जै० उ० ४ । २१ । ११ ॥ प्रजापतिर्वा इदमासीत्, तस्य वाग् द्वितीया आसीत् । तां मिथुनं समभवत् । सा गर्भमधत्त, सा अस्मादपक्रामत् । सा इमाः प्रजा असृजत । सा प्रजापतिमेव पुनः प्राविशत् । तां० २० । १४ । २ ॥ वाग् अस्य प्रजापतेः स्वो महिमा । श० २ । २ । ४ । ४ ॥ इत्यादि ।

वाचस्पति का अर्थ प्राण, आत्मा और परमात्मा है । वाचस्पति दश होता रूप दश प्राणों का मुख्य 'होता' है । वाणी में सदैव (इन्द्रियगण ओतप्रोत हैं) । ऊपर के छः प्राणों का होता वाक् है । वाणी मन का प्रकट रूप है, वाणी प्रजापति से गर्भ ग्रहण करती है । वह इस समस्त संसार को सृष्टि को उत्पन्न करती है अर्थात् प्रकट करती है, वाणी वेदज्ञान प्रभु की अपनी महिमा है । इत्यादि, उसी समस्त ज्ञानमय प्रभु से सब भौतिक बलों और प्राणमय वाचस्पति, आत्मा से अध्यात्म बलों की प्रार्थना की गयी है ।

त्रिषप्ताः=तीन और सात । पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौ ये तीन लोक, उनके तीन अधिष्ठाता अग्नि, वायु और आदित्य । प्रकृति के तीन गुण, सत्व, रजस् और तमस् । इन तीन गुणों से होने वाले तीन कार्य, सृष्टि, स्थिति और प्रलय । सप्त=सात ग्रह, सात मरुद्गण, सात लोक, सात छन्द, सात ऋषि । यद्वा, त्रिषप्ताः-तीन सत्ते=२१ । प्रसिद्ध सूर्य से अधिष्ठित प्राची दिशा को छोड़कर शेष ७ दिशाएं जिनमें आरोग, भ्राज, पटर, पतङ्ग, स्वर्णर, ज्योतिषीमान् और विभास ये सात सूर्य की शक्तियां विराजमान हैं । होता आदि सात ऋत्विग्-गण अथवा विवस्वान् को छोड़ कर मित्र, वरुण, धाता अर्यमा अंश, भग और इन्द्र ये ७ सूर्य । जैसा ऋग्वेद में (६ । ११४ । ३)

" सप्तदिशो नानासूर्याः सप्तहोता ऋत्विजः । देवा आदित्या ये सप्त । " अथवा, त्रिपक्षः—सप्तग्रह, सप्त ऋषि और सप्त मरुद्गण अथवा—१२ मास + ५ ऋतुएँ + ३ लोक और आदित्य इक्कीसवां । अथवा शरीर के घटक पांच महाभूत पृथिवी, अप्, तेज, वायु, आकाश । पांच प्राण, पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च कर्मेन्द्रिय और अन्तःकरण । ईश्वर की कृपा से ये मेरे में स्थिर रहें । पं० श्रीपाद दामोदरजी सातवलेकर के मत में वाचस्पति 'वला' नामक ओषधि है, जो वाणीप्रदा होने से वाचस्पति कहाना सम्भव है ।

पुनरेहि वाचस्पते देवेन मनसा सह ।
वसोष्पते नि रमय मय्येवास्तु मयि श्रुतम् ॥२॥

भा०—हे (वाचस्पते) वेदरूप वाणी के पालक परमेश्वर ! वा आचार्य ! हे ब्रह्मन् ! (देवेन) प्रकाशयुक्त (मनसा) मननशक्ति, ज्ञान के (सह) साथ (पुनः) वार २ (एहि) मुझे प्राप्त होइये, उपदेश कीजिये । हे (वसोः पते) वसु=प्राणियों के वास=जीवन के सम्पादक पदार्थों के पालक विद्वान् ! ईश्वर ! अथवा (वसोः पते) प्राणके परिपालक आत्मन् ! (नि-रमय) हमें सर्वथा सुखी करो और नाना पदार्थों से आनन्दित, हर्षित, तृप्त करो । (मयि एव अस्तु) आपके दिये ये सब उत्तम पदार्थ मेरे में ही रहें और (मयि) मुझमें ही (श्रुतम्) गुरुपदेश और वेद का ज्ञान भी रहे ।

इहैवाभि वि तंनूभे आर्त्नी इव ज्यया ।
वाचस्पतिर्नि यच्छतु मय्येवास्तु मयि श्रुतम् ॥३॥
ऋ० १० । १६६ । ३ ॥

२–(प्र०) 'उपनेह वाचस्पते', (तृ०) 'असोष्पते', इति पैप्प० सं० । (प्र०) 'उप प्रेहि', (तृ०, च०) वसुपते विरमय मय्येव तन्वं मम' इति मै० सं० ।

३–(प्र०) 'तनू उभे अरत्नी' इति पैप्प० सं० । 'अत्रैवोपि नह्याम्युभे आर्त्नी इव ज्यया । वाचस्पते नियेधे मान्यथा मदधरं वदान्' इति ऋग्वेदे ।

भा०—हे वाचस्पते ! इस साधक पुरुष (मयि) मुझ में (एव) ही (उभे) मेधा और सम्पत्ति, ज्ञान और कर्म दोनों को (वि तनु) विशेष रूप से इस प्रकार विस्तृत कर, बढ़ा, प्रबल कर जिस प्रकार (ज्यया) धनुष् में लगी डोरी से (उभे आर्त्नी इव) धनुष् के दोनों छोर ढीले न रख कर कस दिये जाते हैं और वे बाण को दूर फेंकने में समर्थ होते हैं, उसी प्रकार हम भी अपनी प्रखर तीक्ष्ण बुद्धि और कर्मशक्ति से बलवान् होकर सब विपत्तियों और कार्यों को साध सकें। (वाचस्पतिः) वेदवाणी का पालक ईश्वर और विद्वान् (नियच्छतु) समस्त इष्ट पदार्थों को हमें दे और उनको नियम में रखे। (मयि एव अस्तु मयि श्रुतम्) उसके दिये ये सब पदार्थ मेरे में स्थिर रहें और गुरूपदेश से प्राप्त वेदज्ञान भी मेरे में रहे।

उप॑हूतो वा॒चस्पति॒रुपा॒स्मान् वा॒चस्पति॑र्ह्वयताम् ।
सं श्रु॒तेन॑ गमेमहि॒ मा श्रु॒तेन॒ वि रा॑धिषि ॥ ४ ॥

भा०—(वाचस्पतिः) वेद वाणियों और ज्ञान वाणियों का परिपालक आचार्य और परमेश्वर की (उपहूतः) सेवा, शुश्रूषा और प्रार्थना, उपासना की जाय। (वाचः पति) वाचस्पति (अस्मान्) हमें (उप ह्वयताम्) उत्तम ज्ञानों का उपदेश करे, अनुमति दे, जिससे हम (श्रुतेन) वेदोपदेश, ज्ञानोपदेश से (सं गमेमहि) युक्त हों और (श्रुतेन) वेदशास्त्र के ज्ञान से मैं (मा वि राधिषि) कभी वियुक्त न होऊं।

इस सूक्त में मुख्य वाचस्पति ज्ञानप्रद होने से परमेश्वर है। उससे उतर कर गुरु और शरीर में प्राण और प्राण का सुधारक होने से आरोग्यप्रद विद्वान् वैद्य भी वाचस्पति है। वर्त्तमान में बंगाल में वैद्य के लिये 'कविराज' शब्द का प्रयोग 'वाचस्पति' शब्द का अनुवाद मात्र है।

४—'उपहूतोहं वाचस्पत्यु संस्तेन राधसि समृतेन विराधसि' [?] इति पैप्प० सं०।

[२] बाण, शर और कानून का वर्णन ।

अथर्वा ऋषिः । अमृतमयः पर्जन्यश्चन्द्रमा देवता । १, २, ४, अनुष्टुप् छन्दः ३, त्रिपदाविराट् गायत्री । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

विद्मा शरस्य पितरं पर्जन्यं भूरिधायसम् ।
विद्मो ष्वस्य मातरं पृथिवीं भूरिवर्पसम् ॥१॥

भा०—यह सूक्त संग्राम सम्बन्धी है । ज्वर, अतिसार, अतिमूत्र, नाड़ीव्रण आदि व्याधियों को शान्त करने के लिये इस में मुंज्ज शरकाण्ड आदि के गुण भी बतलाये हैं ।

(शरस्य) बाण, विनाशक स्वभाव शरकाण्ड के (पितरं) उत्पादक (भूरिधायसं) बहुत प्रकार से पालन पोषण करनेहारे (पर्जन्यं) मेघ के समान समस्त जनों के हितकारी और तृप्त करने हारे (पितरं) परिपालक को (विद्मः) हम जानते हैं । (अस्य) इसके (मातरं) निर्माण करने वाली उत्पादक (भूरिवर्पसं) नाना प्रकार के चर, अचर प्राणियों को धारण करने वाली पृथिवी को भी (सु विद्मः) उत्तम प्रकार से जानें ।

क्षत्रिय पक्ष में शत्रु के विनाशक राजा के सिपाही लोग शर हैं । उसका पिता—परिपालक राजा सब प्रजाओं का हितकारी, समस्त प्रजाओं का पोषक होता है । वही उत्तम सिपाही या सेना को संग्रह कर सकता है । उस सैनिक की माता पृथिवी=वह राष्ट्र स्वयं है, जिसमें नाना स्वभावों के मनुष्यों का निवास है ।

भेषज्यपक्ष में—शरकाण्ड का पिता वह पर्जन्य मेघ है, जो खूब ओषधियों को जल से तृप्त करता है और नाना ओषधियों की उत्पादक भूमि ही उत्तम शर को भी उत्पन्न करती है ।

अथवा—(भूरिधायसं पर्जन्यं एव शरस्य पितरं विद्मः) नाना प्रजाओं के पोषक, मेघके समान प्रजाके हितकारी उनको सन्तुष्ट करने हारे राजा को ही (शरस्य) हिंसक सेना वा दण्डव्यवस्था (=कोड[1]) को पालक जानते हैं और (भूरिवर्पसं पृथिवीं अस्य मातरं सु विद्मः) नाना प्रकार की प्रजाको धारण करने वाली पृथिवी=राष्ट्र को या प्रजा को इस दण्डव्यवस्था का माता-निर्माता जानते हैं अर्थात् दण्डव्यवस्था का निर्माण करना प्रजाके हाथ में और उसका पालन करना कराना राजा के हाथ में होना उचित है।

ज्याके परि णो नमाश्मानं तन्वं कृधि।
वीडुर्वरीयोऽरातीरप द्वेषांस्या कृधि ॥ २ ॥

भा०—हे (ज्याके) धनुष्की डोरी के समान शरका प्रक्षेप करनेहारी राजसभे ! या सेने ! (नः) हमारे लिये (परि णम) उत्तम व्यवस्थाओं का सम्पादन कर या सेनापति की आज्ञा का पालन कर हे इन्द्र ! (तन्वं) इस विस्तृत राष्ट्र के शरीर को (अश्मानं) चट्टान के समान दृढ़, अजेय एवं व्यापक (कृधि) बनाओ या अपने विस्तृत व्यूह को अभेद्य करो। हे इन्द्र ! राजन् ! सेनापते ! (वीडुः) सेना के वीर भटों को संस्तम्भन करने हारा तू (अरातीः) कर प्रदान न करने हारे (द्वेषांसि) और हमसे द्वेषभाव रखने-वाले दुष्ट शत्रुओं को (अप आ कृधि) परे हटा। धनुष् की डोरी के दृष्टान्त से सेना और राजसभा के कर्त्तव्य को समझाया है।

---

[२] १. 'शर' या 'काण्ड' शब्द प्राचीन काल में व्यवस्थापुस्तक, स्मृति अथवा कोड् या क़ानून के लिये भी प्रयोग होते थे। इस का अपभ्रंश 'क़ानून' 'Canon' आदि शब्द हैं और शरह, शरियत आदि शब्द अरबी में इस 'शर' शब्द का अपभ्रंश है। देखो Etymological Dictionary by Keath.

वृक्षं यद्गावः परिषस्वजाना अनुस्फुरं शरमर्चन्त्यृभुम् ।
शरुमस्मद्यावय दिद्युमिन्द्र ॥ ३ ॥

भा०—(यद्) जब (गावः) गोचर्म की तांत की बनी अथवा वाणों को दूर फेंकने वाली डोरियां, (वृक्षं) धनुष् को (परिषस्वजानाः) आलिङ्गन करती हुई (अनुस्फुरं) तीव्र प्रहार करने हारे (ऋभुम्) तीक्ष्ण, चमचमाते (शरं) वाण को (अर्चन्ति) फेंकती है तब हे इन्द्र ! सेनापते ! (दिद्युम्) अतिप्रकाशमान (शरुं) शत्रु के घातक वाण को (अस्मत्) हम से (यावय) परे रख, जिससे वे हमें न सतावें। अथवा—(यद् गावः वृक्षं परिषस्वजानाः) जिस प्रकार ग्रीष्म काल में गौ आदि पशु वृक्ष के आश्रय में आती हैं उसी प्रकार (ऋभुं शरं अनुस्फुरं अर्चन्ति) ज्ञान और शक्ति से विशेष रूप से तेजस्वी शत्रु के हिंसक राजा का आश्रय लेकर प्रजाएं उसकी आज्ञा के अनुकूल चल कर उसका आदर करती हैं और कहती हैं कि—(इन्द्र दिद्युं शरुं अस्मद् यावय) हे इन्द्र ! राजन् ! अपने चमचमाते तेजस्वी, घातक, शत्रु, दुष्टविनाशक, वज्र के समान हिंसक शस्त्र को हम से परे रख, हम प्रजाओं पर उसका प्रयोग न कर।

अध्यात्म पक्ष में गावः—इन्द्रियें। ऋभु, शर और वृक्ष=आत्मा। 'परिष्वज्'=आलिङ्गन करना। इस शब्दप्रयोग के कारण स्त्रीपुरुष—व्यवहार में गावः=कन्याएं। वृक्ष=आश्रय पति। ऋभु=विद्वान्।

यथा द्यां च पृथिवीं चान्तस्तिष्ठति तेजनम् ।
एवा रोगं चास्रावं चान्तस्तिष्ठतु मुञ्ज इत् ॥४॥

भा०—जिस प्रकार (द्यां च) द्यौलोक और (पृथिवीं च) पृथिवी लोक के (अन्तः) भीतर (तेजनम्) तेजस्वी सूर्य (तिष्ठति) विराजता है और (रोगं च) देह को तोड़ डालने वाले ज्वर, अतीसार आदि रोग

(आस्रावं च) अङ्ग प्रत्यङ्ग से वहने वाले मूत्र ,अतीसार आदि रोगों को नाश करता है उसी प्रकार शिर और मूलेन्द्रिय अथवा पैर या जंघा के बीच कटि-भाग में धारण किया हुआ (तेजनम्) तीक्ष्ण स्वभाव का या तिक्त गुण का (मुञ्जः) मूंज भी रोग और आस्राव के (अन्तः) बीच में रह कर उन पर वश करता और उनको दूर करता है ।

पूर्व सूक्त में विद्यावान् वाचस्पति वैद्य से शरीर के सुख की कामना की और इस सूक्त में इन्द्र रूप राजा और वैद्य से राष्ट्र-शरीर और इस शरीर के रोगनाशक " शर " ओषधि को प्राप्त कर रोग विनाश करने का उपदेश है ।

शर और मुञ्ज के गुणों के विषय में धन्वन्तरि राजनिघण्टु में इसके ४ भेद लिखे हैं काश, मुञ्ज, मृदुदर्भ, और शर, साधारण भाषा में इसको सरकण्डा, मूंज, दाभ, सर या सींक कहा जाता है ।

काश के गुण—काशः स्वादू रसे तिक्तो विपाके वीर्यतो हिमः ।
तर्पणो बलकृद् वृष्यः श्रमशोपभयापहः ।
काशद्वयं च पित्तास्रकृच्छ्रजिन्मधुरं हिमम् ॥

काश, रस में स्वादु, पकने पर कुछ तीखा, शीतलवीर्य, बलकारी, वृष्य, श्रम और शोष का विनाशक, रक्त पित्त और मूत्र कृच्छ्र को नाश करने वाला होता है ।

मुञ्ज के गुण—मुञ्जोऽनुष्णो विसर्पास्रमूत्रवस्त्यक्षिरोगनुत् ।
बाणाह्वो मधुरः शीतः पित्तदाहतृपापहः ॥

मूंज स्वभाव में शीतल, विसर्प नामक खुजली, कुष्ठ, वस्ति=मूत्र-स्थली और आंखों के रोगों को दूर करता है । वह रस में मधुर, पित्त, दाह और प्यास को मिटाता है ।

दर्भ के गुण—यज्ञमूलं हिमं रुच्यं मधुरं पित्तनाशनम् ।
रक्तज्वरतृषाश्वासकामलादोषशोपकृत् ॥

दर्भौ द्वौ च गुणे तुल्यौ तथापि च सितोऽधिकः ।
यदि श्वेतकुशाभावस्त्वपरं योजयेद्भिषक् ॥

कुश के दो भेद हैं एक श्वेत दूसरा लाल । इसका स्वभाव शीतल और भोजन में रुचिकर; मधुर, पित्त का नाशक, ज्वर, प्यास, श्वास (दमा), कामला, पाण्डुरोग और शोप तपेदिक का नाशक है । प्रायः दोनों के समान गुण है, इनमें भी श्वेत दर्भ अधिक गुणकारी है ।

शर—इसके भी दो भेद हैं । एक पतला दूसरा मोटा ।

शरद्वयं स्यान् मधुरं सतिक्तं कोष्णं कफभ्रान्तिमदापहारि ।
बलं च वीर्यं च करोति नित्यं निषेवितं वातकरं च किञ्चित् ॥

दोनों मधुर, तिक्त, कुछ उष्ण स्वभाव के, कफ, माथे का घूमना, मद (ज़नून) का नाशक बलवीर्य का जनक और कुछ वातकारी है । बाण के द्वारा विजय करना धनुर्वेद और ज्वर, अतिसार, अतिमूत्र और नाडीव्रणों की चिकित्सा का उपदेश आयुर्वेद के अनुसार जानना चाहिये ।

[३] शर और शलाका का वर्णन ।

अथर्वा ऋषिः । मन्त्रोक्ताः पर्जन्यमित्रादयो बहवो देवताः । १—५ पथ्यापंक्तिः, ४—६ अनुष्टुभः । नवर्चं सूक्तम् ॥

वि॒द्मा श॒रस्य॑ पि॒तरं॑ प॒र्जन्यं॑ श॒तवृ॑ष्ण्यम् । तेना॑ ते त॒न्वे॒३॒॑ शं क॑रं पृथि॒व्यां ते॑ नि॒षेच॑नं ब॒हिष्टे॑ अस्तु बा॒लिति॑ ॥१॥

भा०—(शतवृष्ण्यम्) अपरिमित वीर्य से युक्त, नाना प्रकार के सुखों के वर्षक नाना वनस्पति और पशु मृगादि प्राणियों के जीवनाधार (पर्जन्यं) पर्जन्य, मेघ, प्रजापति एवं प्रजा के हितकारक पुरुष को (शर-

स्य) शर [=सरकण्डे या शलाका] का (पिता) पिता, परिपालक जानते हैं। हे व्याधिग्रस्त पुरुष ! (तेन) उस शर से (ते) तेरे (तन्वे) शरीर में (शं) सुखकारी चिकित्सा या शत्रु के आक्रमणभय को शान्त (करं) करता हूं। (ते) तेरा (निषेचनं) मूत्रस्राव (पृथिव्यां) पृथिवी पर (बाल् इति) 'बाल्' इस प्रकार शब्द करता हुआ अथवा बल पूर्वक रोगी के प्राण बचाने के लिये (ते बहिः) तेरे शरीर से बाहर अस्तु आवे।

विद्मा शरस्य पितरं मित्रं शतवृष्ण्यम्। तेना० ॥२॥

भा०—(शतवृष्ण्यं) सैकड़ों सहस्रों, अपरिमित वीर्यवान् (मित्रं) सब के स्नेही एवं प्रकाशक सूर्य के समान वैद्य को (शरस्य) शलाका का (पितरं) पिता, पालक (विद्म) जानते हैं। (तेन ते तन्वे शं करं) उससे तेरे शरीर के लिये मैं कल्याण करता हूं। (पृथिव्यां ते निषेचनं) तेरा मूत्रास्राव पृथिवी पर (बाल् इति बहिः ते अस्तु) बल पूर्वक बाहर हो कर प्राणरक्षा का कारण हो।

विद्मा शरस्य पितरं वरुणं शतवृष्ण्यम्। तेना० ॥३॥

भा०—(शतवृष्ण्यं वरुणं शरस्य पितरं विद्म) अपरिमित बल-युक्त, सब दुःखों के निवारक, सब से श्रेष्ठ वरुण को 'शर' का पिता पालक जानते हैं। (तेना०) उससे तेरे शरीर के लिये मैं कल्याण करता हूं मूत्रादि रोगकारी पदार्थ बाहर पृथिवी पर बलपूर्वक आजाय जिससे हे रोगी ! तेरी प्राणरक्षा हो।

विद्मा शरस्य पितरं चन्द्रं शतवृष्ण्यम्। तेना० ॥४॥

भा०—(शतवृष्ण्यं चन्द्रं शरस्य पितरं विद्म) नाना बलशाली आह्लाद-जनक या चन्द्र को शर का पालक जानते हैं (तेना०) इत्यादि पूर्ववत्।

विद्मा शरस्य पितरं सूर्यं शतवृष्ण्यम्। तेना ते० ॥५॥

भा०—(शतवृष्ण्यं सूर्यं शरस्य पितरं विद्म) सैकड़ों सामर्थ्यों से युक्त सूर्य को शर का पालक जानते हैं (तेना०) उससे तेरे शरीर का कल्याण करता हूं, रोगकारी मूत्र बल पूर्वक शरीर से बाहर आवे ।

यदान्त्रेषु गवीन्योर्यद्वस्तावधि संश्रुतम् ।
एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम् ॥ ६ ॥

भा०—(यत्) जो मूत्र (आन्त्रेषु) पुरीतत् नामक नाड़ियों, आंतों में और (यत्) जो मूत्र (गवीन्योः) मूत्र को मूत्राशय तक पहुंचाने हारी 'गविनी' नामक दो मूत्रवाहिनी नाड़ियों में और (यत्) जो (वस्तौ अधि) वस्ति=मूत्राशय के भीतर (संश्रुतं) चू कर आगया है या अटका हुआ है, वह (ते मूत्रं) हे रोगी ! तेरा मूत्र (सर्वकं) सब का सब (एवा) इस प्रकार की चिकित्सा से (बहिः) बाहर (बाल् इति) 'बाल्' इस प्रकार शब्द के साथ (मुच्यतां) छूट कर चला आवे और तू रोग से मुक्त हो जा ।

प्र ते भिनद्मि मेहनं वर्त्रं वेशन्त्या इव । एवा० ॥ ७ ॥

भा०—हे मूत्र व्याधिपीड़ित जन ! (ते) तेरी (मेहनं) मूत्र नाड़ी को मैं चिकित्सक रुके हुए मूत्र को बाहर करने के लिये (भिनद्मि) लोह-शलाका द्वारा उसी प्रकार खोलता हूं जिस प्रकार (वेशन्त्याः) जल से भरे होज़ के (वर्त्रं) पानी के निकलने को नाली को खोल दिया जाता है। (एवा ते०) इस प्रकार तेरा सम्पूर्ण मूत्र 'बाल्' शब्द सहित भरभराता हुआ बाहर ही आजावे ।

विषितं ते वस्तिबिलं समुद्रस्योदधेरिव । एवा० ॥८॥

[३] ६—' वस्तावधि संश्रितम् ' इति सायणसम्मतः पाठः । ' संस्रुतम् ' इति च क्वाचित्कः पाठः ।

७—' वर्तं ' इति सायणाभिमतः पाठः । 'वृत्रं' वेशन्त्या, यन्त्यः' इति पैप्प० सं० ।

८—' समुद्रस्योत [?] धिरेव ' इति पैप्प० स० ।

भा०—हे मूत्ररोग से पीड़ित पुरुष ! (उदधेः समुद्रस्य) ज्वार के साथ उमड़ते हुए सागर का जल जिस प्रकार उठ कर नदियों में बहने लगता है उसी प्रकार (ते) तेरा (वस्ति बिलं) मूत्र कोष्ठ का छिद्र भी (विषितं) खुलकर मूत्र के निकलने योग्य हो जाय और (एवा०) इस प्रकार तेरा समस्त मूत्र 'बाल्' शब्द के सहित बाहर आजाय।

यथेषुका प्रापतदवसृष्टाधि धन्वनः।
एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम् ॥ ६ ॥

भा०—(धन्वनः अधि) धनुष से (अवसृष्टा) छूटा हुआ (इषुका) बाण (यथा) जिस प्रकार (परा पतत्) दूर जा पड़ता है (एवा०) इसी प्रकार तेरा मूत्र भी सारा वस्ति भाग से छूट कर 'बाल्' शब्द सहित बाहर आ जाय।

[४] जलों का वर्णन।

अपोनप्त्रीयं सूक्तम्। सिन्धुद्वीपः कृतिश्च ऋषिः। सोम आपश्च देवताः।
१–३ गायत्रं छन्दः। ४, पुरस्ताद् बृहती। चतुर्ऋचं सूक्तम्।

अम्बयो यन्त्यध्वभिर्जामयो अध्वरीयताम्।
पृञ्चतीर्मधुना पयः ॥ १ ॥ ऋ० १। २३। १६ ॥

भा०—(अध्वरीयताम्) अध्वर—हिंसा रहित सोमयागादि करने हारे ऋत्विजों को (जामयः) भगिनियें, या स्त्रियें, जिस प्रकार (अध्वभिः) वेदि में चत्वाल और उत्कर के भागों के बीच में से जाती हैं और यज्ञ में (मधुना) सोम के मधुर रस के साथ (पयः) जल को (पृञ्चतीः) मिश्रित करती

हैं उसी प्रकार (अम्बयः) इस शरीर को पोषक रक्त-धारायें इस देहरूप वेदि में (अध्वभिः) अपने २ नाड़ी मार्गों से (मधुना) प्राण शक्ति से (पयः) पुष्टिकारक पदार्थ को (पृञ्चतीः) मिलाती हुई (अध्वरीयतां) अध्वर—जीवन यज्ञ का सम्पादन करने हारे प्राणों के (जामयः) बल को उत्पादन करती हुई (यन्ति) शरीर भर में गति करती हैं । इसी से भूमण्डल में वृष्टिरूप जलधाराओं और नदियों का भी वर्णन किया समझना चाहिये ।

अमूर्या उप सूर्ये याभिर्वा सूर्यः सह ।
ता नो हिन्वन्त्वध्वरम् ॥ २ ॥

ऋ० १ । २३ । १७ ॥ यजुः ६ । २४ ॥

भा०—(अमूः) ये वृष्टि जल (याः) जो (उप सूर्ये) सूर्य के आश्रय, उसकी किरणों द्वारा भूपृष्ठ से उठ कर ऊपर चले जाते हैं और (याभिः वा) जिनके (सह) साथ (सूर्यः) उनका प्रेरक सूर्य विद्यमान है (ताः) वह (नः) हमारे (अध्वरं) हिंसा रहित प्राणियों के जीवनमय यज्ञ को (हिन्वन्ति) तृप्त करते हैं, चला रहे हैं ।

अपो देवीरुप ह्वये यत्र गावः पिबन्ति नः ।
सिन्धुभ्यः कर्त्वं हविः ॥ ३ ॥ ऋ० १ । २३ । १८ ॥

भा०—(देवीः) दिव्यगुणयुक्त (अपः) जलधाराओं को (उपह्वये) अपने समीप बुलाता हूं, उनको प्राप्त करता हूं, (यत्र) जहां, जिनमें से (नः) हमारी (गावः) गौएं और भूमियां (पिबन्ति) रसपान करती हैं, सिंचती हैं, अतः (सिन्धुभ्यः) निरन्तर गतिशील बहने वाली उन जलधाराओं, नहरों के लिये (हविः) उत्तम मार्ग (कर्त्वं) तैयार करना चाहिये ।

अप्स्व१न्तरमृतमप्सु भेषजम् । अपामुत प्रशस्तिभि-
रश्वा भवथ वाजिनो गावो भवथ वाजिनीः ॥ ४ ॥

ऋ० १ । २३ । १९ ॥ यजु० ९ । ६ ॥

भा०—(अप्सु अन्तरम्) जलों के भीतर (अमृतम्) अमर जीवन शक्ति है, (अप्सु) जलों में (भेषजम्) रोगनाशक सामर्थ्य है (उत) और (अपां) जलों के (प्रशस्तिभिः) उत्तम गुणों से ही (अश्वाः) हे अश्व आदि वेगवान पशुगण ! तुम (वाजिनः) बलयुक्त (भवथ) हो जाते हो, और हे (गावः) गौ आदि दूध देने हारे पशुओ ! तुम भी (वाजिनीः) बलकारी दुग्ध आदि से सम्पन्न, पुष्ट हो जाती हो ।

[५] जलों का वर्णन ।

अपोनप्त्रीयम् । सिन्धुद्वीपः कृतिश्च ऋषिः । ऋग्वेदे त्रिशिरास्त्वाष्ट्रः सिन्धु-द्वीपो वाऽम्बरीष ऋषिः । आपो देवताः । गायत्री छन्दः । चतुर्ऋचं सूक्तम् ।

आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन ।
महे रणाय चक्षसे ॥ १ ॥

यजु० ११ । ५० ॥ ऋ० १० । ९ । १ ॥

भा०—हे (आपः) जलो ! या आप्त पुरुषो ! (मयोभुवः) आप सुख शान्ति के देने वाले (स्थ) हो, (ताः) वे आप (नः) हमें (ऊर्जे) बलकारी प्राण और अन्न के द्वारा (दधातन) धारण पोषण करो । और (महे) बड़े भारी पूज्य (रणाय) रमण करने योग्य निरातिशय ब्रह्मानन्द के (चक्षसे) साक्षात्कार करने के लिये हमें पुष्ट करो । अथवा—(महे

[५] पञ्चमं षष्ठं च सूक्तं शम्भुमयोभूसूक्तमुच्यते ।

रणाय चक्षसे) पूजनीय उत्तम रण=विविध उपभोग्य पदार्थों के उपभोग लाभ और जीवन के अभिमत फल दर्शन के लिये अथवा (रणाय) रमणीय शब्द, वेद, उपनिषद् द्वारा ज्ञानयोग्य परब्रह्म के साक्षात् करने के लिये हमें बल दो ।

यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः ।
उशतीरिव मातरः ॥ २ ॥

यजुः ११ । ५१ ॥ ऋ० १० । ९ । २ ॥

भा०—(उशतीः) पुत्रको निरन्तर चाहने वाली प्रेममयी (मातरः) माताएं जिस प्रकार अपने पुत्रों को मधुर दुग्धरस पान करा कर पालती पोसती हैं उसी प्रकार हे (आपः) आपः (वः) तुम्हारा (यः) जो (शिवतमः) अत्यन्त अधिक कल्याणकारी (रसः) सारभूत रस है (तस्य) उससे (नः) हमें (इह) यहां (भाजयत) प्रदान कर पुष्ट करो ।

तस्मा अरं गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ ।
आपो जनयथा च नः ॥ ३ ॥

यजु० ११ । ५२ ॥ ऋ० १० । ९ । ३ ॥

हे (आपः) हे आपः देवो ! उस अलौकिक अक्षय सुखको प्राप्त करने के लिये (वः) आपको हम (अरं) अच्छी प्रकार से प्राप्त हों (यस्य) जिसके भीतर (क्षयाय) सदा निवास करने वाले आत्मा को आप (जिन्वथ) अत्यन्त तृप्त, सुखी करते हो और आप (नः) हमें और हमारे सन्तानों को (जनयथ च) उत्पन्न करते और बढाते हैं ।

ईशाना वार्याणां क्षयन्तीश्चर्षणीनाम् ।
अपो याचामि भेषजम् ॥ ४ ॥ ऋ० १० । ९ । ५ ॥

भा०—(वार्याणाम्) वरण करने योग्य समस्त धनों और सबसे श्रेष्ठ वरण करने योग्य प्रिय प्राणों को (ईशानाः) अपने वश करने वाले उनके स्वामी, (चर्षणीनां) दर्शनशील, इन्द्रियों या मनुष्यों को (क्षयन्तीः) निवास कराने हरे (अपः) आपः=जलों से (भेषजम्) रोगनाशक औषध की (याचामि) प्रार्थना करता हूं ॥

सब के प्राप्त करने योग्य होने से ' आपः ' परमात्मा का नाम भी है । आपः-जलों के दृष्टान्त से ईश्वर से ही प्रार्थना उचित है । उस परमात्मा को भक्तों ने अपनी भावना के अनुसार नदियों, जलों या तीर्थों के रूप में उपासना की है, उसी का कल्याणतम रस परमानन्द मोक्ष है । उसी के लिये तीसरे मन्त्र में प्रार्थना है उससे ही चतुर्थ मन्त्र में भव रोग का परम भेषज मांगा है ।

कौशिक सूत्र में इस सूक्त का विनियोग जलमार्जन, गोत्रों के रोगशमन पुष्टि, प्रजनन, जलसिञ्चन आदि कार्यों में बतलाया गया है ।

[६] जलों का वर्णन ।

अपोनप्त्रीयंसूक्तम् । अथर्वा कृतिः सिन्धुद्वीपश्च ऋषिः । ऋग्वेदे त्रिशिरास्त्वाष्ट्रः सिन्धुद्वीपोऽम्बरीष ऋषिः । आपो देवताः । पथ्यापंक्तिश्छन्दः । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

शं नो॑ दे॒वीर॒भिष्ट॑य॒ आपो॑ भवन्तु पी॒तये॑ ।
शं योर॒भि स्र॑वन्तु नः ॥ १ ॥

ऋ० १० । ९ । ४ ॥ यजु० ३६ । १२ ॥

भा०—(देवीः) दिव्यगुणयुक्त (आपः) जल (नः) हमारे

[६] १-(द्वि०) ' शं नो भवन्तु पीतये ' इति सामवेदे ॥

(अभिष्टये)-यज्ञ और अभीष्ट सुख साधन के लिये और (पीतये) पान करने के लिये (शं) कल्याणकारी हों और (नः) हमारे (शं) प्राप्त रोगों के शमन और (योः) अप्राप्त रोगों को दूर ही से निवारण करने के लिये (अभिस्रवन्तु) सब ओर से बहें, स्रवित हों ।

अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा ।
अग्निं च विश्वशम्भुवम् ॥ २ ॥

ऋ० १ । २३ । २० ॥ ऋ० १० । ९ । ६ ॥

भा०—(सोमः) सौम्यगुणयुक्त, प्रेरक, परमात्मा और सब रोगों के विनाशक सोमरूप परम आयुर्वेद के विद्वान् ने (मे) मुझे (अब्रवीत्) यह उपदेश किया है कि (अप्सु, अन्तः) जलों के भीतर या रसों के भीतर ही (विश्वानि) समस्त (भेषजा) रोगों को दूर करने के सामर्थ्य हैं और उसने ही (अग्निं च) अग्नि को (विश्वशम्भुवम्) समस्त सुखों का मूल उत्पादक उपदेश किया है ।

आपः पृणीत भेषजं वरूथं तन्वे३ मम ।
ज्योक्च सूर्यं दृशे ॥ ३ ॥

ऋ० १ । २३ । २१ ॥ १० । ९ । ७ ॥

हे (आपः) जलो ! आप (मम) मेरे (तन्वे) शरीर के लिये (वरूथं) सब रोगों के निवारक (भेषजं) औषध को (पृणीत) प्रदान करो और (ज्योक् च) चिरकाल तक (सूर्यं) सूर्य को भी (दृशे) देखने में समर्थ होकर हम आरोग्य बने रहें ।

शं न आपो धन्वन्या३ः शमु सन्त्वनूप्याः ।
शं नः खनित्रिमा आपः शमु याः कुम्भ-
आभृताः शिवा नः सन्तु वार्षिकीः ॥ ४ ॥

२—'आमश्च विश्वशम्भुवः' इति मै० सं० ।

भा०—(नः) हमारे लिये (धन्वन्याः) मरुभूमि के उत्पन्न हुए जल भी (शं) कल्याणकारी हों और (अनूप्याः) अनूप=जलमय देश के जल भी (शम् उ) कल्याणकारी ही हों । (खनित्रिमाः) खोदकर कूओं से प्राप्त किये (आपः) जल भी (नः शं) हमें कल्याणकारी हों और (याः) जो जल (कुम्भे) घड़े और मटके में (आभृताः) रखे हों वे भी (शम् उ) कल्याणकारी हों और (वार्षिकीः) वर्षा के जल भी (नः) हमें (शिवाः) कल्याण, सुखकारी (सन्तु) हों ॥

वेद के ये दोनों सूक्त 'सलिल गण' में पठित हैं । उनमें क्रम से पंचम सूक्त के १ म मन्त्र में जलों को 'मयोभूः' और 'ऊर्ज्' बलकर, दिव्यदृष्टिदायक बतलाया है । संक्षेप से आयुर्वेद के अनुसार नाना जलों के गुण इस प्रकार हैं । सामान्य जल के गुण धन्वन्तरि राजनिघण्टु में:—

साधारणं जलं रुच्यं दीपनं पाचनं लघु ।
श्रमतृष्णापहं वातकफमेदोघ्नपुष्टिदम् ॥
पानीयं मधुरं हिमं च रुचिदं तृष्णाविशोषापहम्,
मोहभ्रान्तिमपाकरोति कुरुते भुक्तान्नपक्तिं पराम् ।
निद्रालस्यनिरासनं विषहरं श्रान्तार्त्तसंतर्पणम् ।
नृणां धीबलवीर्यबुद्धिजननं नष्टाङ्गपुष्टिप्रदम् ॥

साधारण जल रुचिकर, पाचन शक्ति का दीपक, हलका, प्यास, थकावट, वात, कफ, मेद के दोषों का नाशक, पुष्टिप्रद, मधुर, शीतल, तृष्णा-शोष का नाशक, मोह, भ्रम को दूर करता, अन्न को पकाने, निद्रा, आलस्य और विष को दूर करनेहारा, विद्या, बुद्धि, बल और वीर्य का वर्धक और क्षीण अङ्ग को पुष्टि करता है !

द्वितीय मन्त्र में 'शिवतम रस', तृतीय में वीर्यजनक और चतुर्थ में औषध

रूप प्राणों का आधार जल को कहा गया है। ये सब गुण नाना जलों में भिन्न २ रूप से पाये जाते हैं। जैसेः—

गगनाम्बु त्रिदोषघ्नं गृहीतं मृत्सुभाजने।
बल्यं रसायनं मेध्यं पात्रापेक्षी ततः परम्॥

आकाश से पड़ा जल तीनों दोषों का नाशक, बलकारी पवित्र रसायन है।

षष्ठ सूक्त के १ म में 'देवीः आपः'—

दिव्यवाय्वग्निसंयोगात् संहताः खात् पतन्ति याः।
शिलाप्रकारबद्धास्ताः करका अमृतोपमाः॥

दिव्य वायु और अग्नि के संयोग से शिलारूप ओला बनकर गिरने वाला जल अमृत के समान है। इसी प्रकार से आकाश से पड़े हिमों से आच्छादित पर्वतों से बहती नदियों के जल भीः—

हिमवत्प्रभवाः पथ्याः पुण्या देवर्षिसेविताः।
नद्यः पाषाणसिक्ताश्च वाहिन्यो विमलोदकाः॥

शरीर के लिये पथ्य, आरोग्यजनक और पवित्र होते हैं।

द्वितीय मन्त्र में सोम का वचन कि जल में और अग्नि में समस्त ओषधि हैं। इसके लिये राजनिघण्टु का पूर्ण प्रकरण दर्शनीय है।

तृतीय मन्त्र में—"ज्योक् च सूर्यं दृशे"। राजनिघण्टु में—रात के रखे शीतल जल का प्रातः पान का गुणः—

सोयं सद्यः पतगपतिना स्पर्धते नेत्रशक्त्या।
स्वर्गाचार्यं प्रहसति धिया द्वेष्टि दस्रौ च तन्वा॥

उसकी नेत्रशक्ति सूर्य या गरुड़ के समान होजाती है और बुद्धि बृहस्पति के और शरीर अश्विनीकुमार के समान होजाता है।

४ थं मन्त्र में ४ प्रकार के जलों का वर्णन है, 'धन्वन्य', 'अनूप्य', 'खनित्रिम' और 'कुम्भआभृत' इनके भी भिन्न २ गुण आयुर्वेद में बतलाये गये हैं वहां ही देखें।

इति प्रथमोऽनुवाकः।

[तत्र सूक्तानि षट्, ऋचश्चैकोनत्रिंशत्]

[७] प्रजा के पीड़ाकारियों का दमन।

चातन ऋषिः। अग्निर्देवता। १–४, ६, ७ अनुष्टुभः ५, त्रिष्टुप्। सप्तर्चं सूक्तम्॥

स्तुवानमग्न आ वह यातुधानं किमीदिनम्।
त्वं हि देव वन्दितो हन्ता दस्योर्बभूविथ॥ १॥

भा०—हे (देव) प्रकाशमान ! राजन् ! (अग्ने) अग्नि के समान तेजस्विन् ! (स्तुवानं) हिंसाशील (यातुधानं)-पीड़ादायक, (किमीदिनं) 'अब क्या, अब क्या' इस प्रकार सदा जीवन के संकट में पड़े अथवा यह क्या, यह क्या' इस प्रकार सब के जान माल के स्वत्व को तुच्छ समझने वाले, सब के अपमानकारी पुरुष को तू (आ वह) सब तरफ से और सब तरह से पकड़ ला। क्योंकि (त्वं हि) तू (वन्दितः) सब के नमस्कार करने योग्य एवं (दस्योः) प्रजा के नाशक लोगों का (हन्ता) हनन करने वाला (बभूविथ) है।

यद्यपि 'स्तु' धातु हिंसार्थक नहीं पढ़ा है तो भी यातुधान का विशेषण होने से 'स्तु' धातु 'शस' धातु के समान स्तुति तथा भाषणार्थक होकर हिंसार्थक होना सम्भव है। (अथर्व० १।८।२,३) मन्त्रों में भी हिंसार्थक 'स्तु' धातु का प्रयोग है। सायण ने स्वयं यहां 'स्तु' धातु का अर्थ 'दान' किया है।

[७] १–(प्र०) 'स्तुवानस्तानयावह' (द्वि० तृ०) त्वं हि देवांस्तुतो हन्ता तस्योत बभूव्यथ, [?] इति पैप्प० सं०।

आज्यस्य परमेष्ठिन् जातवेदस्तनूवशिन् ॥
अग्ने तौलस्य प्राशान यातुधानान् वि लापय ॥ २ ॥

भा०—हे (परमेष्ठिन्) परम, सर्वोच्च पद पर अधिष्ठित! हे (जातवेदः) सब उत्पन्न प्रजाओं को जानने हारे! हे (तनूवशिन्) सब के शरीरों पर वश करने हारे अधिकारिन् राजन्! हे (अग्ने) अग्नि के समान तेजस्विन्! और शत्रुतापक! परंतप! तू (तौलस्य) तुला से परिमित, भारी (आज्यस्य) वज्र को (प्र, अशान) धारण कर और (यातुधानान्) पीड़ा देने वाले दुष्ट पुरुषों को (विलापय) नाना प्रकार से रुला, उनका विनाश कर।

वज्रो वा आज्यम्। कौ० १३। ७। वज्रो वा आज्यम्। तद्वज्रेणैतन्नाष्ट्रा रक्षांसि अववाधते। श० ३। ३। ४। १। ३४॥ ब्रह्मयज्ञ के समान क्षत्रयज्ञ=राष्ट्रपालन में आज्य=वज्र=तलवार या खड्ग का प्रतिनिधि है। पण्डित ग्रीफिथ और ह्विटनि ने इस मन्त्र में "तौलस्य प्राशान" पाठ को "तैलस्य प्राशान" पाठ पढ़ कर यज्ञ में तैल आहुति करने का अर्थ किया है। सो यह उनका भ्रम है'।

विलपन्तु यातुधाना अत्रिणो ये किमीदिनः।
अथेदमग्ने नो हविरिन्द्रश्च प्रति हर्यतम् ॥ ३ ॥

भा०—(यातुधानाः) पीड़ा देने वाले (अत्रिणः) दूसरों के जान, माल हड़प जाने वाले (ये) जो (किमीदिनः) दूसरों के जान माल को कुछ भी न समझने वाले, नृशंस लोग हैं वे (विलपन्तु) नाना प्रकार से विलाप करें, अपने दुःख झेलें और रोएं, चीखें। (अथ) उसके बाद हे (अग्ने) शत्रुतापन! सेनापते! दण्डाध्यक्ष! आप और (इन्द्रः च) और

२–(तृ. च०) 'तूलस्य प्राशानं यातुधानाद् विलापयः' इति पैप्प० सं०।

३–(प्र०) 'यातुधानात्रिणो,' (तृ०) 'यथेदमग्ने' इति पैप्प० सं०।

इन्द्र, राजा, ऐश्वर्यवान् दोनों (नः) हमारा (हविः) दिया हुआ अन्न या षष्ठांश बलि ग्रहण करने के लिये या हमारे अभिनन्दन की पुकारों को प्राप्त करने के लिये (प्रति हर्यतम्) उद्योग करें।

'अग्नि' राज्य का वह विभाग जो प्रजापीड़कों को खोज २ कर पता लगावे और दण्ड दिलवावे। 'इन्द्र' राज्य का वह विभाग जो प्रजापीड़कों को पकड़े परास्त करे और दण्ड दे।

अग्निः पूर्व आ रभतां प्रेन्द्रो नुदतु बाहुमान्।
ब्रवीतु सर्वो यातुमानयमस्मीत्येत्य ॥ ४ ॥

भा०—(पूर्वः) सब से पूर्व (अग्निः) शत्रुतापक, परंतप विभाग (आ रभतां) सब ओर से दुष्ट पुरुषों को प्राप्त करे, पकड़े, पता लगावे। और (इन्द्रः) इन्द्र, ऐश्वर्यवान् राजा (बाहुमान्) उनको बांधने-पीड़ा करने के पूरे सामर्थ्य से युक्त होकर (प्र नुदतु) खूब अच्छी तरह से दबावे जिससे (सर्वः) सब (यातुमान्) प्रजापीड़क लोग (एत्य एत्य) राजा के सामने आ आ कर (ब्रवीतु) स्वीकार करें, कहें कि (अयम् अस्मि इति) यह मैं कसूरवार हूं, मैं हाज़िर हूं, मैं आपकी शरण हूं, आपका सेवक हूं।

पश्याम ते वीर्यं/ जातवेदः प्र णो ब्रूहि यातुधानान् नृचक्षः।
त्वया सर्वे परितप्ताः पुरस्तात्त आ यन्तु प्रब्रुवाणा उपेदम् ॥५॥

भा०—हे (जातवेदः) अग्ने ! सब प्रजा भर को जानने वाले ! (ते वीर्यं) तेरे वीर्य, बल, सामर्थ्य को हम (पश्याम) देख रहे हैं। हे

४–(प्र०, द्वि०) " अग्निः पुरस्तादायच्छतु प्रथ इन्द्रो नुददस्वाहुम् [?] " (च०) ' अयमस्मिते य ' इति पैप्प० सं०।

५–(प्र०) ' वीर्या जातवेदः ' (तृ०) ' परितप्तः ' (च०) ' आयान्तु ' इति पैप्प० सं०।

(नृचक्षः) सब मनुष्यों पर अपनी आंख रखने वाले ! तू ही (नः) हमें (यातुधानान् प्र ब्रूहि) पीड़ा देने वाले दुष्ट गुण्डा लोगों को भली प्रकार शिक्षा दे, और उनको बतलादे । जब वे तेरे तेज से पीड़ित हों तब (ते) वे स्वयं (इदम्) यह (प्रब्रुवाणाः) कहते हुए ही (ते उप आयन्तु) तेरी शरण आवें कि (पुरस्तात्) पहले ही (त्वया) तुझ राजा ने (सर्वे) सब दुष्टों को (परितप्ताः) तपा रखा है, हम भय खाकर तेरी शरण हैं ।

आ रभस्व जातवेदोऽस्माकार्थाय जज्ञिषे ।
दूतो नो अग्ने भूत्वा यातुधानान् वि लापय ॥ ६ ॥

भा०—हे (अग्ने) ! जातवेदः (अस्माकार्थाय) हमारे राष्ट्र के अर्थ=हित के लिये तू (आरभस्व) अपना कार्य बराबर कर और (नः) हमारा सब का (दूतः) प्रतिनिधि होकर (यातुधानान्) पीड़ादायक प्रजा के घातक, नरपिशाचों को (विलापय) नाना प्रकार से पीड़ा दे और रुला।

त्वमग्ने यातुधानानुपबद्धाँ इहा वह ।
अथैषामिन्द्रो वज्रेणापि शीर्षाणि वृश्चतु ॥ ७ ॥

भा०—हे अग्ने ! (त्वम्) तू (यातुधानान्) प्रजा को पीड़ा और त्रास देने वाले लोगों को (उपबद्धान्) बांध २ कर (इह) इस नियत स्थान, जेलखाने में (आवह) लाकर रख । (अथ) और उसके बाद (इन्द्रः) इन्द्र=राजा (एषां) इन के (शीर्षाणि) सिरों को यदि उचित अपराध जाने तो (वज्रेण) तलवार से (अपि वृश्चतु) काट डाले, उनको प्राणदण्ड दे ।

६–' आरभस्व ब्रह्मणा जातवेदो हृदि कामाय रन्धय । दूतो नो अग्निरुत तिष्ठ-यातुधानानिहानय ।' इति पैप्प० सं० ।

७–(च०) ' अप शीर्षा वृश्चतु ' इति पैप्प० सं० ।

[८] प्रजाके पीड़कों का नाश करने का उपाय ।

चातन ऋषिः । १, २ बृहस्पतिरग्निषोमौ च देवताः । ३, ४ अग्निर्देवता । १—३ अनुष्टुभः । ४, बार्हतगर्भा त्रिष्टुप् । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

इदं हविर्यातुधानान् नदी फेनमिवा वहत् ।
य इदं स्त्री पुमानकरिह स स्तुवतां जनः ॥ १ ॥

भा०—(नदी फेनम् इव) जिस प्रकार नदी फेन या झाग को (आ वहत्) बहा ले जाती है उसी प्रकार (इदं हविः) यह अन्नरूप राजकर या प्रजा का अभिनन्दन या प्रजा की राजा के प्रति पुकार ही (यातुधानान् आ वहत्) प्रजा के पीड़क लोगों को बहा देती है । (स्त्री वा पुमान् वा यः इदं अकः) जो भी नर या नारी इस आवाज़ को उठाता है (स) वही (जनः) प्रजा जन (स्तुवतां) अपने पीड़कों का नाश करता है ।

अयं स्तुवान आगमदिमं स्म प्रति हर्यत ।
बृहस्पते वशे लब्ध्वाग्नीषोमा वि विध्यतम् ॥ २ ॥

भा०—जब (अयं) यह (स्तुवानः) हनन करता हुआ प्रजापीड़क दुष्ट पुरुष (आगमत्) सामने आवे तभी (इमं प्रति हर्यत स्म) इसको शीघ्र पकड़ो । हे (बृहस्पते) बड़े बड़े बलवान् पुरुषों के पालक, उस घातक प्रजापीड़क को (वशे लब्ध्वा) वश में करके, पकड़ कर, कैद करके, हे (अग्नीषोमौ) अग्नि और सोम ! शत्रुतापक और राजन् ! (विविध्यतम्) तुम दोनों उस नीच को वेध डालो , उसको गोलियों का या बाणों का शिकार करो या पीड़ित करो ।

---

[८] १–(तृ०, च०) ' नीदं स्त्री पुमानकर्यशम् भुवतां जनः ' [?] इति पैप्प० सं० ।
२–(प्र०, द्वि०) ' स्तुवाना गम त्वं स्मोत प्रति हर्यत ' इति पैप्प० सं० ।

यातुधानस्य सोमप जहि प्रजां नयस्व च ।
नि स्तुवानस्य पातय परमक्ष्युतावरम् ॥ ३ ॥

भा०—हे (सोमप) राजा के पद या राष्ट्र की रक्षा करने वाले अग्ने ! तू (यातुधानस्य) प्रजापीड़क, नीच, डाकू आदि के (प्रजां) सन्तति को भी (जहि) विनाश कर और (नयस्व च) क़ैद में ले जा, राष्ट्र में मत रहने दे। और (निः स्तुवानस्य) नाना प्रकार से लल्लो पत्तो करते हुए या हत्याकारी हिंसक पुरुष की (परम् अक्षि उत अवरम्) दायीं और बायीं दोनों आंखें (नि पातय) निकाल डाल ।

यत्रैषामग्ने जनिमानि वेत्थ गुहा सतामत्त्रिणां जातवेदः ।
तांस्त्वं ब्रह्मणा वावृधानो जह्येषां शततर्हमग्ने ॥ ४ ॥

भा०—हे (अग्ने) परंतप ! हे (जातवेदः) सब के ज्ञाता ! (यत्र) जहां २ (गुहा) गुफ़ा तक में (सतां) विद्यमान (एषां) इन (अत्रिणां) प्रजाभक्षक लोगों के (जनिमानि) अड्डों को, उत्पत्ति या निकासों को (वेत्थ) जान पावे, तू (ब्रह्मणा वावृधानः) ब्रह्म=ब्राह्मण्य बल अथवा वेद की व्यवस्था के बल से शक्तिशाली होकर (एषां शततर्हम्) उनमें से सैकड़ों २ के वध करा २ के (तान्) उन दुष्टों को (जहि) विनाश कर ।

राष्ट्र में राजा के पक्ष में एवं शरीरपक्ष में अग्नि=आत्मा, इन्द्र=प्राण यातुधान किमीदी=मानस दुःसंकल्प, जो सदा 'अब क्या' २ इस प्रकार तृष्णा के भाव दर्शाते और सदा यातुमान्=बेचैनी प्रकट करते हैं। इसी प्रकार शरीर के विनाशक रोगों के विनाशक वैद्य आदि के पक्षमें भी लगजाता है।

३–(तृ०) 'न्यस्तुवानस्य पातय' इति पैप्प० सं० ।

[६] ब्रह्मतेज और आयु की प्रार्थना ।

अथर्वा ऋषिः । १, २ वस्वादयो मन्त्रोक्ता देवताः । ३, ४ अग्निर्देवता ।
त्रिष्टुप् छन्दः । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

अस्मिन् वसु वसवो धारयन्त्विन्द्रः पूषा वरुणो मित्रो अग्निः ।
इममादित्या उत विश्वे च देवा उत्तरस्मिञ्ज्योतिषि धारयन्तु ॥१॥

भा०—राज्यलक्ष्मी और ब्राह्म तेज और आयु की कामना करने के लिये इस सूक्त में उपदेश है । उपनयन के समय आचार्य ब्रह्मचारी के प्रति, राज्याभिषेक के समय पुरोहित राजा के प्रति कहता है कि—(अस्मिन्) इस राजा और ब्रह्मचारी में (वसवः) आठों वसु, विद्वान् और राजगण (वसु) तेजःस्वरूप ऐश्वर्य को (धारयन्तु) धारण करावें । (इन्द्रः[1]) ऐश्वर्य-शील (वरुणः[2]) सब से श्रेष्ठ, सर्वव्यापक, आदित्य के समान योगीजन (मित्रः) सब का स्नेही, मृत्यु से बचाने हारा (अग्निः) सब का प्रकाशक, सब का अग्रणी (आदित्याः[3]) द्वादश मास, या आदित्यव्रती योगीजन (उत च) और (विश्वेदेवाः) सब विद्वान् पुरुष (इमं) इस ब्रह्मचारी और राजा को (उत्तरस्मिन्) उत्कृष्ट (ज्योतिषि) ब्रह्मरूप, ज्ञानमय प्रकाश एवं उत्कृष्ट राज्य ऐश्वर्य में (धारयन्तु) धारण करें ।

---

[६] १–(द्वि०) 'त्वष्टा वरुणो', (च०) 'उत मे देवा ज्योतिष' इति पैप्प० सं० ।

१. 'न केवलं वसवः अपि तु इन्द्रः परमैश्वर्ययुक्तो देवानामधिपतिर्देवः । यद्वा इदं-कारास्पदं विश्वं कारणभूतब्रह्मात्मन अद्राक्षीदिति इन्द्रः ।' इति सायणः ॥

२. अहोरात्रे वै मित्रावरुणौ (तै० सं० २ । ४ । १०) मित्रः प्रमीतेस्त्रायते इति यास्कः । (निरु० १० । २१)

३. अदितेर्धात्रर्यमादयः पुत्राः प्रसिद्धास्तेऽपि पृथिव्याः धातृन्यायकर्त्रादयो द्वादशैव इति राजनीतिपक्षे समीचीनः । विश्वेदेवानां निर्णयस्तु तदेतन्नरराष्ट्रमिव भवतीति निरुक्तवचनाद् ध्येयम् ।

अस्य देवाः प्रदिशि ज्योतिरस्तु सूर्यो अग्निरुत वा हिरण्यम् ।
सपत्ना अस्मदधरे भवन्तूत्तमं नाकमधि रोहयेमम् ॥ २ ॥

भा०—हे (देवाः) देवगणो ! विद्वान् लोगो ! (अस्य) इस राजा के (प्रदिशि) शासन या आज्ञा में (सूर्यः) सर्वप्रकाशक (अग्निः) सब कार्यों का अग्रणी यज्ञनिष्पादक और (हिरण्यम्) सुवर्ण और चन्द्र आदि (ज्योतिः) ज्योतिष्मान् पदार्थ (अस्तु) हों (सपत्नाः) शत्रु लोग (अस्मद् अधरे) हमारे नीचे (भवन्तु) रहें और हे ईश्वर ! (इमं) इस राजा को (उत्तमं) उत्तम (नाकं) सुख सम्पन्न, समृद्ध, ऐश्वर्यमय राजपद या पारलौकिक सुख पर (अधि रोहय) स्थापित करो ।

सूर्यादिक ज्योति इसके राज्यमें प्रकाश, प्रवर्षण आदि करें और सुवर्ण आदि धन भी रहे । स्वर्ग के समान सुखकर इसका राज्य रहे । नाक=कं सुखं, अकं दुःखम् । न विद्यते अकं अस्मिन्निति नाकः स्वर्गः । सुवर्गो वै लोको नाकः, नास्मा अकं भवति (तै० सं० ५ । ३ । ७ । १) ब्रह्मचारी के पक्ष में—(अस्य प्रदिशि हे देवाः ज्योतिरस्तु) इसके वश में ज्ञानमय ज्योति हो, प्राणरूप सूर्य, जाठर अग्नि और आत्मारूप हिरण्य भी इसके शासन में हों । काम क्रोध आदि दुष्ट वृत्तिरूप शत्रु इसके वश रहें और वह सुखमय ब्रह्म पद का लाभ करे ।

येनेन्द्राय समभरः पयांस्युत्तमेन ब्रह्मणा जातवेदः ।
तेन त्वमग्न इह वर्धयेमं सजातानां श्रैष्ठ्य आ धेह्येनम् ॥ ३ ॥

२–(प्र०) 'अस्मिन् देवाः प्रदिशा', (तृ०, च०) 'उत्तरेण ब्रह्मणा विभाहि कृण्वानो अन्यान् अधरान् सपत्नान्' इति पैप्प० सं० ।

३–(द्वि०) 'उत्तरेण ब्रह्मणा', (च०) रायस्पोषं श्रैष्ठ्यमा धेह्यस्मै । इति पैप्प० सं० । (द्वि०) 'समभरन् पयांस्युत्तमेन हविषा जातवेदः । अग्ने त्वमुत वर्धय माम्, सजातानां मध्ये श्रैष्ठ्य आधेहि मा' इति मै० सं० ।

भा०—हे (जातवेदः) समस्त संसार के उत्पन्न पदार्थों के जानने हारे परमात्मन् ! (येन) जिस (उत्तमेन) उत्कृष्ट (ब्रह्मणा) ब्रह्मतेज से (इन्द्राय) इन्द्ररूप आचार्य के लिये (पयांसि) नाना प्रकार के ज्ञान अथवा उनके प्रतिनिधिरूप अञ्जलिगत जलों को (समभरः) धारण करते हो (तेन) उसही ब्रह्मतेज से हे अग्ने ! (त्वं) तू (इमम्) इसको (वर्धय) बढ़ा, उन्नत कर और (सजातानां) समान रूप से उत्पन्न अन्य मनुष्यवर्ग में से (एनम्) इसको (श्रेष्ठ्ये) श्रेष्ठ पद में (आधेहि) स्थापन कर ।

राजा के पक्ष में—(येन उत्तमेन ब्राह्मणा इन्द्राय पयांसि समभरः) जिस उत्तम ब्रह्म, वेद-व्यवस्था से इन्द्र महाराज के लिये राष्ट्रपोषक पदार्थों को उपस्थित किया जाता है हे (अग्ने) विद्वन् ! (तेन त्वं वर्धय) उससे तू इस शूर पुरुष को बढ़ा और (सजातानां श्रेष्ठ्ये आधेहि) समान पद के राजाओं में उन्नत पद पर इसको बिठला ।

एषां यज्ञमुत वर्चो ददेऽहं रायस्पोषमुत चित्तान्यग्ने ।
सपत्ना अस्मदधरे भवन्तूत्तमं नाकमधि रोहयेमम् ॥ ४ ॥

भा०—(एषां) इन प्रजाजनों के (यज्ञं) राष्ट्रमय यज्ञ या संगति या प्रेम से उपाहृत दान भेट को (उत) और (वर्चः) बल को (आददे) स्वीकार करता हूं । हे अग्ने ! सब के साक्षी परमात्मन् ! इनके (रायस्पोषम्) धन और अन्न आदि पोषक पदार्थों (उत) और (चित्तानि) स्नेहभरे चित्तों को भी आददे, स्वीकार करता हूं, अपने वश करता हूं, जिससे (सपत्नाः) शत्रुगण मेरे मुकाबले में खड़े होने वाले प्रजा का पति होने का दावा करने वाले (अस्मत् अधरे) हम से निकृष्ट ही (भवन्तु) रहें और हे परमात्मन् !

४-(च०) ' उत्तमे देवा ज्योतिषि दधातन [?] इति पैप्प० सं० ।

(इमं) इस उत्तम प्रजाप्रिय राजा को (उत्तमं) उत्कृष्ट (नाकं) स्वर्ग समान समृद्ध, राज्यपद पर (अधिरोहय) स्थापित कर ।

[१०] ईश्वर और राजा ।

अथर्वा ऋषिः । असुरो वरुणो देवता । १, २ त्रिष्टुप् , ३ ककुम्मती अनुष्टुप् ।
चतुर्ऋचं सूक्तम् ।

अयं देवानामसुरो वि राजति वशा हि सत्या वरुणस्य राज्ञः ।
ततस्परि ब्रह्मणा शाशदान उग्रस्य मन्योरुदिमं नयामि ॥ १ ॥

भा०—(अयं) यह राजा (देवानां) विद्वानों के बीच (असुरः) प्राण के समान देव=दिव्यपदार्थों, तेजस्वी पुरुषों के बीच अतिसामर्थ्य सम्पन्न होकर (विराजति) प्रकाशमान, यशस्वी है । (हि) क्योंकि (वरुणस्य) सब से श्रेष्ठ, परम वरणीय, पापों के निवारक (राज्ञः) राजाओं के राजा ईश्वर के ही (सत्या) समस्त सत्य ज्ञान और सत्य गुण (वशा) वश हैं और (ततः परि) उस परमात्मा के अनुग्रह से ही (ब्रह्मणा) वेदज्ञान और तप, ब्रह्मचर्य द्वारा (शाशदानः) तीक्ष्ण बुद्धि और बलवान् तपस्वी होकर मैं (इमं) इस को (उग्रस्य) सर्वशक्तिमान् (मन्योः) ज्ञानस्वरूप परमेश्वर के अनुग्रह से (उत् नयामि) उन्नत, राज्यसिंहासन पद को प्राप्त कराता हूं ।

नमस्ते राजन् वरुणास्तु मन्यवे विश्वं ह्यु/ग्र निचिकेषि द्रुग्धम् ।
सहस्रमन्यान् प्र सुवामि साकं शतं जीवाति शरदस्तवायम् ॥२॥

---

[१०] १—' विशाय सत्या ' इति पैप्प० सं० ।

२—(तृ०, च०) ' शतं सहस्रं प्रसुवा मन्यान् अयं नो जीवां शरदो व्यपेय ' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(वरुण) सर्वश्रेष्ठ, पापों के निवारक वरुण ! (राजन्) हे सर्वत्र प्रकाशमान् ! (ते मन्यवे) तेरे ज्ञानसामर्थ्य अथवा ज्ञानस्वरूप तुझे या दुष्कर्मों का फल देने वाले तेरे कोप या दण्डव्यवस्था के लिये (नमः) हम आदर भाव प्रकट करते हैं । हे (उग्र) उद्यतदण्ड ! उग्रस्वभाव ! सर्वोपरि बल ! तू (विश्वं) समस्त (द्रुग्धं) द्रोह करने वाले, हिंसक एवं अपराधी, कर्मव्यवस्था के द्रोही, उन्मार्गगामी पुरुष को (नि चिकेषि) खूब अच्छी प्रकार जानता है । मैं राजपुरोहित सब को (अन्यान्) और (सहस्रं) हजारों पुरुषों को भी (साकं) एक साथ ही (प्र सुवामि) इसी प्रकार बल प्रदान करता और सन्मार्ग पर चलाता हूं । हे प्रभो ! (तव) तेरी कृपा से (अयं) यह राजा, पुरुष (शतं शरदः) सौ वर्ष तक (जीवाति) जीए ।

यदु॒वक्थानृ॑तं जि॒ह्वया॑ वृजि॒नं ब॒हु ।
रा॒ज्ञस्त्वा॑ स॒त्यध॑र्मणो मु॒ञ्चामि॒ वरु॑णाद॒हम् ॥ ३ ॥

भा०—हे मनुष्य ! (यद् उ) जो भी तू (जिह्वया) जिह्वा, वाणी से (अनृतं) असत्य, अयथार्थ, वेदज्ञान के विपरीत (उवक्थ) बोलता है वह (बहु) बहुत ही बड़ा (वृजिनं) पाप है, उसको त्याग कर देना चाहिये । (अहं) मैं सत्यधर्म का उपदेष्टा (त्वा) तुझ अनृतवादी पुरुष को यथोचित शिक्षा देकर उस (सत्यधर्मणः) सत्यस्वरूप सच्ची धर्मव्यवस्था करने हारे, नियामक (वरुणात्) सर्वश्रेष्ठ परमेश्वर या राजा के आगामी दण्ड से (मुञ्चामि) छुड़ाता हूं ।

वृजिनमनृतं दुश्चरितं, ऋजु कर्म सत्यं सुचरितम् ॥

(तै० ब्रा० ३ । ३ । ७ । १०)

३–(प्र०) ' यत्त्वमुवक्थानृतम् ' इति ह्विटनिकाभितः पाठः । ' उदक्त ' इति सायणाभिमतः पाठः ।

रोगियों के वैद्य और शिष्यों के प्रति गुरु और अपराधियों के प्रति राजा का समान रूप से वचन है ।

मुञ्चामि त्वा वैश्वानरादर्णवान् महतस्परि ।
सजातानुग्रेहा वंद ब्रह्म चापं चिकीहि नः ॥ ४ ॥

भा०—हे राजन् ! (वैश्वानरात् महतः अर्णवात् त्वा परिमुंचामि) समस्त प्रजा के बड़े भारी सागर से मैं तुझे मुक्त करता हूं । हे उग्र ! (इह) इस राजपद पर (सजातान् ब्रह्म आवद) अपने समान अन्यों को ज्ञान का उपदेश कर (नः अप चिकीहि) हमें ज्ञानवान कर, दोषों से छुड़ा ।

अथवा—हे पुरुष (त्वा) तुझको (महतः) बड़े भारी (वैश्वानरात्) वैश्वानर, सर्वहितकारी जाठर अग्नि के स्थान उदर में लगे हुये (अर्णवात्) जल से, जलोदर रोग से (परि मुञ्चामि) छुड़ाता हूं । रोगी का वचन । हे उग्र ! वैद्य (सजातान्) अपने सहवर्ती सहायक वर्ग को इस सम्बन्ध में (आवद) उपदेश करो और (ब्रह्म च) ज्ञानपूर्वक (अप) रोग को दूर करो और (नः) हमें (चिकिहि) आरोग्य करो ।

केवल १ म मन्त्र में 'ब्रह्म' और अन्तिम मन्त्र में 'अर्णव' शब्द देख कर जलोदर रोग पर इस सूक्त को लगाने का यत्न किया जाता है ।

[११] सुखपूर्वक प्रसवविद्या ।

अथर्वा ऋषिः । पूषा देवता । १ पंक्तिश्छन्दः, २ अनुष्टुप् ५, ३-४ उष्णिग्गर्भाः ककुम्मत्यः, ४, ६, पथ्यापंक्तिः । षड्टचं सूक्तम् ।

वषंट् ते पूषन्नस्मिन्त्सूतांवर्यमा होतां कृणोतु वेधाः ।
सिस्रंतां नार्यृतप्रजाता वि पर्वाणि जिहतां सूतवा उ ॥१॥

४-(प्र०) ' अमुञ्चं त्वा ' इति पैप्प० सं० ।

भा०—इस सूक्त में गर्भिणी के उपचार अर्थात् सुख से प्रसव कराने और पुत्रजनन–विज्ञान और कर्म का उपदेश किया है। हे पूषन् ! स्त्री आदि के पोषक गृहपते ! (अस्मिन्) इस (सूतौ) बालप्रसव कार्य में (वेधाः) विद्वान् (अर्यमा) श्रेष्ठ, सत्यधर्मा (होता) याज्ञिक गृहपति (ते) तेरे सुख के लिये (वषट् कृणोतु) यज्ञ सम्पादन करे । जिससे नीरोग होकर (नारी) स्त्री (ऋतप्रजाता) ठीक रीति से जीवित बालक को प्रसव करने हारी होकर (सिस्रतां) बालक को जने । और स्त्री के शरीर के (पर्वाणि) सन्धिस्थान (सूतवा) प्रसव करने के लिये सुखपूर्वक (वि जिहतां) विशेषरूप से ढीले होजांय ।

इस मन्त्र से गर्भिणी के शिर को प्रसवकाल में यज्ञ के अवपातित घृत से मिले उष्ण जल से भिगोया जाता था ।

चतस्रो दिवः प्रदिशश्चतस्रो भूम्या उत ।
देवा गर्भं समैरयन् तं व्यूर्णुवन्तु सूतवे ॥ २ ॥

भा०—जिस प्रकार (दिवः) सूर्य के चारों ओर (चतस्रः प्रदिशः) चार दिशाएं उसको घेरे हैं और जिस प्रकार (भूम्याः) भूमि को (चतस्रः) चारों दिशाएं घेरे हैं, उसी प्रकार (गर्भं) गर्भ को भी चारों ओर से घेरा हुआ है । (तम्) उसको (देवाः) पांचों भूत (समैरयन्) गति देते हैं । अथवा उसको (देवाः) प्राण ही गति देते हैं और वेही (सूतवे) उत्पन्न करने के लिये (विऊर्णुवन्तु) उस आवरणकारी गर्भस्थान से बाहर करते हैं ।

सूषा व्यूर्णोतु वि योनिं हापयामसि ।
श्रथया सूषणे त्वमव त्वं विष्कले सृज ॥३॥

[११] २–(च०) 'व्यूर्णपन्तु' इति सायणाभिमतः पाठः । (तृ०) समैरयन्तां इति क्वाचित्कः पाठः ।

३–(प्र०) 'पूषा व्यूर्णोतु गर्भं वियोनिं' इति ह्विटनिकामितः पाठः ।

(इ) 'त्वं पुल्कले सृज' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(सूषा) सुख से बालक को प्रसव करने वाली स्त्री, (वि ऊर्णोतु) अपने गर्भ को जब बाहर करे तब हम (योनिं) मूल गर्भस्थान को (विहापयामसि) विशेष रूप से विस्तृत करके गर्भ को बाहर आने दें। हे (सूषणे) सुखपूर्वक बालक का प्रसव करने हारी स्त्री! (त्वं) तू अपने अंगों को (श्रथयं) ढीला छोड़ दे। हे (विष्कले) गर्भाशयगत अपानबल से प्रसव कराने वाली नाड़ि! (त्वं) तू बालक को (अवसृज) नीचे को प्रेरित कर।

नेव मांसे न पीवसि नेव मज्जस्वाहतम्।
अवैतु पृश्नि शेवलं शुने जराय्वत्तवेऽव जरायु पद्यताम् ॥४॥

भा०—जरायु जिसमें गर्भाशयगत बालक लिपटा होता है (न इव) नाहीं (मांसे) मांस में, (न) न (पीवसि) शरीरगत मेद या चर्बी में और (न इव) न (मज्जसु) मज्जाओं में ही (आहतम्) सटा, चिपका होता है, इस लिये वह (जरायु) जरायु भाग भी (पृश्नि) केवल भीतर के अंग को स्पर्शमात्र करने वाला या श्वेतवर्ण का (शेवलं) जल में उतराने वाले सेवार के समान, असम्बद्ध सा होता है। वह (जरायु) गर्भवेष्टन (शुने अत्तवे) कुत्ते आदि हीन जन्तु का खाद्य, गलित मांस के समान (अव पद्यताम्) नीचे आजावे।

४–' नेव मांसेन ' इति सायणाभिमतपदच्छेदः पदपाठानुक्रमण्यादिविरुद्धः। नैव स्नावसु न पर्वसु न केथे(शे)षु न नखेषु च। अवैतु पृश्नि शेवलं शुने जराय्वत्तवे। नैव पौ(मां)से न पीवसि नैक(व) कस्न्यो (ट्यो) ष्व (श्व) नायुतम्। अव जरायु पद्यताम्। इति पैप्प० सं०। अवैतु पृश्निशेवलं शुने जराय्वत्तवे। नैव मांसेन पीवरि, न कस्मिंश्चिनायुतम्। अव जरायु पद्यताम्। इति पार० गृ० सू०। ' अवैतु पृश्नि केवलमिति ' ह्विटनिकामितः पाठः।

वि ते भिनद्मि मेहनं वि योनिं वि गवीनिके ।
वि मातरं च पुत्रं च वि कुमारं जरायुणाव जरायु पद्यताम् ॥५॥

भा०—हे गर्भिणि ! (ते) तेरे (मेहनं) मूत्रद्वार को (वि भिनद्मि) खोलता हूं और बालक को सुगमता से बाहर आने देने के लिये (योनिं वि) योनिभाग गर्भाशय के मार्ग को भी फाड़ कर चौड़ा करता हूं और (गवीनिके) योनिमार्ग के पासों पर लगी दो नाड़ियाँ जो बालक के मार्ग में बाधक होती हैं उनको भी (वि) विशेष रूप से अलग अलग कर देता हूं । (मातरं वि) जननी को उस पुत्र से और (पुत्रं वि ··) पुत्र को गर्भाशय से भी और (कुमारं) शिशु को (जरायुणा) गर्भावेष्टन से (वि) जुदा २ करदेता हूं जिससे बालक सुखपूर्वक बाहर आजाय और सब के अनन्तर (जरायु) वह गर्भवेष्टन (अव पद्यताम्) नीचे आजाय । यहां साक्षात् ईश्वर ही प्रसवकारिणी के प्रति कह रहा है ।

यथा वातो यथा मनो यथा पतन्ति पक्षिणः ।
एवा त्वं दशमास्य साकं जरायुणा पतावं जरायु पद्यताम् ॥६॥

भा०—गर्भ का बाहर आना स्वाभाविक है, (यथा) जैसे (वातः) वायु या प्राण नासिका से आपसे आप बाहर आते हैं और (यथा मनः) जिस प्रकार मन आपसे आप विषयों के प्रति जाता है और (यथा) जिस प्रकार (पक्षिणः) पक्षिगण अपने घोंसलों से निकल कर उड़ने लगते हैं

५—विते तृतामितगरिं व्योनि विगवेन्यौ । वि मातरं च पुत्रं च निगर्भं च जरायुजः । इति पैप्प० सं० ॥ पैप्पलादसंहितापाठानुसारमेव ' तकरी ', ' गविन्यौ ', ' जरायुत्र ' इति पाठभेदाः । तैत्ति० सं० ।

६—यथा वातो यथा दद्य यथा सशद्रोयजन्त । एवा ते गर्भ एजतु निरैतु दशमास्यो बहिर्जरायुणा सह ।

(एवा) उसी प्रकार हे (दशमास्य) दश मास तक गर्भ में रहने हारे गर्भगत बालक ! (त्वं) तू (जरायुणा) गर्भकाल के वेष्टनचर्म=जेर के (साकं) साथ ही बाहर आजा और (जरायु) जेर भी (अव पद्यताम्) नीचे बाहर आजाय ।

इति द्वितीयोऽनुवाकः ।

[तत्र पञ्च सूक्तानि, पञ्चविंशतिर्ऋचः]

[१२] नीरोग रहने के उपाय ।

भृग्वंगिरा ऋषिः । यक्ष्मनाशनो देवता । जागतं छन्दः । चतुर्ऋचं सूक्तम् ।

जरायुजः प्रथम उस्रियो वृषा वातभ्रजा स्तनयन्नेति वृष्ट्या ।
स नो मृडाति तन्व ऋजुगो रुजन् य एकमोजस्त्रेधा विचक्रमे ॥१॥

भा०—जिस प्रकार (उस्रियः) ऊपर की तरफ़ आता हुआ (वातभ्रजा) वात, प्रचण्ड वायु से प्रेरित (स्तनयन्) ध्वनि या गर्जन करता हुआ मेघ (वृष्ट्या) वृष्टि के साथ आता है उसी प्रकार (प्रथमः) प्रथम प्रथम (जरायुजः) जरायु से उत्पन्न होने वाला अर्थात् जेर में लिपटा बालक (उस्रियः) ऊपर आता है । (वृषा) माता पिता को सुख से पूर्ण करता हुआ अथवा हृष्टपुष्ट (वातभ्रजाः) गर्भस्थ अपान वायु द्वारा कम्पन करता या कुछ २

[१२] १–(द्वि०) 'वातभ्रजः' इति ह्विटनिकामितः पाठः । 'वातभ्रज्जा' इति वेबरकामितः । 'वातव्रजाः' इति सायणाभिमतः । शं० पा० प्राप्तादर्शग्रन्थयोर्द्वयोरुपलभ्यते च 'वातव्रजाः' इति । 'वातभ्रंजस्तनयन्' इति पैप्प० सं० । (च०) 'यस्यैकमोज' इति ह्विटनिकामितः पाठः ।

सरकता हुआ (स्तनयन्) स्तनों को उभारता हुआ (वृष्ण्या) योनिमार्ग से जलप्रस्रवणों सहित (एति) बाहर आता है । (सः) वह (ऋजुगः) सरल सीधे मार्ग से निकलता हुआ (नः) हमारे, प्रसवकारिणी माता के (तन्वः) शरीरों को (रुजन्) प्रसवकाल में पीड़ा देकर भी (मृडाति) सुख प्रदान करता है और (यः) जो बालक (एकम्) एक (ओजः) वीर्यस्वरूप होकर भी (त्रेधा) तीन रूपों में माता, पिता और पुत्र अथवा बालक और जरायु तथा जल इन तीन रूपों में (विचक्रमे) प्रकट होता है ।

अङ्गे॑ अङ्गे शो॒चिषा॑ शिश्रिया॒णं न॑म॒स्यन्त॑स्त्वा ह॒विषा॑ विधेम ।
अ॒ङ्कान्त्स॑म॒ङ्कान् ह॒विषा॑ विधेम॒ यो अग्र॑भीत् पर्वा॑स्या॒ ग्रभी॑ता ॥२॥

भा०—(अङ्गे अङ्गे) अङ्ग २ में (शोचिषा) दीप्ति से (शिश्रियाणं) आश्रय लेकर, व्यापक होकर विराजमान पुत्र को (नमस्यन्तः) जीवन प्रदान करते हुए, उचित उपचार पूर्वक (हविषा) हवि, उत्तम अन्न से उसको (विधेम) पुष्ट करें और (यः) जो (ग्रभीता) पकड़ लेने वाला, वातादि रोग (अस्य) इस पुरुष के (पर्वा) समस्त पर्वों, अस्थिसन्धियों में (अग्रभीत्) जड़ पकड़ गया है उस रोग की निवृत्ति के लिये हम (अङ्कान्) रोग के विशेष चिह्नों और (समङ्कान्) सहवर्त्ती लक्षणों को (हविषा) उत्तम ओषधि से (विधेम) प्रतिकार करेंगे ।

मु॒ञ्च शी॑र्ष॒क्त्या उ॒त का॒स ए॑नं॒ परु॑ष्परुरावि॒वेशा॒ यो अ॑स्य ।
यो अ॑भ्र॒जा वा॑त॒जा यश्च॒ शुष्मो॒ वन॒स्पती॑न्त्सचतां॒ पर्व॑तांश्च ॥३॥

भा०—(अस्य) इस पुरुष के (यः) जो (कासः) खांसी, कासरोग और (शीर्षक्त्याः) शिरःपीड़ा का कारण (परुष्परुः) पर्व २ में (आविवेश) घुस

२—(प्र०, द्वि०) अङ्गे अङ्गे शोचिषा शिश्रियाणो यो ग्रहीत परस्या ग्रहीती ।
अंको तमंको हविषा यजामि हृदि श्रितो मनसा यो जजान । इति पैप्प० सं० ।
३—(च०) 'सजतां' इति पैप्प० सं० ।

गया है वह (एनं) इस पुरुष को (मुञ्च) छोड़ दे और (यः) जो पुरुष (अभ्रजाः) मेघ से उत्पन्न होने वाला और (यश्च) जो (वातजाः) वात से उत्पन्न होने वाला और (शुष्मः) शोष रोग वाला है वह (वनस्पतीन्) उत्तम जंगलों के वृक्षों और (पर्वतांश्च) स्वास्थ्यप्रद पर्वतों को (सचतां) जाकर वहां का वायु सेवन करे।

सायण के मत से रोगी का रोग वनस्पति और वृक्षों को लगजावे और रोगी रोग से मुक्त हो, यह संगति असंगत है। रोग ऐसा भूत या चेतन पदार्थ नहीं जो पक्षी के समान रोगी को छोड़ वृक्ष या पर्वत से चिपट जायगा, इस मन्त्र में जंगलों और पर्वतों के वायु सेवन का उपदेश पांच प्रकार के रोगियों के लिये है १ शिरो रोगी, २ कासरोगी, ३ वर्षाकाल के या मेघ के जल से उत्पन्न कीटाणुओं से हुए श्लेश्मज, तपेदिक के रोगी, ४ वातज रोगी या वातशोषी, ५ शुष्म या पित्तशोषी। इन सब रोगियों के लिये जंगल के वृक्षों की वायु और पर्वतों की हलकी रोगहर वायु स्वतः सिद्ध औषधि है।

शं मे परस्मै गात्राय शमस्त्ववराय मे।
शं मे चतुर्भ्यो अङ्गेभ्यः शमस्तु तन्वेऽ मम ॥ ४ ॥

यजु० २३ । ४४ ॥

भा०—(मे) मेरे (परस्मै) उत्कृष्ट (गात्राय) शरीर के उत्तम भाग, शिर के लिये (शं) कल्याण और सुख हो। (मे) मेरे (अवराय) नीचे के चरण

४—'शं ते परस्मै गात्राय शमस्तुपरायते। शं ते पृष्टिभ्यो मज्जभ्यश्च शमस्तु-तन्वे तव'। इति पैप्प० सं० ॥ 'शं ते परेभ्यो गात्रेभ्यः शमस्त्ववरेभ्यः। शमस्थभ्यो मज्जभ्यः शम्वस्तु तन्वै तव।' इति यजु०। (च०) 'शमु-ते तनुवे भवत्' इति तै० सं०।

और जघाभाग को भी (शम् अस्तु) सुख ही हो। (मे) मेरे (चतुर्भ्यः) चारों (अङ्गेभ्यः) अंगों बाहु, ऊरू, शिर और चरण को भी (शं) सुख हो। (मम) मेरे (तन्वे) समस्त शरीर को भी (शम् अस्तु) कल्याण हो।

समष्टि भाग से चारों वर्णों और अपने शरीर के चारों भागों के कल्याण की प्रार्थना की गई है।

[१३] विद्युत् शक्ति।

भृग्वंगिराः ऋषिः। विद्युत् देवता। १, २ अनुष्टुप् छन्दः। ३ चतुष्पाद् विराड् जगती। ४ त्रिष्टुप् परा बृहतीगर्भा पंक्तिः। चतुर्ऋचं सूक्तम्॥

नमस्ते अस्तु विद्युते नमस्ते स्तनयित्नवे।
नमस्ते अस्त्वश्मने येना दूडाशे अस्यसि॥ १॥

प्रथमार्धः, यजु० ३६। २१॥

भा०—हे विद्युत्! (ते) तेरी या तुझ (विद्युते) विशेष दीप्ति से चमकने वाली विद्युत् का (नमः) हम उपयोग करते हैं और (ते स्तनयित्नवे नमः) तुझ शब्द करने वाले का भी हम उपयोग करते हैं (ते) तेरे (अश्मने) ओले रूप में पड़ने वाले जल का या सर्वत्र शीघ्रता से फैलने वाली तेरा (नमः) हम उपयोग करते हैं। (येन) जिसके कारण से तू (दूडाशे) या विद्युत् शक्ति को समीप के अन्य पदार्थों को न दे देने वाले दुर्वाहक पदार्थों पर अपने को (अस्यसि) फेंकता है। काठ, वृक्ष आदि दुर्वाहक पदार्थों पर अशनिपात होता है।

---

[१३] १-(च०) 'येन दूरान् प्रदिजस्सि [प्रत्यस्यसि]' इति पैप्प० सं०। 'नमस्ते भगवन्नस्तु यतः स्वः समीहसे' इति उत्तरार्धो यजुषि।

नमस्ते प्रवतो नपाद् यतस्तपः समूहसि ।
मृडया नस्तनूभ्यो मयस्तोकेभ्यस्कृधि ॥ २ ॥

यजु० ३६ । २१ ॥

भा०—हे (प्रवतः नपात्) भूमि की तरफ़ वेग से गमन करने वाली विद्युत् ! अथवा (प्रवतः नपाद्) वेग से गमन करने हारे वायु से न गिरती हुई या उत्पन्न होने हारे पुत्र के समान ! विद्युत् रूप ! अथवा (प्रवतः) गतिशील जल को न गिराने वाले (ते नमः) तेरा यह सामर्थ्य है कि (यतः) जिससे तू (तपः) इस दीप्यमान तेज को (समूहसि) अपने भीतर एकत्र कर लेती है । तू (नः) हमारे (तनूभ्यः) शरीरों के लिये (मृडय) सुखकारी हो (तोकेभ्यः) हमारी सन्तानों के लिये भी (मयः) कल्याण (कृधि) कर ।

मेघों की विजली ही मेघ के वायुमण्डल में अधिक वेग से प्रकट होती है । वही दीप्त हो कर चमकती है । वह शरीर के रोगों को भी नाश करके आरोग्य पैदा करती है ।

प्रवतो नपान्नम एवास्तु तुभ्यं नमस्ते हेतये तपुषे च कृण्मः ।
विद्म ते धाम परमं गुहा यत्समुद्रे अन्तर्निहितासि नाभिः ॥३॥

भा०—हे (प्रवतः नपाद्) गतिशील, वेगवान्, बलवान् मेघ से उत्पन्न (तुभ्यं) तेरे लिये (नमः, एव अस्तु) यह वश करने का उपाय है । (तपुषे) सन्तापकारी अग्निस्वरूप (हेतये) आघातकारी इस तेरी शक्ति का (नमः) उपयोग हम (कृण्मः) करते हैं । (गुहा) निगूढ रूप से रहना

२—(च०) 'शं नस्तोकेभ्य' इति पैप्प० सं० ।

३—'प्रवतां नपान्नमोऽस्तु तुभ्यं नमस्ते हेतेतिपुष्यै (?) च कृण्मः । गन्धर्वो नाम परमं गुहा यत् समुद्रे अन्तर्निहितास नाभिः । इति पैप्प० सं० ।

ही (ते) तेरी (परमं) सर्वोत्कृष्ट (धाम) तेजःधारण सामर्थ्य को हम (विद्म) जानते हैं (यत्) कि तू स्वयं ही (समुद्रे) अन्तरिक्ष के (अन्तः) भीतर ही (निहिता) स्थापित (नाभिः) जल और मेघ को एकत्र बांधने वाला नाभिरूप है ।

यां त्वा देवा असृजन्त विश्व इषुं कृण्वाना असनाय धृष्णुम् ।
सा नो मृड विदथे गृणाना तस्यै ते नमो अस्तु देवि ॥ ४ ॥

भा०—हे (देवि) दिव्यगुणसम्पन्न विद्युत् ! (यां) जिस (त्वा) तुझको (विश्वे देवाः) समस्त विद्वान् गण (धृष्णुम्) शत्रु का धर्षण या मानभंग करने हारे (इषुं) बाण रूप (कृण्वाना) बनाते हुए शत्रुओं पर (असनाय) फेंकने के लिये (असृजन्त) तैयार करते हैं (सा) वह तू (विदथे) संग्राम और परोपकार के कार्यों में भी (नः) हमें (गृणाना) विद्वान् पुरुषों द्वारा उपदेश की गई (मृड) सुखकारी हो (तस्यै) उस (ते) तेरा (नमः) सदुपयोग (अस्तु) हो ।

[१४] कन्या—दान ।

भृग्वंगिरा ऋषिः । विद्युत् वरुणो, यमो वा देवता । १, ककुम्मती अनुष्टुप् । २, ४ अनुष्टुभौ । ३, चतुष्पाद् विराड् । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

भगमस्या वर्च आदिष्यधि वृक्षादिव स्रजम् ।
महाबुध्न इव पर्वतो ज्योक् पितृष्वास्ताम् ॥ १ ॥

४–यं त्वा देवा अजनयन्त विश्वेषां कृण्वाना अशनाय त्रिष्वै । सनो मृड विदथे गृणाना मित्रस्य वरुणस्य प्रसष्टौ । इति पैप्प० सं० ।

[१४] १–(प्र०) 'अहं ते भगमाददे', (तृ०) 'महामूल इव पर्वतो' इति पैप्प० सं० ।

भा०—इस सूक्त में कन्या को उचित आयु पर उचित पात्र के हाथ में देने का उपदेश है। (वृक्षाद् अधि) जिस प्रकार वृक्ष से (स्रजम् इव) फूलमाला को तोड़ कर अलग कर लिया जाता है उसी प्रकार मैं समावर्त्तन के अनन्तर गुरुगृह से आया विवाहेच्छु ब्रह्मचारी (अस्याः) इस अपने अभिमत कन्या के (भगं) गृहस्थ सेवन करने योग्य (वर्चः) ब्रह्मचर्य को (आदिषि) स्वीकार करता हूं और यह (पितृषु) मेरे मां बाप एवं गुरु आदि के बीच (महाबुध्नः) बड़े मूल वाले (पर्वत इव) पर्वत, चट्टान के समान (आस्ताम्) गृहस्थ धर्म में दृढ़ रहे। सायण ने यह मन्त्र स्त्री के दौर्भाग्य करने अर्थ में लगाया है यह उसका भ्रम है क्योंकि स्त्री का पर्वत के समान स्थिर रहना, गृहस्थ धर्म के प्रारम्भक विवाह संस्कार में प्रतिज्ञा रूप में कराया जाता है। जैसा पारस्कर गृह्यसूत्र (का० १। कं०) में लिखा है—

" आरोहेममश्मानं अश्मे वत्वं स्थिरा भव "

और उसी प्रकार आश्वलायन में—

परिणीय परिणीय अश्मानमारोहयति ।
इममश्मानमारोह अश्मेव त्वं स्थिरा भव ॥
(आश्व० अ० १। क० ७)

अर्थात् प्रत्येक विवाह में कन्या का शिला पर पैर रखा २ कर पति कहे 'हे स्त्री तू चट्टान की तरह स्थिर होजा !' सायण ने इस मन्त्र में यह अर्थ किया है—'मैं स्त्रीद्वेषी पति इस स्त्री का शरीर अपने वश करता हूं कि यह पिता के घर में पहाड़ की तरह सदा बनी रहे।' यह कितना असंगत अर्थ है। वेद में स्त्रियों से द्वेष निकालने का भाव सर्वथा निरर्गल है। सायण ने इस सूक्त के अगले मन्त्रों में और भी अनर्थ किया है सो आगे लिखेंगे। ह्विटनि आदि ने अविवाहित कन्या को 'यमकन्या' मान कर अविवाहिता को मृतकन्या के समान माना है और फिर भी सायण का अनुसरण किया है सो उपहास योग्य है।

एषा ते राजन् कुन्या वृधूर्नि धूयतां यम ।
सा मातुर्बध्यतां गृहेथो भ्रातुरथो पितुः ॥ २ ॥

भा०—कन्या के पिता का अतिथिरूप ब्रह्मचारी के प्रति वचन । हे यम ! ब्रह्मचारिन् ! हे (राजन्) ज्ञान और ब्रह्मवर्चस तेज से प्रकाशमान वर ! (एषा) यह (कन्या) कन्या (ते) तेरी (वधूः) वधूरूप होकर (नि धूयतां) गृहस्थ का आनन्द उपभोग करे (सा) वह कन्या (मातुः) माता के (अथो भ्रातुः) अथवा भाई के (अथो पितुः) या पिता के गृह में ही (बध्यताम्) गृहस्थ बन्धन में बंधे अर्थात् मां, बाप और भाई के समक्ष ही इस का विवाह संस्कार हो।

सायण ने सोमरूप अतिथि को 'यम' शब्द से लेकर भी स्त्री को मां बाप के घर में डाल कर छोड़ देने परक अर्थ किया है, वह असंगत है।

एषा ते कुलपा राजन् तामु ते परि दद्मसि ।
ज्योक् पितृष्वासाता आ शीर्ष्णः शमोप्यात् ॥३॥

भा०—कन्या के पिता का ब्रह्मचारी के प्रति वचन । हे (राजन्) सौम्य ! प्रथम, स्वयंवर में प्राप्त वर ! (एषा) यह कन्या (ते कुलपा) तेरे कुल का पालन करने हारी हो, इसलिये (ताम् उ) उसको हम (ते) तेरे लिये (परि दद्मसि) सब प्रकार से प्रदान करते हैं । यह कन्या (ज्योक्) अभी चिरकाल (शीर्ष्णः) शिर के बालों के (शम् ओप्यात्) कल्याणकारी संस्कार और लाजाओं के आवपन संस्कार तक ही (पितृषु)

२–(प्र०) 'यत्ते राजन्' इति पैप्प० सं० । अविवाहिता कन्या मृत्योः कन्येव परलोकं गतेवेति ह्विटनिकामितोऽर्थः । रोक्वेल लैन्मन पण्डितस्तु 'निधुवन' लिंगेन परस्पर स्वयंवरतोः प्रेमकेलिपरमेवार्थं ध्वनयति ।

३–(द्वि०) 'इमाम् उ परिदध्मसि', 'समोप्यात्' इति पैप्प० सं० ।

अपने पितृगृहों में (आसाता) रहे और उन दोनों संस्कारों के बाद तुम्हारे घर में चली जायगी।

'शीर्ष्णः शम्'—शिर का शमन अर्थात् कन्या के केशपाशों को वर एकान्त में खोल कर पुनः सजाता है। केश प्रसाधन के समय पूर्वकाल में कन्या के बालों में ऊन के दो गुच्छे बंधे रहते थे उनको खोला जाता था। ये दोनों वरुण के पाश कहाते थे, वे उसके कन्यात्व के द्योतक थे। इनके विषय में आश्वलायन (१३ । क० १७)—

उर्णास्तुके केशपक्षयोर्बद्धे भवतः प्र त्वामुञ्चामि वरुणस्य पाशादिति ॥

"ओप्यात्" ओप्य संस्कार क्या है? इस प्रसंग में आश्वलायन में "ओप्य ओप्य हेके लाजान् परिणयन्ति तथा उत्तमे आहुती न संनिपततः" ये वे लाजावापाहुति हैं जो कन्याञ्जलि से वर की अंजलि में आकर अग्नि में छोड़ी जाती हैं जिनके साथ अग्नि की परिक्रमायें की जाती हैं। सायण ने इस मंत्र में दुर्भगा स्त्री का शिरःपतन अर्थात् मृत्यु तक पिता के घर में पड़े रहने परक अर्थ किया है। सो असंगत है।

असितस्य ते ब्रह्मणा कश्यपस्य गयस्य च।
अन्तःकोशमिव जामयोऽपि नह्यामि ते भगम् ॥४॥

भा०—हे नारि! (जामयः) स्त्रियां जिस प्रकार (अन्तः कोशम् इव) भीतरी गर्भाशय की रक्षा करती हैं उसी प्रकार (असितस्य) असित, निष्पाप, भुक्तभोगी (कश्यपस्य) ज्ञान के पानकर्ता, एवं सूर्य के समान सबका दर्शक और (गयस्य च) प्राण के विषयक (ब्रह्मणा) वेदमन्त्रों द्वारा (ते भगम्) तेरे सौभाग्य को (अपि नह्यामि) अधिक पुष्ट करूंगा,

४—'अन्तः कोशे' इति ह्विटनिकामितः पाठः, 'अन्तः कोशं व' इति अनुक्रमणीगतः पाठः।

अधिक बढ़ाऊंगा या सौभाग्य की लाज रखूंगा । असित, कश्यप और गय तीनों ऋषियों के नाम से प्रसिद्ध वेदमन्त्र हैं जैसे असित दृष्ट देखो (ऋ० ९। ५१-२४ सूक्त तक) कश्यप दृष्ट (ऋ० ९। ९१ ९२, ११३ सू०) गयदृष्ट देखो (ऋ० १० । सू० ६३, ६४ ; स्वस्तिवाचन प्रकरण । " येभ्यो माता मधुमत् पिन्वते " इत्यादि गयदृष्ट हैं । सायण ने इन वेदमन्त्रों को एक नारी भगवन्धन या सौभाग्यनाश के लिये माना है, यह उपहासयोग्य है ।

उक्त सूक्त में विद्युत्-विद्या सम्बन्धी रहस्य ।

" 'नमस्ते अस्तु' 'भगयस्या' इति द्वे सूक्ते वैद्युते द्वे अनुष्टुभे । प्रथमं वैद्युतं परं वारुणं वा उत याम्यं वा । प्रथमेन वैद्युतमस्तौत् द्वितीयेन तदर्थं यमन् ।" इस प्रकार अथर्ववेद सर्वानुक्रमणीकार का लेख है । इसका अभिप्राय यह है कि 'नमस्ते अस्तु' (१ । १३) और 'भगमस्याः' (१ । १४) इन दोनों सूक्तों का देवता विद्युत् है अथवा प्रथम का विद्युत् दूसरे का वरुण या यम है । प्रथम से विद्युत का वर्णन करते हैं और दूसरे से उसी विद्युत् के लिये 'यम' का वर्णन करते हैं । अर्थात् 'भगमस्याः' इस सूक्तमें भी विद्युत् का वर्णन या विद्युत् के लिये यम या वरुण का वर्णन आवश्यक है । विद्युत् पक्ष में इस सूक्त के अर्थ इस प्रकार हैं ।

(१) (अस्याः भगं) इस विद्युत् के सौभाग्यकारी दिव्य सुन्दर नाना कला कौशल चलाने में समर्थ (वर्चः) तेज और बल को (आदि-षि) मैं संग्रह करता हूं । (वृक्षात् अधि स्रजामिव) जिस प्रकार माली वृक्ष से फूल चुन कर संग्रह किया करता है । (महाबुध्नः पर्वत इव) जिस प्रकार विशाल आधार वाला पर्वत स्थिर रहता है उसी प्रकार वह विद्युत् चंचल होकर भी उसके बांधने और नियम में रखने और उत्पन्न करने वाले (पितृषु) विद्वान् या विद्युत् के उत्पादक यन्त्रों के बीच (ज्योक्) चिर-काल तक (आ ताम्) स्थिरता से रहे और कार्य करे ।

(२) हे (यम) विद्युत् का नियमन करने, उसको वश करने वाले! राजन्! (एषा) यह (कन्या) अति तीव्रगति वाली विद्युत् (वधूः निधूयताम्) ... नाना कार्यों को करने और यन्त्र, रथ आदि ढोने में समर्थ हो। (सा) वह विद्युत् (मातुः) उसको मापने में कुशल अथवा उत्पन्न करने में चतुर शिल्पी के बनाये (गृहे) घर [पावर हाउस्] में (अथो भ्रातुः अथो पितुः) अथवा उसको भरण पोषण या अधिक प्रबल करने वाले, यन्त्र के बनाने वाले या उसको पालन, सुरक्षित रखने वाले शिल्पी के कोठे में (वध्यताम्) नियमित करके रखा जाय। विद्युत् को पैदा करना, मापना, बढ़ाना और उसका संचय करना यह भिन्न २ यन्त्रों से किया जाय। उन यन्त्रों के स्थापन के लिये भिन्न २ स्थान हों उन पर भिन्न २ अधिष्ठाता हों। उन सबमें विद्युत् को नियमित रख कर व्यर्थ न जाने दिया जाय।

(३) हे (राजन्! एषा ते कुलपा, ताम् उते परिदद्मसि) राजन् विद्वन्! शास्त्र के निष्णात, उसके नियामक! यह विद्युत् तेरे कुल=समस्त कार्यों का पालन करती है, पंखा चलाना, दीपक जलाना आदि सब काम करती है इसीसे घरवाली के समान है। वह विद्युत् (शीर्ष्णः समोप्यात् पितृषु ज्योक् आस्ताम्) सिरे के मिलने तक अपने पालक कारीगरों के पावर हाउस में ही चिरकाल तक रहे। जब तक सिरे नहीं मिलाये जाते तब तक विद्युत् धारा चलती नहीं वह पात्र या पावर हाउस में ही रहती है। परन्तु जब बाहर सब तारें ठीक २ लगादी जायं और सिरे मिला दिये जायं तो वह विद्युत् और के घरों में कार्य करती है।

(४) (असितस्य कश्यपस्य गयस्य च ब्रह्मणा ते भगम् जामयः अन्तः कोशम् इव अपि नह्यामि) जिस प्रकार स्त्रियां या बहनें अपने भीतरी खज़ाने या गर्भाशय रूप कोष को सुरक्षित करके रखती हैं उसी प्रकार मैं विद्युत् विज्ञानवेत्ता तुझ विद्युत् के अलौकिक बल और तेज को खूब बांध कर सुरक्षित रखूं। इसके लिये विद्युत् के तीन प्रकार के ब्रह्म=विज्ञानों का

उपयोग करूं। (१) असित बन्धन रहित, अवश्य या अदस्य विद्युत् के उच्छृं-खल प्रबल गतिसम्बन्धी विज्ञान, (२) कश्यप=पश्यक, विद्युत् के प्रकाश सम्बन्धी विज्ञान से, और (३) (गयस्य) विद्युत् के शब्द सम्बन्धी विज्ञान से विद्युत् के भग=सेवन करने योग्य बल और सामर्थ्य को बांधता हूं।

विद्युत् सम्बन्धी इन गूढ़ अर्थों को संक्षेप में प्रकट किया गया है। इन कां विस्तृत विवरण असित, गय, कश्यप नाम से प्रकट मन्त्रों के सोम प्रकरण के वैज्ञानिक मन्त्रों में देखना चाहिये, अथवा अन्य उपवेदों में इसका विवरण सुलभ हो।

[१५] गमनागमन के साधन।

अथर्वा ऋषिः। सिन्धुर्देवता। १, २, ४ अनुष्टुप् छन्दः। भुरिक्पथ्यापंक्तिः। चतुर्ऋचं सूक्तम्।

सं सं स्रवन्तु सिन्धवः सं वाताः सं पतत्रिणः।
इमं यज्ञं प्रदिवो मे जुषन्तां संस्राव्येण हविषा जुहोमि ॥१॥

भा०—(सिंधवः) नदियें, नहरें (संस्रवन्तु) उत्तम रीति से प्रवाहित हों, (वाताः सम्) वायुएं उत्तम रीति से चलें। (पतत्रिणः) समस्त पक्षी गण, पक्षों वाले अथवा विमानचारी, रथी लोग उत्तम रीति से गमन करें और (प्रदिवः) उत्कृष्ट ज्ञानसम्पन्न, ज्ञानवृद्ध पुरुष (इमं) इस (यज्ञं) राष्ट्रयज्ञ में (जुषन्ताम्) प्रेमपूर्वक आवें और मैं (संस्राव्येण) उत्तम रीति से गमनागमन करने योग्य विमान रथ आदि (हविषा) उत्तम साधनों द्वारा (जुहोमि) सब को प्रदान करता हूं।

[१५] १-(द्वि०) 'सं वाताः दिव्या उत' इति पैप्प० सं०।

इहैव हवमा यात म इह संस्रावणा उतेमं वर्धयता गिरः ।
इहैतु सर्वो यः पशुरस्मिन् तिष्ठतु या रयिः ॥ २ ॥

भा०—हे देवगण ! विद्वान् पुरुषो ! आप लोग (इह) यहां (मे) मेरे (हवम्) राष्ट्रमय यज्ञ में (आयात) आइये। (इह) यहां (संस्रावणाः) उत्तम रीति से चलने वाले रथ आदि साधन हैं। (उत) और (गिरः) ज्ञानवाणियाँ भी हैं अतः आप लोग (इमं) इस राष्ट्रपति को (वर्धयत) बढ़ाइये (यः पशुः) जो भी पशु हो वह (सर्वः) सब (इह, एतु) इस राष्ट्र में आवे और (अस्मिन्) इसमें (या रयिः) जो भी धान्य सुवर्ण आदि धन है वह भी (तिष्ठतु) विद्यमान रहे।

ये नदीनां संस्रवन्त्युत्सासः सदमक्षिताः ।
तेभिर्मे सर्वैः संस्रावैर्धनं सं स्रावयामसि ॥ ३ ॥

भा०—(नदीनां) नदियों के समान ध्वनिशील (अक्षिताः) अविनाशी (ये) जो अक्षय (उत्सासः) जलमय स्रोत (संस्रवन्ति) वह रहे हैं (तेभिः) उन (मे) मेरे (सर्वैः) समस्त (संस्रावैः) प्रवाहों, गति साधनों द्वारा (धनम्) धन को (संस्रावयामसि) प्रवाहित करते रहें, उनसे व्यापार करें, जहाज चलावें।

ये सर्पिषः संस्रवन्ति क्षीरस्य चोदकस्य च ।
तेभिर्मे सर्वैः संस्रावैर्धनं सं स्रावयामसि ॥ ४ ॥

भा०—(ये) जो प्रवाह (सर्पिषः) सर्पणशील स्नेहरूप घृत के (क्षीरस्य च) और यशोरूप दुग्ध के और (उदकस्य च) और ज्ञानरूप जल के

२–(प्र०) 'इदं हव्यमुपेतनेदं संस्रावणा उत' इति पैप्प० सं०।
३–'ये नदीभ्यः संस्रवन्त्युच्छाम [त्सासः] सर[द]मक्षिताः' इति पैप्प० सं०।
४–(प्र०) 'ये संस्रावाः संस्रवन्ति' इति पैप्प० सं०।

(संस्रवन्ति) सोते वह रहे हैं (तेभिः मे सर्वैः संस्रावैः) अपने उन सब प्रवाहों द्वारा हम (धनं संस्रावयामसि) अपने ज्ञान और धन को सर्वत्र बढ़ाते और फैलाते रहें ।

[१६] दुष्टों के नाश का उपाय ।

चातन ऋषिः । अग्नीन्द्रौ, वरुणः, सीसश्च देवताः । १–३ अनुष्टुभः
४ ककुम्मती अनुष्टुप् । चतुर्ऋचं सूक्तम् ।

ये॒मा॑व॒स्यां३॒ रात्रि॑मु॒दस्थु॑र्व्रा॒जम॒त्रिणः॑ ।
अ॒ग्निस्तु॒रीयो॑ यातु॒हा सो अ॒स्मभ्य॒मधि॑ ब्रवत् ॥ १ ॥

भा०— ये जो दुष्ट पुरुष (अमावास्यां) सूर्य और चन्द्र के प्रकाश से रहित (रात्रिम्) रात्रि, अन्धकार के समय में (अत्रिणः) दूसरों का प्राण और धन चुरा कर खाजाने वाले लोग (व्राजं) गोल बांधकर डाका आदि मारने के लिये (उदस्थुः) उठखड़े हों या बल पकड़ जांय तो (तुरीयः) विनाशकारी, तीव्र (सः) वह (यातुहा) शत्रुनाशक (अग्निः) अग्नि, सेनानायक ही (अस्मभ्यम्) हमें (अधिब्रवत्) इस प्रकार उपदेश करता है ।

सीसा॒याध्या॑ह॒ वरु॑णः॒ सीसा॑या॒ग्निरुपा॑वति ।
सीसं॑ म॒ इन्द्रः॒ प्राय॑च्छ॒त् तद॒ङ्ग या॑तु॒चात॑नम् ॥ २ ॥

[१६] १–‘ व्राजं ’ इति सायणाभिमतः पाठः । ‘अग्निस्तुर्यो यातुहा स नः पातु तेभ्यः’ इति पैप्प० सं० ।

२–(तृ०) ‘सीसं मैन्द्रः’ प्रायच्छदमीवा यस्तु [यातु] चात [न] म् । इति पैप्प० सं० ।

भा०—(वरुणः) वरुण (सीसाय) सीसे का (अधि आह) उपदेश करता है। (अग्निः) अग्नि भी (सीसाय) सीसे के प्रयोग द्वारा ही प्रजाओं की (उपावति) रक्षा करता है। (इन्द्रः) इन्द्र राजा भी (मे) मुझे (सीसं) सीसा ही (प्र अयच्छत्) रक्षार्थ रखने की आज्ञा देता है (अङ्ग) हे पुरुषो ! (तद्) वह सीसा ही (यातुचातनम्) पीड़ाजनक दुष्ट पुरुषों का विनाशक है।

वरुण=राष्ट्र के कष्टों का वारण करने वाला राज्य का अधिकारी जो समस्त प्रजाओं की रक्षा करता रहे। अग्निः=अग्नि के अस्त्रों का ज्ञाता या सेनापति इन्द्र=राजा ये सीसे के बल पर शत्रुओं का नाश करते हैं। अथवा वारुणास्त्र आग्नेयास्त्र और ऐन्द्रास्त्र तीनों में सीसा की ही गोलियां चलाकर शत्रु का नाश किया जाय। अर्थात् जल के वेग से, अग्नि या बारूद के वेग से और विद्युत् के वेग से सीसे के छर्रे ही चला कर शत्रु का नाश करना उचित है।

इदं विष्कन्धं सहत इदं बाधते अत्रिणः।
अनेन विश्वा ससहे या जातानि पिशाच्याः ॥ ३ ॥

भा०—(इदं) यह सीसा ही (विष्कन्धं) विशेष सेना के दस्ते को भी (सहते) मुकाबला करता है (इदं) और यह सीसा ही (अत्रिणः) विनाशक डाकू, लुटेरों, प्रजा का प्राण धन खाजाने वालों को भी (बाधते) पीड़ा करता है (अनेन) इसके बल पर (पिशाच्याः) पिशाची, मांस-भक्षिणी जीव जाति से (जातानि) उत्पन्न हुए सब प्रकार के क्रिमों को (या) जो उपद्रव हैं उन (विश्वा) सबको भी (ससहे) दबा देने में समर्थ होता है।

३–(प्र०) 'इदं विष्कन्दं' इति पैप्प० सं०।

यदि॑ नो॒ गां हंसि॒ यद्यश्वं॒ यदि॒ पूरु॑षम् ।
तं त्वा॒ सीसे॑न विध्यामो॒ यथा॒ नो ऽसो॒ अवी॑रहा ॥ ४ ॥

भा०—(यदि) यदि हे राक्षस ! शत्रु पुरुष ! तू (नः) हमारी (गां) गौ को (हंसि) मारे और (यदि) यदि (अश्वं) अश्व को मारे और (यदि) यदि (पूरुषं) पुरुष, आदमी को मारे (तं त्वा) उस हत्यारे तुझको (सीसेन) सीसे की गोली से ही (विध्यामः) वेध डालें, (यथा) जिससे तू (नः) हमारे (अवीरहा) वीर पुरुषों को न मार (असः) सके ।

---

[१७] शरीर की नाडियों और स्त्रियों का वर्णन ।

ब्रह्मा ऋषिः । योषितो लोहितवाससो हिरा वा मन्त्रोक्ता देवताः । १ भुरिक् अनुष्टुप् । २, ३ अनुष्टुप् । ४ त्रिपदा आर्षी गायत्री । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

अ॒मूर्या यन्ति॑ यो॒षितो॑ हि॒रा लोहि॑तवाससः ।
अ॒भ्रात॑र इव जा॒मय॒स्तिष्ठ॑न्तु ह॒तव॑र्चसः ॥ १ ॥

भा०—(अभ्रातरः) जिस प्रकार विना भाई की (जामयः) कन्याएं (हतवर्चसः) तेज और प्रभाव से रहित, निर्बल होती हैं और जिस प्रकार (लोहितवाससः) लाल वस्त्र धारण करने वाली (योषितः) स्त्रियां विधवा होने के कारण निर्बल होती हैं । और वे दोनों ही अपने घर में बैठी रहती हैं परगृह में नहीं जातीं, उसी प्रकार (अमूः) ये (याः) जो (हिरा)

४–'सीसेन विध्यामस्त्वा' इति पैप्प० सं० ।

[१७] १–अमूर्या यन्ति जामयः सर्वा लोहितवाससः । अभ्रातर इव योषित स्तिष्ठन्ति हतवर्चः । इति पैप्प० सं० ।

शरीर की रक्त नाडियां (यन्ति) इधर उधर शरीर में गति कर रही हैं ये भी (तिष्ठन्तु) अपने २ स्थान पर स्थिर रहें।

तिष्ठा॑व॒रे तिष्ठ॑ प॒र उ॒त त्वं ति॑ष्ठ मध्यमे।
क॒नि॒ष्ठि॒का च॑ तिष्ठति॒ तिष्ठा॒दिद्ध॒मनि॑र्म॒ही ॥ २ ॥

भा०—हे (अवरे) शरीर के अधोभाग की नाडि ! (तिष्ठ) तू भी अपने स्थान पर स्थिर रह। हे (परे) ऊर्ध्व शरीर की नाडि ! तू भी (तिष्ठ) अपने स्थान पर रह। हे (मध्यमे) शरीर के मध्यभाग की नाडि ! (त्वं तिष्ठ) तू भी अपने स्थान पर रह। (कनिष्ठिका च) और छोटी से छोटी नाडि इसी प्रकार अपने स्थान पर स्थित है। और इसी प्रकार (मही, धमनिः, उत) बड़ी से बड़ी धमनी आदि नाडी भी शरीर में अपने नियत स्थान पर (तिष्ठति) ठहरी हुई है।

श॒तस्य॑ ध॒मनी॑नां स॒हस्र॑स्य हि॒राणा॑म्।
अस्थु॒रिन्म॑ध्य॒मा इ॒माः सा॒कमन्ता॑ अरंसत ॥ ३ ॥

भा०—(धमनीनां) स्थूल नाडियों (शतस्य) सैकड़ों और (हिराणां सहस्रस्य) हजारों सूक्ष्म नाडियों के (मध्यमाः) बीच के परिमाण की और (इमाः) ये (अन्ताः) अति सूक्ष्म नाडियां भी (अस्थुः) इस शरीर में विद्यमान हैं। वे सब (साकं) एक साथ ही (अरंसत) इस शरीर में अपना अपना कार्य कर रही हैं।

परि॑ वः॒ सिक॑तावती ध॒नूर्बृ॑ह॒त्य॑क्रमीत्।
तिष्ठ॑ते॒लय॑ता॒ सु क॑म् ॥ ४ ॥

३–(च०) 'साकमन्त्या' इति ह्विटनिकामितः पाठः। "अस्थु निवढामावा [?] साकमन्तारंसत" इति पैप्प० सं० ॥

४–(प्र० द्वि०) परिवः सिकतामयी धनूस्थिरश्चरस्थिदम् [? धनूस्तिरश्चिदस्थिरन्] इति पैप्प० सं०।

भा०—हे नाडियो ! (वः परि) तुममें से ही एक (धनूः) धनुपाकार (बृहती) बड़ी (सिकतावती) रजोधर्म की नाड़ी (अक्रमीत्) गति कर रही है । (तिष्ठत) तुम सब अपने २ स्थान पर रहो और (कं) सुख (सु इलयत) प्रदान करो, सुख की वृद्धि करो ।

शस्त्राघात या रजोधर्म से अधिक बहते हुए रुधिर की चिकित्सा के समय इसका विनियोग कौशिक सूत्रों में है । बहते जख़्म पर सूखी मिट्टी की टली रखने आदि का उपदेश है । परन्तु इन मन्त्रों में वेद ने केवल नाड़ियों की शरीर में स्थितिमात्र का उपदेश किया है । जैसे लिखा है कि:—

मध्यस्थायाः सुषुम्नायाः पर्वपञ्चकसम्भवाः ।
शाखोपशाखतां प्राप्ताः सिरालक्षत्रयात् परम् ।
अर्धलक्षम् इति प्राहुः शरीरार्थविचारकाः ॥

चिकित्सक को चाहिये कि रक्त प्रवाह के अवसर पर इन नाडियों की स्थिति को पहचाने और तब ठीक २ चिकित्सा करे । जो सूक्ष्म और स्थूल नाडियों की स्थिति को नहीं जानता वह चिकित्सा में ही रोगी के प्राण लेलेता है । सायण ने 'स्था' धातु के 'तिष्ठ, तिष्ठति, अस्थुः,' इत्यादि प्रयोगों का अर्थ 'रुधिर बहाने से रुकना' किया है सो असंगत है ।

इस सूक्त का देवता 'योषितः' भी है इसलिये उपमान और उपमेय में समान धर्म होने से इस सूक्त का अर्थ योषित्=स्त्रियों के पक्ष में इस प्रकार है ।

(१) (अमूः) ये (याः) जो (हिराः) छोटी उमर की (लोहितवाससः) रंगे, रंगीले वस्त्र वाली (योषितः) स्त्रियां (यन्ति) जाती हैं वे भी (अभ्रातरः जामयः इव) विना भाई वाली वहनों के समान (हतवर्चसः तिष्ठन्तु) निस्तेज रहती हैं । रक्त वस्त्र पहनने वाली कन्याएं विना भाई की वहिनों के समान निस्तेज रहती हैं ।

(२) (अवरे तिष्ठ, परे तिष्ठ, मध्यमे त्वं तिष्ठ, कनिष्ठका च तिष्ठति, तिष्ठात् इत् मही धमनिः) छोटी, बड़ी, मझली और सब से छोटी और सब से बड़ी, सभी अपने पिता के घर में रहें ।

(३) (धमनीनां शतस्य, सिराणां सहस्रस्य, इमाः मध्यमाः अस्थुः, साकम् अन्ताः अरंसत) सैंकड़ों बड़ी, हज़ारों छोटी और भी बहुतसी बीचकी, भी स्त्रियें गृहस्थ में रहें । और (अन्ताः) बाल्य आयु समाप्त कर चुकने पर वे गृहस्थ का सुख भोगें ।

(४) (वः सिकतावती, धनुः बृहती अक्रममीत् , तिष्ठत सु ईलयत, कम्) तुममें से जो जो रजस्वला, भारनम्रा होकर बड़ी अवस्था को अतिक्रमण करें वह गृहस्थ बनाकर रहें और सुखपूर्वक गृहस्थ चलावें ।

[१८] अलक्ष्मी और दुःस्वभाव के दूर करने का उपाय ।

द्रविणोदाः ऋषिः । विनायको देवता । १ उपरिष्टाद् विराड्बृहती, २ निचृज्जगती, ३ विराड् आस्तारपंक्तिः, ४ त्रिष्टुप् । चतुर्ऋचं सूक्तम् ।

निर्लक्ष्म्यं निर्ललाम्यं निररातिं सुवामसि ।
अथ या भद्रा तानि नः प्रजाया अरातिं नयामसि ॥ १ ॥

भा०—हम (नः, प्रजायै) अपनी प्रजाओं के (लक्ष्म्यं) चिह्न, सुख या शरीर पर बुरे चिह्नों से युक्त (ललाम्यं) गर्भाशय के और (अराति) मन को न हरने वाले अप्रिय दोष को (निः सुवामसि) दूर करें (अथ) और (या भद्रा) जो कल्याणकारी लक्षण हों उनको अपनी प्रजा को (नयामसि) प्राप्त करावें ।

निररणिं सविता साविषत् पदोर्निर्हस्तयोर्वरुणो मित्रो अर्यमा ।
निरस्मभ्यमनुमती रराणा प्रेमां देवा असाविषुः सौभगाय ॥२॥

भा०—(सविता) उत्पादक पिता और परमेश्वर (वरुणः) वरण करने योग्य, स्त्री का वृत पति, (मित्रः) उसका स्नेही, (अर्यमा) स्वामी (पदोः) चरणों में से (अरणिं) अप्रिय, कुरूपता को (निः साविषत्) दूर करे और (हस्तयोः निरः) हाथों की कुरूपता को भी दूर करे । बच्चों को सुंदर सुरूप उत्पन्न करे । (अनुमतिः) पति के अनुकूल चलने वाली स्त्री (रराणा) अपने सम्बन्धियों में सदा प्रसन्नता से रहती हुई (निर्) अपने प्रजा के दोषों को दूर करे । (देवाः) विद्वान् पुरुष, (इमां) इस स्त्री को (सौभगाय) उत्तम फललाभ, सौभाग्य के लिये (प्र असाविषुः) उत्कृष्ट रीति से प्रसव आदि कार्य करावें । अर्थात् हाथों पैरों के विकृत न होने देने का पति सदा विचार रखे । इसके लिये वह अपनी स्त्री का प्रिय, स्नेही, स्वामी वना रहे उससे सौम्यभाव से रहे । बच्चों के सौन्दर्य के लिये स्त्री स्वयं सदा गर्भकाल में प्रसन्न रहे और घर के विद्वान् लोग भी गर्भ संस्कार और जात-कर्मों द्वारा स्त्री को उत्तम रीति से प्रसव करावें ।

यत्त आत्मनि तन्वां घोरमस्ति यद्वा केशेषु प्रतिचक्षणे वा ।
सर्वं तद्वाचापं हन्मो वयं देवस्त्वा सविता सूदयतु ॥ ३ ॥

---

[१८] २–'साविषक्' इति निर्णयसागरीयः पाठः पदपाठानुमतश्च । 'साविषत् इति सायणाभिमतः, अजमेरीयश्च पाठः । 'अरणीम्' इति पदपाठविरुद्धः सायणाभिमतः पाठः । 'यद् आदित्या भवती (?) रराणा पृणसुवा [?] सविता सौभगाय' इति पैप्प० सं० ।

३–(प्र०) ' यत् त आत्मानि तन्वा घोरम्'; (तृ० च०) तत्ते विद्वान् अपबाधयेर्षा प्र त्वा सुवा सुविता सौभगाय " इति पैप्प० सं० ।

भा०—(ते) तेरे (आत्मनि) अन्तःकरण में और (तन्वा) देह में (यत्) जो (घोरं) पापजनक दोष (अस्ति) है और (यद् वा) जो दोष (केशेषु) केशों में (वा) और (प्रति चक्षणे) आखों में है (तत् सर्वं) उन सब दोषों को (वयं) हम (वाचा) वाणी के उपदेश से (हन्मः) विनाश करते हैं। हे पुत्र (त्वा) तुझको (सविता) उत्पादक (देवः) देव विद्वान् पिता या प्रभु (सूदयतु) सत् मार्ग में प्रेरित करें।

रिश्यपदीं वृषदतीं गोषेधां विधमामुत।
विलीढ्यं ललाम्यं १ता अस्मन्नाशयामसि ॥ ४ ॥

भा०—(रिश्यपदीं) मृग की तरह से पैरों का पतला होना (वृषदतीं) बैल के समान दांतों का चौड़ा होना, (गोषेधां) गाय के समान चाल, (विधमाम्) विपरीत रूप में सांस लेना, (विलीढ्यं) विपरीत त्याज्य पदार्थों के चाटने की आदत और (ललाम्यं[1]) गर्भ सम्बन्धी दोष इन सबको (अस्मत्) हम लोग (नाशयामसि) अपनी संतानों से दूर करें।

प्रजा को उत्तम निर्दोष सुन्दर रूप में उत्पन्न करना चाहिये। और इनही विचारों, संकल्पों से प्रजा श्रेष्ठ होती है। यदि गर्भगत दोष रह जांय तो उनको उत्तम शिक्षा से दूर करना चाहिये।

४—'ऋष्यपदीम्' इति पाठः सायणाभिमतः।

१. ललाम पुण्ड्रं भवति। पुण्ड्रं बीजांकुरस्थानं गर्भाशयस्य प्रदेशविशेषः इति उव्वटः।

[१९] शत्रुओं का विनाश ।

ब्रह्मा ऋषिः । १ इन्द्रः २, मानुष्येषवः, ३, रुद्रः, ४, सर्वे देवा देवताः ।
१, अनुष्टुप् २, पुरस्ताद् बृहती, ३, पथ्या पंक्तिः । चतुर्ऋचं सूक्तम् ।

मा नो विदन् विव्याधिनो मो अभिव्याधिनो विदन् ।
आराच्छरव्या/ अस्मद्विषूचीरिन्द्र पातय ॥ १ ॥

भा०—यह सूक्त अपराजितगण में पढ़ा है । इसका संग्राम से संबंध है । (नः) हमें (विव्याधिनः) विशेषरूप से अस्त्रादि से प्रहार करने वाले (मा विदन्) न जानें और न पकड़ सकें और (अभिव्याधिनः) सब ओर से प्रहार कराने वाले शत्रुपक्ष के पुरुष भी (मा उ विदन्) हमें न जानें और न पावें । हे इन्द्र राजन् ! सेनापते ! (विषूचीः) नाना दिशों में जाने वाले या विशेष तीक्ष्ण सूचीमुख (शरव्याः) वाण (अस्मत्) हम से (आरात्) दूर (पातय) फेंक ।

विष्वञ्चो अस्मच्छरवः पतन्तु ये अस्ता ये चास्या/: ।
दैवीर्मनुष्येषवो ममामित्रान् वि विध्यत ॥ २ ॥

भा०—(ये) जो (शरवः) हिंसक वाण (अस्ताः) फेंक दिये और (ये च) जो (आस्याः) फेंकने हैं वे सब (अस्मत्) हम से दूर ही (विश्वञ्चः) सब दिशाओं में (पतंतु) जाकर पड़ें । और (दैवीः) जल, अग्नि और वायु, विद्युत् आदि के बल से और (मनुष्येषवः) मनुष्य के बल से फेंके जाने वाले वाण और अस्त्र (मम) मेरे (अमित्रान्) शत्रुओं को (वि विध्यत) नाना प्रकार से मारें ।

---

[१९] २-(च०)' वि विध्यतु ' इति पाठः सायणाभिमतः । (तृ०) ' दिवा मनुष्या ऋपयो मित्रान् नो वि विध्यतु' इति पैप्प० सं० ।

योनः स्वो यो अरणः सजात उत निष्ट्यो अस्माँ अभिदासति ।
रुद्रः शरव्यं/यैतान् ममामित्रान् विविध्यतु ॥ ३ ॥

ऋ० ६ । ७५ । १९ । अस्याः पूर्वोधेन समः पूर्वार्धः ।

भा०—(यः) जो (स्वः) अपना सम्बन्धी और (सजातः) सहोदर या समान बलशाली (उत) और (यः निष्ट्यः) हम से निकृष्ट बल होकर भी (अस्मान्) हम को (अरणः) हमारा शत्रु होकर (अभिदासति) नाश करना चाहता है (एतान्) इन (मम, अमित्रान्) मेरे शत्रुओं को (रुद्रः) रोदनकारी, तीक्ष्ण, सेनापति (शरव्यया) शरों, बाणों, घातक हथियारों की पंक्ति से (वि विध्यतु) नाना प्रकार से ताड़ना करे ।

यः सपत्नो यो संपत्नो यश्च द्विषञ् छपाति नः ।
देवास्तं सर्वे धूर्वन्तु ब्रह्म वर्म ममान्तरम् ॥ ४ ॥

ऋ० ६ । ७५ । १९ । अस्या उत्तरार्धेनोत्तरार्धः समः ॥

भा०—(यः) जो (सपत्नः) शत्रु और (यः च) जो (असपत्नः) शत्रु न होकर भी (नः) हम से (द्विषन्) द्वेष करता हुआ (शपाति) बुरा भला कहता है । (तं) उसको (सर्वे) सब (देवाः) विद्वान् लोग (धूर्वंतु) ताड़ना करें (ब्रह्म) वेदमंत्र का सदुपदेश ही (मम) मेरा (आन्तरम्) भीतर हार्दिक (वर्म) रक्षासाधन हो ।

जो द्वेष वश होकर हमें गाली देता हो, भले आदमी उसको ताड़ना करें और हम अपने भीतर सद् विचार ही रखें ।

३–' यः समानो यो ऽसमानोऽ मित्रो नो जिघांसति रुद्रारश [र] व्या तान् 'मित्रान् विविधत' इति पैप्प० सं० ।

४–'सबन्धुश्चासबन्धुश्च यो न इन्द्राभिदासति' इति पैप्प० सं० ।

[२०] राजा के कर्तव्य ।

अथर्वा ऋषिः । १ सोमः, २ मरुतः, ३ मित्रावरुणौ, ४ इन्द्रो देवता ।
१ त्रिष्टुप्, २-४ अनुष्टुप् । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

अदारसृद् भवतु देव सोमास्मिन् यज्ञे मरुतो मृडता नः ।
मा नो विददभिभा मो अशस्तिर्मा नो विदद् वृजिना द्वेष्या या ॥१॥

भा०—हे (देव) प्रकाशमान (सोम) सब के आह्लादक राजन्! सब के प्रेरक! हमारा शत्रु (अदारसृद्) स्त्रियों का सुख प्राप्त करने वाला न (भवतु) हो। और (अस्मिन्) इस (यज्ञे) यज्ञ या संग्राम में (मरुतः) मरुद् गण, प्राण, सुभट और वैश्य गण (नः) हमें (मृडत) सुख, आनंद दें। (अभिभाः) हमारे मुकाबले पर आने वाला शत्रु (नः) हमें (मा विदद्) न पासके। (अशस्तिः) कीर्तिरहित निकृष्ट पुरुष भी (मा उ) हमें न पा सके और (वृजिना) पापी और (या) जो (द्वेष्याणि) द्वेष करने हारे या (द्वेष्याणि वृजिनानि) द्वेष के कारण उत्पन्न पाप भी (नः) हमें (मा विदद्) न प्राप्त हों।

यो अद्य सेन्यो वधोऽघायूनामुदीरते ।
युवं तं मित्रावरुणावस्मद्यावयतं परि ॥ २ ॥

भा०—हे (मित्रावरुणौ) राजन् और सेनापते! (अद्य) आज, अब (अघायूनां) पापाचारियों, हिंसकों में से (यः) जो कोई (सेन्यः) सेना

[२०] १-(प्र०) 'अदारसुर्भवतु' (च०) 'मानो प्रापदुच्छना द्वेष्या वा' इति पैप्प० सं० ।

२-'योऽद्य सैन्यो वधो जिघांसं नम उपायति' इति पैप्प० सं० । 'योघसौम्यः' इति आश्व० श्रौ० सू० । 'उदीरति' इति पंचविंशे ब्रा० ॥

से होने वाला (वधः) घात, षड्यन्त्र या विप्लव (उदीरते) हमारे विपत्ति उठ खड़ा हो (तं) उसको (अस्मत्) हम से (परि यवयतं) दूर करो और नाश करो ।

इतश्च यद्मुतश्च यद् वधं वरुण यावय ।
वि महच्छर्म यच्छ वरीयो यावया वधम् ॥ ३ ॥

भा०—हे (वरुण) शत्रुनिवारक राजन् ! (इतः) इधर से या समीप से (अमुतः च) और दूर से (यद् वधं) जो हिंसक हथियार आता हो तो उसको भी (यवय) हम से परे कर और हमें (महत्) बड़ा भारी (शर्म) सुखप्रद शरणस्थान (वि यच्छ) विशेष रूप से प्रदान कर और (वरीयः) बहुत अधिक बड़े भारी (वधं) शत्रु के आघात को (यवय) हम से परे कर ।

शास इत्थामहाँ अस्यमित्रसाहो अस्तृतः ।
न यस्य हन्यते सखा न जीयते कदा चन ॥ ४ ॥
ऋ० १० । १५२ । १ ।

भा०—(इत्था) इस प्रकार से हे इन्द्र ! राजन् ! तू (अमित्रसाहः) शत्रुओं का वशकारी (अस्तृतः) स्वयं किसी से भी हिंसित न होने वाला (महान्) बड़ा भारी (शासः) शासक (असि) है, (यस्य) जिसका (सखा) मित्र भी किसी से (न हन्यते) नहीं मारा जा सकता और वह (कदाचन) कभी भी (न जीयते) जीता नहीं जा सकता ।

१–'(द्वि०) 'यावयः' (प्र०) 'इतो यदमुतश्च' (तृ०) विमहच्छर्म 'यच्छ नो वरीय' इति 'रौकवैल लैन्मन' कामितः पाठः ।

[२१] राजा के कर्तव्य ।

अथर्वा ऋषिः । ऋग्वेदेशासो भारद्वाज ऋषिः । इन्द्रो देवता । अनुष्टुप् छन्दः ।

चतुर्ऋचं सूक्तम् ।

स्वस्तिदा विशां पतिर्वृत्रहा विमृधो वशी ।
वृषेन्द्रः पुर एतु नः सोमपा अभयङ्करः ॥ १ ॥

ऋ० १० । १५२ । २ ॥

भा०—(विशाम् पतिः) प्रजाओं का स्वामी (वृत्रहा) राष्ट्रों, नगरों को घेरने हारे शत्रुओं का नाशक (विमृधः) शत्रुओं को कुचल डालने वाला, (वशी) सब प्रजाओं को और काम क्रोध आदि अन्तःशत्रुओं और इन्द्रियों पर वश करन वाला (वृषा) जलों के वर्षाने वाले मेघ के समान समस्त सुखों का वर्षक, (इन्द्रः) ऐश्वर्यशील, राजा (स्वस्तिदाः) सब कल्याण, और अविनाशी, उत्तम फल का देने हारा होता है। वही (सोमपाः) विद्या-सम्पन्न, शमदमादि साधनयुक्त विद्वानों का और सुख देने वाले सब पदार्थों का पालक (अभयंकरः) सबको अभय का दान करने हारा होकर (नः) हमारे (पुरः) संग्राम में, आगे २ (एतु) चले। इस सूक्त का सांग्रामिक गण में पाठ है।

वि न इन्द्र मृधो जहि नीचा यच्छ पृतन्यतः ।
अधमं गमया तमो यो अस्माँ अभिदासति ॥ २ ॥

ऋ० १० । १५२ । ४ ॥ यजु० ८ । ४४ ॥

भा०—हे (इन्द) राजन् ! (नः) हमारे संग (मृधः) संग्रामकारी शत्रुओं को (वि जहि) विनाश कर और (पृतन्यतः) सेना लेकर चढाई

[२१] १–(प्र०) स्वस्तिदा विशस्पतिः, इति पाठभेदः, ऋ० ।
(द्वि०) 'अस्यमित्रखादो अद्भुतः' इति पाठभेदः, ऋ० ।, पैप्प सं० ॥
२–(तृ०) 'योस्मां अभिदासत्यधरंगमयातमः' इति पाठभेदः, तृतीय चतुर्थ-चरणयो विपर्ययश्च ऋ०, यजु० ।

करने वाले, या सेना बटोरना चाहने वाले (नीचा) नीच पुरुषों को (यच्छ) नियम में बांध, वश कर या (नीचा यच्छ) नीचे दबा! (यः) जो (अस्मान्) हमको (अभिदासति) सब प्रकार से नाश करता है या दास या गुलाम बनाता है (अधमं) उस नीच पुरुष को (तमः) अति दुःख, शोक पूर्ण अन्धकारमय स्थान, बन्दीगृह या मृत्यु को (गमय) प्राप्त करा।

वि रक्षो वि मृधो जहि वि वृत्रस्य हनू रुज।
वि मन्युमिन्द्र वृत्रहन्नमित्रस्याभिदासतः ॥३॥

ऋ० १० । १५२ । ३ ॥

भा०—हे (इन्द्र) राजन्! (रक्षः) राक्षस, जिससे राष्ट्र को बचाना आवश्यक है ऐसे हानिकारक पुरुष एवं पदार्थ, रोगव्याधि, कुप्रथा आदि को (विजहि) विनाश कर। हे (वृत्रहन्) राष्ट्र के घेरने हारे और विघ्नकारी पुरुष के नाशक! आप (वृत्रस्य) सर्वत्र विघ्नकारी और घेरने हारे उस दुष्ट पुरुष के (हनू) दाढ़ों को या प्रहार के साधन, दोनों बाहुओं को (विरुज) अच्छी प्रकार तोड़ डाल। हे राजन्! (अभिदासतः) हमारे क्षयकारी या हमें गुलाम बनाने की चेष्टा करने वाले (अमित्रस्य) शत्रु के (मन्युं) क्रोध, गर्व और अभिमान को (विरुज) चूर कर दे।

अपेन्द्र द्विषतो मनोऽप जिज्यासतो वधम्।
वि महच्छर्म यच्छ वरीयो यावया वधम् ॥ ४ ॥

ऋ० १० । १५२ । ५ ॥

भा०—हे इन्द्र! राजन्! (द्विषतः) द्वेष करने हारे, हमसे प्रेम से व्यवहार न करने वाले (जिज्यासतः) हमारी सदा हानि चाहने वाले शत्रु के (मनः) मन को या उसके सोचे हुए, गुप्त मन्त्रणारूप षड्यन्त्र को

४–(तृ०) 'विमन्योः शर्म' इति ऋ० ॥

(अप) दूर कर, विफल, नष्ट कर और (वधम्) विनाशक हथियार या आक्रमण को भी (अप) परे हटा । (महत् शर्म यच्छ) हमें बड़ा भारी रक्षास्थान प्रदान कर और (वरीयः) शत्रु के भारी (वधं) आघात को (यवय) दूर कर । राजा विघातक शत्रु के गुप्त षड्यन्त्रों, आक्रमणों को विनाश करे और प्रजा की दुर्गरचना से रक्षा करे ।

॥ इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

[तत्र सूक्तानि पंच, ऋचश्च विंशतिः ।]

[२२] हृद्रोग और कामला की चिकित्सा ।

ब्रह्मा ऋषिः । सूर्यो मन्त्रोक्तो हरिमा हृद्रोगश्च देवता । अनुष्टुप् छन्दः ।
चतुर्ऋचं सूक्तम् ।

अनु सूर्यमुद॑यतां हृद्द्योतो ह॑रि॒मा च॑ ते ।
गो रोहि॑तस्य॒ वर्णे॑न॒ तेन॑ त्वा॒ परि॑ दध्मसि ॥ १ ॥

भा०—हे व्याधित पुरुष ! (ते) तेरा (हृद्द्योतः) हृदय का चमकना और (हरिमा च) शरीर के चक्षु, नख आदि में व्याप्त हरा वर्ण (सूर्यम्) सूर्य के (अनु) उदय होने के साथ ही (उदयताम्) उठ जायं, नाश हो-जांय । (गोः) सूर्य की किरण के (रोहितस्य) लाल रंग की किरण या सूर्य=शाल्मली वृक्ष के (वर्णेन) रोगनाशक गुण या पुष्प, फल, रस से (त्वा) तुझको (परि दध्मसि) पुष्ट करते हैं ।

इस मन्त्र में सूर्य की रक्त वर्ण की किरणों को हार्द्द या पाण्डुरोग के नाश करने के लिये प्रयोग करने का उपदेश है । लाल गौ का दूध पीना

[२२] १–(प्र०) 'अनुसूर्यमुदेताम्', (तृ०) 'यो रोहितस्य गोर्वर्णः'

उसके लाल लोमों से छान कर पानी पीना तथा लाल गौओं का स्पर्श आदि इस रोग में लाभकारी है। इसी प्रकार क्रोमियोलोजी या सूर्य किरण-वर्ण चिकित्सा के अनुसार भी हरित वर्ण या कामला और हृद्रोग के रोगी को सूर्य की किरणों में रखे लाल काच के पात्र में धरे जल को पिलाने आदि का उपदेश है।

परि॑ त्वा॒ रोहि॑तै॒र्वर्णै॑र्दीर्घायु॒त्वाय॑ दध्मसि ।
यथा॒यम॑र॒पा अस॒दथो॒ अह॑रितो॒ भुव॑त् ॥ २ ॥

भा०—हे (हारिद्र) पाण्डुरोग पीड़ित पुरुष ! (दीर्घायुत्वाय) दीर्घ आयु प्राप्त कराने के लिये (त्वा) तेरे (परि) चारों ओर (रोहितैः) सूर्य की किरणों में लाल, या रोहित नाम वृक्षों के (वर्णैः) प्रकाशयुक्त आवरणों या रसों से (दध्मसि) तुझे रखते, पुष्ट करते हैं। (यथा) जिससे (अयम्) यह तू रोगी (अरपाः) पाप के फलरूप रोग से रहित (असत्) होजाय और जिससे तू (अहरितः) हारिद्र या पाण्डुरोग से भी मुक्त (भुवत्) होजाय।

या रोहि॑णीर्दे॒वत्या॒३॒॑ गावो॒ या उ॒त रोहि॑णीः ।
रू॒पंरू॑पं॒ वयो॑वय॒स्ताभि॑ष्ट्वा॒ परि॑ दध्मसि ॥ ३ ॥

भा०—(याः) जो (देवत्याः) देव=प्रकाशस्वरूप सूर्य की (रोहिणीः) प्रातःकालिक रक्त वर्ण की (गावः) किरणें हैं और (याः) जो (रोहिणीः) लाल वर्ण की कपिला गौएं हैं या उगने वाली ओषधियां हैं उनके भीतर विद्यमान (रूपं) कान्तिजनक और (रूपं) रुचिजनक दीप्ति को और (वयः) आयुष् जनक (वयः) दुग्ध आदि अन्न को प्राप्त करके (ताभिः)

२–(तृ० च०) 'यथा त्वमरपा वसो अथो हरितो भव' इति पैप्प० सं० ॥
३–(द्वि०) 'गावो या रोहिणीस्त' (च०) 'तेन त्वा' इति पैप्प० सं० ॥

उन द्वारा (त्वा) तुझको (परि दध्मसि) सब प्रकार से परिपुष्ट करते और चिकित्सित करते हैं ।

सुकेषु ते हरिमाणं रोपणाकासु दध्मसि ।
अथो हारिद्रवेषु ते हरिमाणं नि दध्मसि ॥ ४ ॥

ऋ० १ । ५० । २ ॥

भा०—हे व्याधिपीडित पुरुष ! (सुकेषु) उत्तम सुख देने वाले कर्मों या शुक नाम वृक्षों में और (रोपणाकासु) क्षत आदि दूर करके व्रण भरने वाली रोहिणी नामक ओषधियों के भीतर ही (ते) तुझ रोगी को (दध्मसि) रखते हैं (अथो) और (ते) तेरे (हरिमाणं) पाण्डु रोग को भी (हारिद्रवेषु) रोगहारी द्रव पदार्थों में (नि दध्मसि) रखते हैं । अथवा (ते हरिमाणं रोपणाकासु दध्मसि) तेरे बलहारी हरिमा रोग को बलकारी ओषधियों के बल पर हम रोकते हैं, वश करते हैं, और इसी प्रकार (ते हरिमाणं हारिद्रवेषु नि दध्मसि) तेरे रोग को कष्टहारी रसों के बल पर दमन करते हैं ।

सायण ने इस मन्त्र में हारिद्र रोग को तोता, खुट बढ़ई और हारिद्रव नामक पक्षियों में लगा देने का अर्थ किया है वह नितरां असंगत है । सूक्त का तात्विक अभिप्राय इस प्रकार है कि हृद्योत और हरिमा दो रोग हैं उनकी चिकित्सा के लिये सूर्य की रक्तवर्ण की किरणों के प्रयोग का और कुछ ओषधिवर्ग का भी उपदेश है । जिनमें गो, रोहित, रोहिणी, सुक या शुक, रोपणाका, हारिद्रव ये शब्द चिकित्सा कारक ओषधि और उपायों के

४–(द्वि०) ' प्रपणाकाश ? दध्मसि ' पैप्प० सं० ।

'शुकेषु मे' इति पाठः ऋ० । कचित् कचिदादर्शपुस्तकेषु च 'शुकेषु' इत्येव पाठ उपलभ्यते [शं० पा०]

वाचक हैं। हृद्रोग के विषय में वाग्भट्ट अष्टांगसंग्रह (हृद्रोग निदान अ० ५) में लिखते हैं कि 'पांच प्रकार का हृदय रोग होता है वातज, पित्तज, कफज, त्रिदोषज और कृमियों से। इनके भिन्न २ लक्षण प्रकट होते हैं। इसी प्रकार पाण्डुरोग का एक विकृत रूप हलीमक है। उसमें शरीर हरा नीला पीला हो जाता है। उसमें सिर में चक्कर, प्यास, निद्रानाश, अजीर्ण और ज्वर आदि दोष अधिक हो जाते हैं। इनकी चिकित्सा में रोहिणी और हारिद्रव और गोक्षीर का प्रयोग दर्शाया गया है। रोहित, रोहिणी, रोपणाका, यह एक ही वर्ग प्रतीत होता है। हारिद्रव हल्दी और इसके समान अन्य गांठ वाली ओषधियों का ग्रहण है। शुक भी एक वृक्षवर्ग का वाचक है।

शुक=शिरीष, स्थौणेयक और तालीश पत्र इसी प्रकार गन्धक, चक्रमर्दा स्योनाक, जम्बू, अर्क, दाडिम, शिग्रु और क्षीरी वृक्ष शुकवर्ग में आते हैं इन के गुण इस प्रकार हैं (१) शिरीष 'वर्ण्यः, कुष्ठकण्डूघ्नः, त्वग्दोषश्वास-कासहा' अर्थात् शरीर की त्वचा के रंग, कोढ़ और खाज और त्वचा के दोष, सांस, कास आदि का नाशक है। (२) स्थौणेयक=कटुतिक्त, पित्त प्रकोपशमन, बलपुष्टिकारक। (३) तालीशपत्र तिक्तोष्ण, कफवातघ्न, कास हिक्का क्षय, श्वास आदि का नाशक है। (४) गन्धक विषघ्न, कुष्ठ, कण्डू, खर्जू, त्वचादोष नाशक, जाठराग्निकृत् है। (५) चक्रमर्दा कटूष्णा, वातकफनाशक, कान्ति और सौकुमार्य करती है। (६) स्योनाक पित्त, श्लेश्म, आम, वात, अतिसार, कास, अरुचि का नाशक है। (७) जम्बू-रोहिणी शोषहर कामिदोष-नाशक, श्रमपित्त, दाह, नाशक श्वासकासहर है, (८) अर्क—तिक्त, उष्ण, परम रक्त शोधक, कण्डु, व्रणहर, जन्तुनाशक, कुष्ठ, प्लीहा, शोष, विसर्प, उदररोग और व्रण विनाशक हैं। इसके राजार्क, शुक्लार्क श्वेतमन्दार आदि भी भेद हैं। इसे वेद में सूर्य कहा है। (९) दाडिम-कास वात कफ पित्त विनाशी। शिग्रु तिक्त, कटु, उष्ण, कफ, शोफ, वायु नाशक, क्रिमि, आम, विष, मेद नाशक, विद्रधि, प्लीहा और

गुल्म का नाशक है। (११) क्षीरी रुचिकर, वातनाशक, पित्त, हृद्रोग नाशक तर्पक, वृष्य, प्रमेह नाशक हैं। रोहिणी वर्ग में जम्बू-रोहितक, रोहिण या वट, कटुक, काश्मर्य, मंजिष्ठ, मांसी और हरीतिकी ये वृक्ष हैं। सूर्य वर्ग में अर्क, उपविष, क्षीरपर्णी, समस्त नक्षत्र वृक्ष, सुवर्चला, सूर्यकान्त, ऐन्द्री सूर्यादि दाह, आतप आदि हैं इनके गुण ये हैं (१) जम्बू पहले लिख आये, (२) रोहितक=शाल्मली विशेष। यकृत्, प्लीहा, गुल्म, उदरशोप नाशक, कटु और उष्ण, विषवेगनाशक, कृमिदोष, व्रण और नेत्र रोग का नाशक है। (३) कटुका-तिक्त, पित्तदोष नाशक, कटु, कफ, अरोचक, विषमज्वरनाशक, हृदयरोग का नाशक है। (४) काश्मर्य-तिक्त, गुरु, उष्ण, रक्तपित्तनाशक, त्रिदोषनाशक, श्रम, दाह, पीड़ा, ज्वर तृष्णा, विषनाशक, वृष्य, बलकारी, शोफ नाशक। (५) मंजिष्ठ—कषाय, उष्ण, कफ, उग्र व्रण, प्रमेह, रक्त-पित्त, विष, और नेत्र रोगों का नाश करता है। (६) मांसी स्वादु, कषाय, कास पित्त रक्त नाशक, विषनाशक, मारुत हृद्रोग नाशक, बलकारी, त्वचा कान्तिदायक, भूतदाह नाशक, प्रसन्नतोत्पादक। इसीका भेद गन्धमांसी है वह भी रक्त पित्त नाशक, वर्णकारी, विष भूत ज्वर आदि नाशक है। इसी का भेद आकाशमांसी जो शोफ, व्रण, नाड़ीरोग, मकड़ी गर्दभजालादि नाशक है और वर्णकारी है। (७) हरीतकी—आमा, चेतकी, पथ्या, पूतना, हरीतिकी, जया, हैमवती आदि देश भेद से नाना प्रकार की है। जिनमें से हरीतकी, उदररोग, मूत्ररोग, प्रमेह, पथरी, वात पित्त कफ का नाशक है और जया गुल्म रोग प्लीहा, रक्तातिसार, पित्तनाशक है और हैमवती सर्व रोग नाशक, नेत्ररोग नाशक है। यही प्रमेह, कोढ़, व्रण आदि का भी नाश करती है।

(१) सूर्यवर्ग में अर्क के गुण पूर्व लिख दिये हैं (२) उपविष एक वर्ग है जिसमें अह्फ़, अर्क, करवीर, कलिकारी, काकादनी, धत्तूर और अतिविषा, शरभ और खद्योत ये ओषधियां गिनी गई हैं।

नक्षत्र वृक्षों में विषमुष्टी, स्थामली, औदुम्बर, जम्बू, अगरु, वेणु, पिप्पल, चम्पका, वट, पलाश, पायरी या प्लक्ष, जाती, विल्व, अर्जुन, बबूल, नागपुष्प, सोच, रालवृक्ष, वेत, निचुल अर्क, शमी, कदम्ब, आम, रिष्ट मोहवृक्ष, इतनी वृक्षोषधियां हैं। क्षीरपर्णी अर्क को कहते हैं। सुवर्चला= आदित्यभक्ता, मण्डूकपर्णी आदित्यलता कहाती है जो कटु, उष्ण, स्फोटक-नाशनी हैं और त्वग्दोष, कण्डू, व्रण, कुष्ठ, भूतग्रह, उग्र शीतज्वर का नाश करती है। इसका एक भेद ब्राह्मी है। वह भी कुष्ठ, पाण्डु, प्रमेह, रक्त का नाशक है। इसका एक भेद क्षुद्रपत्र है, वह शोफनाशक है।

सूर्यकान्त के तीन भेद हैं—स्फटिक, सूर्यकान्त और वैक्रान्त (विल्लौर), इनमें स्फटिक—पित्त, दाह, पीड़ा नाशक है। सूर्यकान्त—उष्ण, निर्मल रसायन है और वातश्लेष्मनाशक है, वैक्रान्त मणि क्षय, कुष्ठ और विष का नाशक, पुष्टिप्रद और रसायन है।

ऐन्द्री वर्ग में देवसर्षप और इलायची है। ऐन्द्री-कृमि, श्लेष्म और व्रण का नाशक है सब उदररोगों को भी नाश करती है। सूर्यादि दाह और आतप कटु स्वभाव, रूक्ष हैं।

इत्यादि समस्त ओषधिवर्ग का हमने संग्रह कर संक्षेप से गुण दर्शा दिये हैं, वे सभी समान स्वभाव, समान गुण और वात, पित्त, कफ, हृद्रोग रक्त, नेत्ररोग, त्वचारोग, कुष्ठ, व्रण आदि के विनाशक हैं वेद ने हृद्रोग और पाण्डुरोग के विनाश के लिये इन ओषधियों का संकेत से वर्णन किया है। इति दिक्।

[२३] कुष्ठ और पलित चिकित्सा ।

अथर्वा ऋषिः । वनस्पतिर्देवता । श्वेतलक्ष्मविनाशनाय ओषधिस्तुतिः ।
अनुष्टुप् छन्दः । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

नक्तं जातास्योषधे रामे कृष्णे असिक्नि च ।
इदं रजनि रजय किलासं पलितं च यत् ॥ १ ॥

भा०—हे (ओषधे) ओषधे ! तू (नक्तं) नक्त नामक ओषधि रूप से (जाता) उत्पन्न (असि) है । हे (रामे) रामा नाम ओषधे ! हे (कृष्णे) कृष्णानामक ओषधे ! हे (असिक्नि) असिक्नी नामक ओषधे ! हे (रजनि) रजनीनामक ओषधे ! (इदं) यह (यत्) जो (किलासं) किलास नामक कोढ़ और (पलितं) पलित नामक रोग है उसको (रजय) नाश कर । इसको उत्तम वर्ण का कर दे ।

किलासं च पलितं च निरितो नाशया पृषत् ।
आ त्वा स्वो विशतां वर्णः परा शुक्लानि पातय ॥ २ ॥

भा०—हे ओषधे ! (इतः) इस रोगयुक्त देह से (किलासं) किलास नामक कुष्ठ को और (पलितं च) पलित नामक रोग को (निर् नाशय) निर्मूल करके नाश करदे । और (पृषत्) त्वचा से जल बहाने वाले और दर्द करने वाले रोग को भी नाश कर । हे रोगी ! (त्वा) तेरे शरीर को स्वः) अपना (वर्णः) पूर्व नीरोग दशा का रूप (आ, विशतां) प्राप्त हो । और (शुक्लानि) श्वेत कुष्ठ के चिह्नों और बालों को (परा पातय) दूर भगा दे।

---

[२३] १–'रंजनी' इति ह्विटनिकामितः पाठः ।
२–(द्वि०) नाशया पृथक् । इति सायणाभिमतः पाठः । (तृ०) 'आनः स्वो' इति तै० ब्रा० ।

आसितं ते प्रलयनमास्थानमसितं तव।
आसिक्न्यस्योषधे निरितो नाशया पृषत् ॥ ३ ॥

भा०—हे ओषधे ! (ते) तेरा (प्रलयनं) शरीर में लीन होजाने वाला गुण (आसितं) श्वेत रोग का नाशक है और (तव) तेरा (आस्थानं) चिपकने का गुण (असितं) सित या श्वेत कुष्ठ का नाशक है। हे ओषधे ! तू (असिक्नी) असिक्नी नाम वाली (असि) है। (इतः) इस शरीर से (पृषत्) पीड़ाकारी, जल छोड़ने वाले, विकृत या पृषत् श्वेत रंग के कुष्ठ को (निर् , नाशय) सर्वथा नाश कर दे।

अस्थिजस्य किलासस्य तनूजस्य च यत् त्वचि।
दूष्या कृतस्य ब्रह्मणा लक्ष्म श्वेतमनीनशम् ॥ ४ ॥

भा०—(अस्थिजस्य) हड्डियों में उत्पन्न होने वाले (च) और (तनूजस्य) त्वचा और अस्थि के बीच मांस में उत्पन्न होने वाले (किलासस्य) किलास नामक कुष्ठ को और (यत्) जो कुष्ठ रोग (त्वचि) त्वचा में उत्पन्न होगया है और (दूष्या) शरीर के रक्त आदि में विकार उत्पन्न करने वाले दूषी विष द्वारा (कृतस्य) उत्पन्न हुए कुष्ठ रोग को और उसके (लक्ष्म) शरीर की शोभा के नाशक कलंकरूप (श्वेतं) श्वेतकुष्ठ को भी मैं उत्तम वैद्य (ब्रह्मणा) 'ब्रह्म' नामक ओषधि से (अनीनशम्) दूर करता हूं।

इस सूक्त में नक्त, रामा, कृष्णा, असिक्नी और ब्रह्म ये नाम ओषधि-वाचक हैं। धन्वन्तरि के अनुसार इनका विवेक इस प्रकार है—

(१) नक्त नाम से कालिकारी, गुग्गुलु, उलूक, प्रसहा, करंज, फंजी या भार्गी इन ओषधियों का ग्रहण होता है।

३—(प्रा०) 'निलयनम्' इति तै० ब्रा०। (च०) 'नाशया पृथक्' इति सायणः।

४—'धूष्या' इति पैप्प० सं०। 'कृत्या' इति तै० ब्रा०।

इनके गुण इस प्रकार हैं—(१) कलिकारी (नक्तेन्दुपुष्पिका) कफ, वात नाशक, सोज, शल्य व्रण नाशक । (२) गुग्गुलु (=नक्तं च) व्रण, मेह, शोफ नाशक । कण गुग्गुलु और भूमि इसके दो भेद हैं । (३) उलूक पक्षी के मांसादि विसर्प कुष्ठ के नाशक हैं । (४) प्रसह वर्ग में काक, गीध, उल्लू चील आदि पक्षिगण । (५) करंज (नक्तमाल) या घृतकरंज व्रण, प्लीहा और कृमिनाशक और सब त्वचा दोषों को दूर करता है । उदकीर्ण और अङ्गारवल्लिका इसी के भेद हैं जिनमें अङ्गारवल्लिका भी कण्डू, विचर्चिका, कुष्ठ, त्वग्दोष, व्रण (नासूर) आदि का नाशक है । (६) फांजा या भार्गी या ब्रह्मसुवर्चला—शोफ, व्रण, कृमि का नाश करती है । इसका दूसरा नाम ब्राह्मणयष्टि भी है ।

(२) रामा नाम से आरामशीतला, गृहकन्या, रोचना, लक्ष्मणा, इनका ग्रहण होता है । जिनमें आरामशीतला दाहदोष, विस्फोट और व्रण का नाशक है और गृहकन्या या घृतकुमारी पित्त, कास, श्वास और कुष्ठ का नाशक है । शेष भी कटु तिक्त होने से रक्तशोधक हैं ।

(३) कृष्णा शब्द से काश्मर्य, कृष्णा तुलसी, कृष्णा मूली, कृष्णा, नीलपुनर्नवा द्राक्षा और पिप्पली इन ओषधियों का ग्रहण है । जिनमें से काश्मर्य (१ । १२) सूक्त में लिखा जाचुका है । इनमें से कृष्णा तुलसी जन्तु, भूत, कृमि आदि का नाशक है । नीलपुनर्नवा हृद्रोग, प्रदर, पाण्डु, सोज, श्वास वात आम आदि का नाशक है । पुनर्नवा और क्रूर ये दो भी इसी जाति के हैं । कृष्णा=काला जीरा कफशोफनाशक है । पिप्पली रक्त शोधक ये सभी कटु और तिक्त, उष्ण हैं ।

(४) 'असिक्नी' नामक ओषध वर्तमान में कोई प्रसिद्ध नहीं है तथापि असिक्नी यह असिक्नी असिशिम्बी प्रतीत होती है जो व्रण-दोष-नाशक है ।

(५) 'रजनी' शब्द से हरिद्रा, दारुहरिद्रा, उदकीर्य (करंजभेद) रोचना, शिंशपा, वनबीजपूर, यूथिका, मूर्वा ये सभी ओषधियां 'पीता' कहाती हैं और इनका गुण त्वचादोष, कुष्ठ, कण्डू आदि नाश करना है।

(६) 'ब्रह्मन्' भार्गी, फांजी, नामक ओषधी ही ब्रह्मवर्चसा या ब्राह्मण-यष्टि नाम से कही गई है वही यहां 'ब्रह्म' शब्द से लेनी उचित है। इसका वर्णन पूर्व कर चुके हैं।

[२४] त्वचादोष का निवारण।

ब्रह्मा ऋषिः। आसुरी वनस्पतिर्देवता। १, ३, ४ अनुष्टुभः, २ निचृत् पथ्यापंक्तिः। चतुर्ऋचं सूक्तम्॥

सुपर्णो जातः प्रथमस्तस्य त्वं पित्तमासिथ।
तदासुरी युधा जिता रूपं चक्रे वनस्पतीन्॥ १॥

भा०—(प्रथमः) सबसे श्रेष्ठ, प्रथम (सुपर्णः) सुपर्ण नामक वनस्पति इस दोष का नाशक (जातः) विद्यमान है। हे उपरोक्त रजनी ओषधे! (त्वं) तू (पित्तम्) पित्त रस के समान उष्णस्वभाव, बलकारी (आसिथ) है। (आसुरी) आसुरी नामक ओषधि (युधा) कूट २ कर (जिता) अनुकूल बनाई जाकर (वनस्पतीन्) नाना वनस्पतियों को भी (तद्) उस ही (रूपं) सेवन करने योग्य रूप को (चक्रे) बना देती है। इसीसे रजनी या हरिद्रा= दारुहलदी का 'पित्ता' एक नाम है।

आसुरी चक्रे प्रथमेदं किलासभेषजमिदं किलासनाशनम्।
अनीनशत्किलासं सरूपामकरत् त्वचम्॥ २॥

---

[२४] १-(तृ० च०) 'तदासुरी जिवांसिता रूपं चक्रे वनस्पतिः' इति पैप्प० सं०।
२-(तृ०) 'अनेनशत्' (च०) 'सुरूपम्' इति पैप्प० सं०।

भा०—(आसुरी, आसुरी नामक ओषधि प्रथमा, सबसे श्रेष्ठ है। उसने ही (इदं) यह (किलासभेषजं) किलासनामक कुष्ठ की चिकित्सा (चक्रे) की। (इदं किलासनाशन) यह स्वयं भी किलास का नाश करने हारी है। वह (किलासं) किलास=कुष्ठरोग को (अनीनशत्) नाश करती और (त्वचं) त्वचा को (सरूपाम्) सर्वत्र शरीर पर एक समान कान्ति वाला (अकरत्) बना देती है।

सरूपा नाम ते माता सरूपो नाम ते पिता।
सरूपकृत् त्वमोषधे सा सरूपमिदं कृधि ॥ ३ ॥

भा०—हे ओषधे! (ते) तेरी (माता) उत्पत्ति-भूमि (सरूपा) तेरे ही समान रूप गुण वाली सरूपा नामक है और (ते) तेरा (पिता) पालक, सूर्य भी (सरूपो) नाम, 'सरूप' नाम है। हे ओषधे! त्वं, तू स्वयं (सरूपकृत्) त्वचा का समान रूप बना देने हारी है, इसलिये (इदं) इस दोषयुक्त कुष्ठी शरीर को भी (सरूपं) समान सुन्दर रूप (कृधि) कर।

श्यामा सरूपङ्करणी पृथिव्या अध्युद्भृता।
इदमू षु प्र साधय पुना रूपाणि कल्पय ॥ ४ ॥

भा०—(श्यामा) पूर्व मन्त्र में कही औषध ही श्यामा नाम वाली (पृथिव्याः) पृथिवी के (अधि उद्भृता) ऊपर उत्पन्न होती है। वह (सरूपंकरणी) उत्तमरूप और समानत्वचा बना देती है। हे श्यामे! तू (इदम्) इस कुष्ठी शरीर में (प्र साधय) अपना गुण दर्शा और (पुनः) बार २ (रूपाणि) नये २ रूप, त्वचाएं (कल्पय) उत्पन्न कर।

३—'यत्तनूजं यदग्निजं चित्रा किलास जज्ञिषे तदस्तु सुकृतस्तन्वोयतस्त्वापि नयामसि' इति पैप्पलाद संहितायामधिको मन्त्रः।

४—(द्वि०) 'पृथिव्याभ्याभवम्' [?] (च०) 'सादय' इति पैप्प० सं०।

इस सूक्त में सुपर्ण, आसुरी, सरूपा और श्यामा ये शब्द ओषधियों के वाचक हैं। जिनमें प्रथम सुपर्ण=सप्तपर्णी है, वह गुल्म, कृमि, कुष्ठ का नाशक है। आसुरी=राई, लाल सरसों। यह कृमि व्रण का नाशक है। सरूपा या सुरूपा शब्द से पित्ता=हल्दी, भार्गी, वार्पिकी, शालिपर्णी और लाक्षा कहाती है जिनमें से भार्गी का वर्णन पहले किया है। लाक्षा=लाख कृमिनाशक और व्रणनाशक है। 'शालिपर्णी' शोफ को नाश करती है, वार्पिकी विष, स्फोट=फुंसियों और कृमिदोष का नाशक है। 'सुपर्णी' शब्द से शालिपर्णी, पलाशी और रेणुका ली जाती है। इनमें से शालिपर्णी शोफ-नाशक और रेणुका या हरेणुका, विषकण्डु का नाश करती है। 'श्यामा' शब्द से गुडूची कस्तूरी, नीलपुनर्नवा, नीलनी, पिप्पली, रोचना, वटपत्री, और हरिद्रा ये ओषधियां लीजाती हैं। इनमें से गुडूची=गिलोय त्रिदोष-नाशक, रक्तअर्श और कुष्ठ का नाशक है। कस्तूरी-विषघ्न और किलास, कफ आदि का नाशक है. नील पुनर्नवा का पूर्व वर्णन कर आये हैं। नीलनी विष वात, रक्त और कृमिनाशक है। पिप्पली, रोचना दोनों का वर्णन पूर्व किया गया है। वटपत्री प्रमेह, कृच्छ्र और व्रण नाशक है। वन्दका—व्रण-रोपण और रसायन है, हरिद्रा का पूर्व वर्णन कर आये हैं। इस प्रकार वेद के ओषधि नाम व्यापक गुणों को दर्शाते हैं।

सायण ने कौशिक सूत्र के अनुसार भृङ्गराज, हरिद्रा, इन्द्रवारुणी, और नीलिका इनको पीसकर श्वेत कुष्ठ पर लगाने का संकेत किया है। इनमें भृङ्गराज=भांगरा, हरिद्रा=हल्दी निलिका=नीलिनी और इन्द्रवारुणी, ऐन्द्री भी कृमिदोष, कुष्ठ व्रण और श्लीपद का नाश करती हैं। इन्द्र-वारुणी विशाला को भी कहते हैं जिसका एक भेद श्वेतपुष्पी है इसको नागदन्ती और भटा भी कहते हैं इसमें कुष्ठनाशक गुण विशेष है।

उक्त दोनों सूक्तों में सायण आदि भाष्यकारों ने तत्व को बिना समझे ही अर्थ का अनर्थ किया है।

[२५] ज्वर चिकित्सा ।

भृग्वंगिरा ऋषिः । यक्ष्मनाशनोऽग्निर्मन्त्रोक्ता 'हूडु' आदयो देवताः । १ त्रिष्टुप्, २ विराड् गर्भात्रिष्टुप् । पुरोऽनुष्टुप् । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

यद॒ग्निरापो॒ अद॑ह॒त्प्र॒विश्य॒ यत्राकृ॑ण्वन् धर्म॒धृतो॒ नमां॑सि ।
तत्र॑ त आहुः पर॒मं ज॒नित्रं॒ स नः॑ संवि॒द्वान् परि॑ वृङ्ग्धि तक्मन् ॥१॥

भा०—हे (तक्मन्) शरीर को कष्ट देने वाले ज्वर ! (यत्र) जिसके आश्रय पर (धर्मधृतः) धर्म=आत्मा को धारण करने वाले शरीर धारी वात, पित्त और कफ या सप्त धातु (नमांसि) नाना शरीर के कार्यों को (अकृण्वन्) साधते हैं (तत्र) उसमें ही वे परम विद्वान् वैद्य लोग (ते) तेरा (परमः) सबसे मूलभूत (जनित्रं) उत्पत्तिस्थान (आहुः) बतलाते हैं । और जिस प्रकार (अग्निः) अग्नि (आपः) जलों में (प्रविश्य) प्रविष्ट होकर उसको उष्ण करदेता और तपाता है। उसी प्रकार हे ज्वर ! तू भी (आपः) सर्व शरीर में व्यापक रुधिरों में (प्रविश्य) भीतर घुसकर तू शरीर को (अदहत्) तपाता और उन धर्मभृत्=शरीर के भीतर मांस, मेदस्, अस्थि, मज्जा, रुधिर शुक्र आदि धातुओं को जलाता है । उस ज्वरकारी कारण को (विद्वान्) जानने हारा वैद्य तू (सः) वह कुशल होकर (नः सं परि वृङ्धि) उसको हम से दूर कर । अथवा हे तक्मन् ज्वर ! (सः) वह तू उक्त प्रकार से (विद्वान्) जान लिया गया है अतः योग्य चिकित्सा द्वारा (नः) हमें (सं परि वृङ्धि) छोड़ दे ।

यद्य॒र्चिर्यदि॒ वासि॑ शो॒चिः श॑कल्ये॒षि यदि॑ वा ते ज॒नित्र॑म् ।
हूडु॒र्नामा॑सि हरितस्य देव॒ स नः॰ ॥ २ ॥

[२५] १-(प्र०) 'यदग्निरापोऽदुहत्' (तृ०) 'तत्र ताहुः' इति पैप्प० सं० ।
२-(प्र०) 'यद्या चिर्यदिवासिधूमः' इति पैप्प० सं० । (तृ०) हूडु,=हूडु, रूडु, हूड्डु, हुडु इत्यादयो बहवः पाठाः । 'हुडु' इति पैप्प० सं० । रूडु रीति सायणः । प्रादुर्भावार्थस्य रुहे रौणादिकस्तुन् प्रत्ययः, होढः इति ढत्वम् ।

भा०—हे (तक्मन्) कष्टमय जीवन करने हारे ! (यदि) चाहे तू (अर्चिः) अग्नि की ज्वाला के समान जलन करने वाला (यदि वा) और चाहे शोचिः) ताप जनक है (यदि वा) और चाहे (ते) तेरा (जनित्रम्) प्रादुर्भाव (शकल्यःएषि, शरीर के अङ्ग २ में व्याप्त हो तो भी हे (देव) प्रकाशमान अथवा अग्नि के विकार रूप ज्वर ! तू (हरितस्य) हरित नाम कामला रोग का (ह्रूडुः) ह्रूडु नाम से प्रसिद्ध (नाम) स्वरूप ही (असि) है । (नः) हम में से (सः) वह प्रसिद्ध वैद्य इस रहस्य को (विद्वान्) जानता है उसकी चिकित्सा से तू हमें (परि वृङ्ग्धि) छोड़ दे ।

यदि॑ शो॒को यदि॑ वाभिशो॒को यदि॑ वा॒ राज्ञो॒ वरु॑णस्यासि॑ पु॒त्रः ।
ह्रू॒डुर्नामा॑सि हरितस्य देव॒ स नः॑ सं॒विद्वान् परि॑ वृङ्ग्धि तक्मन् ॥३॥

भा०—हे तक्मन् ज्वर ! (यदि शोकः) चाहे तू एकदेश से तापकारी है, (यदि वा) और चाहे (अभिशोकः) तू सब अङ्गों में भीतर बाहर सर्वत्र तापजनक है, (यदि वा) और चाहे तू (वरुणस्य) सबको आवरण करने वाले, सर्वत्र फैलने वाले जलीय अंश का (पुत्रः) रूपान्तर है, तो भी हे (देव) अग्नि या जलांश से उत्पन्न ! (हरितस्य) पाण्डु, कामला या पैत्तिक रोग का (नाम) स्वरूप तू (ह्रूडुः असि) 'ह्रूडु' नाम से प्रसिद्ध है । इस बात को (नः) हममें से (सः) वह जानता है । अतः उसकी योग्य चिकित्सा से तू हमें (परि वृङ्धि) त्याग दे ।

नमः॑ शी॒ताय॑ त॒क्मने॒ नमो॑ रू॒राय॑ शो॒चिषे॑ कृणोमि ।
यो अ॑न्येद्यु॒रु॑भयद्यु॒र॒भ्येति॑ तृ॒तीय॑काय॒ नमो॑ अस्तु त॒क्मने॑ ॥४॥

३–(द्वि०)=रुद्रस्य प्राणो यदिवारूपोऽसि । इति पैप्प० सं० ।

४–(द्वि० तृ०) 'नमोदूराय कृत्वा वयं ते । यो अन्येद्युरुभयेम्नश्चहतरूृ०' इति पैप्प० सं० ॥

भा०—(शीताय) शीत से उत्पन्न या शीत दे कर उत्पन्न होने वाले (तक्मने) कष्टप्रद ज्वर आदि के लिये (नमः) यह उपचार है और (शोचिषे) ताप या गर्मी देकर उत्पन्न होने वाले 'रूर' या 'हूडु' नामक ज्वरव्याधि के लिये मैं (नमः कृणोमि) उसको पक्व करने का उपाय करता हूं। और (यः) जो ज्वर (अन्येद्युः) प्रतिदिन और जो (उभयेद्युः) दो दिनों के अन्तर पर (अभ्येति) प्रकट होता है उस (तक्मने) ज्वर-व्याधि के लिये (नमः, अस्तु) उसका परिपाक करना ही उपाय है।

हाथ जोड़ने आदि से ज्वर नहीं जाता वह परिपक्व होने पर सुगमता से चिकित्सा योग्य होता है अतः सायणकृत अर्थ संगत नहीं है।

शोचिः, अर्चिः और वरुणपुत्र ये तीनों ज्वर के रूप क्रम से वात, पित्त और कफ से उत्पन्न ज्वरों के तीन रूप हैं।

[२६] रक्षा, सभ्यता और शान्ति।

ब्रह्मा ऋषिः। इन्द्रादयो मन्त्रोक्ता बहवो देवताः। १ गायत्री, २ त्रिपदासाम्नी त्रिष्टुप्। ४ पादनिचृत्। २, ४ एकावसाना। चतुर्ऋचं सूक्तम्॥

आरे॑ऽसाव॒स्मद॑स्तु हे॒तिर्दे॑वासो असत्।
आरे अश्मा यमस्यथ॥ १॥ ऋ० १। १७२। २॥

भा०—हे विद्वान् पुरुषो! (असौ) यह (हेतिः) अस्त्र, हथियार (यम्) जिसको तुम (अस्यथ) शत्रुओं पर फेंकते हो वह (अस्मद्) हमसे (आरे अस्तु) दूर रहे और वह (अश्मा) अश्मा=दृढ़शस्त्र जिसको तुम फेंकते हो वह भी (आरे असत्) हमसे दूर ही रहे।

[२६] १–(प्र० द्वि०) 'आरे सा वः सुदानवो मरुत ऋञ्जती शरुः। इति ऋ०।

सखासावस्मभ्यमस्तु रातिः सखेन्द्रो भगः ।
सविता चित्रराधाः ॥ २ ॥

भा०—(असौ) वह (रातिः) सबको धन, ऐश्वर्य देने वाला पुरुष, (भगः) ऐश्वर्यों का स्वामी (सविता) सबका प्रेरक और (चित्रराधाः) नाना प्रकार से आराधना और साधना करने योग्य (इन्द्रः) राजा के समान परमेश्वर ही (अस्मभ्यं) हमारा (सखा) एकमात्र मित्र (अस्तु) हो ।

यूयं नः प्रवतो नपान्मरुतः सूर्यत्वचसः ।
शर्म यच्छाथ सप्रथाः ॥ ३ ॥

भा०—हे (मरुतः) मरुद्गणो, प्राणो ! या नाना प्रकार की गतियों से बहने हारे वायुगणो ! एवं व्यापार करने हारे वैश्यगणो ! तुम (सूर्यत्वचसः) सब के प्रेरक सूर्य के समान उज्वल त्वचा, स्वच्छ स्वरूप और सौम्यवेश वाले हो और हे (प्रवतः) उत्तम मार्ग से गति करने हारे सदाचारी पुरुषों को (नपात्) बन्धन में न गिराने हारे नगराध्यक्षो ! (यूयं) आप लोग (नः) हमें (सप्रथाः) अतिविस्तृत (शर्म) शरण, नगर और दुर्ग में शरण (यच्छाथ) प्रदान करो ।

सुषूदत मृडत मृडया नस्तनूभ्यः ।
मयस्तोकेभ्यस्कृधि ॥ ४ ॥

भा०—हे विद्वान् पुरुषो ! (सु सूदत) उत्तम मार्ग में सदा प्रेरणा करो ! (मृडत) सदा स्वतः सुखी रहो (नः) हमारे (तनूभ्यः) शरीरों

२—सखेव नो रातिरस्तु सखेन्द्रस्सखा सविता । सखा भगः सत्यधर्मा नोऽस्तु इति पैप्प सं० ।

३—(द्वि०) 'यच्छत सप्रथः' इति सायणाभिमतः पाठः ।

४—'सुमृडता सुषूदता मृडानो अघाभ्यः स्तोकाय तन्वे दा[:]' इति पैप्प० सं० ।

को (मृडय,) सुखी करो और (नः तोकेभ्यः) हमारे अगले सन्तानों के लिये भी (मयः) कल्याण, सुख का (कृधि) सम्पादन करो ।

[२७] सेना-सञ्चालन ।

शाल्ग्यायनकामोऽथर्वा ऋषिः । चन्द्रमाः इन्द्राणी च देवताः । १ पथ्यापंक्तिः, २, ३, ४, अनुष्टुभः । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

अमूः पारे पृदाक्वस्त्रिषप्ता निर्जरायवः ।
तासां जरायुभिर्वयमक्ष्याउ३ वपि व्ययामस्यघायोः परिपन्थिनः ॥१॥

भा०—(अमूः) ये (पारे) दूर दूर के वनों में (त्रिषप्ताः) २१ इक्कीस (पृदाकूः) सर्प-जातियां हैं जो (निर्जरायवः) आपसे आप जरायु=कांचली से बाहर आती हैं । (तासां) उनकी (जरायुभिः) कांचली से (वयम्) हम लोग (अघायोः) पाप करने की चेष्टा में यत्नवान् (परिपन्थिनः) शत्रु के (अक्ष्यौ) आंखों को (अपि वि अयामसि) नष्ट कर डालें ।

शत्रुओं की आंखों में दोष उत्पन्न करने के लिये सर्प की कांचली को जलाकर उसके धूएं का प्रयोग किया जाता है । अर्थशास्त्रकार ने औपनिषदिक अधिकरण के 'परघात-प्रतीकार' प्रकरण में सर्प, अचलाक कृकण, पञ्चकुष्ठ इनके चर्म को सुखा, चूर्ण कर उनके धूम करने से नेत्रों का नाश करने का प्रयोग दर्शाया है । अथवा सर्पकार व्यूहों में व्यूहित सेनाओं से शत्रु की आंखों में भ्रम डालें । उस पक्ष में (निर्जरायवः) कभी क्षीण न होने वाली (त्रिषप्ताः) २१ प्रकार की (पृदाकः) सर्पगति से चलने वाली

[२७] १–(प्र०) 'इमाः पारे' (द्वि०) 'जर्जरायवः' इति पैप्प० सं० । 'निर्जरा इव' इति सायणाभिमतः पाठः ।

सेनायें होती हैं उनकी (जरायुभिः) ऊपर के व्यूहों द्वारा (परिपन्थिनः) शत्रु की आंखों को (अपिव्ययामः) व्यर्थ चक्कर में डालें।

विषूच्येतु कृन्तती पिनाकमिव बिभ्रती।
विष्वक् पुनर्भुवा मनोऽसमृद्धा अघायवः ॥ २ ॥

भा०—(विषूची) सूचीव्यूह में चलने हारी या नाना प्रकार के संकेतों वाली सेना (पिनाकमिव) धनुष् के समान आयुध हाथ में (बिभ्रती) लिये हुए अथवा धनुर्व्यूह को धारण करती हुई (एतु) बराबर आवे और वह (पुनर्भुवाः) पुनः होने वाले नये रूप से या नाना रूप में व्यूह बना बना कर या (पुनर्भुवाः) नये सेनापति के साथ आयें तो (विष्वक्) सब तरफ़ (अघायवः) पापी पुरुष (मनः) मननशक्ति और ज्ञानशक्ति में (असमृद्धाः) निर्बल; सम्पत्ति और राष्ट्र से रहित रहें।

न बहवः समशकन्नार्भका अभि दाधृषुः।
वेणोरद्गा इवाभितोऽसमृद्धा अघायवः ॥ ३ ॥

भा०—(अघायवः) पापशील पुरुष (असमृद्धाः) राष्ट्र, दण्ड, कोश, और बल, अमात्य, प्रजा आदि सब सम्पत्तियों से हीन होने के कारण (बहवः) बहुत से होकर भी (वेणोः) बांस के (अभितः) चारों ओर लगे (अद्गाः इव) जड़ों से फूटने वाले कोमल अंकुरों के समान कभी (न सम् अशकन्) विजय करने और मुक़ाबला करने में समर्थ नहीं होते और वे (अर्भकाः) पापों के कारण थोड़े या छोटे २ कद के, निर्बल होकर

२—(द्वि०) 'पुनर्भवा' इति सायणसम्मतः पाठः। (द्वि०, तृ०) अपेतः परिपन्थिनोऽयोधायुरेतु' इति पैप्प० सं०।

३—(द्वि०) 'दाद्दृशुः' (तृ०) 'वेणोरद्गा इव परितः' इति सायणाभिमतौ पाठौ। 'दाधृषु' रिति प्रातिशाख्यव्याख्याकार। (द्वि०) 'अर्भक अभिधृष्णुवम्' इति पैप्प० सं०।

वे (न अभि दाधृपुः) शत्रुओं को परास्त नहीं कर सकते । इसलिये बलवान् समृद्धिशाली और धर्मात्मा होकर विजय करना उचित है ।

प्रेतं पादौ प्र स्फुरतं वहंतं पृणतो गृहान् ।
इन्द्राण्ये/तु प्रथमाजीतामुंपिता पुरः ॥ ४ ॥

भा०—(पादौ) चरणों के समान गमन करने में बलवान् शीघ्रकारी दो प्रकार के भटो ! (प्र इतं) आगे बढ़ो (प्रस्फुरतं) और भी अधिक शीघ्र गमन करो और (पृणतः) सबके पालन करने हारे राजाके (गृहान्) महलों की तरफ (वहतं) हमें ले चलो और (इन्द्राणी) इन्द्र राजा की शक्तिरूप महासेना (प्रथमा) सबसे प्रथम श्रेणी की (अजीता) किसी से न हारकर (अमुपिता) किसी से न छली जाकर (पुरः) आगे २ (एतु) बढ़े जाय ।

दो प्रकार के चर एक गुप्तचर जो शत्रुओं का गुप्तरूप से पता लगावें दूसरे सफरमैना जो मार्ग के संकटों को काटकर मार्ग बनावें । ये दोनों आगे आगे जायं और उनके बतलाये और बनाये मार्ग से राजा की सेना आगे आगे बढ़े ।

---

[२८] घृणाकारी दुष्टों का नाश ।

चातन ऋषिः । १ अग्निर्देवता, २, ३, ४ यातुधान्यो देवताः । १, २ अनुष्टुभौ, ३ विराट् पथ्याबृहती , ४ पथ्यापंक्तिः । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

उप प्रागाद्देवो अग्नी रक्षोहामीवचातनः ।
दहन्नप द्वयाविनो यातुधानान् किमीदिनः ॥ १ ॥

४–प्रेतं पादौ प्रस्फुरतं वहन्तु पृणतो गृहम् । इन्द्राण्येतु प्रथमा जिहित्वा मुक्त्वा पथः । इति पैप्प० सं० । (च०) 'अजिता' इति सायणाभिमतः पदच्छेदः ।

भा०—(देवः) प्रकाशमान (रक्षोहा) राक्षसों, विघ्नकारी पुरुषों और रोगों का विनाशक (अमीवचातनः) रोगों के कीटाणुओं का समूल उच्चाटन करने वाला (अग्निः) अग्नि के समान प्रकाशमान राजा और आचार्य (उप प्र आगाद्) हमें प्राप्त है । वह (किमीदिनः) 'अब क्या' 'अब क्या' इस प्रकार बेचैन होकर विचरने वाले या दूसरों को योंही लूटने वाले, या सबके छिद्र मर्म को खोजने वाले (यातुधानान्) पीड़ाजनक (द्वयाविनः) दोनों पक्षों का आश्रय लेकर रहने वाले, उभय वेतन शत्रुप्रयुक्त पुरुषों को या वाणी और कर्म दोनों में क्रूर, या रूप से सीधे और भीतर कुटिल इस प्रकार दुरंगी चाल चलने हारे धूर्तों को (अप दह) दूर से ही जला डाल, विनाश कर, पीड़ित, दण्डित कर ।

प्रति॑ दह यातु॒धाना॒न् प्रति॑ देव कि॒मीदिनः॑ ।
प्र॒तीचीः॑ कृष्णवर्तने॒ सं द॑ह यातु॒धान्यः॑ ॥ २ ॥

भा०—हे (देव) राजन् ! (यातुधानान्) पीड़ाकारी दुष्ट पुरुषों को (प्रति दह) उनके अपराधों के दण्ड में उनको भस्म कर डाल और हे देव ! (किमीदिनः) शत्रुपक्ष से छोड़े हुए हमारे देश के छिद्र पता लगाने वाले क्षुद्रवृत्ति, राजद्रोही शत्रु पुरुषों को भी उनका अपराध पकड़ २ कर उसके लिये उनको (प्रति दह) भस्म कर डाल । हे (कृष्णवर्तने) शत्रु के बलों को कर्षणकारी=विनाशक कर्तव्य को पालन करने वाले राजन् (प्रतीचीः) राष्ट्र के प्रतिकूल जाने वाली सब (यातुधान्यः) पीड़ा बढ़ा देने वाली, प्रजा का आचार नष्ट करने वाली, शत्रुओं से नियुक्त वेश्या आदि दुष्ट स्त्रियों और गुप्त सोसायटियों को भी अग्नि के समान (सं दह) समूल नाश कर ।

[२८] २—(तृ०) 'कृष्णवर्त्मने' इति सायणाभिमतः पाठः । तथाविधस्य च सम्बुद्धिरूपस्याभावात् 'कृष्णवर्तने' इत्येव साधुः पाठः ।

या शशाप शपनेन याघं मूरमादधे ।
या रसस्य हरणाय जातमारेभे तोकमत्तु सा ॥ ३ ॥

भा०—हे पुरुषो ! यातुधानी या पीड़ाजनक स्त्रियों के ये चिह्न हैं (१) (या) जो (शपनेन) निन्दाजनक वचनों से (शशाप) अपने पूज्य सम्बन्धियों को कोसती है और गृह कलह मचवाती है (२) (या) जो स्त्री (मूरं) सब पापों के मूलरूप (अघं) पुत्र, भाई, पिता, पति आदि के घात एवं पाप को (आदधे) करती है अथवा जो (मूरं) नशीले पदार्थ खिला २ कर पुरुषों के साथ (अघं) विश्वासघात कर उनको छलती लूटती और पापाचार करती है (३) (या) जो (रसस्य) विषयों की (हरणाय) प्यास बुझाने के लिये या (रसस्य) विष के (हरणाय) प्रयोग द्वारा (जातं) बच्चों को (आ रेभे) मार डालती है, उसी क्रूर स्वभाव से मनुष्यों को और (तोकम्) अपनी सन्तान को (अत्तु) खाजाती है। (सा) ऐसी क्रूर, बिगड़े दिमाग वाली स्त्रियां यातुधानी शब्द से पुकारी जाती हैं।

पुत्रमत्तु यातुधानीः स्वसारमुत नप्त्यम् ।
अधा मिथो विकेश्यो३ वि घ्नतां यातुधान्यो३ वि तृह्यन्तामराय्यः ॥४॥

भा०—(यातुधानीः) पीड़ाजनक स्त्रियें वे होती हैं जो (पुत्रम्) अपने पुत्र को (अत्तु) खाजायँ, उसका नाश कर दें। जो (स्वसारम्) अपनी बहन को खाजायँ, मरवादें और जो (नप्त्यम्) धन के या स्वार्थ के लोभ से अपने नाती को नाश करदें और वे भी राक्षस स्वभाव की स्त्रियां होती हैं जो (विकेश्यः) बाल खोल २ कर (मिथः) आपस में (विघ्नतां) एक दूसरे पर नाना प्रकार से मारकूट करें और जो (अरायः) दानशील, उदार न होकर, धन के लोभ में पड़ कर, दरिद्र होकर (वि तृह्यन्तां)

४–'पुत्रमत्तु यातुधानी', 'अथ मिथो' इति सायणाभिमतौ पाठौ ।

औरों का नाश करती रहें । राजा को चाहिये कि उन पापाचारिणी, कुल, गृह और प्रजा की विनाशक क्रूर स्त्रियों को जीता पकड़ कर जला दे ।

इति पञ्चमोऽनुवाकः ।

[तत्र सूक्तानि सप्त, ऋचश्च सप्तविंशतिः]

[२९] अभीवर्त्त या रथनेमि के दृष्टान्त से राष्ट्रचक्र का वर्णन ।

वसिष्ठ ऋषिः । अभीवर्त्तमणिमुद्दिश्य ब्रह्मणस्पतिर्देवता । चन्द्रमसं राजानमभिलक्ष्य, ब्रह्मणस्पतेः स्तुतिः । अनुष्टुप् छन्दः । षडृचं सूक्तम् ॥

अभीवर्तेन मणिना येनेन्द्रो अभिवावृधे ।
तेनास्मान् ब्रह्मणस्पतेऽभि राष्ट्राय वर्धय ॥ १ ॥

ऋ० १० । १७४ । १ ॥

भा०—हे (ब्रह्मणस्पते) वेद के विद्वान् मन्त्रिन् ! (येन) जिस (अभीवर्तेन) सब ओर समान वेग से जाने हारे (मणिना) चक्रधारा रूप मणि से (इन्द्रः) राजा (अभिवावृधे) विशाल राष्ट्रसम्पत्ति को प्राप्त करता है (तेन) उसीसे (राष्ट्राय) इस राष्ट्र की उन्नति के लिये (अस्मान्) हमको भी (अभि वर्धय) बढ़ा । इसकी विशेष व्याख्या अगले मन्त्र में है ।

अभिवृत्य सपत्नानभि या नो अरातयः ।
अभि पृतन्यन्तं तिष्ठाभि यो नो दुरस्यति ॥ २ ॥

ऋ० १० । १७४ । २ ॥

---

[२९] १–(प्र०) 'अभीवर्त्तेन हविषा', (द्वि०) 'अभिवावृते' 'राष्ट्रायवर्तय' इति पाठाः ऋ० । (च०) वर्त्तयः, इति पैप्प सं० ।

२–(च०) 'यो नो इरस्यति' इति ऋ० । (च०) दुरस्यतु इति पैप्प० सं० ।

भा०—अभीवर्त मणि वह है (या) जो (सपत्नान्) हमारे इष्ट सम्पत्ति के स्वामी होजाने का दावा करने वाले शत्रुओं को (अभि वृत्य) चारों तरफ से घेर कर और (या) जो (नः) हमारे (अरातयः) कर देने से इन्कार करने वाले द्रोही सामन्त राष्ट्रों को घेर कर वश कर लेती है। ऐसी है राज-चक्र रूप मणे ! तू ही (पृतन्यन्तं) सेनाओं से चढ़ाई करने वाले का (अभि तिष्ठ) मुक़ाबला कर और (यः) जो (नः) हमें (दुरस्यति) दुःखकारी दशा में डालना चाहता है उस क्रूर नीच पुरुष को भी (अभितिष्ठ) वश कर । अर्थात् शत्रुओं को घेरने, अधीन राष्ट्रों को वश करने, सेना द्वारा चढ़ाई करने शत्रुओं के, मुक़ावला करने और क्रूरों को विनाश करने की शक्ति को ही अभीवर्त्त' मणि या 'रथनेमि' मणि या 'राष्ट्रचक्रप्रवर्त्तन' मणि कहा जाता है ।

अभि त्वा देवः सविताभि सोमो अवीवृधत् ।
अभि त्वा विश्वा भूतान्यभीवर्तो यथासंसि ॥ ३ ॥

ऋ० १० । १७४ । ३ ॥

भा०—हे अभीवर्त्तमणे ! राष्ट्र चक्र ! (देवः) विद्वान् (सविता) सबका प्रेरक पुरोहित (त्वा) तेरी (अभि अवीवृधत्) प्रत्यक्ष वृद्धि करता है (सोमः) सौम्यगुणयुक्त विज्ञानवान् राष्ट्र तेरी (अभि अवीवृधत्) वृद्धि करता है। (यथा) जिस प्रकार, हे राष्ट्रचक्र ! तू सबको बढ़ाने वाला (असासि) होता है उसी प्रकार (विश्वा भूतानि) समस्त प्राणी भी तुझको ही बढ़ाते हैं।

अभीवर्तो अभिभवः सपत्नक्षयणो मणिः ।
राष्ट्राय मह्यं बध्यतां सपत्नेभ्यः पराभुवे ॥ ४ ॥

भा०—(अभिवर्तः मणिः) राष्ट्रचक्र रूप शक्ति (सपत्नक्षयणः) शत्रुओं का नाशकारी और (अभिभवः) उनका पराजय करने वाला है।

३–(द्वि०) 'अवीवृतत्' इति ऋ० । 'अभीमृशत' इति पैप्प सं० ।

उसको (मह्यं) मेरे (राष्ट्राय) राष्ट्र की उन्नति के लिये (वध्यतां) उत्तम रूप से व्यवस्था द्वारा दृढ़ कर सुबद्ध करो । जिससे (सपत्नेभ्यः) शत्रुओं का (पराभुवे) पराजय हो ।

उदसौ सूर्यो अगादुदिदं मामकं वचः ।
यथाहं शत्रुहोसान्यसपत्नः सपत्नहा ॥ ५ ॥

ऋ० १०। १५९ । १ ।

भा०—(असौ) वह द्यौलोक में प्रकाशित, सबका द्रष्टा (सूर्यः) सूर्यसमान सबका प्रेरक परमेश्वर (उत्, अगात्) उदय हो रहा है और उसको साक्षिता में (मामकं) मेरा (इदं) यह (वचः) वचन भी (उत्) प्रकट होता है । परमेश्वर मेरे अन्तःकरण का सद्भाव जान कर ऐसा बल दें कि (यथा) जिससे मैं (शत्रुहः) शत्रुओं का नाशक और (सपत्नहा) मेरे राष्ट्रपर अपने स्वामित्व को चाहने वाले विरोधियों का नाशक होकर (असपत्नः) शत्रुरहित, एकच्छत्र अद्वितीय सम्राट् (असानि) होजाऊं ।

सपत्नक्षयणो वृषाभिराष्ट्रो विषासहिः ।
यथाहमेषां वीराणां विराजानि जनस्य च ॥ ६ ॥

ऋ० १० । १७४ । ५ ॥

भा०—(सपत्नक्षयणः) शत्रुओं का विनाश करने वाला (वृषा) सब सुखों का प्रदाता (विपासहिः) नाना प्रकार के शत्रुओं के आक्रमणों, दैवी

५–(प्र०, द्वि०) ' उदसौ सूर्यो आगादुदयं मामकं वचः ' इति पैप्प० सं० । ' उदसौ सूर्योऽगादुदयं मामको भगः । अहं तद्विद्वला पतिमभ्यसाक्षि विपासहिः ' इति ऋ० १० । १५९ । १ ।

६–(प्र०, द्वि०, तृ०) असपत्नः सपत्नहाभिराष्ट्रो विपासहिः । यथा हमेषां भूतानां' इति ऋ० ।

विपत्तियों को भी सहने में समर्थ (अहम्) मैं राजा (अभिराष्ट्रः) अपने समस्त राष्ट्र से अभ्युदय को प्राप्त होकर। (यथा) जिस प्रकार (एषां) इन (वीराणां) वीर योद्धाओं के और (जनस्य च) समस्त प्रजाजन के बीच में (विराजानि) विशेष रूप से विराट् या सम्राट् रूप में शोभा पाऊं।

कौशिक सूत्र के अनुसार इस सूक्त से राजा के गले में एक मणि बांधा जाता था जिसके केन्द्र में सुवर्ण और उस पर क्रम से लोह, सीस, इस्पात, चान्दी और ताम्बे के छल्ले मढ़े होते थे। जैसे अष्टधातु की अंगूठी शरीर के स्पर्श से आरोग्यकारी होती है उसी प्रकार यह छल्ला भी उसी निमित्त बांधा जाता था या इसको बांधना केवल विजय करने वाले राजा का उसी प्रकार मान चिह्न था जिस प्रकार विवाह में ग्रन्थिबन्धन और रक्षा बन्धन आदि। यह रिवाज अभीतक भी वरयात्रा के पूर्व वर की कलाई पर लोह का छल्ला बांधकर किया जाता है। वह वस्तुतः राष्ट्रशक्ति का चिह्न है जिसमें 'पंचधातु' पांचों प्रजाओं का या बीच में राजा और चारों ओर चतुरंगिणी सेना का संकेत है। मणि शब्द से मणिधारी का ग्रहण है। अथवा पदक के समान मणि शब्द पद और अधिकार का सूचक है।

[३०] प्रजा का राजा के प्रति कर्त्तव्य।

आयुष्कामोऽथर्वा ऋषिः। विश्वेदेवाः देवताः। वस्वादि देवस्तुतिः। १, २, ४ त्रिष्टुभः। ३ शाक्वरगर्भा विराड् जगती। चतुर्ऋचं सूक्तम्।

विश्वेदेवा वसवो रक्षतेममुतादित्या जागृत यूयमस्मिन्।
मेमं सनाभिरुत वान्यनाभिर्मेमं प्रापत् पौरुषेयो वधो यः॥१॥

---

[३०] १-(द्वि०) 'जाग्रत [?] यूयम्' इति पैप्प० सं०।

भा०—हे (विश्वेदेवाः) समस्त विद्वानो ! और हे (वसवः) राष्ट्र में वसने हारो ! आप लोग (इमम्) इस राष्ट्र एवं राष्ट्रपति की (रक्षत) उत्तम रूप से रक्षा करो । (उत) और हे (आदित्याः) आदान प्रतिदान करने हारे, कर और शुल्क संग्राहक पुरुषो ! (यूयम्) तुम लोग (अस्मिन्) इस राष्ट्र में (जागृत) सदा सावधान, जागृत, रहो अथवा सूर्य के समान कभी आलस्य न करने हारे विद्वानों आप सदा जागृत रहो । (इमं) इस राष्ट्रपति को (सनाभिः) कोई इसका सगोत्र सम्बन्धी पुरुष या सहोदर भाई (उत) और (अन्यनाभिः) अन्य वंश का पुरुष इसे मारने के लिये (मा प्रापत्) इस तक न पहुंच सके । और (यः) जो (पौरुषेयः) पुरुषों द्वारा किया गया (वधः) आघातकारी आक्रमण हो वह भी (इमं मा प्रापत्) इस तक न पहुंचे ।

अध्यात्मपक्ष में—वाहवः=प्राणाः, आदित्याः=प्राणाः ।

ये वो देवाः पितरो ये च पुत्राः सचेतसो मे शृणुतेदमुक्तम् ।
सर्वेभ्यो वः परि ददाम्येतं स्वस्त्ये/नं जरसे वहाथ ॥ २ ॥

भा०—हे (देवाः) विद्वान् राष्ट्रवासिगणो ! आप लोग (सचेतसः) एकचित्त होकर, सावधान होकर (ये) मुझ राष्ट्र पुरोहित का या सभापति का (इदम्) यह (उक्तं) वचन (शृणुत) सुनो कि (ये) जो (वः) आप लोगों के (पितरः) जीवन के परिपालक, मां बाप और वृद्ध गुरु, आचार्य लोग हैं (ये च पुत्राः) और जो पुत्र आपको संकटों से रक्षा करने हारे हैं मैं (वः सर्वेभ्यः) आप सबके (स्वस्ति) हित के लिये (एतं) इस राष्ट्रपति को (परिददामि) सबके ऊपर अधिष्ठातृ रूप से राष्ट्रसेवा के कार्य में समर्पित करता हूं । आप लोग भी (जरसे) वृद्ध अवस्था तक उत्तम प्रकार से (एतं वहथ) आदरपूर्वक इसका शासन धारण करो ।

२-(च०) 'नयाथ' इति पैप्प० सं० ।

ये देवा दिवि ष्ठ ये पृथिव्यां ये अन्तरिक्ष ओषधीषु पशुष्वप्स्वन्तः ।
ते कृणुत जरसमायुरस्मै शतमन्यान् परि वृणक्तु मृत्यून् ॥ ३ ॥

भा०—हे (देवाः) प्रकाशमान्, ज्ञानवान् और क्रियावान् दिव्य पदार्थों और पुरुषो ! आपमें से (ये) जो (दिवि) ज्ञानमय अवस्था, द्यौलोक और सात्विक उन्नत दशा में (ष्ठ) हो और (ये) जो (पृथिव्यां) पृथिवी में हो और जो (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष में विमान आदि चलाने हारे हो (ओषधीषु) और जो ओषधि वनस्पतियों में उनको उचित रूप से संग्रह और प्रयोग करने में लगे हो और (पशुषु) जो वन्य जीवों एवं पशुओं के पालन, वृद्धि और सदुपयोग में लगे हो और (अप्सु अन्तः) जो जलों के भीतर समुद्रादिक में मुक्ता आदि संग्रह और व्यापार में या कार्यों में लगे हो (ते) वे सब मिलकर (अस्मै) इस राष्ट्रपति के (जरसं) वार्धक्य काल तक (आयुः) जीवन की रक्षा (कृणुत) करें और वे (अन्यान्) और भी (शतं) सैकड़ों (मृत्यून्) मृत्युओं को (परि वृणक्तु) दूर करें ।

सूर्य चन्द्र आदि द्यौलोक में, जल नदी आदि पृथिवी पर और वायु विद्युत् आदि अन्तरिक्ष में दिव्य पदार्थ हैं ओषधियों में रसायन द्रव्य सोम आदि, पशुओं में गौ आदि, जलों में दिव्य जल आदि इनसे पुरुष की आयु रक्षा और कष्टों को दूर करने का भी उपदेश है ।

येषां प्रयाजा उत वानुयाजा हुतभागा अहुतादश्च देवाः ।
येषां वः पञ्च प्रदिशो विभक्तास्तान् वो अस्मै सत्रसदः कृणोमि ॥४॥

३–(द्वि०) 'येऽन्तरिक्ष ओषधीष्वप्स्वन्तः' इति ह्विटनिकामितः पाठः । (द्वि०) 'ये अन्तरिक्ष ओषधीषु पशुष्वप्सु' इति पैप्प० सं० । 'परिवृणक्त मृत्युन्' इति सायणाभिमतः पाठः ।

४–(च०) 'तान् नोऽस्मै सत्रसभः कृणोमि' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(येगाः) आप लोगों में से जिनके (प्रयाजाः) उत्कृष्ट मोक्षप्राप्ति के निमित्त निष्काम यज्ञ हैं (उत वा) और जिनके (अनुयाजाः) आशानुरूप कर्मफल प्राप्त करने के निनित्त सकाम कर्म हैं और जो (हुतभागाः) आहुति रूप में अग्नि में डाले गये पदार्थों को अपने भीतर ग्रहण करने वाले हैं और जो (अहुतादः) आहुति न दिये गये-केवल भिक्षामात्र से प्राप्त अन्न का भोग करने वाले (देवाः) विद्वान्‌गण हैं (वः) आप लोगों में से (येषां) जिनके (पञ्च) पांच (प्रदिशः) दिशाएं (विभक्ताः) विभक्त हैं (तान्) उन (वः) आप लोगों को मैं (अस्मै) इस राष्ट्रपति के यज्ञ में (सत्रसदः) सत्रसद् या सभासद् (कृणोमि) बनाता हूं।

[३१] जीवन की सफलता का मार्ग।

ब्रह्मा ऋषिः। आशापालाः वास्तोष्पतयश्च देवताः। १, २ अनुष्टुभौ। ३ विराट् त्रिष्टुप्। ४ परानुष्टुप् त्रिष्टुप्। चतुर्ऋचं सूक्तम्॥

आशा॑नामाशापा॒लेभ्य॑श्च॒तुर्भ्यो॑ अ॒मृते॑भ्यः।
इ॒दं भू॒तस्याध्य॑क्षेभ्यो वि॒धेम॑ ह॒विषा॑ व॒यम्॥ १॥

भा०—(आशानां) शुभ इच्छाओं या प्रजाओं के (चतुर्भ्यः) चार सब की कामनाओं को पूर्ण करने वाले (अमृतेभ्यः) परम प्राप्तव्य पुरुषार्थों धर्म अर्थ काम और मोक्ष इनके देने वाले नित्य अमृत (आशापालेभ्यः) आशापालों के लिये और (भूतस्य) इस उत्पन्न संसार के (अध्यक्षेभ्यः) साक्षात् करने वाले चार अध्यक्षरूप वेदों के लिये (इदं) यह इस प्रकार (हविषा) ज्ञान और स्वाध्याय द्वारा (वयम्) हम (विधेम) यज्ञादि अनुष्ठान करें।

[३१] १–(प्र०) "आशानां त्वा आशापालेभ्यः" इति तै० ब्रा०।

य आशा॑नामाशापा॒लाश्च॒त्वार॒ स्थन॑ दे॒वाः ।
ते नो॒ निर्ऋ॑त्याः पाशे॑भ्यो मु॒ञ्चतांह॑सो अंह॑सः ॥ २ ॥

भा०—(ये) जो (आशानां) आशाओं, प्रजाओं के (आशापालाः) — उत्तम शुभ कामनाओं को पूर्ण करते हैं वे आप (चत्वारः) चार हो (देवाः) देव (स्थन) हैं। (ते) वे आप (नः) हमें (निर्ऋत्याः) दुःखदायिनी पापप्रवृत्ति के (पाशेभ्यः) फंदों से और (अंहसः) पाप के (अंहसः) परिणाम भूत पाप के पाशों से भी (मुञ्चत) छुड़ावें। ये चार देव भी चार वेद ही हैं।

अस्रा॑मस्त्वा ह॒विषा॑ यजा॒म्यश्लो॑णस्त्वा घृ॒तेन॑ जुहोमि ।
य आशा॑नामाशापा॒लस्तु॒रीयो॑ दे॒वः स नः॑ सुभू॒तमेह व॑क्षत् ॥३॥

भा०—(यः) जो (आशानां) कर्मफल भोगने हारी जीव प्रजाओं की (आशापालः) आशाओं का पालन करने हारा (तुरीयः देवः) चौथा देव ‘ ब्रह्मवेद ’ है (सः) वह (नः) हमें (सुभूतम्) उत्तम ज्ञान को (इह) इस जन्म में ही (वक्षत्) प्राप्त करादे। हे देव ! (अस्रामः) अखिन्नचित्त होकर मैं (त्वा) तुझको (हविषा) उत्तम ज्ञान द्वारा (यजामि) उपासना करता हूं और (अश्लोणः) व्याधिरहित, अनालस होकर (त्वा) तुझको (घृतेन) प्रकाशमान ज्ञान से (जुहोमि) तेरा अभ्यास करता हूं।

स्व॒स्ति मा॒त्र उ॒त पि॒त्रे नो॑ अस्तु स्व॒स्ति गोभ्यो॒ जग॑ते॒ पुरु॑षेभ्यः ।
विश्वं॑ सु॒भूतं॑ सु॒वि॒दत्रं॑ नो अस्तु॒ ज्योगे॒व दृ॑शेम॒ सूर्य॑म् ॥ ४ ॥

२–(द्वि०) ‘चत्वारः स्तन देवा’ इति सायणाभिमतः पाठः ।

३–(प्र० द्वि०) ‘ अश्रोणस्ते ’, ‘ हविषा विधेममश्रामस्ते घृतेन जुहोमि ’, (तृ०) ‘ तुर्यः ’ इति पैप्प० सं० ।

४–‘गोभ्य उत पूरुषेभ्यः,’ ‘ज्योगेव दृशेव सूर्यम्’ इति पैप्प० सं० ।

भा०—(नः) हमारी (मात्रे) माता को (स्वस्ति) सुख हो, (उत) और (पित्रे) पिता को सुख हो, (गोभ्यः) गौओं और (जगते) जगत् के हितकारी (पुरुषेभ्यः) पुरुषों सब जीवों के लिये (स्वस्ति) सुख और शान्ति प्राप्त हो। (विश्वं) समस्त संसार या उक्त सब मिलकर (नः) हमारे लिये (सुभूतं) सुखयुक्त उत्तम पदार्थों से सम्पन्न (सुविदत्रं) उत्तम ज्ञानों से सम्पन्न हो और हम (ज्योक् एव) चिर काल तक अपनी चक्षुओं से (सूर्यं) सूर्य और ज्ञान के प्रकाशक परमेश्वर का (दृशेम) दर्शन करें।

[३२] ब्रह्म का विवेचन।

ब्रह्माऋषिः। द्यावापृथिवी देवते। ब्रह्मसूक्तम्। १, ३, ४ अनुष्टुप् छन्दः, २ ककुम्मती। चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

इदं जनासो विदथं महद् ब्रह्म वदिष्यति।
न तत् पृथिव्यां नो दिवि येन प्राणन्ति वीरुधः ॥१॥

भा०—हे (जनासः) उत्पन्न होने वाले जीवो ! आप लोग (इदं) इस समस्त संसार के मूलकारण का (विदथ) ज्ञान करो। इसके (महत्) पूर्ण ज्ञान को (ब्रह्म) वेद ही (वदिष्यति) वर्णन करेगा। (तत्) वह मूलकारण (पृथिव्यां) पृथिवी=भूलोक में भी (न) नहीं है, (दिवि) सूर्यलोक और सूर्य के समान अन्य प्रकाशमय लोक में भी वह (नो) नहीं है। वह, वह पदार्थ है (येन) जिससे (वीरुधः) विविध प्रकार से उत्पन्न होने हारे, लता वनस्पति सस्य आदि के समान ये समस्त जीव (प्राणन्ति) प्राण धारण करते हैं।

[३२] १–' विदथं ' इति पैप्प० सं०।

अ॒न्तरि॑क्ष आसां॒ स्थाम॑ श्रान्त॒सदा॑मिव ।
आ॒स्थान॑म॒स्य भू॒तस्य॑ वि॒दुष्टद् वे॒धसो॒ न वा॑ ॥ २ ॥

भा०—(श्रान्तसदाम् इव) जीवन मरण के चक्र से थककर विश्राम लेने वाले मानो (आसां) इन जीवरूप चेतन शक्तियों का (स्थाम) स्थिति प्राप्त करने का आराम करने का, विश्राम स्थान (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष में है। (अस्य) इस (भूतस्य) उत्पन्न हुए समस्त संसार के (स्थानम्) आश्रयभूत परमशक्ति के (तत्) उस स्वरूप को (वेधसः) ये विद्वान या सृष्टि के रचना करने हारे पञ्चतत्व भी (न वा विदुः) कदाचित् नहीं जानते हैं।

यद् रोद॑सी॒ रेज॑माने॒ भूमि॑श्च नि॒रत॑क्षतम् ।
आ॒र्द्रं तद॒द्य स॑र्व॒दा स॑मु॒द्रस्ये॑व स्रो॒त्याः ॥ ३ ॥

भा०—(समुद्रस्य) समुद्र की ओर जाने वाली (स्रोत्याः, इव) महानदियों के समान (तत्) वह, समस्त संसार का मूलकारण रूप (अद्य) आज के समान (सर्वदा) सब कालों में सदा (आर्द्रं) भरा पूरा रहता है (यत्) जिसमें से (रेजमाने) सदा गतिशील, हे (रोदसी) द्यौलोक और (भूमिश्च) भूमि आप दोनों (निरतक्षतम्) अपनी सत्ता या चेतना का अनन्त भण्डार प्राप्त करती हो।

२–(प्र०) 'अन्तिरिक्षंस्थाम', (च०) विदुष्कुर [ष्ट] शतोदनः [वेधसो नवा] इति पैप्प० सं०। 'आसां स्थाम स्थाम श्रान्त' इति वेवरकामितः पाठः।

३–(द्वि०) 'नरचक्षतम्' (प्र०) 'यद्रोधसी' (च०) 'विदुरस्येव व्रतसि' [?] इति पैप्प० सं०। (द्वि०) 'भूमेश्च' इति ह्विटनिकामितः पाठः।

विश्वमन्यामभिवारं तदन्यस्यामधिश्रितम् ।
दिवे च विश्ववेदसे पृथिव्यै चाकरं नमः ॥ ४ ॥

भा०—(विश्वं) समस्त विश्व को (अभि वारं) सब ओर से आच्छादन करने वाली (अन्यां) उससे अतिरिक्त कए प्रकृति को हम लोग जानते हैं । (तत्) और वह अतिरिक्त सत्ता, भी (अन्यस्या) इससे भी अतिरिक्त ब्रह्मशक्तिमें (अधिश्रितम्) आश्रित हैं । हम (विश्ववेदसे) उस समस्त पदार्थों या ब्रह्माण्ड का ज्ञान कराने हारे (दिवे च) द्यौः प्रकाशमान, (च) और (पृथिव्यै) पृथिवी, सर्वाश्रय को भी (नमः) नमस्कार (अकरम्) करता हूं ।

[३३] मूल कारण 'आपः' और आप्तजनों का वर्णन ।

'सर्वकारणमाप' इति ज्ञानवान् शंतातिर्ऋषिः । चन्द्रमा उत आपो देवताः । त्रिष्टुप् छन्दः । चतुर्ऋचं सूक्तम् ।

हिरण्यवर्णाः शुचयः पावका यासु जातः सविता यास्वग्निः ।
या अग्निं गर्भं दधिरे सुवर्णास्ता न आपः शं स्योना भवन्तु ॥१॥

पूर्वार्धः ऋ० ७ । ३४९ । ३ ।

भा०—(यासु) जिनमें (सविता) सब का प्रेरक परमात्मा (जातः)

४–(प्र० द्वि० तृ०) विश्वमन्याऽभिवार विश्वमन्यास्यामधिश्रितं । दिवे च विश्वविधसे इति पैप्प० सं० । (प्र०) 'अभिवारस्तद्' इति सायणाभिमतः पाठः । 'विश्वमन्याऽभिवावृवे' इति आप० । अभिऽइवऽआर=अभिवाऽऽर' इति वेबर कामितः पदच्छेदः (तृ०) 'अभिवार' इति पदपाठः ।

३३] १–(द्वि०) 'यासु जातः कश्यपो यास्विन्द्रः ।' इति पैप्प० सं०, तै० सं० । दधिरे विरूपास्ताः, इति तै० सं० ।

चित् रूप से, जीवनशक्ति द्वारा, समस्त जीव संसार को उत्पन्न करने में समर्थ हुआ और (यासु) जिनमें (अग्निः) अग्नि विद्युत् या उसके समान ज्ञानी, नेता राजा है, (याः) जो 'आपः' आप्तजन (अग्निं) अग्नि तुल्य राजा को अपने (गर्भं) भीतर, गर्भ में ही (दधिरे) धारण करते हैं (ताः) वे (सुवर्णाः) उत्तम रूप वाली, वरण करने योग्य (हिरण्यवर्णाः) हितकारी और रमणीय, हृदय को प्रिय और (शुचयः) शुद्ध, कान्तिमय (पावकाः) अग्नि के समान स्वयं मलशोधक, पवित्र (आपः) 'आपः' आप्तजन (नः) हमें (शं) कल्याणकारी (स्योनाः) सुखकारी (भवन्तु) हों।

यासां राजा वरुणो याति मध्ये सत्यानृते अवपश्यञ्जनानाम्।
या अग्नि० ॥ २ ॥

भा०—(यासां) जिनके (मध्ये) बीचमें (राजा) सबका अनुरंजन करने वाला या प्रकाशमान (वरुणः) सबसे श्रेष्ठ राजा के समान वरण करने योग्य, प्रभु (जनानां) समस्त प्राणियों के (सत्यानृते) सत्य और असत्य, पारमार्थिक और व्यावहारिक कर्मों को (अव पश्यत्) देखता है और (याः) जो (सुवर्णाः) उत्तम वर्ण वाले (आपः) 'आपः' आप्तजन (गर्भं) अपने को ग्रहण करने में समर्थ (अग्निं) अग्नि को (दधिरे) धारण करते हैं (ताः—आपः) वे आप्तजन (नः) हमें (शं, स्योनाः) कल्याणकारी और सुखकारी (भवन्तु) हों।

यासां देवा दिवि कृण्वन्ति भक्षं या अन्तरिक्षे बहुधा भवन्ति।
या अग्निं गर्भं दधिरे सुवर्णास्ता न आपः शं स्योना भवन्तु ॥३॥

भा०—(यासां) जिनका (भक्षं) भोग खाद्य (देवाः) वायु, मेघ, सूर्य, रश्मि आदि दिव्य पदार्थ (दिवि) अपने प्रकाशमय सामर्थ्य में (कृण्वन्ति)

२—(द्वि०) 'अवपश्यत् जनानाम्' इति सन्धिरहितः पाठः ((श० पा०)
३—'याः पृथिवीं पयसोन्दुन्ति शुक्राः' इति तै० सं०।

उत्पन्न करते हैं (याः) जो (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष में (बहुधा) बहुत से रूपों में (भवन्ति) प्रकट होती हैं (याः सुवर्णाः, अग्नि गर्भं दधिरे) जो उत्तम वर्ण=सामर्थ्य से युक्त (आपः) अपने ग्रहणकारी सामर्थ्यवान्, अग्नि तेज को भीतर धारण करती है (ताः आपः नः शं स्योनाः भवन्तु) वे 'आपः' हमें कल्याण और सुखकारी हों। अन्तरिक्ष=राष्ट्र, भक्ष=कर।

शिवेन मा चक्षुषा पश्यतापः शिवया तन्वोप स्पृशत त्वचं मे।
घृतश्चुतः शुचयो याः पावकास्ता न आपः शं स्योना भवन्तु ॥४॥

भा०—हे (आपः) 'आपः' प्राप्त करने योग्य आप्तजन! (मा) मुझको आप लोग (शिवेन) सुख, कल्याण, युक्त (चक्षुषा) चक्षु से (पश्यत) देखो! और (शिवया) कल्याणकारी (तन्वा) स्वरूप से (मे) मेरी (त्वचं) त्वचा को (उपस्पृशत) स्पर्श करो। (याः) जो आप (शुचयः) कान्तिमय, शुद्ध (घृतश्चुतः) कान्ति, तेज को देने वाले और स्नेह के देने वाले (पावकाः) पवित्रकारी हैं (ताः, आपः) 'आपः' वे आप्तजन (नः) हमें (शं स्योनाः) कल्याण और सुख कारक (भवन्तु) हों।

---

[३४] मधुलता के दृष्टान्त से ब्रह्म विद्या और मातृशक्ति का वर्णन।

अथर्वा ऋषिः। मधुवनस्पतिर्देवता। मधुवनस्पतिस्तुतिः। अनुष्टुप् छन्दः।
पञ्चर्चं मधुवत्मणिसूक्तम्।

इयं वीरुन्मधुजाता मधुना त्वा खनामसि।
मधोरधि प्रजातासि सा नो मधुमतस्कृधि ॥ १ ॥

४—(तृ०) 'घृतश्चतः' [?] इति पैप्प० सं०। शिवेनत्वा चक्षुषा पश्यन्त्वापः' इति आप० म० प०।

भा०—(इयं) यह (वीरुत्) विशेष रूप से निरन्तर बढ़ने वाली या प्रकट होने वाली, ब्रह्मविद्या या लता के समान वीर्य को जन्म देने हारी (मधुजाता) मधु=अमृतमय ब्रह्म से उत्पन्न हुई या प्रेम से प्राप्त हुई है। अतः हे ब्रह्मविद्ये या प्रिये प्रेयसि ! (त्वा) तुझको (मधुना) अमृत रूप जीव द्वारा या प्रेम द्वारा (खनामसि) श्रम से खोद कर प्राप्त करते हैं। क्योंकि तू (मधोः) मधुरूप परमात्मा से या स्नेह से (अधि प्रजातासि) साक्षात् उत्पन्न हुई है अतः वह तू (नः) हमें (मधुमतः) आत्मज्ञान से स्नेह से युक्त, (कृधि) करदे। लतापक्ष में—'मधुलता' को हम मधुररस के निमित्त खोदते हैं। मधुररस से ही वह विशेष उत्तम गुणकारी भी होती है, वह हमें सुखयुक्त करे।

जिह्वाया अग्रे मधु मे जिह्वामूले मधूलकम्।
ममेदह क्रतावसो मम चित्तमुपायसि ॥ २ ॥

भा०—हे लतास्वरूप ब्रह्मविद्ये या वीजजन्मदात्रि प्रिये ! (जिह्वायाः) जिह्वा के (अग्रे) अग्रभाग में (मधु) ब्रह्मज्ञान रहे और (जिह्वामूले) जिह्वा के मूलभाग मानस में भी (मधूलकम्) अति अधिक मधुर मनोहर ज्ञानामय संग्रह हो। हे ब्रह्म विद्ये ! (मम) मेरे (क्रतौ) क्रियावान् कर्ता रूप आत्मा में (इत् अह) अवश्य ही (असः) तू विद्यमान रह। और (मम) मेरे (चित्तम्) चित्त में भी (उपायसि) व्याप्त रह। लता पक्ष में मधुलता मन, शरीर में पुष्टि, आरोग्यता और स्वरमाधुर्य और मानस बल का सम्पादन करे। स्त्रीपक्ष में मधु=स्नेह।

[३४] २–'जिह्वायाग्रे मे मधु', (तृ० च०) यथामां कामिन्यसो यंवाचामामन्वायरि इति पैप्प सं०।

मधु॑मन्मे नि॒क्रम॑णं॒ मधु॑मन्मे प॒राय॑णम् ।
वा॒चा व॑दामि॒ मधु॑मद् भूयासं॒ मधु॑सन्दृशः ॥ ३ ॥

पूर्वार्धः, ऋ० १० । २४ । ६ ॥

भा०—(मे) मेरा (निक्रमणं) कार्यों में प्रवृत्त होना या जाना (मधुमत्) मधु के समान मधुर, सुखकर हो । (मे परायणम्) मेरा कार्यों के समाप्ति तक पहुंचना या पुनः आना भी (मधुमत्) सुखकारी हो । (वाचा) वाणी से (मधुमत्) मधु के समान मनोहर, प्रेमयुक्त वचन (वदामि) बोलूं । और मैं सब प्रकार से (मधुसंदृशः) मधु के समान ही देखने और दीखने हारा (भूयासं) होजाऊं अथवा मधुर दृष्टि वाला होऊं ।

मधो॑रस्मि॒ मधु॑तरो म॒दुघा॒न्मधु॑मत्तरः ।
मामित्कि॑ल॒ त्वं व॒नाः शाखां॒ मधु॑मतीमिव ॥ ४ ॥

भा०—हे जनो ! मैं (मधोः) मधु से भी (मधुतरः) अधिक प्रिय, चित्तहारी (अस्मि) हूं (मद्युदुघात्) ज्ञानरूप मधु के संचय करने हारे विद्वान् से भी (मधुमत्तरः) अधिक ज्ञान-मधु का संग्रह करने वाला हूं । हे पुरुष ! जिस प्रकार (मधुमतीं) मधु से युक्त (शाखां) शाखा या लता को रस का इच्छुक प्राणी सेवन करता है उस प्रकार (मामित्) मुझको

३–'विद्यानि' इति ह्विटनिकामितः पाठः । 'मधुमन्मे परायणं मधुमत्पुनरायणम् । तानो देवा देवता पुनरावहतादिति ' इति ऋ० । (तृ० च०) 'वाचा मधुमद् उभ्यामभक्षो मे मधुसंदृशि ।' इति पैप्प० सं० ।

४–(प्र० द्वि०) मधोरहं मधुतरो मधुमान् मधुमत्तरः' इति पैप्प० सं० । मधुवादिति क्वाचित्कः पाठः ।

ही (किल) निश्चय से (त्वं) तू (वनाः) सेवन कर । गृहपक्ष में पति का स्त्री के प्रति वचन है । मधु=स्नेह ।

परिं त्वा परितत्नुनेक्षुणागामविद्विषे ।
यथा मां कामिन्यसो यथा मन्नापंगा असंः ॥ ५ ॥

भा०—हे प्रिये ! पत्नि ! (त्वा) तुझको (परितत्नुना) सब ओर फैलते हुए, विस्तृत (इक्षुणा) गन्ने के समान मधुर या ईक्षण=दर्शन करने वाले नयन, या इच्छाशील चित्त से तेरे सहयोग में मैं (अविद्विषे) तुझसे कभी द्वेष न करने एवं सदा प्रेम व्यवहार करने के लिये ही (परि आगाम्) सब प्रकार से प्राप्त होता हूं और ऐसा व्यवहार करूं कि (यथा) जिस प्रकार तू (मां) मुझको (कामिनी) कामना करने हारी (असः) हो और (यथा) जिस प्रकार तू (मत्) मुझसे (अपगा) दूर, पृथक् (न असः) न हो ।

[३५] दीर्घ जीवन का उपाय ।

आयुष्कामोऽथर्वा ऋषिः । हिरण्यं देवता । १–३ अनुष्टुभः । ४ अनुष्टुब्गर्भा चतुष्पदा त्रिष्टुप् । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

यदाबंध्नन् दाक्षायणा हिरंण्यं शतानींकाय सुमनस्यमांनाः ।
तत्ते बध्नाम्यायुषे वर्चसे बलाय दीर्घायुत्वायं शतशारदाय ॥१॥

यजु० ३४ । ५२ ॥

५–(द्वि०, तृ०) 'यक्षुणा: कामविद्विपे । यथा न विद्वावद्वि न विभाव कदाचन [?]' इति पैप्प० सं० ।

[३५] १–'तन्म आवध्नामि शत शारदायायुष्मान् जरदष्टिर्यथासम्' इति यजु० ।

भा०—ब्रह्मचर्यसाधना का उपदेश करते हैं । (दाक्षायणाः) दक्ष रूप आत्मा के आश्रय पर रहने वाले योगी लोग (सुमनस्यमानाः) शुभ संकल्प वाले होकर (शतानीकाय) सैकड़ों अनीक, बल, सामर्थ्यों और आयु के शत वर्षों तक जीने हारे देह के लिये (हिरण्यं) हितकारी और अति रमणीय (यत्) जिस वीर्य को (आ बध्नन्) विषयों में नष्ट होने से रोक कर उसकी रक्षा करते हैं (तत्) उसको मैं आचार्य (ते) तुझ शिष्य के (आयुषे) आयु, (वर्चसे) तेज, (बलाय) बल और (शतशारदाय) सौ वर्षों तक के लम्बे (दीर्घायुत्वाय) दीर्घ जीवन के लिये (बध्नामि) अपने अधीन व्रत रूप में नियत या व्यवस्थित करता हूं ।

नैनं रक्षांसि न पिशाचाः सहन्ते देवानामोजः प्रथमजं ह्येतत् ।
यो बिभर्ति दाक्षायणं हिरण्यं स जीवेषु कृणुते दीर्घमायुः ॥२॥

यजु० ३४ । ५१ ॥

भा०—(एनं) वीर्य की रक्षा करने हारे ब्रह्मचारी को (रक्षांसि) विघ्नकारी दुष्टभाव और ज्वरादि पीड़ाएं और (पिशाचाः) मांसभोजी पुरुष और दुर्बल करने हारे रोग कभी (न) नहीं (सहन्ते) दबाते, क्योंकि (एतत्) यह वीर्यरूप सुवर्ण, कान्तिकारी मूल पदार्थ (देवानां) समस्त इन्द्रियों में और विद्वानों में (प्रथमजं) सबसे पूर्व और श्रेष्ठ (ओजः) ओज, तेज रूप है । (यः) जो ऊर्ध्वरेता पुरुष (दाक्षायणं) मुख्य प्राण में आश्रित इस (हिरण्यं) हितकारी, रमणीय, पदार्थ शुक्र को (बिभर्ति) यत्न पूर्वक धारण, रक्षा करता है (सः) वह (जीवेषु) जीवों में (आयुः)

२—न तद्रक्षांसि न पिशाचास्तरन्ति, देवानामोजः प्रथमं ह्येतत् । यो बिभर्ति दाक्षायणं हिरण्यं स देवेषु कृणुतेदीर्घमायुः । समनुष्येषु कृणुते दीर्घमायुः ।' इति याजुषोमन्त्रपाठः ।

अपने आयु, जीवन काल को (दीर्घं) बहुत लम्बा, अधिक (कृणुते) करलेता है ।

" ओजो हि शरीरधारको बलहेतुरष्टमो धातुविशेषः । "

अपां तेजो ज्योतिरोजो बलं च वनस्पतीनामुत वीर्याणि ।
इन्द्र इवेन्द्रियाण्यधि धारयामो अस्मिन् तद् दक्षमाणो विभ्रद्धिरण्यम् ॥ ३ ॥

भा०—(इन्द्रः) इन्द्र आत्मा (इन्द्रियाणि इव) जिस प्रकार इन्द्रियों को बल धारण कराता है उसी प्रकार (अपां) जलों का (तेजः) निर्मलता आदि सामर्थ्य (ज्योतिः) कान्ति, (ओजः) ओज (बलं) बल (च) और (वनस्पतीनाम्) वनस्पतियों या प्राणों के (उत) भी (वीर्याणि) रसादि सामर्थ्यों को हम (अस्मिन्) इस ब्रह्मचारी में (धारयामः) धारण कराते हैं। यह ब्रह्मचारी (दक्षमाणः) बल और शौर्य में बराबर वृद्धि करता हुआ (तत्) उस परम (हिरण्यं) वीर्य को (विभरत्) धारण करे ।

समानां मासामृतुभिष्ट्वा वयं संवत्सरस्य पयसा पिपर्मि ।
इन्द्राग्नी विश्वे देवास्तेऽनु मन्यन्तामहृणीयमानाः ॥ ४ ॥

भा०—(वयं) हम आचार्यगण (त्वा) तुझ ब्रह्मचारी को (समानां) बहुत वर्षों और (मासानां) मासों और (संवत्सरस्य) पूर्ण वर्ष के (पयसा) पयस्=पुष्टिकारक सारभूत सामर्थ्य से और (ऋतुभिः) नाना ऋतुओं के बल से (पिपर्मि) तपद्वारा पूर्ण करते हैं । (इन्द्राग्नी) इन्द्र परमेश्वर और अग्नि तुम्हारा मुख्य आचार्य दोनों और (विश्वेदेवाः) समस्त उपस्थित विद्वान्

३–' इन्द्र इवाधिधारयामो ' इति व्यङ्गः पाठः ह्विटनिकामितः ।

४–' ऋतुभिस्त्वाऽहम् संव० ' इति ह्विटनिकामितः पाठः ।

पुरुष (अहृणीयमानाः) संकोच रहित होकर (ते) तुझे इस उत्तम कार्य के निमित्त (अनुमन्यन्ताम्) अनुमति दें ।

इति षष्ठोऽनुवाकः ।

[तत्र सूक्तानि सप्त, ऋचश्चैकत्रिंशत्]

प्रथमं काण्डं समाप्तम् ।

[पञ्चत्रिंशच्च सूक्तानि त्रिपञ्चाशत् शतं ऋचः]

रामवस्वङ्कचन्द्रेऽब्दे माघे मासि बुधे दिने ।
दर्शेत्वथर्वणः काण्डं प्रथमं पूर्तिमभ्यगात् ॥

इति प्रतिष्ठितविद्यालंकारमीमांसातीर्थविरुदोपशोभितश्रीमज्जयदेवशर्मणा विरचिते अथर्वणो ब्रह्मवेदस्यालोकभाष्ये प्रथमं काण्डं समाप्तम् ।

ओ३म्

अथ द्वितीयं काण्डम्

[१] परमात्मदर्शन ।

ब्रह्म, वेनश्च ऋषिः । ब्रह्मात्मा देवता । १, २, ४ त्रिष्टुभः । ३, जगती ।
चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

वेनस्तत् पश्यत् परमं गुहा यद् यत्र विश्वं भवत्येकरूपम् ।
इदं पृश्निरदुहज्जायमानाः स्वर्विदो अभ्यनूषत व्राः ॥ १ ॥

यजु० ३२ । ८ ॥

भा०—(यत्) जो (गुहा) गुहा में, हृदय में और समस्त ब्रह्माण्ड रूप गुहा में व्यापक (परमं) सर्वोत्कृष्ट (तत्) उस परमेश्वर के रूप को (वेनः) ज्ञान ज्योतिर्मय विद्वान्, योगी (पश्यत्) साक्षात् करता है (यत्र) जिसमें (विश्वं) समस्त संसार (एकरूपम्) एकरूप, प्रलय काल में एकाकार (भवति) होजाता है, (पृश्निः) जिस प्रकार सूर्य इस लोक का रस आदान कर लेता है उसी प्रकार (पृश्निः) आनन्द-रस को स्पर्श करने हारा आदित्य योगी (इदं) इस समस्त जगत् के विज्ञान को (अदुहत्) रस रूप में प्राप्त कर लेता है । और (जायमानाः) उत्पन्न होते हुए सिद्ध, (व्राः) उसको ध्येय रूप से वरण करने वाले मुक्त जीवगण भी

[१] १–'वेनस्तत्पश्यन् निहितं गुहा सद् यत्र विश्वं भवत्येकनीडम् । तस्मिन्निन्द्रं संच विचैति सर्वं स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु इति यजु० । तत्र स्वयंभु ब्रह्म-ऋषिः । परमात्मा देवता । (प्र०) 'वेनस्तत् पश्यन् परंपदम्' (द्वि०) भवत्येक नडम्' (तृ०) 'इदं धेनुरदुहद्' (च०) स्वर्विदोऽभ्यनुक्तिविराट् इति पैप्प० सं० ।

(स्वर्विदः) प्रकाशस्वरूप उस मोक्षसुख को जान कर या प्राप्त करके उसी ब्रह्म को (अभि अनूषत) साक्षात् स्तुति करते हैं ।

प्र तद् वोचेदमृतस्य विद्वान् गन्धर्वो धाम परमं गुहा यत् ।
त्रीणि पदानि निहिता गुहास्य यस्तानि वेद स पितुष्पितासत् ॥२॥

यजुः ३२ । ९ ॥

भा०—(अमृतस्य) उस अमृतस्वरूप ब्रह्म को (विद्वान्) जानने हारा (गन्धर्वः) रश्मियों को धारण करने हारे सूर्य के समान वेद-वाणियों का धारण करने हारा, वेदज्ञ, आदित्ययोगी, ज्ञान का सूर्य है। वह (तत्) उस परब्रह्म का (प्रवोचेत्) उत्तम रूप से उपदेश करे । (यत्) जो (गुहा) हृदय गुफा या ब्रह्माण्ड गुफा या प्रकृति शक्ति में (परमं) सब से श्रेष्ठ (धाम) धारणशील तेजःस्वरूप है । (अस्य) इस परमेश्वर के (त्रीणि पदानि) तीन स्वरूप, तीन चरण, (गुहा) हृदय गुफा या प्रकृति में (निहिता) व्यक्त रूप से रखे हैं। तीन पाद जैसे—जगत् के सर्ग, स्थिति, प्रलय या तीन वेद या तीन काल या विज्ञानघन, आनन्द, सत्यसंकल्पादि या सत्, चित्, आनन्दरूप या परब्रह्म, अन्तर्यामि और अव्याकृत विज्ञानात्मरूप अथवा विराड्, हिरण्यगर्भ और ईश्वर ये तीन या प्रणव के तीन अवयव अ, उ, म् । और इन से गम्यमान विश्व, तैजस, प्राज्ञ और समष्टि रूप से विराट् आदि तीन रूप हैं। (यः) जो परम विद्वान् पुरुष (तानि) उक्त ब्रह्म के तीन लक्षणों को और उसके चतुर्थ अमात्र रूपको भी (वेद) जानता है (सः) वह (पितुः) पिता का भी (पिता)

२—(प्र०) 'प्रतद्वोचेदमृतंनुविद्वान्' (द्वि०) 'परमं गुहासत्' इति यजु० । (प्र०) पृथवग्वोचेदमृतमस्य (तृ०) त्रीणिपदा निहता गुहासु, (च०) यस्तद्वेदसवितुः पितासत् इति पैप्प० सं० ।

पिता (असत्) है। अर्थात् ज्ञानी को आदर से उसके मूर्ख पिता भी अपने पिता के समान जानते हैं। जैसा मनु में—

"अध्यापयामास पितॄन् शिशुराङ्गिरसः कविः ।
पुत्रका इति होवाच ज्ञानेन परिगृह्यतान् ॥
ते तमर्थमपृच्छन्त देवानागतमन्यवः ।
देवाश्चैतान् समेत्योचुर्न्याय्यं वः शिशुरुक्तवान् ॥

आङ्गिरस ने अपने पिताओं को ज्ञान के बल से सावित्री के गर्भ में लेकर पढ़ाया और उनको 'पुत्रो' ऐसा पुकारा। वे क्रुद्ध होकर देवों से पूछने गये और देवों ने बालक के सम्बोधन को ही उचित कहा। (मनु० २ । १५१, १५२)

स नः पिता जनिता स उत बन्धुर्धामानि वेद भुवनानि विश्वा ।
यो देवानां नामध एक एव तं संप्रश्नं भुवना यन्ति सर्वा ॥३॥

ऋ० १० । ८२ । ३ । यजु० ३२ । १० ॥

भा०—(सः) वह परमात्मा (नः) हमारा (पिता) पालक (जनिता) और उत्पादक है (स उत) और वह ही हमारा (बन्धुः) सबको प्रेम में बांधने वाला, सहायक है, जो (विश्वा) समस्त (धामानि)

३—सनो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा । यत्र देवाः अमृतमानशानास्तृतीयेधामन्यध्यैरयन्त । इति यजु० । तत्रस्वयम्भुब्रह्म-ऋषिः परमात्मा देवता । (प्र०) 'स नो बन्धुर्जनिता स विधर्ताधर्माणि वेद' इति पैप्प० स० । (प्र०) 'योनः पिता, जनिता यो विधाता धामानि' (तृ०) देवानां नामधा (च०) भुवनायन्त्यन्या इति ऋ० । ऋग्वेदे विश्वकर्मा भौवन ऋषिर्विश्वकर्मा देवता ।

धारण-सामर्थ्यों, स्थानों, नामों और मूलकारणों को और (भुवनानि) समस्त उत्पन्न होने हारे लोकों, पदार्थों को (वेद) जानता है और जनाता है। (यः) जो स्वयं (देवानां) समस्त देवों, दिव्यगुण वाले पदार्थों के (नामधः) नामों को भी स्वयं ही सर्वगुणसम्पन्न होने के कारण धारण करने हारा (एक एव) एक अद्वितीय है। (संप्रश्नं) उत्तम रीति से गुरु के समीप शिष्य रूप से प्रश्न कर उसके उपदेश से जानने योग्य (तं) उस परमात्मा को ही (सर्वा) समस्त (भुवना) लोक और समस्त भूतवर्ग (यान्ति) प्राप्त हैं, उसी में ओत प्रोत हैं। जैसा पूर्व मन्त्र के याजुष पाठ में लिखा है " स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु " वह प्रजाओं में सर्वव्यापक होकर उरोया पिरोया हुआ है।

परि॒ द्यावा॑पृथि॒वी स॒द्य आ॒यमु॒पाति॑ष्ठे प्रथम॒जामृ॒तस्य॑ ।
वाच॑मिव व॒क्तरि॑ भुवने॒ष्ठा धा॒स्युरे॒ष न॒न्वे॒॑३॒॑षो अ॒ग्निः ॥ ४ ॥

यजु० ३२ । ११, १२ इत्यनयोर्व्यत्यस्ता पादाः ॥

भा०—परमेश्वर स्वयं अपना स्वरूप बतलाता है कि मैं (सद्यः) इस संसार के उत्पन्न होने के पूर्व से ही (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी अर्थात् समस्त ब्रह्माण्ड के (परि) ऊपर अधिष्ठाता रूप (आयम्) सर्वत्र व्यापक हूं और (ऋतस्य) इस सत् स्वरूप व्यक्त जगत् के भी (प्रथमजाम्) प्रथम विद्यमान मूलकारण प्रकृति को भी मैं ही (उप-आ तिष्ठे[1]) अपने वश करता हूं। मैं ही (भुवनेष्ठाः) समस्त संसार में

४–परिविश्वा भुवनान्ययमुपाञ्चष्टे प्रथमजामृतस्य । वाचमिव यत्परिभुवनेष्ठाः धास्नेपण [नन्वे] त्वेवो अग्निः । इति पैप्प० सं० । परिद्यावा पृथिवी सद्य इत्वा (यजु० ३२ । १२ प्र०) उपस्थाय प्रथमजामृतस्य (यजुः ३२ । ११ तृ०)

१. 'उप आऽतिष्ठे', उपऽअतिष्ठे इत्युभयथा पदपाठः । उपातिष्ठे इतिकाचित्कः पाठः ।

व्यापक परमात्मा (वक्तरि) वक्ता पुरुष में (वाचं) वाणी के (इव) समान (धास्युः) धारण करता हूं। (ननु) निश्चय से (एषः) वही परमात्मा (अग्निः) सब का प्रकाशक, ज्ञानवान् और सब के आगे विद्यमान सब का आदिकारण है।

परि॒ विश्वा॒ भुव॑नान्याय॒मृ॒तस्य॒ तन्तुं॒ वित॑तं दृ॒शे कम्।
यत्र॑ दे॒वा अ॒मृत॒मान॑शा॒नाः स॑मा॒ने योना॒वध्यैर॑यन्त ॥ ५ ॥

भा०—मैं परमेश्वर (ऋतस्य) सत्स्वरूप इस जगत् के परम कारण रूप (तन्तुं) इसको विस्तार करने वाले या निरन्तर उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करके पुनः सर्जन करने हारे (विततं) विशेष रूप से सर्वत्र व्यापक अपने उस (कं) सुखस्वरूप का (दृशे) मानस प्रत्यक्ष कराने के लिये (विश्वा) समस्त (भुवनानि) लोकों के (परि) ऊपर विराजमान मोक्षाख्य स्थान पर (आयम्) प्राप्त हूं (यत्र) जहां (देवाः) मुक्त विद्वान्गण, और दिव्य सूर्य आदि पदार्थ (अमृतं) मोक्षाख्य अमृत परम ब्रह्मानन्द सुख को (आनशानाः) भोग करते हुए (समाने) समान, एकरस (योनौ) परम कारण, परम आश्रय, ब्रह्म में (अधि-ऐरयन्त) लीन होजाते हैं।

५–'परीत्य भूतानि परीत्य लोकान्' इति (यजुः ३२ । ११ प्र०) ऋतस्य तन्तुं विततं विचृत्य (यजुः ३२ । १२ तृ०) (च०) तृतीये धामन्नध्यै० इति यजु० (३२ । १० च०) (च०) समाने धामन्नध्यै इति पैप्प० सं० । (प्र०) परिद्यावापृथिवी सद्याऽऽयम् (तृ०) देवो देवत्वमभिरक्षमाण समान बन्धुमुपरिच्छेकः इत्यपि पैप्प० सं० ।

[२] गन्धर्व, परमात्मा और उसकी शक्तियां ।

मातृनामा ऋषिः । गन्धर्वाप्सरसो देवताः । १ विराड् जगती, २, ३ त्रिष्टुभौ, ४ त्रिपदा विराड्नाम गायत्री, ५ भुरिग् अनुष्टुप् । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

दि॒व्यो ग॑न्ध॒र्वो भुव॑नस्य॒ यस्पति॒रेक॑ ए॒व न॑म॒स्यो॑ वि॒क्ष्वीड्यः॑ ।
तं त्वा॑ यौमि॒ ब्रह्म॑णा दिव्य देव॒ नम॑स्ते अस्तु दि॒वि ते॑ स॒धस्थ॑म् ॥१॥

भा०—(दिव्यः) सर्वत्र रमणशील, प्रकाशस्वरूप विद्वानों और ध्यान योगियों के रमण करने योग्य (गन्धर्वः) समस्त गतिमान पदार्थ, सूर्य पृथिवी आदि पिण्डों एवं वेदवाणी को धारण करने हारा (यः) जो (भुवनस्य) समस्त जगत् का (एकः) एक (एव) ही (पतिः) पालक है वह ही (विक्षु) समस्त प्रजाओं में (ईड्यः) स्तुति करने और नमस्कार करने योग्य है । हे (दिव्य) विद्वानों के एकमात्र रमणयोग्य, (देव) सर्व-प्रकाशक परमेश्वर (तं त्वा) उस तुझको (ब्रह्मणा) वेदमय ज्ञान से (यौमि) प्राप्त होता हूं और (दिवि) ज्ञानमय मोक्षरूप परम धाम में (ते) तेरा ही (सधस्थम्) सत्संग (अस्तु) मुझे प्राप्त हो । भगवन् (ते नमः) तुझे मेरा नमस्कार है ।

दि॒वि स्पृ॒ष्टो य॑ज॒तः सूर्य॑त्वगवया॒ता हर॑सो॒ दैव्य॑स्य ।
मृ॒डाद् ग॑न्ध॒र्वो भुव॑नस्य॒ यस्पति॒रेक॑ ए॒व न॑म॒स्यः॑ सु॒शेवाः॑ ॥ २ ॥

भा०—(यः) जो परमेश्वर (भुवनस्य) समस्त संसार का (एक एव) एक ही (पतिः) पालक है वह (गन्धर्वः) वेदवाणी का पालक (दिवि) मोक्षधाम में (स्पृष्टः) प्राप्त होने योग्य (यजतः) स्तुति, पूजा

[२] १–(तृ०) 'देव दिव्य' इति पैप्प० सं० ।
२–'दिविस्पृष्टो' इति पैप्प० सं० ।

करने योग्य (सूर्यत्वग्) सूर्य आदि पदार्थों को भी आच्छादित करने हारा, एवं सूर्य के समान ज्योतिर्मय है । वह (दैव्यस्य) दिव्य पदार्थों के भी (हरसः) तेज को (अवयाता) मात करता है, वही (सुशेवाः) उत्तम सुख-सम्पन्न आनन्दघन (नमस्यः) वन्दना योग्य परमेश्वर हमें (मृडात्) सुखी करे ।

अनवद्याभिः समु जग्म आभिरप्सरास्वपि गन्धर्व आसीत् ।
समुद्र आसां सदनं म आहुर्यतः सद्य आ च परा च यन्ति ॥३॥

भा०—(अप्सरासु) समस्त लोकों में फैलने वाली शक्तियों में (अपि) भी (गन्धर्वः) वही गन्धर्व, शक्तिधर उनका स्वामी (आसीत्) विद्यमान है । वह (अनवद्याभिः) अनिन्दनीय, निर्दोष, नियम-व्यवस्था से सम्पन्न (आभिः) इन जगन्नियामक शक्तियों के (सम्, जग्मे, उँ) साथ मिल-कर तन्मय हो रहा है । (समुद्रः) जो परमात्मा इन सब लोकों का उद्भवस्थान है वही (आसां) इनका (सदनं) आश्रयस्थान भी है । (मे) मुझको वेद द्वारा ऋषिगण इसी प्रकार (आहुः) उपदेश करते हैं कि (यतः) जिससे उत्पन्न होकर ये शक्तियां (आयन्ति च) सर्वत्र फैलती हैं (च) (परायन्ति) वे पुनः उसीमें लीन होजाती हैं । जैसे उपनिषद् में लिखा है–" य एको जालवान् ईशत ईशनीभिः सर्वांल्लोकानीशत ईशनीभिः । य एवैक उद्भवे सम्भवे च य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति । एक जालवान् अपनी शक्तियों से समस्त लोकों को वश किये हुए है । गन्धर्वों और अप्सराओं का विवेक यजुर्वेद (अ० १८ । मं० ३८-४३) में स्पष्ट किया है ।

गन्धर्व	अप्सराएं
ऋताषाड् ऋतधामा अग्निः	मुदः, ओषधयः

३-(प्र०) समुजग्माभि रप्सराभिरपि', (तृ० च०) 'समुद्रासां सदनमाहु स्ततस्सद्य उपाचरयन्ति' इति पैप्प० सं० ।

संहिता विश्वसामा सूर्यः	आयुवः, मरीचयः
सुषुम्णः सूर्यरश्मिः चन्द्रमाः	भेकुरयः, नक्षत्राणि
इषिरो विश्वव्यचाः वातः	ऊर्जः, आपः
भुज्युः सुपर्णः यज्ञः	स्तावाः, दक्षिणाः
प्रजापतिः विश्वकर्मा मनः	एष्टयः, ऋक्सामानि

साधारणतः गन्धर्व पुरुष और अप्सरा स्त्री में भी यह मन्त्र संगत है।

अभ्रिये दिद्युन्नक्षत्रिये या विश्वावसुं गन्धर्वं सचध्वे ।
ताभ्यो वो देवीर्नम इत् कृणोमि ॥ ४ ॥

भा०—हे (देवीः) दिव्य गुण युक्त ! हे (अभ्रिये) अभ्र=मेघ में निवास करने हारी एवं हे (दिद्युत्) निरन्तर प्रकाशमान सूर्यप्रभे ! हे (नक्षत्रिये) नक्षत्रों में विद्यमान शक्तियो ! आप (याः) जो (विश्वावसुं) समस्त लोकों में व्यापक (गन्धर्वं) ज्ञान और सूर्यों के धारक परमेश्वर के साथ (सचध्वे) संयुक्त हो (ताभ्यः वः) उन आपका (नमः, इत्) आदर (कृणोमि) करता हूं। अथवा आपका सत् उपयोग करता हूं।

याः क्लन्दास्तमिषीचयो ऽक्षकामा मनोमुहः ।
ताभ्यो गन्धर्वपत्नीभ्योऽप्सराभ्योऽकरं नमः ॥ ५ ॥

भा०—(याः) जो अप्सरायें, स्त्रियें (क्लान्दाः) दुःखदायिनी (तमिषीचयः) ग्लानि कराने वाली, घृणाजनक रूप और कर्मवाली, (अक्षकामाः) इन्द्रिय विषयों को ही चाहने वाली (मनोमुहः) मन को रूप आदि से मोहने वाली हैं (ताभ्यः) उन (गन्धर्वपत्नीभ्यः) गान वाद्यप्रिय पुरुषों का पालन करने हारी (अप्सराभ्यः) रूपवती स्त्रियों या शक्तियों को भी (नमः) परित्याग रूप नमस्कार (अकरम्) करता हूं।

५–'तामिषीचयोऽक्षिकामाः' इति पैप्प० सं०।

इसी प्रकार उन भौतिक शक्तियों को भी मैं (नमः, अकरम्) अपने वश करता हूं (याः रुलन्दाः) जो प्रजा को पीड़ा देकर रुलातीं, (तमिषीचयः) अन्धकार करतीं या चक्षुशक्ति का नाश करतीं, (अक्षकामाः) इन्द्रियों में उत्तेजना उत्पन्न करतीं और (मनोमुहः) मन में भ्रम डालकर उसको तामसिक करती है ।

[३] आस्राव रोग का उपचार ।

अंगिरा ऋषिः । भैषज्यायुर्धन्वन्तरिर्देवता । १-५ अनुष्टुभः, ६ त्रिपात् स्वराट् उपरिष्टान्महाबृहती । षड्चं सूक्तम् ॥

अदो यदवधावत्यवत्कमधि पर्वतात् ।
तत्ते कृणोमि भेषजं सुभेषजं यथासांसि ॥ १ ॥

भा०—(अदः) वह (यत्) जो (पर्वतात् अधि) पर्वत से नीचे २ (अव धावति) फैलती है और (अवत्कम्) पर्वत की रक्षा सी करती है हे ओषधे ! (तत्) उस (ते) तुझको मैं सद्वैद्य (भेषजं) रोग के दूर करने में समर्थ (कृणोमि) इस विधि से बनाता हूं कि (यथा) जिस प्रकार से तू (सुभेषजं) उत्तम रीति से रोग दूर करने में समर्थ (असासि) हो जाता है ।

आदङ्गा कुविदङ्गा शतं या भेषजानि ते ।
तेषामसि त्वमुत्तममनास्रावमरोगणम् ॥ २ ॥

---

[३] १-(प्र०) 'यदवधावसि' इति क्वाचित्कः पाठः । (च०) 'यथासति' इति ह्विटनिकामितः पाठः ।

२-(प्र०, द्वि०) 'आदङ्गारशतं यद्भेपजानि ते सहस्रं वा च यानि ते', (च०) 'अनास्रावमरो हरणम्' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(अङ्ग) हे ओषधे ! (आत्) प्रयोग करने के अनन्तर और (अङ्ग) हे ओषधे ! (कुवित्) नाना प्रकार की (या) जो (ते) तेरी सजातीय (शतं) सैकड़ों (भेषजानि) रोगहारी ओषधियां हैं (तेषां) उनमें से भी (त्वं) तू (अनास्रावं) अतीसार, अतिसूत्र और नाड़ीव्रण आदि का नाशक और (अरोगणम्) शरीर की पीड़ा और देह के टूटने के कष्ट को निवारण करने में (उत्तमम्) सबसे अधिक गुणकारी है । वैद्य इसी प्रकार विचार कर ओषधि का निर्णय करे ।

नीचैः खनन्त्यसुरा अरुस्राणमिदं महत् ।
तदास्रावस्य भेषजं तदु रोगमनीनशत् ॥ ३ ॥

भा०—(असुराः) असु=प्राण का दान करने हारे प्राणाचार्य वैद्यगण इस ओषध को (नीचैः) खूब गहरा (खनन्ति) खोद कर लाते हैं। क्योंकि (इदं) यह (महत्) बड़ा ही (अरुस्राणम्) व्रण को शीघ्र पका देता है । (तद्) वही (आस्रावस्य) अतिसूत्र, नाड़ीव्रण और अतिसार आदि रोगवर्ग की (भेषजं) उत्तम चिकित्सा है । (तद् उ) वह ही (रोगं) रोग=पीड़ाकर व्याधि को (अनीनशत्) विनाश कर देता है ।

उपजीका उद्भरन्ति समुद्रादधि भेषजम् ।
तदास्रावस्य भेषजं तदु रोगमशीशमत् ॥ ४ ॥

भा०—(उपजीकाः) वम्री=दीमक नाम के कीट (समुद्राद्) पृथिवी के भीतर के जलराशि से (भेषजं) औषध को (उद् भरन्ति) ऊपर ले आते हैं (तद्) वह भी (आस्रावस्य) अतीसार आदि की (भेषजं) अच्छी चिकित्सा है । (तद् उ) वह भी (रोगम्) देह की व्याधि को (अशीशमत्) शमन कर देता है ।

४–(प्र०) 'उपचीका उद्भरन्ति', (तृ०, च०) 'अरुस्यानमस्य आथर्वणो रोगस्थानमस्याथर्वणम्' इति पैप्प० सं० ।

इसी सम्बन्ध में पैप्पलादसंहिता में लिखा है:—

"यस्य भूम्या उपचीका, गृहं कृण्वते त्मने ।
तस्य ते विश्वधायसो विषदूषणमुद्भरे ॥"

अर्थात् जिस भूमि में दीमकें अपना घर उठाती हैं वहां से मैं विष के नाशक पदार्थ को प्राप्त करता हूं ।

अरुस्राणमिदं महत् पृथिव्या अध्युद्धृतम् ।
तदास्रावस्य भेषजं तदु रोगमनीनशत् ॥ ५ ॥

भा०—(इदं) यह (महत्) बड़ी (अरुस्राणं) व्रण को पकाने वाली औषध (पृथिव्या अधि) पृथिवी से (उद्भृतम्) खोदकर प्राप्त की है (तद्) वह (आस्रावस्य भेषजं) अतिसार व्रण आदि की औषध है (तत् उ रोगम् अनीनशत) वह भी देहव्याधि का नाश करती है ।

शं नो भवन्त्वाप ओषधयः शिवाः । इन्द्रस्य वज्रो अपहन्तु रक्षस आराद् विसृष्टा इषवः पतन्तु रक्षसाम् ॥ ६ ॥

भा०—(नः) हमारे लिये (आपः) जल (शं) कल्याण, सुखकारी (भवन्तु) हों और (ओषधयः) ओषधियाँ भी (शिवाः) सुखकारी हों । (रक्षसः) सुखसे वञ्चित करने वाले, रोगजनक कीटों को (इन्द्रस्य) सूर्य का (वज्रः) रोगनिवारक तेज (अपहन्तु) विनाश करे । (रक्षसाम्) उन दुःखदायी रोगकीटों पर (आराद्) दूर से (विसृष्टाः) फेंकी गईं (इषवः) तीक्ष्ण किरणें (पतन्तु) पड़ें । अथवा—(रक्षसाम् इषवः आरात् पतन्तु) दुःखदायक रोगों के कष्टदायी प्रभाव हमसे सदा दूर ही रहें ।

५–'अरुस्पानमिदं महत् पृथिव्या अभ्युद्धृतम्' इति पैप्प० सं० ।

६–'शंनो भवन्त्वपः' इति पाठः शङ्करपाण्डुरंगसम्मतः । 'शंनो भवन्त्वापः' इति सायणाभिमतः ।

[४] जङ्गिड़ और शण दो प्रकार की सेनाएं !

अथर्वा ऋषिः । चन्द्रमा जङ्गिडो वा देवता । जङ्गिडमणिस्तुतिः । १ विराट् प्रस्तारपंक्तिः । २–६ अनुष्टुभः । षड्चं सूक्तम् ॥

दीर्घायुत्वाय बृहते रणायारिष्यन्तो दक्षमाणाः सदैव ।
मणिं विष्कन्धदूषणं जाङ्गिडं बिभृमो वयम् ॥ १ ॥

भा०—हम (दीर्घायुत्वाय) दीर्घ आयु और (बृहते) बहुत बड़े (रणाय) आनन्दप्राप्ति या संग्राम के निमित्त (सदैव) सदा ही (दक्षमाणाः) प्रयत्न और ज्ञानशील होते हुए भी (अरिष्यन्तः) किसी की हिंसा न करते हुए (विष्कन्धदूषणं) शत्रुपक्ष के छावनी में हलचल मचा देने वाले, शत्रुपक्ष में फूट डाल देने वाले (जङ्गिडं) शत्रु को निगल जाने वाले (मणिं) मन्त्र=विचार या बनाये व्यूह को (विभृमः) उत्तमरूप से सुरक्षित बना रखें । अभीवर्तमणि या अभीवर्त व्यूह का वर्णन पूर्व होगया है । सायण ने 'जंगिड' नामक बनारस में प्रसिद्ध किसी वृक्ष विशेष की मणि धारण करने परक अर्थ किया है, वैद्यक शास्त्र में वैसा वृक्ष अप्रसिद्ध है ।

जाङ्गिडो जम्भाद् विशराद्विष्कन्धादभिशोचनात् ।
मणिः सहस्रवीर्यः परि णः पातु विश्वतः ॥ २ ॥

भा०—(जाङ्गिडः) जङ्गिड नामक (मणिः) मननपूर्वक बनाया व्यूह (सहस्रवीर्यः) सहस्रों वीरों से युक्त होता है । वह (विश्वतः) सब प्रकार के शत्रु के (जम्भाद्) चारों तरफ डाले घेरे या आगे और पीछे से

[४] १–'रणाय ऋष्यन्तो ऋक्षमाणाः' इति पैप्प० सं० । 'रक्षमाणः' इति सायणाभिमतः पाठः ।

आये आक्रमण (विशरात्) विशेष आघात और (विःकन्धात्) विशेष स्कन्धावार में स्थित सेना और (अभिशोचनात्) प्रस्यत्त में आई उत्तेजना से या चारों ओर की पीड़ा से (नः) हमें (परि पातु) सब तरफ से बचावे।

अयं विष्कन्धं सहतेयं बाधते अत्रिणः ।
अयं नो विश्वभेषजो जङ्गिडः पात्वंहसः ॥ ३ ॥

भा०—(अयं) यह जङ्गिड व्यूह (विष्कन्धं) शत्रु के सैन्य को (सहते) परास्त करता है। (अयं) और यह (अत्रिणः) राष्ट्र के विध्वंस करने वाले आक्रामकों को (बाधते) पीड़ा देता है। (अयं) यह (नः) हमारे (विश्वभेषजः) विश्व=राष्ट्र को सुरक्षित दृढ़ करने और उसके दोष दूर करने का उत्तम उपाय है। वह (जङ्गिडः) शत्रु को हड़प कर जाने वाला व्यूह (नः) हमारी (अंहसः) पापाचार और पापाचारियों से (पातु) रक्षा करे।

देवैर्दत्तेन मणिना जङ्गिडेन मयोभुवा ।
विष्कन्धं सर्वा रक्षांसि व्यायामे सहामहे ॥ ४ ॥

भा०—(देवैः) विद्वान् पुरुषों, सेनानायकों द्वारा (दत्तेन) प्रदान किये, उपदेश किये हुए (मयोभुवा) कल्याणजनक (जङ्गिडेन) इस जङ्गिड व्यूह से (विष्कन्धं) शत्रु की सेना के आक्रमणों को और (व्यायामे) स्वयं शत्रु पर आक्रमण करने के उद्योग के अवसर में आने वाले (रक्षांसि) विघ्नकारियों को भी (सहामहे) हम वश कर लेते हैं।

३–'इदं विष्कन्धं सहते' इति क्वाचित्कः पाठः। 'इदं विष्कन्धं साते' अयं रक्षोपबाधते। इति पैप्प० सं०।

४–(च०) 'ध्यायसे सामहे' इति पैप्प० सं०।

शणश्च मा जङ्गिडश्च विष्कन्धादभि रक्षताम् ।
अरण्यादन्य आभृतः कृष्या अन्यो रसेभ्यः ॥ ५ ॥

भा०—(जङ्गिडश्च) जङ्गिड व्यूह और (शणश्च) शण सेना दोनों (मा) मुझ राष्ट्रपति की (विष्कन्धात्) विरुद्ध पक्ष के सेनाव्यूह से (अभिरक्षताम्) रक्षा करें । इन दोनों में भेद यह है कि (अन्यः) एक 'जङ्गिड' नामक सेनाव्यूह तो (अरण्याद्) जंगल के प्रदेश से (आभृतः) भरती किया जाता है (अन्यः) और दूसरा (कृष्याः) खेती में लगे जनता के (रसेभ्यः) सारवान्, बलवान् पुरुषों में से संग्रह किया जाता है। कृषि और अरण्य शब्द उपचार से वहां के वासी और उपजीवी जनों का वाचक है । अर्थशास्त्रों में भी 'सीता' आदि शब्द किसानों पर लगे कर आदि के वाचक प्रयुक्त होते हैं । शणः='शण, श्रणु दाने' और 'शण गतौ' (भ्वादि०) इन धातुओं से 'पचाद्यच्' करके 'शणः'। जो सेना वेतन देकर रखी जाती है वह 'शण' कही जाती है या जिसको विशेष नियमपूर्वक सेनापति की आज्ञा में चलना पड़े वह 'शण' सेना और दूसरी जांगलिक सेना जो राष्ट्र के समीपवर्ति प्रदेश में शत्रु का गुप्तघात करने में लगी रहे। वह 'जङ्गिड' नाम से कही जाती है । इस सम्बन्ध में कौटल्यकृत अर्थशास्त्र का आटविक बल सम्बन्धी प्रकरण देखना अभीष्ट है । अगले मन्त्र में इन दोनों प्रकार की सेनाओं के विशेष कार्य बतलाये हैं ।

कृत्यादूषिरयं मणिरथो अरातिदूषिः ।
अथो सहस्वाञ् जङ्गिडः प्र ण आयूंषि तारिषत् ॥ ६ ॥

५—' खणश्च त्वा जङ्गिडश्च ' इति पैप्प० सं० । ' अरण्यादभ्याभृतः कृष्या अन्यो रसेभ्यः ।

६—' अथो अरातिदूषणः ' इति ह्विटनिकामितः पाठः ।

भा०—(अयं) यह (मणिः) मन्त्रणा (कृत्यादूषिः) अपने साध्य शत्रु की प्रजा में भी फूट डाल देने वाली है और (अरातिदूषिः) कर न देने वाले शत्रु के बल में भी फूट डाल देने वाली है और यह (सहस्वान्) सब को परास्त करने हारा (जङ्गिडः) आटविक बल (नः, हमारे (आयूंषि) जीवनों को या प्रजाजनों को (प्र तारिषत्) उत्तम रूप से बचा लेता है ।

अध्यात्मपक्ष में—'अजं आत्मानं गिलति आत्मसात् करोति इति जङ्गिडः= प्राणः । अत्र पूर्ववर्णलोपश्छान्दसः । (१) दीर्घायु प्राप्त करने और नाना (विष्कन्ध) रोग बाधाओं को दूर करने के लिये हम प्राण को धारण करें । (२) वही सहस्रवीर्य=सहनशील शक्ति से युक्त होकर शरीर में उत्पन्न जम्भ अर्थात् अङ्गों का अकड़ जाना विशर- अङ्गों का तीव्र पीड़ा से फटना, विष्कन्ध रोगों का नाना रूप से पीड़ा देना और अभिशोचन=प्रदाह इनको दूर करता है । (३) वह शरीर में या आमाशय और फेफड़ों में बैठे शरीर को खाने वाले कीटों का नाश करता है । (४) प्राणके व्यायाम अर्थात् दीर्घ करने अर्थात् विशेष २ प्राणायामों से सब रोगों को और जीवन के विघ्नों को दबाते हैं । (५) शण और जंगिड़ रेचक और कुम्भक दोनों शरीर के रोग से बचावें । दोनों की अभ्यास दशा में शरीर को जंगल के कन्द मूल फल और कृषि से उत्पन्न अन्न रसों से प्राण को पुष्ट किया जाय । (६) विकारों और रोगों दोनों को प्राणायाम शान्त करता है और आयुओं को बढ़ाता है । सम्भव है कि जङ्गिड ओषधि भी शरीर के उक्त रोगों को शान्त करे ।

[५] राजा को उपदेश ।

भृगुराथर्वण ऋषिः । इन्द्रो देवता । आद्यया आह्वानमपराभिश्च स्तुतिः । १, २, ५–७ त्रिष्टुभः, ३ विराड् पथ्याबृहती, ४ जगती पुरो विराट् । सप्तर्चं सूक्तम् ।

इन्द्र जुषस्व प्र वहा याहि शूर हरिभ्याम् ।
पिबा सुतस्य मतेरिह मधोश्चकानश्चारुर्मदाय ॥ १ ॥

साम० उ० । ३ । १ । २२ । १ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यसम्पन्न राजन् ! (प्र वह) उत्कृष्ट राज्य को अपने सामर्थ्यवान् कन्धों पर उठा । हे (शूर) शत्रु के हिंसक वीर ! (हरिभ्याम्) युद्धभूमि में रथ को लेजाने वाले घोड़ों से, या दायें और वायें चलने वाले सेनापक्षों के साथ (याहि) शत्रु पर आक्रमण कर । (मतेः) मनन करने हारे मेधावी मन्त्री के (सुतस्य) उत्तम रूपसे निष्पादित, सुविचारित (मधोः) सारभूत ज्ञान को (पिब) पान कर, ग्रहण कर । और यह सोमरूप ज्ञान (चकानः) पूर्णरूप से तृप्तिकारी (मदाय) सब के आनन्द, हर्ष प्राप्त करने के लिये (चारुः) श्रेष्ठ हैं । अथवा—हे इन्द्र ! तू इस प्रकार (मदाय) प्रजाओं के हर्ष के लिये (चकानः) अति सन्तुष्ट होकर (चारुः) अति हृदयहारी होता है ।

इन्द्र जठरं नव्यो न पृणस्व मधोर्दिवो न ।
अस्य सुतस्य स्व१र्णोप त्वा मदाः सुवाचो अगुः ॥ २ ॥

साम० उ० । ३ । १ । २२ । २ ॥

[५] १–'इन्द्र जुषस्व याहि शूर पिब सुतश्च मधोश्चकान चारुं मदयः' इति पैप्प० सं० । (तृ०) 'मत्त इह' इति ह्विटनिकामितः पाठः । 'मदेह' इति वेवरकामितः पाठः । (च०) मध्वश्चकान इति आ० श्रौ० सू० । अत्रोपसर्गपदानां स्थितिः सामवेदालोकभाष्यटिप्पण्यां द्रष्टव्या । (द्वि०) याहि शूर हरिह' (तृ०) 'पिबा सुतस्य मतिर्न' इति साम० ।

२–'नव्योन' इति ह्विटनिकामितः पाठः । (प्र०) 'नव्यं न' 'सुतस्य स्वार्नोप' 'सुवाचो अस्थुः' इति सा० । 'सुवाचो अस्थुः' इति क्वचिदादर्शेऽपि ।

भा०—हे (इन्द्र) इन्द्र ! राजन् (नव्यः न) नवीन आगत अतिथि के समान आप अपने (जठरं) उदर के समान कोश को उसी प्रकार (पृणस्व) पूर्ण करो और (दिवः) सूर्य जिस प्रकार (मधोः न) पृथिवी से अपनी रश्मियों द्वारा जल को लेकर और अन्तरिक्ष रूप कोश को भर लेता है उसी प्रकार (अस्य) इस (स्वः न) स्वर्ग के समान (सुतस्य) पुत्र के समान पालन करने योग्य, स्वयं सुरक्षित राष्ट्र के (मधोः) संग्रहीत कर से (पृणस्व) अपने को पूर्ण कर। ऐसा करने से (त्वा) तेरे लिये (मदाः) आनन्द तृप्ति, और कीर्ति की जनक (सुवाचः) उत्तम वाणियां, लोकप्रशस्तियां (अगुः) प्राप्त होंगी ।

मदाः—मद तृप्तियोगे (चुरादिः), मदी हर्षग्लेपनयोः, (भ्वादिः) मदी हर्षे (दिवादिः), मद स्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु इत्येभ्यो धातुभ्यः पचाद्यच् । मधु—धमतिर्गतिकर्मा अन्तर्णीतण्यर्थो निःकालने दृष्टः। निर्धम्यते निःकाल्यते कररूपेण यद् धनं तन्मधु । मधु मेघोदरवर्त्तिसलिलम् । तत्र पुनर्वैद्युतात्मा दह्यमानं सरःस्वर्णेन तद् गतनैव वायुना ध्मायमानं धमति । माद्यन्तिवा तेन पती तेन प्राणिनः। मधुरस्वादुत्वाद्वा इति स्कन्दस्वामिनिर्वचनानुसरणम् । मनेर्वा औणादिरुः, नस्य च धः । मननीयं मधु, इति भट्टभास्करमिश्राः ।

इन्द्र॑स्तुरा॒षाण्मि॒त्रो वृ॒त्रं यो ज॒घान॑ य॒तीर्न ।
बि॒भेद॑ ब॒लं भृगु॒र्न स॑सहे॒ शत्रू॒न् मदे॒ सोम॑स्य ॥ ३ ॥

साम० उ० । ३ । १ । २२ । ३ ॥

भा०—(इन्द्रः) राजा ऐश्वर्यवान् (तुराषाट्) अति शीघ्र ही शत्रु को दबालेने हारा वही (मित्रः) प्रजा का परम मित्र है (यः) जो (यतिः न) जिस प्रकार यमनियम के पालन करने हारा योगी जितेन्द्रिय होकर

३—'इन्द्रस्तुराषाड् जघान वृत्रं ससाह शत्रून् ममच्च वज्रिमदे सोमस्य ।' इति पैप्प० सं० । 'विभेद वलं' इति शंकरपाण्डुरङ्गः ।

(वृत्रं) अपने नियम में बाधक अज्ञान और काम, क्रोध आदि विघ्न का नाश करता है उसी प्रकार जो अपने (वृत्रं) राष्ट्र को घेर लेने वाले शत्रु को (जघान) नाश करता है और (भृगुः न) जिस प्रकार सूर्य मेघ को छिन्न-भिन्न कर देता है उसी प्रकार जो (वलं, शत्रु के बल, सेनाव्यूह को (विभेद) तोड़ फोड़ डालता है और जो (सोमस्य) शान्ति और सुखकारक और हृदय के प्रेरक राष्ट्र के (मदे) उत्साह में आकर (शत्रून्) शत्रुओं को (ससहे) दबा लेता है वही राजा अपने राष्ट्र का (मित्रः) मित्र है ।

आ त्वा॑ विशन्तु सु॒तास॑ इन्द्र पृ॒णस्व॑ कु॒क्षी वि॑ड्ढि शक्र धि॒येह्या नः॑ ।
श्रु॒धी हवं॒ गिरो॑ मे जुषस्वेन्द्र॑ स्वयु॒ग्भिर्मत्स्वे॒ह म॒हे रणा॑य ॥ ४ ॥

भा०—हे (इन्द्र) राजन् ! (त्वा) तेरे समीप, तेरे राष्ट्र में (सुतासः) समस्त राष्ट्र के उत्पन्न पदार्थ (आ विशन्तु) आकर संगृहीत हों । (कुक्षी) जिस प्रकार मनुष्य भोजन से अपना कोख भर लेता है उसी प्रकार तू अपने दोनों कोश=धान्यकोश और द्रव्यमय कोश (पृणस्व) पूर्ण करले और (धिया) अपनी धारणावती बुद्धि और धारणपोषणशील कर्मों द्वारा हे (शक्र) शक्तिशाली राजन् ! तू (विड्ढि) क़ानून और राजनियम शासनव्यवस्थाओं का विधान कर । और इस प्रकार (नः) हमारे पास (आ, इहि) आ, हम तक पहुंच । तू (हवं) हम प्रजाओं की वाणी, पुकार

४-(प्र० द्वि०) 'आत्वा विशन्तु कविर्न सुतास इन्द्र त्वष्टा न । पृणस्व कुक्षी सोमो न विड्ढि शूर धिया हि या नः ।' इति आश्व० श्रौ० सू० । 'अविड्ढि इति ह्विटनिकामितः पाठः । 'विड्ढि' इति शं० पा० । 'वृड्ढि' इति सायणः । (तृ०, च०) श्रुधीहवं न इन्द्रो न गिरो जुषस्व वज्री न । इन्द्र सयुग्भिर्विधुन्न मत्स्व मदाय महे रणाय । (तृ० च०) श्रुति [धी] हव [वं] मे वि [गि] रोजुपस्य [स्व] इन्द्रस्य [स्व] गुभि [युग्भि] र्मत्स [स्व] मदाय महे रणाय । ' इति पैप्प० सं० ।

को (श्रुधि) श्रवण कर, (मे) मेरी, मुझ प्रजा के प्रतिनिधि की (गिरः) वाणियों को (जुषस्व) प्रेम से सेवन कर । हे इन्द्र राजन् ! (स्वयुग्भिः) अपने सहयोगी सेनापति और मन्त्रियों सहित तू (महे) बड़े भारी (रणाय) आनन्दजनक राष्ट्रशासन के लिये और युद्धोद्योग के लिये (मत्स्व) सदा तैयार रह, सदा प्रसन्न रह ।

इन्द्रस्य नु प्र वोचं वीर्याणि यानि चकार प्रथमानि वज्री ।
अहन्नहिमन्वपस्ततर्द प्र वक्षणा अभिनत् पर्वतानाम् ॥ ५ ॥
ऋ० १ । ३२ । १ ॥

भा०—(इन्द्रस्य) ऐश्वर्यशाली राजा के (वीर्याणि) उन बलयुक्त कार्यों का मैं (प्र वोचं नु) उपदेश करता हूं (यानि) जिन (प्रथमानि) श्रेष्ठ, कीर्तिजनक कामों को (वज्री) वज्र, राजदण्ड को धारण करने वाला राजा (चकार) अवश्य करे । जिस प्रकार सूर्य अपनी किरणों से मेघ को ताड़ित करके जलों को बहाता है और जिस प्रकार व्रजवान् विद्युत् पर्वतों के चट्टान तोड़ फोड़ कर जलस्रोत बहाता है उसी प्रकार राजा ((अहिम्) प्रजा के घातक को (अहन्) नाश करे और (अपः) नाना जलधारा या नलों को (अनु ततर्द) काट कर राष्ट्र में बहावे और (पर्वतानां) पर्वतों के (वक्षणा) वक्षस्थलों को (अभिनत्) काट २ कर साफ करे जिससे प्रजाएं सुख से बसें और वृद्धि करें । प्रजा के घातकों का नाश, कृषि के लिये जलविभाग और निवास के लिये पर्वतादि का सम करना ये बड़े २ कार्य राजा को प्रथम हाथ में लेने चाहियें ।

अहन्नहिं पर्वते शिश्रियाणं त्वष्टास्मै वज्रं स्वर्यं ततक्ष ।
वाश्रा इव धेनवः स्यन्दमाना अञ्जः समुद्रमव जग्मुरापः ॥ ६ ॥
ऋ० १ । ३२ । २ ॥

५—इन्द्रस्यनुवीर्याणि प्रवोचं इति ऋ० ।

भा०—(पर्वते) पर्वत पर (शिश्रियाणं) आश्रय लिये हुए (अहिं) मेघ को जिस प्रकार वायु अपने वेग से (अहन्) आघात करता है और (त्वष्टा) सूर्य जो मेघ का स्वयं उत्पादक पिता के तुल्य है तो भी (अस्मै) इस इन्द्र वायु के गर्जन और आघातकारी (स्वर्यं) भयङ्कर शब्द वाले, (वज्रं) आघात के साधन विद्युत् को (ततक्ष) और भी तीक्ष्ण कर देता है उसी प्रकार यह राजा (पर्वते) पर्व २ खण्ड २ करके जुड़े हुए राष्ट्र में (शिश्रियाणं) आश्रय लिये हुए (अहिं) प्रजा के घातक को (अहन्) विनाश करे और (त्वष्टा) शिल्पी लोग (अस्मै) इस राजा के लिये (स्वर्यं) गर्जन और आघातकारी, सुखकारी शासन को स्थापन करने में हितकारी (वज्रं) शस्त्र, खड्ग और तोप आदि को (ततक्ष) गढ़ २ कर तैयार करें और जिस प्रकार (वाश्राः) हंभारती हुई (धेनवः इव) गौवें राष्ट्र में दूध की धाराएं बहाती हों उसी प्रकार (आपः) जलधाराएं, नदियें, नहरें भी (स्यन्दमानाः) बहती हुईं (अञ्जः) वे रोक टोक (समुद्रं) समुद्र को (अव जग्मुः) जावें, जिनसे कृषि के कार्य और समुद्रव्यापार सुख से हों ।

वृषायमाणो अवृणीत सोमं त्रिकद्रुकेष्वपिबत्सुतस्य ।
आ सायकं मघवादत्त वज्रमहन्नेनं प्रथमजामहीनाम् ॥ ७ ॥

ऋ० १ । ३२ । ३ ॥

भा०—जिस प्रकार सूर्य (वृषायमाणः) स्वयं मानों वर्षण करने वाले मेघ के समान (सोमं अवृणीत) सोम=जल को समुद्रों से उठा लेता है और (सुतस्य) वाष्परूप हुए उसको (त्रिकद्रुकेषु) ज्योति, गौ, किरण और आयु, जीवन, वायु इन तीनों रूपों में (अपिबत्) उसका पान कर लेता है उसी प्रकार राजा भी (वृषायमाणः) प्रजाओं में मेघ के समान सुख संपदाओं का वर्षण करनेहारे मेघ पर्जन्य का व्रत धारण कर के (सोमं) राष्ट्रों को (अवृणीत) पालन करे और उसमें से (सुतस्य) प्राप्त हुए कर

को (त्रिकद्रुकेषु) ज्योति=अपना तेज, सेना, पराक्रम, गौः=पशु वृद्धि और आयु=प्रजा के स्वास्थ्य और जीवनोपयोगी कार्य तीनों में (आपिबत्) लगादे । और जिस प्रकार (मघवा) मेघवायु (वज्रं आदत्त) विद्युत् को अपने भीतर धारण करता और (अहीनां) जलों के (प्रथमजां) प्रथम उत्पन्न हुए वाष्परूप मेघ को (अहन्) आघात करता है वर्षा कर देता है उसी प्रकार (मघवा) समस्त धनों का स्वामी राष्ट्रपति (सायकं) शत्रु का अन्त कर देने वाले (वज्रं) वज्र=शत्रु के निवारक शस्त्र को (आदत्त) ग्रहण करता है और (अहीनां) प्रजा के घातक लोगों के (प्रथमजां) सबसे प्रथम, आगे प्रकट होने वाले, उनके मुख्य २ पुरुष का (अहन्) विनाश करता है ।

॥ इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

[तत्र पञ्चसूक्तानि ऋचश्चैकोनत्रिंशत्]

[६] विद्वान् राजा का कर्तव्य ।

सम्पत्कामः शौनक ऋषिः । अग्निर्देवता । अग्निस्तुतिः । १–३ त्रिष्टुभः । ४ चतुष्पदा आर्षी पंक्तिः ५ विराट् । प्रस्तारपंक्तिः । पञ्चर्चं सूक्तम् ॥

समा॑स्त्वाग्न ऋ॒तवो॑ वर्धयन्तु संवत्स॒रा ऋष॑यो॒ यानि॑ स॒त्या ।
सं दि॒व्येन॑ दीदिहि रोच॒नेन॒ विश्वा॒ आ भा॑हि प्र॒दिश॒श्चत॑स्रः ॥१॥

यजु० अ० २७ । १ ॥

[६] १–(च०) 'आभाहि प्रदिशः पृथिव्याः' इति तै० सं० । (द्वि०) संवत्सर ऋषयो यानुसत्या । सं द्युम्नेन दीदिहि इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे (अग्ने) परमात्मन् ! (मासः) मास (ऋतवः) ऋतुएं और (संवत्सराः) संवत्सर या वर्ष (ऋषयः) मन्त्रद्रष्टा ऋषिगण और और प्राण और (यानि) जो (सत्या) सत्य ज्ञानमय वेदमन्त्र हैं वे भी (त्वा) तुझको (वर्धयन्तु) बढ़ाते हैं तेरी ही महिमा का उपदेश करते हैं तू (दिव्येन) दिव्य ज्ञानमय अलौकिक (रोचनेन) सबको प्रकाशित करने हारे सामर्थ्य से (दीदिहि) प्रकाशित है और सूर्य के समान (विश्वाः) समस्त (चतस्रः) चारों दिशाएं और (प्रदिशः) चारों उपदिशाएं भी (आभाहि) प्रकाशित करता है । अथवा विद्वान् के पक्ष में हे (अग्ने) विद्वान् तुझे सब मास, ऋतु, वर्ष, ऋषिगण और सत्य वेद वाणियां बढ़ावें, तू लोकोत्तर ज्ञान-प्रकाश से प्रकाशित हो और चारों दिशा उपदिशाओं को भी प्रकाशित कर ।

सं चेध्यस्वाग्ने प्र च वर्धयेममुच्च तिष्ठ महते सौभगाय ।
मा ते रिषन्नुपसत्तारो अग्ने ब्रह्माणस्ते यशसः सन्तु मान्ये ॥ २ ॥

यजु० अ० २७ । २ ॥

भा०—हे (अग्ने) परमात्मन् ! (च) और (सम् इध्यस्व) हमारे हृदय में उत्तमरीति से प्रकाशित हो, और (इमं च) इस जीव को (प्रवर्धय) खूब शक्ति, बल, विज्ञान से बढ़ा, उन्नत कर और (महते) बड़े भारी (सौभगाय) सौभाग्य समृद्धि के लिये, (उत्तिष्ठ च) सबसे उन्नत होकर विराजमान हो, (ते) तेरे (उपसत्तारः) समीप पहुंचने हारे, तेरे भक्त, योगी, मुमुक्षु जन (मा रिषन्) कभी विनाश और क्लेश को प्राप्त न हों हे (अग्ने) ज्ञानप्रकाशक ! (ब्रह्माणः) ब्रह्म=वेद के जानने हारे विद्वान् (ते) तेरे (यशसः) यशःस्वरूप कीर्त्ति से सम्पन्न (सन्तु) हों । (मा

२–(प्र०) 'प्रच बोधयेमम्' इति क्वाचित्कः पाठभेदः । 'प्रतिबोधयेनम्' इति पैप्प० सं० ।

अन्ये) और दूसरे अविद्वान्, विलासी लोग यश को प्राप्त न हों। राजा के पक्ष में—हे अग्ने राजन् तू तेज से प्रकाशित हो, इस राष्ट्र को बड़ा और बड़े भारी सौभाग्य और लक्ष्मी के लिये सबसे ऊपर विराजमान हो, तेरे समीप जाने हारे विद्वान्, सभासद् और सेवक विनष्ट पीड़ित न हों और ब्रह्मज्ञानी, ब्रह्मचारी, विद्वान् पुरुष यश प्राप्त करें और मूर्ख, विलासी लोग प्रतिष्ठा न पावें।

त्वामग्ने वृणते ब्राह्मणा इमे शिवो अंग्ने संवरणे भवा नः ।
सपत्नहाग्ने अभिमातिजिद् भव स्वे गये जागृह्यप्रयुच्छन् ॥ ३ ॥

यजु० अ० २७ । ३ ॥

भा०—गार्हपत्य अग्नि, परमेश्वर, आत्मा और राजा इन चारों का वर्णन समान रूप से करते हैं। हे अग्ने, परमात्मन्! राजन्! (इमे) ये (ब्राह्मणाः) ब्रह्म के ज्ञाता, ब्रह्मचारी, विद्वान् ब्राह्मणगण (त्वा) तुझको सबसे श्रेष्ठ करके (वृणते) अपना स्वामी राष्ट्रपति रूप से वरण करते हैं। हे अग्ने! सबके आगे चलने हारे! सबके नेता ज्ञानवन्! (नः) हमारे (संवरणे) रक्षाकार्य में तू (शिवः) कल्याणकारी (भव) हो। और हे (अग्ने) अग्नि के समान तेजस्विन्! तू (सपत्नहा) शत्रुओं और भीतरी शत्रु काम-क्रोध आदि का विनाशक और (अभिमातिजिद्) अभिमानी, उद्धत, अहंकार से प्रजा को खाजाने वाले दुष्ट उद्दण्ड पुरुषों को विजय करने हारा (भव) हो। और (स्वे) अपने (गये) प्राण, धन, गृह और राष्ट्र में (अप्रयुच्छन्) विना प्रमाद किये ही (जागृहि) जाग, सदा सावधान रह।

३–(द्वि०) 'शिवोग्ने प्रमृणो नेदिहि' (च०) 'स्वेक्ष दीदिह्यप्रयुच्छन्' इति पैप्प० सं०। 'सपत्नहा नो अभिमातिजिच्च' इति मै० सं०।

क्षत्रेणाग्ने स्वेन सं रभस्व मित्रेणाग्ने मित्रधा यतस्व ।
सजातानां मध्यमेष्ठा राज्ञामग्ने विहव्यो दीदिहीह ॥ ४ ॥

यजु० अ० २७ । ५ ॥

भा०—हे (अग्ने) राजन्! आप (स्वेन) अपने (क्षत्रेण) क्षात्रबल से, क्षत्रिय-सैन्य-बल से (सं रभस्व) अच्छी प्रकार विजय आरम्भ कर और हे (अग्ने) राजन्! (मित्रेण) मित्र के साथ मिलकर (मित्रधाः) मित्रशक्तियों अर्थात् मित्रभूत राजाओं को पोषण और धारण करता हुआ (यतस्व) युद्ध विजय करने का यत्न कर। और (सजातानां) समान बल के (राज्ञाम्) राजाओं के बीच में (मध्यमेष्ठाः) मध्यम वृत्ति से रहता हुआ (विहव्यः) विशेष युद्ध करने में अन्न, बलसम्पन्न होकर (इह) इस संसार में (दीदिहि) यशस्वी हो, विराजमान रह।

अति निहो अति सृधोऽत्यचित्तीरति द्विषः ।
विश्वा ह्यग्ने दुरिता तर त्वमथास्मभ्यं सहवीरं रयिं दाः ॥ ५ ॥

भा०—हे (अग्ने) राजन्! (त्वम्) तू (निहः) समस्त प्रजानाशक, शत्रु के प्रतिभटों को (अतितर) विजय कर और (सृधः[1]) राष्ट्र का

४–(प्र०) क्षत्रेणाग्ने स्वायुः, (द्वि० 'मित्रधेये यतस्व' (तृ०) 'मध्यमस्था एधि' इति यजु०। 'मित्रधेयं वचस्व' इति पैप्प० सं०।

५–'अतिनिदो अतिस्निधो' इति व्हिटनिकामितः पाठः। 'अतिस्निधो' इति श० पाण्डुरंगस्य कतिचिदादर्शेषु लभ्यते। 'अतिनुहोऽतिनिनृतीरत्यराती रतिद्विषः विश्वाह्यग्ने दुरिताचर इति पैप्प० सं०। (द्वि०) अतिस्निधो ऽत्यचित्तिमत्यरातिमग्ने। विश्वाह्यग्ने दुरितासहस्वाथा स्मभ्यᳫं सहवीराᳫं रयेदाः। इति यजु०।

१. स्रेधतिः कुत्सितकर्मा इति उव्वटः।

धन और बल शोषण करने और कुत्सित आचरण करने हारे लोगों को भी (अतितर) वश कर और (अचित्तीः) अपने देश और राजा के प्रति हितचित्त न रखने हारे द्रोही पुरुषों को भी (अतितर) वश कर। (द्विषः अति) प्रेम न करने वाले, द्वेष करने वाले लोगों को भी वश कर। हे अग्ने ! राजन् तू (विश्वा) समस्त (दुरिता) दुष्ट आचरणकारियों को (अतितर) वश कर। (अथ) और (अस्मभ्यं) हमें (सहवीरं) वीरपुत्रों सहित और वीरपुरुषों सहित (रयिं) धन लक्ष्मी को (दाः) दे, प्राप्त करा।

[७] सहनशीलता का उपदेश।

अथर्वा ऋषिः। वनस्पतिर्देवता, दूर्वास्तुतिः। १ भुरिक्। २, ३ अनुष्टुभौ। ४ विराडुपरिष्टाद् बृहती। चतुर्ऋचं सूक्तम्॥

अघद्विष्टा देवजाता वीरुच्छपथयोपनी।
आपो मलमिव प्राणैक्षीत्सर्वान् मच्छपथाँ अधि॥ १॥

भा०—(अघद्विष्टा) पाप से प्रेम न करने हारी, पापी लोगों का विरोध करने वाली (देवजाता) विद्वानों से उत्पन्न होने वाली (शपथ-योपनी) निन्दाजनक वचनों का मूल नाश करने वाली (वीरुत्) विरुद्ध भावना या विपरीत भावना (मलम्) मल को जिस प्रकार (आपः इव) जलधाराएं दूर कर देती हैं उस प्रकार (मत्) मुझसे (सर्वान् शपथान्) सब प्रकार के निन्दावचनों को (अधि, प्राणैक्षीत्) सर्वथा नष्ट करदे।

---

[७] १–'अथ व्युष्टा देवजाता वीडु शपथजम्भनी। आपो मलमिव प्राणिजन् अस्मत् सुशपथानधि' इति पैप्प० सं०।

मानसिक विरुद्ध भावना, प्रतीप-भावना या विपरीत भावना योगशास्त्र के शब्दों में विपक्ष भावना से अपने भीतर बैठी गाली देने की बुरी आदत को दूर करना चाहिये ।

यश्च॑ साप॒त्नः श॒पथो॑ जा॒म्याः श॒पथ॑श्च॒ यः ।
ब्र॒ह्मा यन्म॒न्यु॒तः श॒पात् सर्वं॒ तन्नो॑ अध॒स्प॒दम् ॥ २ ॥

भा०—(यः) जो (च) भी (सापत्नः) द्वेष करने हारे पुरुषों का हमारे प्रति (शपथः) निन्दाजनक वचन है और (जाम्याः) स्त्रियों, भगिनियों और समाजबन्धुओं के (यः च) भी जो (शपथः) निन्दावचन गाली आदि हों (मन्युतः) क्रोध के कारण (ब्रह्मा) वेद का जानने हारा विद्वान् भी (यत्) जो कुछ हमें (शपात्) बुरा भला कहता है (तत्) वह (सर्वं) सब कुछ (नः) हमारे (अधः पदम्) चरण के नीचे रहे, हमारे योग्य न हो, हम पर उसका प्रभाव न रहे, हम उसकी उपेक्षा करें, उसको सहन करें ।

दि॒वो मूल॒मव॑ततं पृथि॒व्या अध्युत्त॑तम् ।
तेन॑ स॒हस्र॑काण्डेन॒ परि॑ णः पाहि वि॒श्वतः॑ ॥ ३ ॥

भा०—(दिवः) जिस प्रकार सूर्य का (मूलम्) किरणसमूह जड़ों के समान नीचे आकर (पृथिव्या अधि उत् ततम्) पृथिवी के ऊपर और अन्तरिक्ष में फैलकर प्रकाशित करता है उसी प्रकार (दिवः) ज्ञानमय प्रकाश का (मूलम्) आदिस्रोत मूलसंहिता मय वेदज्ञान (दिवः) उस प्रकाशमय परमात्मा से (अवततं) प्राप्त हुआ है और (पृथिव्या अधि) पृथिवी के ऊपर (उत् ततम्) उत्कृष्टरूप में सर्वत्र फैला है। हे परमात्मन् ! (तेन) उस (सहस्रकाण्डेन) सहस्रों शाखाओं उपाङ्गों और विज्ञान-शाखाओं से संपन्न ईश्वरीय ज्ञान से (नः) हमें (विश्वतः) सब प्रकार से (परि पाहि) पूर्ण रूप से पालन कर ।

ब्रह्म और ब्रह्मज्ञान का वर्णन दर्भरूप से अथर्व० १६ । ३२ । १-१०) में देखो ।

परि॑ मा॒ परि॑ मे प्र॒जां परि॑ णः पाहि॒ यद्धन॑म् ।
अरा॑ति॒र्नो मा ता॑री॒न्मा न॑स्तारि॒षुर॒भिमा॑तयः ॥ ४ ॥

भा०—हे परमात्मन् ! (मां) मेरी (परिपाहि) सब प्रकार से रक्षा करो, (नः) हमारी (प्रजां) प्रजा को (परिपाहि) परिपालन करो और (यत्) जो (नः) हमारा (धनं) धन है उसे भी (परि पाहि) परिपालन कर । (नः) हम पर (अरातिः) अदानी, कजूंस शत्रुजन (मा तारीत्) वश न करे । और (अभिमानयः) अभिमानी पुरुष, गर्वी लोग भी (नः) हम पर (मा तारिषुः) वश न करें ।

श॒प्तार॑मेतु श॒पथो॒ यः सु॒हार्त् तेन॑ नः स॒ह ।
चक्षु॑र्मन्त्रस्य दु॒र्हार्दः॑ पृ॒ष्टीरपि॑ शृणीमसि ॥ ५ ॥

भा०—(शपथः) निन्दाजनक गाली आदि वचन (शप्तारं) निन्दा करने वाले पुरुष के पास ही (एतु) चला जावे । (यः) और जो (सुहार्त्) हमारे प्रति उत्तम हृदय वाला, मित्रभाव से रहता है (तेन सह) उसके साथ (नः) हमारा भी मैत्रीभाव है । और हम (चक्षुर्मन्त्रस्य) आंखों के इशारों से गुप्त २ सलाहें करने वाले (दुर्हार्दः) दुष्ट हृदय वाले पुरुष के तो (पृष्टीः) सब स्पर्शकारी, मर्मवेधक, करतूतों को (शृणीमसि) विनाश करें । या (पृष्टीः) पसलियों को भी (शृणीमसि) विनाश करें ।

४-(तृ०) 'अरातिर्णो मा' इति क्वाचित्कः पाठः ।

५-(द्वि०) 'सुहात्तेनः सह' (च०) 'पृष्ठी' इति क्वाचित्कः पाठः ।

[८] भव-रोगनाश और आत्मज्ञान ।

भृग्वंगिरा ऋषिः । यक्ष्मनाशनो वनस्पतिर्देवता । मन्त्रोक्तदेवतास्तुतिः ।
१, २, ५ अनुष्टुभौ, ३ पथ्यापंक्तिः, ४ विराट् । पञ्चर्चं सूक्तम् ॥

उदंगातां भगवती विचृतौ नाम तारके ।
वि क्षेत्रियस्य मुञ्चतामधमं पाशमुत्तमम् ॥ १ ॥

भा०—(भगवती) लक्ष्मीसम्पन्न, उत्तम शोभा से युक्त (विचृतौ) विचृति=रोगनाशक (नाम) नामवाले (तारके) मूला नाम नक्षत्र (उद् अगातां) जब उदय को प्राप्त होते हैं तब (क्षेत्रियस्य) क्षय, कुष्ठ आदि दूषित वंशागत रोग के (अधमं) नीच घृणित वा शरीर के अधोभाग में उत्पन्न होने वाले और (उत्तमं) उत्तम अर्थात् ऊर्ध्वभाग में उत्पन्न होने वाले (पाशम्) पीड़ाजनक कष्ट जाल को (विमुञ्चताम्) छुड़ावें । अर्थात् उन तारकाओं के उदयकाल में वंशक्रमागत रोगों की चिकित्सा की जाय ।

अध्यात्मपक्ष में—शक्तिसम्पन्न (विचृतौ) विविध रोगों के विनाशक (तारके) गतिकारक प्राण और अपान (उद् अगातां) ऊर्ध्वगति करते हैं तब (क्षेत्रियस्य) क्षेत्र=देह में रहने हारे आत्मा के (अधमं) मनुष्य योनि की अपेक्षा नीच (पाशं) कर्मजाल तिर्यक् आदि योनि में लेजाने वाले पाप, कर्म्म-बन्धन और (उत्तमं पाशं) पुण्यकर्मों के फलरूप देव-लोकादि शुभकर्म बन्धन सबको (विमुंचतां) तोड़ डालें ।

अथवा देवयान और पितृयान नामक दुःखनाशक 'तारक विचृत्' दो सृति, सरणि या दो पन्था हैं, वे दोनों मार्ग अधम तिर्यग् योनि और उत्तम देवयोनियों के पाश से मुक्त करावें । अथवा अविद्या और विद्या दो तारका हैं जिनसे आत्मा अधर्म, कर्मजाल मृत्यु और उत्तम पाश लोकैषणा से भी मुक्त होजाता है । अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते । ईशोपनिषद् । इति दिक् ।

अपेयं रात्र्युच्छत्वपोच्छन्त्वभिकृत्वरीः ।
वीरुत् क्षेत्रियनाशन्यप क्षेत्रियमुच्छतु ॥ २ ॥

भा०—(इयं) यह (रात्री) अन्धकारमय रात्रि, अज्ञान दशा (अप उच्छतु) दूर हट जाय । (अभिकृत्वरीः) चारों ओर प्रकाश करने हारी उपायें, या आत्मा का साक्षात् कराने वाली सात्विक दशाएं (अप उच्छन्तु) आगे आये पर्दों को हटा देवें । (क्षेत्रियनाशनी) देह में निवास करने वाली, आत्मा के देहवन्धन का नाश करने वाली (वीरुत्) सब विरुद्ध वाधाओं की विनाशिका, शुद्ध चितिशक्ति या ब्रह्मविद्यास्वरूप ब्रह्मवल्ली (क्षेत्रियम्) क्षेत्र, देह में बंधे आत्मा को (अप उच्छतु) देहवन्धन से मुक्त करदें । ओपधिपक्ष में—वंशागत क्षेत्रिय कुष्ठ, अपस्मार आदि रोगों को जिस प्रकार कुष्ठनाशनी लता विनाश करती है उसी प्रकार ब्रह्मविद्या देह वन्धन को नाश करे ।

बभ्रोरर्जुनकाण्डस्य यवस्य ते पलाल्या तिलस्य तिलपिञ्ज्या ।
वीरुत्० ॥ ३ ॥

भा०—(बभ्रोः) पीले (यवस्य) जौ के (अर्जुनकाण्डस्य) श्वेतकाण्ड या डण्डी को जिस प्रकार (पलाल्या) ऊपर के आवरणकारी तुप से अलग करलिया जाता है और जिस प्रकार (तिलस्य) तिल को (तिलपिञ्ज्या) तिलों की फली से मुक्त करदिया जाता है उसी प्रकार (क्षेत्रियनाशनी वीरुत्) देह बन्धन का नाश करने वाली, यह उपनिषद् रूप ब्रह्मवल्ली या चितिशक्ति (क्षेत्रियं) देह में बँधे आत्मा को बन्धन से (अप उच्छतु) मुक्त करे ।

यथा उपनिषद् में—'प्रवृहेन् मुञ्जादिवेषीक धैर्येण ।' जिस प्रकार मूंज से सींक को अलग कर लिया जाता है उसी प्रकार आत्मा को योगी अलग करे । काठक वल्ली में जिसप्रकार ' प्रवृह्यमेतमणुमाप्य ।' इत्यादि ।

२–(द्वि० तृ०) 'सुक्षेत्रियस्य मुञ्चता संग्रन्थ्या हृदयस्य च' इति पैप्प० सं० ।

नमस्ते लाङ्गलेभ्यो नम ईषायुगेभ्यः ।
वीरुत्० ॥ ४ ॥

भा०—हे योगिन् (ते) तेरे (लाङ्गलेभ्यः) जिस प्रकार उत्तम लता के बीज वपन करने के लिये क्षेत्र को सुधारने के लिये हल आवश्यक है उसी प्रकार चित्तभूमि को गोडने के लिये और उसमें विज्ञान रूप ब्रह्मज्ञानमय बीज वपन करने के लिये अपेक्षित जो योग के आठ अंग यम, नियम, आसन, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, समाधि रूप लाङ्गल अर्थात् हल हैं उनको (नमः) हम आदर की दृष्टि से देखते और उनकी साधना करते हैं और (ईषायुगेभ्यः) हल को खैंचने के लिये जिस प्रकार उसमें 'ईषा' नामक दण्ड और बैलों को जोड़ने के लिये जुआ लगा होता है उसी प्रकार यहां दो प्राण, आत्मा और बुद्धि या आत्मा और परमात्मा दोनों को जोड़ने के लिये ईषा= मानस प्रेरणारूप चितिशक्ति द्वारा योग करने हारे योगी जनों को भी (नमः) नमस्कार है । उनकी शिक्षा से (क्षेत्रियनाशनी वीरुत्) देह-बन्धन को काट डालने वाली ब्रह्मानन्द वल्ली (क्षेत्रियम् अप उच्छतु) आत्मा को बन्धन से मुक्त करे ।

नमः सनिस्रसाक्षेभ्यो नमः संदेश्येभ्यः । नमः क्षेत्रस्य पतये ।
वीरुत्क्षेत्रियनाशन्यप क्षेत्रियमुच्छतु ॥ ५ ॥

भा०—(सनिस्रसाक्षेभ्यः) जिनके अक्ष=अर्थात् इंद्रियों के वेग शान्त हो गये हैं ऐसे जितेन्द्रिय, योगाभ्यासी, परम ब्रह्मज्ञानियों को (नमः) नमस्कार है । (संदेश्येभ्यः) जिनके देहरूप देश, भोगायतन जीर्ण होगये हैं या जो आत्मज्ञान का उत्तम रूप से उपदेश करते हैं उनको भी (नमः) नमस्कार है और (क्षेत्रस्य) विनाशशील अथवा आत्मा के निवासयोग्य इस देह और इस ब्रह्माण्ड के स्वामी आत्मा और परमात्मा को भी (नमः) साक्षात् आदरपूर्वक नमस्कार है । (वीरुत् क्षेत्रियनाशनी) यह ब्रह्मानन्द-

वल्ली देहबन्धन को नाश करती है वह (क्षेत्रियम् अप उच्छतु) जीवात्मा को बन्धन से मुक्त करे ।

[६] आत्मज्ञान का उपदेश ।

भृग्वङ्गिरा ऋषिः । वनस्पतिर्यक्ष्मनाशनो देवता । मन्त्रोक्तदेवतास्तुतिः ।
१ विराट् प्रस्तारपंक्तिः । २—५ अनुष्टुभः । पञ्चर्चं सूक्तम् ।

दशवृक्ष मुञ्चेमं रक्षसो ग्राह्या अधि यैनं जग्राह पर्वसु ।
अथो एनं वनस्पते जीवानां लोकमुन्नय ॥ १ ॥

भा०—हे (दशवृक्ष) दश प्राणों के बन्धनों के काटने हारे परमात्मन् ! (इमं) इस जीव को (रक्षसः) विनाशकारी अज्ञान के (ग्राह्याः) ग्रहण करने वाली, पकड़ने वाली, फाही, भोगतृष्णा से (मुञ्च) मुक्त कर । (या) जो फाही, बांधने वाली रस्सी (एनं) इस जीव को (पर्वसु) पोरू २ पर (जग्राह) जकड़े बैठी है । हे वनस्पते ! समस्त वनों आत्माओं के पते स्वामिन् परमेश्वर ! (एनं) इस (जीवानां) समस्त जीवों के (लोकं) लोक को (उन्नय) आप उठाओ और इस देह के दुःखबन्धन या जन्म मरण के पाश से मुक्त करो ।

" ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः । " अथवा "वृक्ष इवस्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकः तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्" । "वनमित्युपासीत" इत्यादि उपनिषद् और वेदवाक्यों में ईश्वर को वृक्ष और जीव को वन शब्द से कहा है । रक्षसो ग्राही=तमः पाश । दशवृक्ष=वृक्षो व्रश्चनात् [निरु०] । से काटन 'वृक्ष' कहाता है दशों प्राण-बन्धनों को काटने से ईश्वर 'दश वृक्ष' कहाता है ।

---

[६] १-(प्र०) 'दशवृक्षो सं [मुं] चेमा महिंस्तो ग्राह्याश्च' इति पैप्प० सं० ।

आगा दुदंगादुयं जीवानां व्रातमप्यंगात् ।
अभूं दु पुत्राणां पिता नृणां च भगवत्तमः ॥ २ ॥

भा०—हे परमात्मन् ! (अयं) यह (जीवानां) जीवों का (व्रातं) समूह (आगात्) तेरी शरण में आता है और (उद् अगात्) इस दुःख बंधन से ऊपर उठता है और (अपि अगात्) अप्यय या मोक्ष को प्राप्त हो जाता है। और भगवन् ! आप सब (पुत्राणां) पुत्रस्वरूप जीवों के पिता (अभूत्) हो और (नृणां च) मनुष्यों में (भगवत्तमः) सब से श्रेष्ठ, ऐश्वर्य सम्पन्न भगवान् हो।

अधीतिरध्यंगादुयमधि जीवपुरा अंगन् ।
शतं ह्यस्य भिषजंः सहस्रमुत वीरुधः ॥ ३ ॥

भा०—(अयम्) यह जीव (अधीतीः) नाना गतियों, योनियों और अवस्थाओं को (अधि अगात्) प्राप्त होता है और (जीवपुरा) नाना प्राणधारी 'पुर' देहों को भी (अधि अगन्) प्राप्त होता है। (अस्य) इस जीव के (भिषजः) भव-बन्धन की चिकित्सा करने हारे भी (शतं) सैकड़ों गुरु हैं और (वीरुधः) जिस प्रकार दुखी पुरुष के रोग के दूर करने के लिये सैकड़ों वनलताएँ हैं उसी प्रकार जन्म मृत्यु के रोग को नाश करने के लिये ब्रह्मोपदेश करने हारी वल्लियां (उत) भी (सहस्रम्) सैकड़ों हैं।

देवास्ते चीतिमविदन् ब्रह्माण उत वीरुधः ।
चीतिं ते विश्वे अविदन् भूम्यामधि ॥ ४ ॥

२–(तृ०) 'अभूता पुत्राणां' इति पैप्प० सं० ।

३–(प्र०) 'अधीतमध्यगा' (द्वि०) 'अधिजीवपुरागात्', 'शतं तेऽस्य वीरुध सहस्रमुत भेषजः' इति पैप्प० सं० । 'शतं ह्यस्य भेषजः' इति ह्विटनिकामितः पाठः । ४–(प्र०) 'चातं ते देवा विदन्' (तृ० च०) 'चातं तेभ्यो तु मामविदम् भूम्यामधि ।' इति पैप्प० सं० । चितिमिति काश्चित्कः पाठः ।

भा०—हे (जीव) शरीरधारिन् ! (ते) तेरी (चीतिं) शरीर परमाणुओं के संग्रह और उपचय होने की विधि को (देवाः) विद्वान् (ब्रह्माणः) ब्रह्मज्ञानी, वेदवित् (वीरुधः) और ब्रह्मज्ञानी स्त्रियां या पुत्रोत्पादक माताएं या ब्रह्मवल्लियां ही (अविदन्) जानती हैं । (ते चीतिं ; तेरी देह में वृद्धि को प्राप्त होने की विधि (भूम्याम् अधि) इस पृथिवी पर (विश्वे देवाः) समस्त दिव्यगुण धारण करने हारे पदार्थ और प्राण और पन्चभूत आदि (अविदन्) जानते और प्राप्त करते या कराते हैं ।

यश्च॒कार॒ स निष्क॑र॒त् स ए॒व सु॒भिष॑क्तमः ।
स ए॒व तुभ्यं॑ भेष॒जानि॑ कृणव॑द् भि॒षजा॒ शुचिः॑ ॥ ५ ॥

भा०—(यः) जो परमात्मा इस देह को बनाता है (सः) वही (निष्करत्) पूर्ण रूप से ही इसका निर्माण करता है । उसमें किसी बात की त्रुटि नहीं रहने देता क्योंकि (सः, एव) वह ही (सुभिषक्तमः) सब प्रकार के मानस और शरीरपीड़ाओं का सबसे श्रेष्ठ चिकित्सक है । हे जीव बन्धनग्रंस्त ! आधि-व्याधि-पीड़ित जीव ! (सः एव) वह ही (तुभ्यं) तेरे लिये (भेषजानि) नाना प्रकार के रोगों को दूर करने के साधन (कृणवत्) उत्पन्न करता है और इसी प्रकार तू (भिषजा) उस उत्तम चिकित्सक के द्वारा स्वयं भी (शुचिः) शुद्ध मन और कार्य वाला होकर सुख प्राप्त कर । अथवा तू ही (भिषजा) उस चिकित्सक के संग से (शुचिः) आवरणमल से रहित होकर मुक्त हो जा ।

५–(प्र०) 'सुनिष्करत्' (तृं० च०) 'स एव तुभ्यं भेषजे चकार भिषजाति च' इति पैप्प० सं० । 'भिषजां शुचिः' इति ह्विटनिकामितः पाठः ।

[१०] आरोग्य और रोग विनाश ।

भृग्वंगिरा ऋषिः । निर्ऋतिर्द्यावापृथिव्यादयो नानादेवताः । १ ब्रह्मणा सह द्यावापृथिवी स्तुतिः । २ अद्भिः सह अग्निस्तुतिः । ओषधीभिः सह सोमस्तुतिश्च । ३ वातस्तुतिश्चतुर्दिक्स्तुतिश्च । ४, ६ वातपत्नी सूर्ययक्ष्मनिर्ऋतिप्रभृतिस्तुतिः । १ त्रिष्टुप्, २ सप्तपाद् अष्टिः । ३, ५, ७, ८ सप्तपादो धृतयः । सप्तपाद् अत्यष्टिः । ८ अत्रोत्तरौ द्वौ औष्णिहौ पादौ । अष्टर्चं सूक्तम् ॥

क्षेत्रियात् त्वा निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात् ।
अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥१॥

भा०—मैं (त्वा) तुझको (क्षेत्रियात्) क्षेत्र=शरीर में उत्पन्न होने वाले अथवा क्षेत्र=माता पिता के देह से प्राप्त होने वाले क्षय आदि रोग से, और (निर्ऋत्यः) ऋति=सम्यक् उपचार, लालन पालन और उत्तम शिक्षा के अभाव से होने वाले कष्ट और (जामिशंसाद्) भगिनी और स्त्रियों या बन्धुओं के वाक्-प्रहारों से और (द्रुहः) द्रोहों, अनिष्ट चिन्ताओं से और (वरुणस्य पाशात्) सबसे श्रेष्ठ परमात्मा के कर्म-कर्मफल रूप बन्धन से (मुञ्चामि) तुझे मुक्त करता हूं और (ब्रह्मणा) वेदज्ञान द्वारा (त्वा) तुझको (अनागसं) आगः=पापों से रहित शुद्ध पवित्र (कृणोमि) करता हूं । (ते) तुझे (द्यावापृथिवी) सूर्य और पृथिवी, पिता और माता, प्राण अपान (उभे) दोनों (शिवे) कल्याण, सुखकारक (स्ताम्) हों ।

शं ते अग्निः सहाद्भिरस्तु शं सोमः सहौषधीभिः ।
एवाहं त्वां क्षेत्रियान्निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो० । ० ॥ २ ॥

[१०] १-(प्र०) 'क्षेत्रियै त्वा' (तृ०) 'अनागसं ब्रह्मणे त्वा करोमि' (च०) 'उभे इमे' इति हि० गृ० सू० । द्यावापृथिवीह भूतम्' इति पैप्प० सं० ।
२-शं ते अग्निः सहादि्भरस्तु शं द्यावापृथिवी सहौषधीभिः । इति हि० गृ० सू० ।
शं ते अग्निः सह धीमिरस्तु शं गावः सहौषधीभिः, इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे व्याधिपीड़ित ! (ते) तुझे (अग्निः) यह अग्नि (अद्भिः) जलों के (सह) साथ (शं अस्तु , कल्याण और सुखकारक हो। (सोमः) सोमलता, सूर्य और चन्द्र (ओषधीभिः सह) अन्य ओषधियों सहित (शं) कल्याणकारी हो । (एवा) इस प्रकार (अहं) मैं (त्वा) तुझको (क्षेत्रियात्, निर्ऋत्या जामिशंसात् द्रुहः०) शरीर के भीतरी उत्पन्न होने हारे मात। पिता सम्बन्धी, लालन पालन सम्बन्धी, तथा पूर्व मन्त्रोक्त अन्य दुःखों से मुक्त करता हूं (अनागसं त्वा ब्रह्मणा कृणोमि०) तुझको वेदज्ञान से पापरहित करता हूं और द्यौ और पृथिवी दोनों तुझे कल्याणकारी हों ।

शं ते वातो अन्तरिक्षे वयो धात्छन्ते भवन्तु प्रदिशश्चतस्रः ।
एवाहं०।० ॥ ३ ॥

भा०—हे व्याधिपीड़ित पुरुष ! (ते) तुझे (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष में बहने वाला (वातः) वायु (शं) कल्याण और सुखकारी हो और (वयः) तेरी आयु को (धात्) पुष्ट करे, बढ़ावे और (चतस्रः) चारों (प्रदिशः) दिशाएं (ते) तेरे लिये (शं) कल्याण और सुख को देनेहारी (भवन्तु) होवें । 'एवाहं०' इत्यादि पूर्ववत् समान है ।

इमा या देवीः प्रदिशश्चतस्रो वातपत्नीरभि सूर्यो विचष्टे ।
एवा०।० ॥ ४ ॥

भा०—हे व्याधिपीड़ित ! तेरे चारों ओर (याः) जो (इमाः) ये (देवीः) प्रकाश वाली और (वातपत्नीः) बहने वाले वायु के संचार को

३-(प्र०) 'शमन्तरिक्षे सह वातेन ते' इति हि० गृ० सू० । 'सह वातमस्तु ते वयो' इति पैप्प० सं० । (द्वि०) 'शन्ते प्रदिशश्चतस्रो भवन्तु' इति हि० गृ० सू० , पैप्प० सं० ।

४-(प्र०) 'देवीश्चतस्रः प्रदिशः' इति पैप्प० सं० ।

पालन करने वाली, उत्तम शुद्ध वायु से युक्त (चतस्रः) चार (प्रदिशः) दिशाएं हैं (सूर्यः) सूर्य, सूर्य का प्रकाश (अभि) उनके ऊपर (विचष्टे) विशेष रूपसे पड़े और उनको प्रकाशित करे। ('एवाहं०') इत्यादि पूर्ववत समान है।

तासु त्वान्तर्जरस्या दधामि प्र यक्ष्म एतु निर्ऋतिः पराचैः।
एवा०।० ॥ ५ ॥

भा०—हे व्याधिपीड़ित ! (त्वा) तुझको मैं वैद्य (जरसि) वृद्धावस्था तक भी (तासु) पूर्वोक्त प्रकार से बतलाये गुण वाली दिशाओं में अर्थात् जिनमें उत्तम वायु और उत्तम सूर्य प्रकाश अच्छी प्रकार से हों उनमें ही (आदधामि) रहने का आदेश करता और तुझे रखता हूं (यक्ष्म) यक्ष्मा, राजयक्ष्मा जो सूक्ष्म जीवकीट या रोगजन्तुओं से उत्पन्न होने वाली व्याधि है वह (प्र एतु) सर्वथा दूर होजाय और (निर्ऋतिः) शरीर की सब क्लेशदशा भी (पराचैः) दूर होजाय। 'एवाहं०' इत्यादि पूर्ववत्।

अमुक्था यक्ष्माद् दुरितादवद्याद् द्रुहः पाशाद् ग्राह्याश्चोदमुक्थाः।
एवा०।० ॥ ६ ॥

भा०—हे व्याधिपीड़ित ! तू (यक्ष्मात्) राजयक्ष्मा रोग से इस प्रकार (अमुक्थाः) मुक्त होगया है और उसी प्रकार (अवद्याद्) निन्दनीय (दुरिताद्) दुराचार अर्थात् दुष्टप्रवृत्तियों और उनसे उत्पन्न दुःख व्याधि से और (द्रुहः) मानस-अनिष्ट-जनक चिन्ताओं से और (पाशाद्) शरीर को फांसने वाले या जकड़ने वाले अपस्मार आदि रोग से और (ग्राह्याः) ग्रहण कर लेने वाली या शरीर में शिथिलता उत्पन्न करने वाली पीड़ा से

५—'तास्वेवं जरस आदधामि' इति पैप्प० सं०।
६—(प्र०) 'अमोचि यक्ष्माद्' इति पैप्प० सं०।

(च) भी (उद् अमुक्थाः) सर्वथा उन्मुक्त होगया है । (एवा०) इत्यादि पूर्ववत् समान है ।

अहा अरातिमविदः स्योनमप्यभूर्भद्रे सुकृतस्य लोके ।

एवा०।० ॥ ७ ॥

भा०—और हे व्याधिपीड़ित जन ! इस पूर्व उपचार से तू अपने (अरातिम्) जीवन आनन्द के विनाशक शत्रु रोग को (अहाः) विनाश कर और (स्योनं) शरीर के सुख को भी (अविदः) प्राप्त कर । अब तू पुनः कभी कुमार्ग और कुपथ्य में न गिर कर सदा (सुकृतस्य) उत्तम सदाचार और धार्मिक पुण्यकार्य के (भद्रे) कल्याणकारी सुखजनक (लोके) शास्त्रप्रदर्शित मार्ग में (अभूः) रहा कर, नहीं तो पुनः कष्टों में फंस जायगा (एवाहं०) इत्यादि पूर्ववत् समान है ।

सूर्यमृतं तमसो ग्राह्या अधि देवा मुञ्चन्तो असृजन्निरेणसः । एवाहं त्वां क्षेत्रियान्निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात् । अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥ ८ ॥

भा०—(तमसः) अन्धकार से उत्पन्न होने और (ग्राह्याः) शरीर को आ चिपटने वाली रोगपीड़ा से (देवाः) विद्वान् लोग स्वयं (निरेणसः) निष्पाप धर्मात्मा होकर अन्यों को (मुञ्चन्तः) मुक्त करते हुए (सूर्यं) सबके प्रेरक सूर्यप्रकाश को ही (ऋतं) सब दुःखों के विनाशक और ठीक

७–' अविदस्योनम् ' इति काचित्कः पाठः । ' अभूद्भद्रे ' इति सायणाभिमतः पाठः ।

८–(प्र०) 'ग्राह्यायथा, देवा मुञ्चन्तु असृजन् परेतसः' इति पैप्प० सं० । ' देवा अमुञ्चन्नसृजन् व्येनसः ' इत्यपि क्वचित् ।

सत्य औषध (आधि असृजन्) बतलाते और प्रयोग करते हैं । 'एवाहं०' इत्यादि पूर्ववत् ।

इस सूक्त में नाना प्रकार की शरीर-व्याधियों, मानस-व्याधियों और वंशगत तपेदिक, क्षय, अपस्मार आदि रोगों की स्थिर चिकित्सा के लिये वेद में ब्रह्मचर्य के पालन, मां बाप के सदाचार, अग्नि से पका कर जलों का पान, सोम आदि ओषधियों का सेवन, स्वच्छ वायु का विहार, निरन्तर चलने हारे पवन और प्रकाश से उज्वल स्थानों में रहने का उपदेश है और साथ ही रोगमुक्त होजाने पर भी दुराचार से बचने और सदाचार से ही रहने और अन्धकारमय रोगोत्पादक स्थानों पर न रहने के लिये विशेष बल दिया है। वर्तमान की स्वास्थ्यरक्षा सम्बन्धी शिक्षा का यह आदर्श है ।

॥ इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥

[तत्र पञ्चसूक्तानि, अष्टाविंशत्यृचः]

[११] राजा को उपदेश ।

शुक्र ऋषिः । कृत्यादूषणं देवता । कृत्यापरिहरणसूक्तम् । स्राक्त्यमणेः सर्वरूपस्तुतिः । १ चतुष्पदा विराड् गायत्री । २-५ त्रिपदाः परोष्णिहः । ४ पिपीलिकामध्या निचृत् । पञ्चर्चं सूक्तम् ।

दूष्या दूषिरसि हेत्या हेतिरसि मेन्या मेनिरसि ।
आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम ॥ १ ॥

भा०—हे राजन् ! (दूष्याः) प्रजा में द्रोह करने हारी शत्रुमन्त्रणा को (दूषिः) तू विनाश करने वाला (असि) है । (हेत्याः) हनन करने हारे हथियार का भी (हेतिः) प्रतिहनन करने हारा तू हथियाररूप ही

(असि) है और (मेन्याः) अस्त्र द्वारा फेंके गये घातक साधन का भी तू (मेनिः) निवारक अस्त्र ही (असि) है । जब तू स्वयं इतना बलवान् है और अपने आगे आने वाले सब कष्टों को हटाने में समर्थ है तब (श्रेयांसं) सब से श्रेष्ठ मार्ग और पदार्थ को (आप्नुहि) प्राप्त कर और (समं) अपने समान बलशाली शत्रु को (अति क्राम) लांघ जा अथवा (श्रेयांसं आप्नुहि) कल्याणकारी बलवान् धार्मिक पुरुष का आश्रय ले और अपने समान बल वाले शत्रु को (अति क्राम) विजय करले ।

स्रक्त्यो॒ऽसि प्रतिस॒रो॒ऽसि प्रत्यभि॒च॒रण॒ो॒ऽसि ।
आप्नुहि० ॥ २ ॥

भा०—हे राजन् ! तू स्वयं (स्राक्त्यः) गतिशील, आगे बढ़ने हारा (असि) है, तू (प्रतिसरोऽसि) अपने शत्रु के बाधक बल के होते हुए भी उसके मुकाबले पर जाने में समर्थ (असि) है। और तू (प्रति अभिचरणः) अपने विरुद्ध प्रतिद्वन्द्वी को लक्ष्य करके उसपर चढ़ाई करने में समर्थ (असि) है । तब (आप्नुहि श्रेयांसम्) तू श्रेष्ठपद को प्राप्त कर और (समं अतिक्राम) अपने समान प्रतिरोधी को पार कर जा ।

प्रति॒ तम॒भि च॑र॒ यो॒३॒स्मान्द्वेष्टि॒ यं व॒यं द्वि॒ष्मः ।
आप्नुहि० ॥ ३ ॥

भा०—हे पुरुष राजन् ! (तं प्रति) उस पर (अभिचर) चढ़ाई कर (यः) जो (अस्मान्) हमें (द्वेष्टि) प्रेमरहित होकर द्वेष करता है और (यम्) जिसके प्रति (वयम्) हम भी (द्विष्मः) द्वेष करते हैं । इस प्रकार (आप्नुहि श्रेयांसम्) श्रेष्ठ राज्यपद को प्राप्त कर और (समम् अतिक्राम) समान पद के लिये स्पर्द्धा करने हारे प्रतिस्पर्द्धी को कुचल डाल ।

सू॒रिर॑सि वर्चो॒धा अ॑सि तनू॒पानो॑ऽसि ।
आप्नुहि० ॥ ४ ॥

भा०—हे राजन् ! (सूरिः असि[1]) तू विद्वान् धर्मोपदेष्टा या शत्रुतापक है अतएव (वर्चोधा असि) तू वर्चः-तेज का धारण करने हारा है । तू (तनूपानः असि) अपने और समस्त प्रजाओं के शरीरों की भी रक्षा करने हारा है । (श्रेयांसम् आप्नुहि) इसलिये सबसे अधिक श्रेष्टपद को तू ही प्राप्त कर और (समम्) अपने समान प्रतिस्पर्द्धी से (अति क्राम) अधिक आगे बढ़ ।

शुक्रो॑ऽसि भ्राजो॑ऽसि स्व॑रसि ज्योति॑रसि ।
आप्नुहि श्रेयां॑समति॑ स॒मं क्रा॑म ॥ ५ ॥

भा०—हे राजन् ! (शुक्रः, असि) तू राजा होने योग्य तेज और कान्ति को धारण करने वाला है । (भ्राजः असि) तू शत्रुओं को भून डालने वाला ग्रीष्म के सूर्य के समान है । (स्वः[2] असि) तू सब का प्रकाशक, उपदेशक, शत्रु का उपतापक या पीड़क है । (ज्योतिः असि) और स्वयं तेजस्वी और यशस्वी है । (श्रेयांसम् आप्नुहि) इसलिये सबसे श्रेष्ठ पद को प्राप्त कर और (समम् अतिक्राम) समान बल के प्रतिस्पर्द्धी को पार कर जा ।

इस सूक्त में राजा के चुनने और स्वयं श्रेष्ठ पद को प्राप्त करने के लिये उचित, योग्य गुणों का उपदेश किया गया है ।

---

१. सूरिः, 'स्वृ' शब्दोपतापयोः । शब्दनमुपदेशः तत्कर्त्ता सूरिर्विद्वान् अभिज्ञ, इति सायणः । अथवा उपतापकः शत्रूणां सूरिः ।

२. स्वः तापक इति सायणः । अत्रापि 'स्वृ' शब्दोपतापयोः ।

[१२] तपस्या की साधना ।

भरद्वाजप्रवरसूक्तम् । भरद्वाज ऋषिः । नाना देवताः । प्रथमया द्यावापृथिव्योः उरुगायस्यान्तरिक्षस्य च स्तुतिः । द्वितीयया देवस्तुतिः । तृतीयया इन्द्रस्तुतिः । चतुर्थ्या आदित्यवस्वंगिरःपितॄणाम् । सौम्यानां पञ्चम्या, महाविराट् तमोऽन्यानां, षष्ठ्या मरुताम् । सप्तम्या यमसदनात् ब्रह्मस्तुति । अष्टम्या अग्निस्तुतिः । २ जगती । १, ३–६ त्रिष्टुभः । ७, ८ अनुष्टुभौ । अष्टर्चं सूक्तम् ॥

द्यावापृथिवी उर्व१न्तरिक्षं क्षेत्रस्य पत्न्युरुगायोऽद्भुतः ।
उतान्तरिक्षमुरु वातगोपं त इह तप्यन्तां मयि तप्यमाने ॥१॥

भा०—(मयि) मेरे (तप्यमाने) तपस्या करते हुए (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी और उनके समान इस देह में प्राण और अपान और गृह में माता और पिता (उरु) यह विशाल (अन्तरिक्षं) अन्तरिक्ष आकाश एवं हृदय देश और गृह के अन्यजन, (क्षेत्रस्य पत्नी) समस्त लोकों के निवास-स्थान तीनों लोकों की पालकशक्ति वह ईश्वरीयशक्ति और इस देह की पालिका चितिशक्ति और घर में अपनी धर्मपत्नी (उरुगायः) विशाल ब्रह्माण्ड में व्यापक बड़े २ देव विद्वानों से कीर्ति, महायशस्वी, परब्रह्म और देह में यह आत्मा (अद्भुतः) रहस्यमय, आश्चर्यजनक, कभी न उत्पन्न होने वाला, अभूतपूर्व, (उत) और (वातगोपम्) वायु और प्राण से सुरक्षित यह (उरु) विशाल (अन्तरिक्ष) चेतन संसार और देह का इन्द्रियसंसार (ते) वे सब (इह) इस दशा में जब कि (मयि) मैं (तप्यमाने) तपस्या करता हूं (तप्यन्तां) तपस्या करें और तप में सहायक हों ।

[१२] १–(च०) 'तेषु तप्यन्ताम्' इति पैप्प० सं० ।

इदं देवाः शृणुत ये यज्ञिया स्थ भरद्वाजो मह्यमुक्थानि शंसति ।
पाशे स बद्धो दुरिते नि युज्यतां यो अस्माकं मन इदं हिनस्ति ॥२॥

भा०—तपस्या का प्रकार बतलाते हैं—हे (देवाः) विद्वान् पुरुषो ! और हे मेरी इन्द्रियो ! आप लोग (ये) जो यज्ञ=धर्म के अनुष्ठान में लगे हुए, एवं प्राणाहुति एवं जीव ब्रह्म की संगतिरूप समाधियज्ञ के योग्य (स्थ) हो (शृणुत) मेरी प्रतिज्ञा को सुनो । (मह्यम्) इस कार्य के लिये मुझे (भरद्वाजः) ज्ञान और अन्न से समस्त संसार का भरण पोषण करने हारा परमात्मा (उक्थानि) वेदमन्त्रों का (शंसति) उपदेश करता है और (यः) जो (अस्माकं) हमारे (इदं) इस (मनः) मननशील, आत्मा और चित्त को (हिनस्ति) विनाश करता है (सः) वह काम और क्रोध रूप शत्रु (दुरिते) दुर्दशा, दुःखमय कठिन (पाशे बद्धः) पाश में बँधा २ (नियुज्यताम्) नियुक्त रहे । मनुष्य अपने जीवन को यज्ञरूप पवित्र कार्य समझ कर वेद का स्वाध्याय, श्रवण, मनन करे और मन पर वश करने हारे काम क्रोध आदि शत्रु को अभेद्य नियन्त्रण में रख कर वश करे । इसके साथ ही जो दूसरों के चित्तों का नाश करता हो, दूसरों को गुलाम बनाता हो, उसको पाश में बांध कर दुःखदायी कार्यों में लगाना चहिये जिससे वह परतन्त्रता के कष्ट भोग कर पुनः दूसरों को परतन्त्र न करे ।

इदमिन्द्र शृणुहि सोमप यत् त्वा हृदा शोचता जोहवीमि ।
वृश्चामि तं कुलिशेनेव वृक्षं यो अस्माकं मन इदं हिनस्ति ॥ ३ ॥

भा०—हे (सोमप) समस्त संसार रूप सोम का पालन और प्रलय-

२-(प्र०) ' यज्ञियास्तु भरद्वाजो मह्यमुक्त्या[क्था] नि शंसतु ' इति पैप्प० सं० । ' उक्थानि शंसत ' इति वेबरकामितः पाठः ।

३-(तृ०) 'वृश्चासि तं कुलिशेन' इति पैप्प० सं० ।

काल में आदान करने हारे (इन्द्र) परमेश्वर ! (शोचता) पवित्र होते हुए (हृदा) हृदय, अन्तःकरण से (यत्) जब (त्वा) तुझे (जोहवीमि) स्मरण करता हूं तब तू (इदं) यह बात मेरी (शृणुहि) श्रवण कर कि (यः) जो (अस्माकं) हमारे (इदं) इस उत्तम (मनः) मननशील आत्मा का (हिनस्ति) घात करता और पीड़ा देता है उसको (कुलिशेन) वज्ररूप कुठार से (वृक्षं इव) जिस प्रकार वृक्ष को काट दिया जाता है या वज्र-अशनि के पात से वृक्ष फट जाते हैं उस प्रकार उस आत्मा के नाशक भीतरी मोह शत्रु को (वृश्चामि) ज्ञानमय वज्र से समूल काट डालूं, विनष्ट कर डालूं ।

अशीतिभिस्तिसृभिः सामगेभिरादित्येभिर्वसुभिरङ्गिरोभिः ।
इष्टापूर्तमवतु नः पितॄणामामुं ददे हरसा दैव्येन ॥ ४ ॥

भा०—मैं (अमुं) इस अन्तःशत्रु को (दैव्येन) देव=परमेश्वर सम्बन्धी परमात्मा के दिये (हरसा) मन्यु और बल से (आ ददे) अपने वश करता हूं । (नः) हमारे (पितॄणाम्) परिपालन करने वाले माता, पिता, गुरु, आचार्य इनका (सामगेभिः) सामवेदी, (आदित्येभिः) आदित्य के समान व्रत आचरण करने हारे पूर्ण बाल-ब्रह्मचारी अथवा यजुर्वेदियों, (वसुभिः) २४ वर्ष तक के ब्रह्मचर्यपालक विद्वानों अथवा ऋग्वेदियों और (अङ्गिरोभिः) रुद्र नैष्ठिक ब्रह्मचारियों या ब्रह्म वेद के ज्ञाताओं, ब्रह्माओं सहित (तिसृभिः) तीन (अशीतिभिः) आस्तियों से अर्थात् ८० त्रिक सूक्तों द्वारा या तीन प्रकार की शक्तियों द्वारा किये गये (इष्टापूर्तम्) यज्ञ, दान, तप, सत्संग और आपूर्त जनता के हितकारी अन्य उपकारक कार्यों को (नः) हमारी (अवतु) रक्षा करें ।

तीन प्रकार की शक्तियां—मन्त्रशक्ति, उत्साहशक्ति और प्रभुशक्ति अर्थात् वाणी, मन और काय; इन की शक्तियां अथवा ज्ञान, कर्म और उपासना ।

द्यावापृथिवी अनु मा दीधीथां विश्वे देवासो अनु मा रभध्वम् ।
आङ्गिरसः पितरः सोम्यासः पापमार्छत्वपकामस्य कर्ता ॥ ५ ॥

भा०—उक्त तपस्या का फल कहते हैं । (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी, माता और पिता, राजा और प्रजा (मा) मेरे (अनु) अनुकूल, मेरे पीछे २ (दीधीथां) यशस्वी हों (विश्वेदेवासः) समस्त विद्वान्‌गण (मा अनु) मेरी आज्ञा और इच्छा के अनुसार ही (रभध्वम्) कार्य आरम्भ करें । हे (आङ्गिरसः) अङ्ग=राष्ट्र रूप देह में बल और ज्ञान रस का संचार करने हारे (सोम्यासः) शान्त और शुभ गुणों से युक्त, उत्तम कार्यों के प्रवर्त्तक (पितरः) राष्ट्र के पालक जनो ! (अपकामस्य) निन्दनीय इच्छा का (कर्त्ता) करने हारा पुरुष (पापम्) पाप के फल को (आ ऋच्छतु) अवश्य प्राप्त हो ।

अतीव यो मरुतो मन्यते नो ब्रह्म वा यो निन्दिषत् क्रियमाणम् ।
तपूंषि तस्मै वृजिनानि सन्तु ब्रह्मद्विषं द्यौरभिसंतपाति ॥ ६ ॥
ऋ० ६ । ५२ । २ ॥

भा०—हे (मरुतः) विद्वान्‌गण वायुओं के समान राष्ट्र में बल धारण करने हारे देवगण नेता पुरुषो ! (यः) जो अपने को (अतीव) बहुत अधिक (मन्यते) मानता है अर्थात् अभिमानी या अहंकारी है और (यः वा) जो (नः) हमारे (क्रियमाणं) किये गये (ब्रह्म) वेदानुकूल ज्ञान, ब्रह्मचर्य और ब्रह्मज्ञान आदि की (निन्दिषत्) निन्दा करता है हमारे (तपूंषि) तप या तपाने हारे आयुध (तस्मै) उसके (वृजिनानि) वर्जन

५-(प्र०) 'मादीध्यतम्' (च०) 'पापसारिच्छेत्वपकामस्य' इति पैप्प० सं० ।
६-(प्र०) 'अति वा यो मरुतो', (द्वि०) ब्रह्म वायो क्रियमाणं निनित्सात्' (च०) 'ब्रह्मद्विषमभि तं शोचतु द्यौः' इति ऋ० । (द्वि०) निदिषत् इति क्वाचित्कः पाठः ।

करने हारे (सन्तु) हों। (ब्रह्मद्विषं) वेद और वेदज्ञों का द्वेष करने हारे पुरुष को यह (द्यौः) सूर्य के समान प्रकाश भी (अभि संतपाति) पीड़ित करता है। अथवा (तस्मै वृजिनानि तपूंषि सन्तु) उसके त्याज्य, निन्दनीय पापकर्म ही उसको सन्तापकारी हों। बल्कि (ब्रह्मद्विषं द्यौः अभिसंतपाति) वेद-ज्ञान के शत्रु को तो सूर्य भी और सूर्य के समान ज्ञान भी पीड़ा देता है।

सप्त प्राणानष्टौ मन्यस्तांस्ते वृश्चामि ब्रह्मणा।
अया यमस्य सादनमग्निदूतो अरंकृतः ॥ ७ ॥

भा०—देहबन्धन को ब्रह्मयोग से विनाश करता है। (सप्त प्राणाः) इस देह में सात तो प्राण हैं जो मूर्धास्थान में रहते हैं और (अष्टौ मन्यः) और आठ धमनियां हैं। उन सब देहबन्धनकारी साधनों को (ब्रह्मणा) ब्रह्मज्ञान से (वृश्चामि) काटता हूं। हे बद्धजीव ! अब तू (अग्निदूतः) ज्ञानवान् परमात्मा को अपना एकमात्र सहायक प्राप्त करके (अरंकृतः) सुशोभित या पर्याप्त कृतकृत्य होकर (यमस्य) संसार के नियन्ता परमेश्वर के (सादने) परम आश्रय मोक्षस्थान में (अयाः) चला जा और योगाग्नि से युक्त होकर मोक्ष का सुख भोग।

आ दंधामि ते पुदं समिद्धे जातवेदसि।
अग्निः शरीरं वेवेष्ट्वसुं वाग्पि गच्छतु ॥ ८ ॥

भा०—हे आत्मन् ! (ते) तेरे (पदं) निज स्वरूप (समिद्धे) अति देदीप्त, उज्ज्वल, तेजोमय (जातवेदसि) सर्वज्ञ, सर्वोत्पादक, परमब्रह्म में

७—यमाय सोमं सुनुत यमाय जुहुता हविः। यमं ह यज्ञो गच्छत्यग्निदूतो अरङ्कृतः इति ऋग्वेदे। (द्वि०) 'अष्टौ मज्ञस्तां' इति क्वाचित्कः पाठः। (तृ०) 'यमस्यगच्छ सादनम्' इति पैप्प० सं०।

८—'आदधामि ते पदं' इति पैप्प० सं०।

(आदधामि) स्थापित करता हूं। और (शरीरं) इस भौतिक शरीर को (अग्निः) यह अग्नि या योगाग्नि (वेवेष्टु) सब प्रकार से व्याप्त करले और (वाक् अपि) यह वाणी भी (असुं) प्राण में (गच्छतु) लीन होजाय। इसी प्रकार सब इन्द्रियगण अपने कारण में लीन होकर आत्मा के बन्धन का कारण न हों और मैं आत्मा विदेह-प्रकृतिलय को प्राप्त होकर मोक्षानन्द को प्राप्त होजाऊं। वेदों का मुख्यप्रतिपाद्य अध्यात्म विषय होने से पूर्वमन्त्र भी उक्त प्रकार से अध्यात्म में ही लगते हैं।

[१३] ब्रह्मचर्य व्रत में आयु, बल और दृढ़ता की प्रार्थना।

अथर्वा ऋषिः। १ अग्निर्देवता। २, ३ बृहस्पतिः। ४, ५ विश्वेदेवाः। १ अग्निस्तुतिः। २, ३ चन्द्रमसे वासः प्रार्थना। ४, ५ आयुः प्रार्थना। १–३ त्रिष्टुभः। ४ अनुष्टुप्। ५ विराड् जगती। पंचर्चं सूक्तम्॥

आयुर्दा अ॑ग्ने ज॒रसं॑ वृणा॒नो घृ॒तप्र॑तीको घृ॒तपृ॑ष्ठो अग्ने।
घृ॒तं पी॒त्वा मधु॒ चारु॒ गव्यं॑ पि॒तेव॑ पु॒त्रान॒भि र॑क्षतादि॒मम्॥ १॥

यजु० ३५। १७॥

[१३] १–(प्र०, द्वि०) 'आयुष्मानग्ने हविषा वृधानो घृतप्रतीको घृतयोनिरेधि' (च०) 'पितेव पुत्रमभिरक्षतादिमान् स्वाहा' इति यजु०। (प्र०) 'हविषा जुषाणः,' (च०) 'रक्षतादिमाम्' इति तै० सं०। (प्र०) 'आयुर्दा देव' (तृ०) 'घृतं पिबन्नमृतं चारु' (च०) 'पितेवपुत्रं जरसेम एमम्' इति मै० स०। तत्र (च०) जरसेनयेमम्' इति पैप्प० सं०। तत्रैव (प्र०) 'जरसं गृणानः' इति हि० गृ० सू०। याजुषे पाठे, (प्र०) 'हविषा वृधानः' (च०) 'पितेवपुत्रमभिरक्ष' इति शौ० गृ० सू०।

भा०—हे (अग्ने) ज्ञानवान् परमेश्वर ! ज्ञानप्रकाशक गुरो ! आप (आयुर्दाः) आयु, जीवन, प्राण को देने हारे हैं अतः आप (जरसं) वृद्ध अवस्था को (वृणानः) दूर करते हुए (घृतप्रतीकः) दीप्तिस्वरूप सूर्य के समान (घृतपृष्ठः) देदीप्यमान ज्ञानरसों के स्पर्श=प्रदान कराने हारे और समस्त तेजों के आश्रयभूत हैं। हे अग्ने ! परमात्मन् ! जिस प्रकार (पुत्रान्) पुत्रों को (पिता इव) पिता गाय के उत्तम मधुर घी के भोजनों से पुष्ट करता है और उनकी रक्षा करता है उसी प्रकार आप (घृतं) तेजोमय, स्नेहमय आदिस्रोत से निकले हुए (चारु आस्वादन करने योग्य, मनोहर, उत्तम (मधु) मधु के समान मधुर, अमृतस्वरूप या पुनः २ अभ्यास करने योग्य (गव्यं) आत्मा सम्बन्धी, (घृतं) ज्ञान को (पीत्वा) पान करा कर (इमम्) इस नव ब्रह्मचारी की (अभि रक्षतात्) सब प्रकार से रक्षा करें।

परि धत्त धत्त नो वर्चसेमं जरामृत्युं कृणुत दीर्घमायुः ।
बृहस्पतिः प्रायच्छद्वास एतत्सोमाय राज्ञे परिधातवा उ ॥ २ ॥

अथर्व० १९ । २४ । ४ ॥

भा०—हे विद्वान् पुरुषो ! (परि धत्त) आप तो अपने पुत्रों को ब्रह्मचारी बना कर उनको उत्तम रीति से परिपुष्ट करें और (वर्चसा) ब्रह्मवर्चस तेज से (नः) हमारे (इमं) इस ब्रह्मचारी को (धत्त) परिपुष्ट करो और इसकी (जरामृत्युं) वृद्धावस्था में ही मृत्यु प्राप्त कराने वाली (दीर्घं) बहुत बड़ी चिर (आयुः) आयु, जीवनकाल (कृणुत) बढ़ाने का यत्न करो। (बृहस्पतिः) वेदवाणी के स्वामी, आचार्य और परमेश्वर ने ही

२–(प्र० द्वि०) 'धत्त वाससैमं शतायुषं कृणुत दीर्घमायुः' इति हि० गृ० सू० । तत्र–'वाससैनाशतायुषीम्' इति मै० ब्रा० । 'परिधत्त वर्चसे' इति ह्विटनिकामितः पाठः ।

(एतत्) यह तेजोमय (वासः) सर्व देवमय देहरूप, आवासयोग्य चोला (राज्ञे) प्रकाशनशील, तेजस्वी (सोमाय) चन्द्र और सूर्य के समान तेजस्वी जीवात्मा को (परिधातवा) निरन्तर धारण करने के लिये (उ) ही (प्रायच्छत्) दिया है । इसी भावना से आचार्य अपने शिष्य को ब्रह्मचारी के योग्य वस्त्र देता है और उसके शिर पर, अग्नि पर घृतलिप्त हस्त तपा २ कर आशीर्वाद देता है ।

परीदं वासो अधिथाः स्वस्तयेऽभूर्गृष्टीनामभिशस्तिपा उ ।
शतं च जीव शरदः पुरूची रायश्च पोषमुपसंव्ययस्व ॥ ३ ॥

भा०—हे बालक ब्रह्मचारिन् पुरुष ! (इदं वासः) इस वस्त्र के समान देहमय चोला को (स्वस्तये) सुख, कल्याण करने और स्वयं सुखी होने के लिये (परि अधिथाः) तुम अपने समस्त शरीर पर धारण करो और (गृष्टीनाम्=कृष्टीनाम्) गौवों के समान इन विषयों और सभी पदार्थों और ज्ञानों तक पहुंचने हारी या विषयों की ओर खैंच लेजाने वाली इन्द्रियों या प्रजाओं को (अभिशस्तिपाः) विनाश से बचाने वाला (उ) ही (अभूः) बन । इस प्रकार (शतं) सौ (शरदः) वर्षों तक (च) और (पुरूचीः) और इससे भी बहुत अधिक (जीव) जी । (रायः च) नाना प्रकार धन सम्पदाओं और (पोषम्) पुष्टिजनक पदार्थों को (उपसंव्ययस्व) प्राप्त कर, संग्रह कर और अपने जीवन के निमित्त उचित रीति से उपयोग कर । इस मन्त्र से पति पत्नी को और गुरु अपने शिष्य को वस्त्र धारण करने और उससे अपने देह की रक्षा करने का उपदेश भी देता है । वेद ने शरीर

३-(द्वि०) 'कृष्टीनामभिशस्तिपा' इति ह्विटनिकामितः पाठः । पारस्करगृह्यसूत्रे च 'जरां गच्छ परिधत्स्ववासो भवा कृष्टीनामभिशस्तिपावा । शतं च जीव शरदः सुवर्चाः रयिं च पुत्राननु संव्ययस्वायुष्मतीदं परिधत्स्व वासः ।' इति पाठः ।

धारण के साथ वस्त्र धारण करने, गौओं और इन्द्रियों की रक्षा करने और जीवनोपयोगी धन संग्रह करने, चिरकाल तक जीने का उपदेश किया है।

एह्यश्मानमा तिष्ठाश्मा भवतु ते तनूः ।
कृण्वन्तु विश्वे देवा आयुष्टे शरदः शतम् ॥ ४ ॥

भा०— हे ब्रह्मचर्य पालन करने हारे बालक ! (एहि) गुरु के समीप आ और (अश्मानं) दृढ़ चट्टान के समान नित्य कूटस्थ ब्रह्म का (आ तिष्ठ) आश्रय ले (ते) तेरा (तनूः) शरीर भी (अश्मा भवतु) शिला के समान दृढ़ हो। (विश्वे देवाः) समस्त देवगण, विद्वान्‌गण और दिव्य पदार्थों की दिव्यशक्तियां (ते आयुः) तेरी आयु को (शतं शरदः) सौ वर्ष तक (कृण्वन्तु) कर दें।

यस्य ते वासः प्रथमवास्यं हरामस्तं त्वा विश्वेऽवन्तु देवाः ।
तं त्वा भ्रातरः सुवृधा वर्धमानमनु जायन्तां बहवः सुजातम् ॥५॥

भा०—हे बालक ! ब्रह्मचारिन् ! (यस्य ते) जिस तुझे हम (प्रथमवास्यं) सबसे प्रथम पहनने योग्य वस्त्र को तुझे (हरामः) पहिनाते हैं (तं त्वा) उस तुझको (विश्वे) समस्त (देवाः) विद्वान्‌गण (अवन्तु) रक्षा करें। (सुवृधा) उत्तम वृद्धि, उन्नति से (वर्धमानं) उन्नति पथ पर सदा बढ़ते और (सुजातं) उत्तम रूप में विद्यासम्पन्न होते हुए (तं त्वां) उस तेरे (अनु) पीछे पीछे तेरा अनुकरण करते हुए (बहवः) बहुत (भ्रातरः) भाई (जायन्ताम्) और भी हों। वेभी तेरे समान आचार्यकुल में आकर विद्या, सुशिक्षा और ब्रह्मचर्य से सम्पन्न हों।

४–' इममश्मानमातिष्ठाश्मेव त्वं स्थिरो भव । प्रमृणीहि दुरस्यत सहस्व पृतनायतः ' इति पैप्प० सं० ।

५–(प्र०) ' यस्य ते विश्वे, प्रवरस्यं ' इति हि० गृ० सू० ।

[१४] बुरी आदतों और कुस्वभाव के पुरुषों का त्याग !

चातन ऋषिः । शालाग्निर्मन्त्रोक्ताश्च देवताः । अग्निसूतपतीन्द्रादिस्तुतिः । १, ३, ५, ६ अनुष्टुभः । २ भुरिक् । ४ उपरिष्टाद् बृहती । षडृचं सूक्तम् ।

नि॒: सा॒लां धृ॒ष्णुं धि॒षणा॑मेकवा॒द्यां जि॑घत्स्व॒म् ।
स॒र्वाश्च॒ण्डस्य॑ न॒प्त्यो॑ ना॒शया॑मः स॒दान्वाः॑ ॥ १ ॥

भा०—(निः सालां) गृहशून्य, अवारागर्द, (धृष्णुं) ढीठ (धिषणां) हठी, (एकवाद्याम्) एक ही बात अर्थात् पैसा २ या भीख २ इत्यादि याचनावाक्य वार २ कहने वाली, (जिघत्स्वम्) और खाऊ होना आदि (सर्वाः) ये सब (चण्डस्य) अति प्रचण्ड क्रोधी के (नप्त्यः) साथ सम्बन्ध रखने वाली आदतें हैं (सदान्वाः) इन रुलाने या कलह कराने वाली पीड़ाओं को (नाशयामः) हम विनाश करें। अथवा-(निः नाशयामः) समूल नाश करें । सालां=अवारागर्द ।

निर्वो॑ गो॒ष्ठाद॑जामसि॒ निर॒क्षान्निरु॑पान॒सात् ।
निर्वो॑ मगुन्द्या दुहितरो गृ॒हेभ्य॑श्चातयामहे ॥ २ ॥

भा०—हे (मगुन्द्याः दुहितरः) मगुन्दी=ज्ञान को मिथ्या कहने की बुरी आदत से उत्पन्न होने वाली कुवासनाओं अथवा "मघं द्यति इति मगुन्दी दरिद्रता" दरिद्रता की दुहिता कन्या रूप अन्य विपत्तियो ! (वः) तुमको (गोष्ठात्) गोशाला अथवा गौ=वेदवाणी, ज्ञान कथा और आत्म के निवास-स्थान, हृदयदेश से (निः अजामसि) हम निकाल देते हैं । (अक्षात् निः) और आनन्द विनोद और व्यवहार या इन्द्रियगण से भी निकाल देते हैं (उपानसात्) अनस=यज्ञस्थान या देह से भी (निः) दूर करते हैं ।

---

[१४] १–'चण्डस्य नप्त्यः । इति पैप्प० सं० ।
२–(द्वि०) 'निर्योनिन्नृषा नच', (च०) 'चातयामसि' इति पैप्प० सं० ।

और (गृहेभ्यः निः चातयामहे) अपने घरों से भी हम परे करते हैं। बुरी आदत और बुरी आदत वाले दोनों को उक्त स्थानों से निकाल देने का उपदेश है।

असौ यो अधराद् गृहस्तत्र सन्त्वराय्यः।
तत्र सेदिर्न्युच्यतु सर्वाश्च यातुधान्यः॥ ३॥

भा०—(यः) जो (गृहः) घर, निवासस्थान (अधराद्) नीचे अन्धकारमय है (तत्र) वहां (सर्वाः) सब (यातुधान्यः) प्रजा के पीड़ा देने वाली स्त्रियां भी (अराय्यः) लक्ष्मी से रहित होकर (सन्तु) रहें। (तत्र) वहां ही (सेदिः) दुःख और भयकारक पापी जन भी (नि उच्यतु) रहा करें।

भूतपतिर्निरजत्विन्द्रश्चेतः सदान्वाः।
गृहस्य बुध्न आसीनास्ता इन्द्रो वज्रेणाधि तिष्ठतु॥ ४॥

भा०—(भूतपतिः) समस्त प्राणियों और पञ्चभूतों की शक्तियों का पति, पालन और वश करने वाला और (इन्द्रः) ऐश्वर्यशील, सूर्य के समान असह्य राजा (सदान्वाः) सदा एक दूसरे पर गालियां फेंकने वाली स्त्रियों को (इतः) हमारे इस घर से (निर् अजतु) निकाल दे। या सदा रुलाने वाली पीड़ाओं रोग व्याधियों को दूर करे और जो (गृहस्य) घर के (बुध्ने) आश्रयभूत फर्श और नींव के भाग में (आसीनाः) बैठी हों (ताः) उनको भी (इन्द्रः) राजा (वज्रेण) दूर करने के उपाय या दण्ड से (अधि तिष्ठतु) उन पर काबू करे।

३–(प्र० द्वि० तृ०) 'अनुष्मिन्नधरे गृहे सर्वास्त्वन्तारायः। तत्र पाप्मानियच्छतु' इति पैप्प० सं०।

४–' ता वज्रेणाधि तिष्ठतु ' इति पैप्प० सं०।

यदि स्थ क्षेत्रियाणां यदि वा पुरुषेषिताः ।
यदि स्थ दस्युभ्यो जाता नश्यतेतः सदान्वाः ॥ ५ ॥

भा०—हे दुःखकर पीड़ाओ (यदि) यदि तुम (क्षेत्रियाणां) क्षेत्र=शरीर से शरीर में या मा बाप से पुत्रादि में संक्रमण करने वाले रोगों को मूल (स्थ) हो (यदि वा) या जो (पुरुषेषिताः) शत्रु पुरुषों से प्रेरित हो (यदि) या (दस्युभ्यः) विनाशकारी दुष्ट चौर डाकू आदि पुरुषों के कारण उत्पन्न हुई (स्थ) हो तो भी (सदान्वाः) सदा चिल्लाने, रुलाने और कलह कराने वाली होने के कारण तुम (इतः) यहां से तुम (नश्यत) भाग जाओ ।

परि धामान्यासामाशुर्गाष्ठामिवा सरन् ।
अजैषं सर्वानाजीन् वो नश्यतेतः सदान्वाः ॥ ६ ॥

भा०—हे (सदान्वाः) सदा कलह और शोर गुल मचाने वाली स्त्रियो या आपत्तियो ! (वः) तुम्हारी (सर्वान् सब (आजीन्) आक्रमणों और आगमन के उपायों और प्रतिस्पर्द्धाओं को मैं (अजैषं) जीत चुका हूं इसलिये अब तुम (इतः) यहां से (नश्यत) भाग जाओ । हे पुरुषो ! जिस प्रकार (आशुः) शीघ्रगामी घोड़ा (गाष्ठामिव[1]) अपनी परम अवधि पर पहुंच जाता है उसी प्रकार विद्वान् लोग (आसाम्) इन सब पीड़ा-

---

५–(प्र०) 'या देवा व क्षेत्रियाद्' (तृ०) यदस्तुदक्षिभो [स्युभ्यो] जाता' इति पैप्प० सं० ।

६–' सिवासरम् ' इति ह्विटनिकामितः पाठः । ' आशुर्ग्लाष्ठामिवासरम् ' इति सायणाभिमतः पाठः । ' आशुर्गाष्ठामिवासरम् ' इति पैप्प० सं० । ' आशुर्काष्ठाम ' इति काचित्कः पाठः ।

१. ' ग्लाष्ठागन्तव्योवधिः, आज्यन्तःकाष्ठापर पर्यायः ' इति सायणः ।

कारिणी विपत्तियों, मायाविनी स्त्रियों के (धामानि) आश्रय स्थानों तक (परि असरन्) इनका पीछा करें, आक्रमण करें और उन स्थानों से उनको निकाल दें ।

अध्यात्म में - १) देह में रहने वाली चण्ड=क्रोध या काम की नतिनी स्वरूप पांच दुष्ट वृत्तियां हैं, साला=मनकी कुचेष्टा, धृष्णु=ढिठाई. एकवाचा, निन्दाजनक वाणी, जिघत्सु=लोभ । (२) इनको गोष्ठ=यह इन्द्रियों रूप गौओं के वाड़े देह से इन्द्र=आत्मा निकाल दे । अक्ष=चक्षु इन्द्रिय से निकाल दे, नासिका से निकाल दे और (गृहेभ्यः) विषयों के ग्रहणशील इन्द्रियों से भी निकाल दे । ये सब मगुन्दी=मिथ्याज्ञान से उत्पन्न होने से उसी की प्रवृत्ति हैं । (३) सब बुरी दुष्प्रवृत्तियां अधर—गृह=उपस्थ के साथ सम्बन्ध रहती हैं । और वही सेदि=पाप अर्थात् सब दुःखों का मूल-कारण हैं । (४) भूतपति-मन और इन्द्र आत्मा गृह-शरीर के मूल आश्रय उपस्थ भाग में रहने वाली काम की दुष्प्रवृत्तियों पर ज्ञान और वैराग्य रूप वज्र से शासन करे । (५) इनमें से कुछ तो क्षेत्रिय=देह की चेष्टाओं से उत्पन्न होती हैं और कुछ पुरुष=आत्मा के भीतर बैठी वासनाओं के कारण हैं । और कुछ दुष्कर्मरूप दस्यु या भीतर काम क्रोध लोभमोहादि अन्तः शत्रुओं या इन्द्रियों के कारण उत्पन्न होती हैं । उन सबको हृदय से दूर कर देना चाहिये । (६) आशु=व्यापक या शीघ्रगामी मन बड़ी तीव्रगति से इनके सब स्थानों में परम अवधि तक पहुंच जाता है । और मैं आत्मा सब की परम सीमा तक जाकर उनको जीत कर उनसे बढ़ जाता हूं । हाऊ हाऊ मचाने वाली ये दुष्प्रवृत्तियां आत्मा से दूर हों ।

[१५] अभय की भावना ।

ब्रह्मा ऋषिः । प्राणो देवता । १ ६ त्रिपाद् गायत्रम् । षड्र्चं सूक्तम् ॥

यथा द्यौश्च पृथिवी च न बिभीतो न रिष्यतः ।
एवा मे प्राण मा बिभेः ॥ १ ॥

भा०—यथा जिस प्रकार (द्यौः च) द्यौ लोक, सूर्य और (पृथिवी च) पृथिवी (न बिभीतः) भय नहीं करते (न रिष्यतः) कभी नष्ट भी नहीं होते (एवा) इसी प्रकार हे (मे) मेरे (प्राण) प्राण ! (मा) मत (विभेः) डर ।

यथाहश्च रात्री च न बिभीतो० ॥ २ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (अहश्च रात्री च) दिन और रात्रि (न बिभीतः) न किसी से भय करते और (न रिष्यतः) न किसी को आप नष्ट करते और न नष्ट होते हैं इसी प्रकार (एवा मे प्राण मा बिभः) हे मेरे प्राण तू भी किसी से भय मत कर ।

यथा सूर्यश्च चन्द्रश्च० ॥ ३ ॥

भा०—(यथा सूर्यश्च चन्द्रश्च०) और जिस प्रकार सूर्य और चन्द्र न भय करते और न किसी को नष्ट करते और न नष्ट होते हैं उसी प्रकार हे मेरे प्राण तू भय मत कर । तूभी नष्ट नहीं होगा ।

यथा ब्रह्म च क्षत्रं च० ॥ ४ ॥

भा०—(यथा ब्रह्म च) और जिस प्रकार ब्रह्मज्ञान या ब्राह्मण और (क्षत्रं च) और बल या क्षत्रिय दोनों वर्ण नहीं डरते और न नष्ट होते हैं उसी प्रकार हे मेरे प्राण तू भी भय मत कर । तू भी नष्ट नहीं होगा ।

यथा सत्यं चानृतं च० ॥ ५ ॥

---

[१५] १–' एवं मे प्राण माबिभ एवं प्राण मारिष ' इति मा० गृ० सू० ।

भा०—(यथा सत्यं च) और जिस प्रकार सत्य और (अनृतं च) असत्य अर्थात् व्यावहारिक प्रयोग अथवा सत्यं=परमार्थ और अनृत=ऐहिक अर्थ दोनों (न बिभीतः) भय नहीं करते और न नष्ट होते हैं इसी प्रकार हे प्राण तू भी भय मत कर और नष्ट मत हो। लोक व्यवहार प्रवाह से अनित्य होने पर भी नष्ट नहीं होता।

यथा भूतं च भव्यं च न बिभीतो न रिष्यतः।
एवा मे प्राण मा बिभेः ॥ ६ ॥

भा०—(यथा भूतं च) और जिस प्रकार भूतकाल और (भव्यं च) भविष्यत् काल दोनों (न बिभीतः) भय न करते और (न रिष्यतः) नष्ट नहीं होते उसी प्रकार हे मेरे प्राण! तू भी भय मत कर।

---

[१६] रक्षा की प्रार्थना।

ब्रह्मा ऋषिः। प्राणापानौ आयुश्च देवताः। १, ३ एकपदा आसुरी त्रिष्टुप्। २ एकपदा आसुरी उष्णिक्। ४, ५ द्विपदा आसुरी गायत्री। पञ्चर्चं सूक्तम् ॥

प्राणापानौ मृत्योर्मा पातं स्वाहा ॥ १ ॥

भा०—हे (प्राणापानौ) प्राण और अपान! तुम दोनों (मा) मुझ को (मृत्योः) शरीर के छूट जाने के भय से (पातं) बचाओ (स्वाहा) इस प्रकार प्रत्येक अपने आत्मा में दृढ़ संकल्प करे और प्राणायाम का अभ्यास करे।

स्वाहा—स्वाहेत्येतत् सु आहेति वा, स्वा वागाहेति वा, स्वं प्राह इति वा, स्वाहुतं हविर्जुहोतीति वा (नि० ८। २०) स्वैव ते वाग् 'अब्रवीत् सोऽजुहोत् स्वाहा इति तत् स्वाहाकारस्य जन्म [तै० ब्रा० २। १। २। ३।]

द्यावापृथिवी उपश्रुत्या मा पातं स्वाहा ॥ २ ॥

भा०—हे (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी ! (मा) मुझे (उपश्रुत्या) श्रवण शक्ति द्वारा (पातं) पालन करो । (स्वाहा) यह मैं उत्तम प्रार्थना करता हूं ।

सूर्य चक्षुषा मा पाहि स्वाहा ॥ ३ ॥

भा०—हे (सूर्य) सब के प्रकाशक सूर्य ! एवं उसके समान सब के प्रकाशक प्रभो ! (मां) मुझको (चक्षुषा) दर्शन इन्द्रिय के द्वारा (पाहि) पालन कर (स्वाहा) इस प्रकार योगी अपने प्रभु को सम्बोधन करके शक्ति प्राप्त करे ।

अग्ने वैश्वानर विश्वैर्मा देवैः पाहि स्वाहा ॥ ४ ॥

भा०—हे (अग्ने) तापकारी ! हे (वैश्वानर) समस्त शरीरों में व्यापक सब के नेता ईश्वर और एवं जाठररूप में या घर २ में विद्यमान वैश्वानर आत्मन् ! (मां) मुझको (विश्वैः) समस्त (देवैः) विद्वानों और दिव्य पदार्थों और इन्द्रियों द्वारा (पाहि) पालन कर । (स्वाहा) यह उत्तम प्रार्थना है अर्थात् ईश्वर हमारी इन्द्रियों की रक्षा करे ।

विश्वम्भर विश्वेन मा भरसा पाहि स्वाहा ॥ ५ ॥

भा०—हे (विश्वम्भर) हे समस्त संसार के भरण पोषण करने हारे परमात्मन् ! (मा) मुझे (विश्वेन) समस्त (भरसा) पोषण शक्ति से (पाहि) पालन कर (स्वाहा) ऐसी उत्तम प्रार्थना स्वयं करनी चाहिये ।

आयुष्काम पुरुष इस सूक्त का मनन किया करे ।

---

[१६] २–' उपश्रुते ' इति पैप्प० सं० ।

३–' चक्षुषी ' इति पैप्प० सं० ।

[१७] ओज, सहनशीलता, बल, आयु और इन्द्रियों की प्रार्थना।

ब्रह्मा ऋषिः। प्राणापानौ वायुश्च देवताः। १—६ एकावसाना आसुर्यस्त्रिष्टुभः। ७ आसुरी उष्णिग्। सप्तर्चं सूक्तम् ॥

ओजोस्योजो मे दाः स्वाहा ॥ १ ॥ यजु० १९ । ९ ॥

भा०—हे परमात्मन् (ओजः) आप ओज कान्ति और तेजस्वरूप हैं। आप (मे) मुझे (ओजः) कान्ति, ओज (दाः) दें। (स्वाहा) यह मेरी उत्तम प्रार्थना है।

सहोसि सहो मे दाः स्वाहा ॥ २ ॥ यजु० १९ । ९ ॥

भा०—हे परमात्मन्! आप (सहः असि) सहनशील सब संसार की शक्तियों को सहन करने हारे हैं आप (मे) मुझे (सहः) सहनसामर्थ्य (दाः) प्रदान करें (स्वाहा) ऐसी उत्तम प्रार्थना है।

बलमसि बलं मे दाः स्वाहा ॥ ३ ॥ यजु० १९ । ९ ॥

भा०—(बलम् असि) हे परमात्मन्! आप बलस्वरूप हैं आप (मे बलं दाः) मुझे बल दें। (स्वाहा) यह उत्तम प्रार्थना है।

आयुरस्यायुर्मे दाः स्वाहा ॥ ४ ॥

भा०—हे परमात्मन्! (आयुः असि) आप सबको जीवन प्राप्त करने हारे सब के आयुरूप जीवनाधार हैं। (मे आयुः दाः) मुझे दीर्घ आयु प्रदान करें (स्वाहा) मेरी यह उत्तम प्रार्थना करता हूं।

श्रोत्रमसि श्रोत्रं मे दाः स्वाहा ॥ ५ ॥

---

[१७] २—' सहोदा अग्नेः सहोमेधाः स्वाहा ' इति पैप्प० सं०।
३—' बलदा अग्निर्बलं मे धाः स्वाहा ' इति पैप्प० सं०।
४—' धाः ' इति पैप्प० सं०।

भा०—हे परमात्मन् ! आप (श्रोत्रस् असि) सबकी शुभ प्रार्थनाओं का श्रवण करने हारे और सबको श्रवणशक्ति के दाता हैं (मे श्रोत्रं दाः) मुझे भी श्रवणशक्ति का दान करें (स्वाहा) मैं ऐसी शुभ प्रार्थना करता हूं ।

चक्षु॑रसि॒ चक्षु॑र्मे दाः॒ स्वाहा॑ ॥ ६ ॥

भा०—हे समस्त संसार के प्रकाशक, सब के द्रष्टा परमात्मन् ! आप (चक्षुः असि) समस्त संसार के दर्शक, प्रकाशक, चक्षुःस्वरूप हैं (मे चक्षुः दाः) मुझे भी चक्षु प्रदान करो, (स्वाहा) मैं यह उत्तम प्रार्थना करता हूं ।

प॒रि॒पाण॑मसि परि॒पाणं॑ मे दाः॒ स्वाहा॑ ॥ ७ ॥

भा०—हे परमेश्वर ! आप (परिपाणम् असि) सब संसार के परि-पालन करने हारे हो, (मे) मुझे भी (परिपाणं) समस्त इन्द्रियों और प्रजाओं के परिपालन करने का सामर्थ्य (दाः) प्रदान करो, (स्वाहा) यह उत्तम प्रार्थना करता हूं ।

इति तृतीयोऽनुवाकः ।

[तत्र सप्त सूक्तानि द्वाचत्वारिंशच्च ऋचः]

[१८] शत्रुओं के नाशक बल की प्रार्थना ।

सम्पत्कामश्चातन ऋषिः । अग्निर्देवता साम्नी बृहती । पञ्चर्चं सूक्तम् ॥

भ्रा॒तृ॒व्य॒क्षय॑णमसि भ्रातृव्य॒चात॑नं मे दाः॒ स्वाहा॑ ॥ १ ॥

---

[१८] १–‘ भातृव्य क्षीणमसि भातृव्यजम्भनमसि स्वाहा ’ इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे परमात्मन् ! तू (भ्रातृव्यक्षयणम्) भ्रातृत्वभाव के विनाशकारी शत्रु को भी विनाश करने हारा (असि) है (मे) मुझे भी (भ्रातृव्यचातनं) शत्रु का नाशक बल (दाः) दान कर (स्वाहा) यह मेरी उत्तम प्रार्थना है।

सपत्नक्षयणमसि सपत्नचातनं मे दाः स्वाहा ॥ २ ॥

भा०—हे परमेश्वर ! आप (सपत्नक्षयणं) हमारे पदार्थों पर अपना स्वामित्व चाहने वाले शत्रु का विनाश करते (असि) हो अतः (मे) मुझे भी (सपत्नचातनं) शत्रु का नाशकारी बल (दाः) प्रदान करें (स्वाहा) यह मेरी शुभ प्रार्थना है।

अरायक्षयणमस्यरायचातनं मे दाः स्वाहा ॥ ३ ॥

भा०—हे परमेश्वर ! आप (अरायक्षयणम् असि) दान न करने हारे कंजूस, स्वार्थी, अनुदार पुरुषों का नाश करते हो अतः (मे) मुझे भी (अरायचातनं) ऐसे लोलुप पुरुषों के विनाश करने का सामर्थ्य (दाः) प्रदान करो। (स्वाहा) यह मेरी शुभ प्रार्थना स्वीकार करें।

पिशाचक्षयणमसि पिशाचचातनं मे दाः स्वाहा ॥ ४ ॥

भा०—हे परमेश्वर ! आप (पिशाचक्षयणम् असि) दूसरों के मांस के लोभी हिंसक क्रूर पुरुषों के नाशक हो, अतः (मे) मुझे भी (पिशाचचातनं) ऐसे मांसाशी, क्रूर पुरुषों का नाश करने का सामर्थ्य (दाः) प्रदान करो। (स्वाहा) यह मेरी प्रार्थना स्वीकार करें।

सदान्वाक्षयणमसि सदान्वाचातनं मे दाः स्वाहा ॥ ५ ॥

भा०—हे परमात्मन् ! (सदान्वाक्षयणम् असि) आप निरन्तर रुलाने और कष्ट देने वाली आपत्तियों के विनाशक हो, अतः (मे) मुझे भी (सदान्वाचातनं) ऐसे परपीड़क आपत्तियों के नाश करने का सामर्थ्य (दाः) दीजिये। (स्वाहा) यह मेरी प्रार्थना स्वीकार करें।

[१९] द्वेष करने वालों के लिये प्रार्थना ।

अथर्वा ऋषिः । अग्निर्देवता । १–४ निचृत् सामगायत्री, ५ भुरिग् विषमा । पञ्चर्चं सूक्तम् ॥

अग्ने॒ यत्ते॒ तप॒स्तेन॒ तं प्रति॑ तप॒ यो॑३ऽस्मान्द्वेष्टि॒ यं व॒यं द्वि॒ष्मः ॥१॥

भा०—हे (अग्ने) अग्नि के समान तपाने हारे परमात्मन् ! (यः) जो (अस्मान्) हमें (द्वेष्टि) द्वेष करता है (यं) और जिस पापी पुरुष को (वयं) हम भी (द्विष्मः) प्रेम नहीं करते (तं) उसको (यत्) जो तेरा (तपः) संतापकारी पापनिवारक बल है (तेन) उससे (प्रति तप) उसे संतापित कर, जिससे वह पश्चात्ताप करके पाप कार्य को छोड़ दे ।

अग्ने॒ यत्ते॒ हर॒स्तेन॒ तं प्रति॑ हर॒ यो॑३ऽस्मान्द्वेष्टि॒० ॥ २ ॥

भा०—हे अग्ने ! परमात्मन् ! (यः अस्मान् द्वेष्टि) जो हम से द्वेष करता है और (यं वयं द्विष्मः) जिसको हम प्रेम नहीं करते (यत् ते हरः) जो तेरा पापनिवारक मृत्युरूप बल है (तं) उसको (प्रति हर) पाप कर्मों से और कुपथ से हटा ।

अग्ने॒ यत्ते॒ऽर्चिस्तेन॒ तं प्रत्य॑र्च॒ यो॑३०॥ ३ ॥

भा०—हे अग्ने ! परमात्मन् ! (यः अस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः) जो हमें द्वेष करता और जिसको हम भी प्रेम नहीं करते (यत् ते अर्चिः) जो तेरी ज्वाला, प्रकाश, ज्ञानमय दीप्ति है (तेन तं प्रति अर्च) उससे उस पाप-कारी पुरुष को ज्ञान दे और अन्धकारमय तामस मार्ग से परे कर ।

अग्ने॒ यत्ते॒ शो॒चिस्तेन॒ तं प्रति॑ शोच॒ यो॑३० ॥ ४ ॥

भा०—(योऽस्मान्०) हे परमात्मन् ! जो हम से द्वेष करता और जिसको हम भी प्रेम नहीं करते (यत् ते शोचिः) जो तेरी दीप्ति है ।

[१९] १–'यो अस्मान्', 'य वयं च' इति पाठभेदः प्रायः सर्वासु ऋक्षु० सं० ।

(तेन तं प्रति) उससे उसके प्रति (शोच) प्रकाशित हो और सन्मार्ग दिखा ।

अग्ने यत्ते तेजस्तेन तमतेजसं कृणु यो३० ॥ ५ ॥

भा०—हे अग्ने ! (यः अस्मान् द्वेष्टि०) जो हम से द्वेष करता है और जिससे हम भी प्रीति नहीं करते (यत् ते तेजः) जो तेरा तेज=तीक्ष्ण स्वभाव है (तेन) उससे (तं) उस पुरुष को (अतेजसं) तीक्ष्ण स्वभाव से रहित सौम्य स्वभाव वाला (कृणु) कर, बना, जिससे वह सज्जन होकर हमारा मित्र हो जाय ।

[२०] द्वेष करने वालों के लिये प्रार्थना ।

अथर्वा ऋषिः । वायुर्देवता । १—४ निचृद् विषमा गायत्र्यः, ५ भुरिग् विषमा । पञ्चर्चं सूक्तम् ॥

वायो यत्ते तपस्तेन तं प्रति तप यो३० ॥ १ ॥

भा०—हे (वायो) सर्वव्यापक सबके प्रेरक, सब में सूत्ररूप से विद्यमान होकर सबके धारक ! परमात्मन् (यः अस्मान् द्वेष्टि०) जो हमसे द्वेष करता है और जिसको हम द्वेष करते हैं (यत् ते तपः तेन तं प्रति तप) जो तेरा पापनिवारक पश्चात्तापरूप बल है उससे उसको संतापित कर ।

वायो यत्ते हरस्तेन तं प्रति हर यो३० ॥ २ ॥

भा०—हे (वायो) परमात्मन् ! (यः अस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः) जिससे हम द्वेष करते हैं और जो हम से द्वेष करता है (यत् ते हरः तेन तं प्रतिहर) जो आप का पापहारी क्रोध है उससे उसको अपनी शरण में ले जिससे वह द्वेष छोड़कर पुण्यात्मा होजाय ।

५—' यत्ते ज्योतिस्तेन तं प्रतिदह ' इति पैप्प० सं० ।

वायो यत्तेऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्च यो३० ॥ ३ ॥

भा०—हे (वायो) परमात्मन् ! (योऽस्मान् द्वेष्टि०) जो हमसे द्वेष करता है और इसी कारण जिससे हम भी द्वेष करने लग गये हैं (यत् ते अर्चिः, तेन तं प्रति अर्च) आपकी जो ज्ञानमय दीप्ति, ज्वाला-मय प्रकाश है उससे उस पातकी मूढ़ को भी ज्ञानवान् कर जिससे वह द्वेष छोड़कर सीधे मार्ग पर आजाय ।

वायो यत्ते शोचिस्तेन तं प्रति शोच यो३० ॥ ४ ॥

भा०—हे वायो ! परमात्मन् ! (योऽस्मान्०) जो हमसे द्वेष करता है और इसी कारण जिससे हम भी प्रीति नहीं करते (यत् ते शोचिः, तेन तं प्रति शोच) जो आपकी प्रकाशक दीप्ति है उससे उसको भी ज्ञानवान् कर जिससे वह प्रकाशमय मार्ग में आकर द्वेप न करे ।

वायो यत्ते तेजस्तेन तमतेजसं कृणु यो३० ॥ ५ ॥

भा०—हे (वायो) ज्ञानरूप, सर्वव्यापक, परमात्मन् ! (योऽस्मान्०) जो हमसे द्वेष करता है और जिससे हम द्वेष करते हैं । (यत् ते तेजः) जो तेरा तीक्ष्ण सामर्थ्य है (तेन तम् अतेजसं कृणु) उससे उसको तीक्ष्ण सामर्थ्य से रहित कर जिससे वह सौम्य होकर द्वेप न करे ।

---

[२१] द्वेष करने हारों के लिये प्रार्थना ।

ऋषिश्छन्दश्च पूर्ववत् । सूर्यो देवता । पंचर्चं सूक्तम् ॥

सूर्य यत्ते तपस्तेन तं प्रति तप यो३० ॥ १ ॥
सूर्य यत्ते हरस्तेन तं प्रति हर यो३० ॥ २ ॥
सूर्य यत्तेऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्च यो३० ॥ ३ ॥
सूर्य यत्ते शोचिस्तेन तं प्रति शोच यो३० ॥ ४ ॥

सूर्य्य यत्ते तेजस्तेन तमतेजसं कृणु योऽ३० ॥ ५ ॥

भा०—हे (सूर्य) सबके उत्पादक और प्रकाशक और प्रेरक परमात्मन्! शेष सब पूर्ववत् है ।

---

[२२] द्वेष करने हारों के लिये प्रार्थना ।

ऋषिश्छन्दश्च पूर्ववत् । चन्द्रो देवता । पंचर्चं सूक्तम् ॥

चन्द्र यत्ते तपस्तेन तं प्रति तप योऽ३० ॥ १ ॥
चन्द्र यत्ते हरस्तेन तं प्रति हर योऽ३० ॥ २ ॥
चन्द्र यत्तेऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्च योऽ३० ॥ ३ ॥
चन्द्र यत्ते शोचिस्तेन तं प्रति शोच योऽ३० ॥ ४ ॥
चन्द्र यत्ते तेजस्तेन तमतेजसं कृणु योऽ३० ॥ ५ ॥

भा०—हे (चन्द्र) समस्त जगत् के आह्लादक परमात्मन्! शेष सब पूर्ववत् ।

---

[२३] द्वेष करने हारों के लिये प्रार्थना ।

पूर्ववत् ऋषिः । आपो देवता । १-४ समविषमा । ५ स्वराड् विषमा । पंचर्चं सूक्तम् ॥

आपो यद्वस्तपस्तेन तं प्रति तपत योऽ३० ॥ १ ॥
आपो यद्वो हरस्तेन तं प्रति हरत योऽ३० ॥ २ ॥
आपो यद् वोऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्चत योऽ३० ॥ ३ ॥
आपो यद् वः शोचिस्तेन तं प्रति शोचत योऽ३० ॥ ४ ॥
आपो यद् वस्तेजस्तेन तमतेजसं कृणुत योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ५ ॥

भा०—हे (आपः) सब के प्राप्तव्य ! सब के शरण्य ! इत्यादि पूर्ववत् । भौतिकपक्ष में—अग्नि, चन्द्र, सूर्य और आपः उनसे अपने शत्रु को विनाश करने का संकल्प किया है । प्रत्येक में पांच शक्तियां हैं । (१) तपः=पीड़क शक्ति संतापकारी शक्ति, (२) हरः=संहार सामर्थ्य, विनाशकारी या विध्वंसकारी शक्ति, (३) अर्चिः=ज्वाला, भस्म कर देने या निर्मूल करने की शक्ति, (४) शोचिः=पवित्र करने और दुःखित करने की शक्ति और (५) तेजः=तेज, तीक्ष्णता और तीव्रता की शक्ति । इन शक्तियों को अपने वश करके इनका उचित साधनों से प्रयोग करके अपने शत्रु को वश करना चाहिये ।

[२४] हिंसक स्त्री-पुरुषों के लिये दण्ड विधान ।

ब्रह्मा ऋषिः । शेरभकादयो मन्त्रोक्ता देवताः । १, २ पुर उष्णिहौ, ३, ४ पुरोदेवत्ये पाङ्क्ते, १–४ वैराजः, ५–८ पंचपदाः पथ्यापङ्क्तयः, ५, ६ भुरिजौ, ६, ७ निचृदौ, ५ चतुष्पदा बृहती, ६–८ भुरिजः । अष्टर्चं सूक्तम् ॥

शेरभक् शेरभ पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनः ।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत् तमत्त स्वा मांसान्यत्त ॥ १ ॥

भा०—हे (शेरभक) दूसरों का अन्त करने, मारने का कार्य करने वाले सर्प स्वभाव, उग्र नृशंस ! घातक ! हत्याकारी पुरुष ! (शेरभ) हे हत्यारे पुरुष ! और हे (किमीदिनः) 'यह क्या, यह क्या' इस प्रकार सब पदार्थों पर चोर की सी नज़र रखने वाले दुष्ट पुरुषो ! (यातवः) सब

[२४] १–शरभक शेरभपुनर्नो [वों] यन्ति याद [त] वः पुनर्हतिः किमीदिनः यस्यत्स्थ द [त] मत्त योव प्राहि तमत्त भा सां सा [मांसास्वा] मन्यत [न्यत्त] इति पैप्प० सं० ।

पीड़ाजनक कार्य (वः) तुमारे पास ही (यन्तु) चले जावें अर्थात् तुम्हारे पीड़ाजनक कार्यों का दण्ड पुनः तुमको ही प्राप्त हो । (पुनः हेतिः) और फिर हथियार भी तुम्हारा तुम्हारे पास ही चला जावे। अर्थात् वह भी तुम को ही पुनः पीड़ाकारी हो । क्योंकि (यस्य स्थ) जिसके तुम संगी होते हो (तम् अत्त) उसको तुम खाजाते हो और (यः) जो (वः) तुमको (प्राहैत्) प्रेरणा करता, उपदेश करता या सीधा मार्ग बतलाता है (तम् अत्त) तुम उसको भी खाजाते हो । और फिर जब तुम्हारे साथ कोई नहीं रहता तब तुम (स्वा मांसानि) अपने ही सम्बन्धी पुत्र पौत्र आदि के शरीरों का घात करके उनके मांसों को (अत्त) खाते हो । दुर्जन पुरुषों का यही स्वभाव होता है कि वे अपने स्वामी, प्रेरक और साथियों का नाश करके पुनः अपनी आदत से लाचार होकर अपना भी नाश कर लेते हैं । इस प्रकार उनको दी हुई पीड़ाएं और उनके शस्त्र उनके अपने हाथों अपने ऊपर नाशकारी होते हैं ।

शेर्वृधक शेर्वृध पुनर्वो० । ० ॥ २ ॥
म्रोकानुम्रोक पुनर्वो ० । ० ॥ ३ ॥
सर्पानुसर्प पुनर्वो० । ० ॥ ४ ॥

भा०—हे (शेवृधक) हे हिंसा के कार्य में सबसे आगे बढ़ने वाले घातक ! सर्पस्वभाव ! और हे (म्रोक) धन अपहरण करके छुप जाने वाले चोर ! और हे (अनुम्रोक) चोरों के पीछे उनके ही बुरे काम का अनुसरण करने वाले ! हे (सर्प) कुटिल मार्ग से चलने वाले पुरुष ! और हे (अनुसर्प) कुटिल पुरुष के साथी लोगो ! आप सब लोग (किमीदिनः) किंकर्त्तव्य-विमूढ़ हो । तुम लोग जब बुरा काम करते हो तो तुम लोगों के दिल (अत्र

२-४-' शेवृ [ध] क शेवृध ', ' सर्पान् सर्प ' ' म्रोकान् म्रोक् ' इति पैप्प० सं० ।

क्या होगा ? अब कैसे ? इत्यादि फिकिरों में घुक २ किया करता है। पर यह याद रखना कि तुम्हारी ये सब (यातवः) पीड़ाएं जो तुम लोगों को देते हो (वः यन्तु) तुम्हें ही प्राप्त होंगी। (पुनः हेतिः) यह शस्त्रप्रहार भी तुमको प्राप्त होगा। अर्थात् पकड़े जाने पर तुम छोड़ नहीं दिये जाओगे, क्योंकि स्वभावतः (यस्य स्थ) जिसके तुम रहते हो (तम् अत्त) उसको खाजाते हो। (यः वः) जो तुम लोगों को (प्राहैत्) प्रेरणा दे (तं अत्त) उसको खाजाते हो और फिर लाचार होकर (स्वा मांसानि अत्त) अपने ही मांसों को भी खाजाते हो।

यद्यपि यहां मन्त्र पाठ में 'यन्तु', 'स्थ', 'अत्त' आदि प्रयोग हैं तो भी यहां अधीष्ट अर्थ में 'लोट' है। दुर्जनों का नाश करने के लिये वेदमन्त्र में उपदेश है कि हिंसाकारी, हिंसा के भावों के वर्धक, चोर, गुप्त घोर, कुटिलाचारी पुरुषों को पकड़ कर उनको वैसी ही पीड़ाएं दी जावें जैसी उन्होंने दूसरों को दीं, वैसे ही शस्त्र से नाश किया जावे जैसे शस्त्र से वे दूसरों का नाश करते हैं। उनसे ही उनके नेता को मरवावें और उनको ऐसे बेकार करें कि वे आपस में एक दूसरे के प्राण के प्यासे होकर एक दूसरे को खाजावें। तब वे आप से आप नष्ट होजाते हैं।

जूर्णि पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनीः ०।० ॥ ५ ॥
उपब्दे पुनर्वो ०।० ॥ ६ ॥
अर्जुनि पुनर्वो ०।० ॥ ७ ॥
भरूजि पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनीः ।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत् तमत्त स्वा मांसान्यत्त ॥ ८ ॥

८—'भरूचि' इति सायणाभिमतः पाठः ।

भा०—हे जूर्णि ! आयु का नाश करने हारी नागिनी की वृत्ति ने अपने और दूसरों के बल नाश करने वाली दुष्ट स्त्रि ! हे (अर्जुनि) बदला लेने वाली या पुरुष को संताप देने वाली या अपने कुकर्म से द्रव्य अर्जन करने वाली स्त्रि और हे (उपब्दे) गुप्तरूप से कलह करने वाली और परपुरुष से संग करने हारी ! और (भरूजि) हे कपटकारिणि ! अपने क्षुद्र वचनों से हृदय को पीड़ा देने वाली स्त्रियो ! तुम भी (किमीदिनीः) कर्त्तव्यपथ में मूढ़ हो । तुम भी अपने पापों से शंकित रहती हो , तुम्हारी ही पीड़ाएं तुमको प्राप्त हों. तुम्हारे हथियार भी तुमको ही कष्ट दें । तुम जिस की हो उसको खाती और जो तुमको प्रेरित करे, मार्ग दिखाये, उसको खाजाती और अपने सम्बन्धियों, पुत्रों और भाइयों तक के प्राणों को पीजाती हो ।

इस सूक्त में चार प्रकार के पुरुषों और चार प्रकार की स्त्रियों के स्वभावों का वर्णन किया है । इसके अतिरिक्त इन मन्त्रों में अध्यात्म पक्ष में भीतरी दुःसंकल्पों और कुप्रवृत्तियों का भी वर्णन किया है ।

जैसे—शेरभक=हिंसा का भाव, शेवृधक=लोभ, म्रोक=काम, सर्प=क्रोध, जूर्णि=चिन्ता, उपब्दि=निन्दा, अर्जुनी=प्रतिहिंसा, बदला की प्रवृत्ति, भरूजि= चुगलख़ोरी, पिशुनता पीठ पीछे दूसरे का नाश करना, कृतघ्नता य सब संकल्प और दुष्प्रवृत्तियां ऐसी बुरी होती हैं कि ये जिस पुरुष में रहती हैं उस पुरुष को खाजाती हैं, जिसमें ये रहती हैं उसके प्राणों तक की बलि लेलेती हैं । उनका परित्याग कर देना ही श्रेयस्कर है ।

[२५] पृश्निपर्णी ओषधि का वर्णन ।

चातन ऋषिः । वनस्पतिर्देवता । पृश्निपर्णीस्तुतिः । १–३ अनुष्टुभः । ४ भुरिक् । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

शं नो॑ दे॒वी पृ॑श्निप॒र्ण्य१॑शं निर्ऋ॑त्या अकः ।
उ॒ग्रा हि क॑ण्व॒जम्भ॑नी॒ ताम॑भक्षि॒ सह॑स्वतीम् ॥ १ ॥

भा०—(पृश्निपर्णी) पृश्निपर्णी नामकी ओषधि (देवी) दिव्यगुण वाली (नः) हमें (शं) कल्याण, सुख करे और (निर्ऋत्याः) निर्ऋति= पाप प्रवृत्ति को (अ-शं) कल्याण या सुख न (अकः) करे । वह (हि) क्योंकि (कण्वजम्भनी) पाप और पाप से उत्पन्न होने हारे कुष्ठ आदि रोगों को नाश करने में (उग्रा) बड़ी तीव्र और बलवती ओषधि है । (तां) उस (सहस्वतीं) रोगशमन करने के बलवाली ओषधि को मैं (अभक्षि) सेवन करता हूं ।

सह॑माने॒यं प्र॑थ॒मा पृ॑श्निप॒र्ण्य॑जायत ।
तया॒हं दु॒र्णाम्नां॒ शिरो॑ वृश्चामि श॒कुने॑रिव ॥ २ ॥

भा०—(सहमाना) रोग को रोकने में प्रबल (इयं) यह (प्रथमः) सबसे श्रेष्ठ ओषधि (पृश्निपर्णी) पृश्निपर्णी ही (अजायत) सिद्ध हुई है । (तया) उससे (दुर्नाम्नां) बुरे नाम वाले कुष्ठ आदि रोगों के (शिरः) मूल या पूर्व कारणों को भी (शकुनेः) पक्षी के शिर के समान सुगमता से (वृश्चामि) काट डालूं ।

---

[२५] १–(द्वि०) 'निर्ऋतमे करत्' (च०) 'तां त्वाहापं सहस्वतीम्' इति पैप्प० सं० ।
१ चित्रापर्णी इति सायणः । माषपर्णीति कात्यायनश्रौतसूत्रकारभाष्यकृत् । लक्ष्मणेति केचित् याच पुत्रजननी, पुंकन्दा, पुत्रकन्देति नाम्नी अस्ति । इति सायणसम्मतः पाठः ।

२–(प्र०) 'स्यान्वासि प्रथमा' (तृ० च०) 'तया कण्वस्यां शिरश्छिनद्मि शकुनेरिव' इति पैप्प० सं० ।

अरायमसृक्पावानं यश्चं स्फातिं जिहीर्षति ।
गर्भादं कण्वं नाशय पृश्निपर्णि सहस्व च ॥ ३ ॥

भा०—हे पृश्निपर्णि ! ओषधे ! तू (गर्भादं) गर्भ के विनाशक उस (कण्वं) जीवन को मिटा देने वाले रोग को (नाशय) मिटादे और (सहस्व च) उसके बुरे प्रभाव को रोक जो (अरायम्) देह की पुष्टि, कान्ति और लक्ष्मी का नाशक (असृक्पावानं) रक्त का पीजाने वाला रक्त को विकृत कर देने वाला और (यः च) जो (स्फातिं) शरीर की वृद्धि को (जिहीर्षति) नाश करता है ।

गिरिमे॑नाँ आ वे॑शय कण्वा॑ञ्जीवि॒त॒योप॑नान् ।
तांस्त्वं दे॑वि पृश्निपर्ण्य॒ग्निरि॑वानु॒दह॑न्निहि ॥ ४ ॥

भा०—हे (देवि पृश्निपर्णि) दिव्य गुणों से युक्त पृश्निपर्णि ओषधे ! तू (एनान्) इन (कण्वान्) पापमूलक, जीवन को मिटा देने वाले या उदास कर देने वाले (जीवितयोपनान्) जीवन को संदेह में डालने वाले रोगों को (गिरिं) पर्वतों पर (आवेशय) भेजदे अर्थात् परे करदे । और (त्वं) तू (तां) उनको (अग्निरिव) अग्नि के समान (अनुदहन्) जलाती हुई (इहि) प्राप्त हो ।

परा॑च एनान् प्र णु॑द कण्वा॑ञ्जीवित॒योप॑नान् ।
तमां॑सि यत्र गच्छ॑न्ति तत्क्र॒व्यादो॑ अजीगमम् ॥ ५ ॥

भा०—(एनान्) इन (जीवितयोपनान्) जीवन के संदेह जनक और (कण्वान्) जीवन के विनाशकारी कारणों को (पराचः) दूर (प्रणुद) भगादे । मैं भी (यत्र) जहां (तमांसि) अन्धकार (गच्छन्ति) रहते हैं

३–'जिहीरिषति' इति क्वचित् पाठः । (च०) 'सहस्वति' इति पैप्प० सं० ।

(तत्) वहां (क्रव्यादः) कच्चा मांस खाने वाले हिंसक पशुओं के समान शरीर विनाशक रोगों को भी (अजीगमम्) भेज देता हूं ।

इस सूक्त में पृश्निपर्णी ओषधि के गुण दर्शाये हैं । पृश्निपर्णी के पृष्टिपर्णी, चित्रपर्णी, श्वपुच्छी, कलशी, धावनी, गुहा, शृगालविन्ना. शृगालपुच्छी, सिंहपुच्छी आदि नाम हैं । उसके गुण-कटु, उष्ण, अम्ल, तिक्त, अतिसार, कास, वातरोग, ज्वर, उन्माद, व्रण, दाह को नाश करती है । अथवा पृश्निपर्णी, सहमाना, सहस्वती ये नाम सहा नामक ओषधि के लिये हैं जिसको 'जीमूतक' भी कहते हैं इसके गुण—तिक्तोष्ण, कटु, पाण्डु, कटु, दुर्नाम, श्वास कास, कामला आदि रोग और मूत्रग्रह का नाशक है ।

[२६] इन्द्रियों और पशुओं का पालन ।

सविता ऋषिः । पशवो देवताः । १, २ त्रिष्टुभौ । ३ उपरिष्टाद् विराड् बृहती ४ । भुरिगनुष्टुप् । ५ अनुष्टुप् । पंचर्चं सूक्तम् ॥

एह यन्तु पशवो ये परेयुर्वायुर्येषां सहचारं जुजोष ।
त्वष्टा येषां रूपधेयानि वेदास्मिन् तान् गोष्ठे सविता नि यच्छतु ॥ १ ॥

भा०—(सविता) गोपाल जिस प्रकार पशुओं को हांकता है और गोशाला में पुनः लाकर उनको नियम से खूंट में बांध देता है उसी प्रकार सब का प्रेरक और नियन्ता परमेश्वर (अस्मिन् गोष्ठे) इस गोरूप इन्द्रियों के निवासस्थान देह में तान् (उन पशु इन्द्रियों को लाकर नियम में रखे । (त्वष्टा) समस्त संसार को अपनी शक्ति से रचने हारा ईश्वर जिनके (रूपधेयानि) रूप (वेद) जानता है और (ये पशवः) जो पशु=दर्शन

[२६] १–(द्वि०) 'सहतारंजु जोष' इति पैप्प० सं० ।

या विषय का ग्रहण और दर्शन करने वाले इन्द्रियगण (परेयुः) बाहर विषयों के ज्ञान के लिये चले जाते हैं (वायुः) वायुरूप सूत्रात्मा प्राण भी (येषां) जिनके (सहचारं) साथ २ गति किया करता है। वे पशुरूप इन्द्रियां (इह) इस देह में (आ यन्तु) पुनः आजावें।

इन्द्रियों के वर्णन के साथ २ गोशाला से पशुओं को बाहर ले जाना उनको शुद्ध वायु का सेवन कराना और उनको ठीक २ पहचान २ कर नियत २ स्थान पर उचित रूप से बांधने का भी उपदेश वेद ने किया है।

इमं गोष्ठं पशवः सं स्रवन्तु बृहस्पतिरा नयतु प्रजानन्।
सिनीवाली नयत्वाग्रमेषामाजग्मुषो अनुमते नि यच्छ ॥ २ ॥

भा०— (इमं गोष्ठं) इस इन्द्रियों के रहने के स्थान देह में (पशवः) विषयों को देखने हारी इन्द्रियरूप पशु (सं स्रवन्तु) उत्तम रीति से रहें और ठीक प्रकार से विषयज्ञान भी करावें। (बृहस्पतिः) बृहती=वाणी का स्वामी आत्मा (प्रजानन्) इन द्वारा समस्त बाह्यज्ञान प्राप्त करता हुआ इनको (आ नयतु) विषयों के प्रति प्रेरण करे और पुनः भीतर करे। (सिनीवाली) समस्त प्राणियों को अपने में बांधने वाली और सबको चेतना रूप से वरण करने वाली प्राणशक्ति (एषां) इनको (अग्रं नयतु) अपने आगे २ प्रेरित करे या सूक्ष्म रूप प्राप्त करावे। और हे कर्म करने और इन्द्रियों से विषय ग्रहण करके उनको पुनः मनन या ज्ञान करने वाली मनःशक्ते! बुद्धे! (आजग्मुषः) पुनः विषयों से लौट कर आई ज्ञानेन्द्रिय रूप पशुओं के समान स्वच्छन्द होकर व्यसनों में न जावें। सिनीवाली और अनुमति ये दोनों पुरुषरूप प्रजापति में उसी प्रकार हैं जिस प्रकार मासरूप प्रजापति में सिनीवाली और अनुमति अर्थात् अमावास्या और पूर्णिमा होती हैं। इनमें कृष्ण पक्ष रयि और शुक्ल पक्ष प्राण है। अतः

२—(च०) 'अनुमते नियच्छात' इति पैप्प० सं०।

शरीर में भी प्राणेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय दो भाग हैं दोनों को नियम में रखने वाली दो शक्तियां सिनीवाली और अनुमति हैं। सिनीवाली प्राण-शक्ति है जो अन्न के बल पर सब इन्द्रियों को बांधती है और सब पर वश रखती है। दूसरी अनुमति है जो इन्द्रियों से गृहीत विषय को मनन करती है और आत्मा को ज्ञान कराती है।

सं सं स्रवन्तु पशवः समश्वाः समु पूरुषाः।
सं धान्यस्य या स्फातिः संस्राव्येण हविषा जुहोमि ॥ ३ ॥

भा०—(पशवः) पशु (सं सं स्रवन्तु) हमारे पास आवें। (अश्वाः सम्) और अश्व भी हमारे पास आवें। (पूरुषाः सम्) पुरुष भी हमारे पास आवें। (या धान्यस्य स्फातिः) जो धान्य की वृद्धि, सम्पत्ति है वह भी (सं) प्राप्त हो. मैं (संस्राव्येण) उत्तम रीति से इन सब पदार्थों के प्राप्त करने हारे (हविषा) उपाय से (जुहोमि) इन सबको प्राप्त करने का यत्न करता हूं। अध्यात्म पक्ष में पशवः—ज्ञानेन्द्रियगण, अश्वाः=कर्मेन्द्रिय, पुरुषाः=अन्तःकरण या जीव, धान्यं=विषय ज्ञान. संस्राव्यंहविः=इनकी प्रेरणा और वशीकरण का उपाय, योगाभ्यास।

सं सिञ्चामि गवां क्षीरं समाज्येन बलं रसम्।
संसिक्ता अस्माकं वीरा ध्रुवा गावो मयि गोपतौ ॥४॥

भा०—(गवां क्षीरं) गौओं के दूध के समान मधुर ज्ञान रस को मैं (सं सिंचामि) उत्तम रूप से प्रवाहित करता हूं। और (आज्येन) घृत के

३–(द्वि०) 'समु पौरुषाः' 'धान्यस्यंस्फातिभिः' इति पैप्प० सं०।

१. प्रसमुपादः पादपूरणे, इति समत्र पादपूरणः।

४–(द्वि०) वलं रसम (तृ०) संसिक्तास्माकं वीरानपि गावश्च गोपतौ' इति पैप्प० सं०। अरिष्टा अस्माकं वीरा मयिगाव सन्तु गोपतौ इति भी श्रौ० सू०।

समान पुष्टिकारक तेज के सहित (रसम्) आनन्दजनक हर्ष और (बलं) बलको भी (सं सिंचामि) धारण करते हैं । (अस्माकं वीराः) इस प्रकार हमारे वीर, प्राण एवं पुत्रगण भी बल, हर्ष और आनन्द से (सं सिक्ताः) आप्लावित, परिपूर्ण हों और (मयि) मुझ (गोपतौ) इन्द्रिय रूप गौओं के स्वामी के पास (गावः) इन्द्र रूप गौवें (स्थिराः) स्थिर रूप से रहें ।

इस मन्त्र में दूध, घी, रस और बल के साथ २ ज्ञान, बल और आनन्द की प्रार्थना है और गौओं और प्राणों के साथ पुत्र और पशुओं की भी प्रार्थना है ।

आ हरामि गवां क्षीरमाहार्षं धान्यं १ रसम् ।
आहृता अस्माकं वीरा आ पत्नीरिदमस्तकम् ॥ ५ ॥

भा०—मैं (गवां क्षीरं) गौओं का दूध और इन्द्रियों का ज्ञान (आहरामि) प्राप्त करता हूं । (धान्यं) धान्य और (रसं) अन्न के स्वादु रस और ग्राह्य विषय और उनसे प्राप्त होने वाले सुख को भी (आहार्षम्) प्राप्त करता हूं । (अस्माकं वीराः) हमारे पुत्र, वीर और प्राण भी (आहृताः) हमारे पास हमारे वश हैं (पत्नीः) यह स्त्री और यह बुद्धि भी हमारे पास है (इदम्) यह (अस्तकम्) घर के समान हमारा शरीर भी हमें प्राप्त है ।

इति चतुर्थोऽनुवाकः ।

[तत्र सूक्तानि नव ऋचश्चाष्टाचत्वारिंशत् ।]

५–(द्वि०) 'क्षीरमहार्षं' (तृ०) अहरिषमस्याकं वीरान् आपत्नीमेदमस्तकम् इति पैप्प० सं० ।

[२७] ओषधि के दृष्टान्त से चितिशक्ति का वर्णन ।

कपिञ्जलऋषिः । वनस्पतिर्देवता । १–४ अनुष्टुभः सप्तर्चं सूक्तम् ।

नेच्छत्रुः प्राशं जयाति सहमानाभिभूरसि ।
प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान् कृण्वोषधे ॥ १ ॥

भा०—चितिशक्ति का ओपधि के दृष्टान्त से विवरण करते हैं। हे ओपधे ! ओपधि के समान शरीर के ओष=उष्णता को धारण कराने वाली जीवनशक्ते ! (शत्रुः) शत्रु या तेरे विलोपकारी पदार्थ भी (प्राशं) उत्तम रूप से व्यापक आत्मा को (न इत्) नहीं (जयाति) जीत सकता। क्योंकि तू (सहमाना) सहनशील, शत्रु का नाश करने और उसको (अभिभूः असि) दबा डालने में समर्थ है। (प्राशं प्रतिप्राशः) प्रबल रूप से हृदय में व्यापने वाले शोक मोह क्रोध आदि भावों को (प्रतिप्राशः) उनके विपरीत भावना द्वारा हृदय में व्याप्त होकर वादी को प्रति वादी के समान (जहि) विनाश कर और उनको (अरसान्) तुच्छ निर्बल (कृणु) कर।

सुपर्णस्त्वान्वविन्दत् सूकरस्त्वाखनन्नसा ।
प्राशं० ॥ २ ॥

भा०—(सुपर्णः) शोभन ज्ञानवान्, विद्वान् पुरुष (त्वा) तुझको (अनु अविन्दत्) खोज कर प्राप्त कर लेता है। (सूकरः) प्राण रूप वायु या प्राणायाम का उत्तम अभ्यासी। (त्वा) तुझे (नसा) प्राणेन्द्रिय द्वारा प्राणायाम का अभ्यास करके (अखनत्) गुप्त गुहा से खोद लेता है, तेरा मूल जान लेता है। (प्राशं प्रतिप्राशः) पूर्व वत्।

---

[२७] १–(प्र०) 'यच्छत्रून् समजयत्', (तृ०) 'साभून्प्रतिप्राशो जय रसाकृण्वोषधे' इति पैप्प० सं० ।

इन्द्रो ह चक्रे त्वा बाहावसुरेभ्य स्तरीतवे ।
प्राशं० ॥ ३ ॥

भा०—(इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् इन्द्र आत्मा (त्वा) तुझको (असुरेभ्यः) असुर काम क्रोध लोभ मोहमद मान्यर्थ आदुष्ट भावों को (स्तरीतुम्) विनाश करने के लिये (बाहौ) अपनी बाहू रूप शक्ति पर (चक्रे) धारण करता है । शेष पूर्ववत् ।

पाटामिन्द्रो व्या/श्नादसुरेभ्य स्तरीतवे ।
प्राशं० ॥ ४ ॥

भा०—(असुरेभ्यः) असुरों, आसुरी भावों को (स्तरीतवे) विनाश करने के लिये (इन्द्रः) इन्द्र आत्मा (पाटाम्) दीप्तमती तुझ आत्मशक्ति विज्ञानमयी, विवेक ख्याति रूप प्रत्यक् चेतना शक्ति को (व्याश्नाद्) उपभोग करता है । (प्राशं० इत्यादि) पूर्ववत् ।

तयाहं शत्रून्त्साक्ष इन्द्रः सालावृकाँ इव ।
प्राशं० ॥ ५ ॥

भा०—(अहं) मैं (इन्द्रः) साक्षाद् आत्मा (तया) उस चेतना शक्ति से (शत्रून्) अपने अन्तःशत्रुओं को (सालावृकान् इव) कुक्कुरों के समान (साक्षे) तिरस्कार करता हूं और (प्राशं प्रतिप्राशं० इत्यादि) पूर्ववत् ।

३—'तरीतवे' इति पदच्छेदः सायणसम्मतः ।

४—'पाठामिन्द्रः' इति पाठः सायणसम्मतः । 'पाय [टा] मिन्द्रो व्यश्नन् हन्तवेसुरेभ्यः' इति पैप्प० सं० ।

५—'साक्षिये इन्द्रः' इति पैप्प० सं० ।

रुद्र जलाषभेषज नीलशिखण्ड कर्मकृत् ।
प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान् कृण्वोषधे ॥ ६ ॥

भा०—हे (रुद्र) रुद्र ! ब्रह्म का उपदेश करने हारे आचार्य ! शब्द ब्रह्मरूप से सबके हृदय में व्यापक ! या सबको अन्तकाल में रुलाने हारे ! या सब पर करुणा से दया करने हारे ! या रुत् नाम संसार दुःख को विनाश करने हारे ! हे (जलाषभेषज) सुखस्वरूप सबके चिकित्सक ! भवरोग-निवारक, हे (नीलशिखण्ड) नीलशिखा युक्त अथवा मनोहर कान्तिमय ! हे (कर्मकृत्) सकल कर्म के कर्त्ता आत्मन् ! और हे (ओषधे) समस्त भवरोग के नाशक परम चरम उपायभूत ! (प्राशं प्रतिप्राशः) व्यापक आत्मा की शक्तियों के विनाशक (अरसान्) आनन्द रस से शून्य, संतापजनक विषयों को (जहि) विनाश कर और उनको (अरसान् कृणु) नीरस बना दे।

तस्य प्राशं त्वं जहि यो न इन्द्राभिदासति ।
अधि नो ब्रूहि शक्तिभिः प्राशि मामुत्तरं कृधि ॥ ७ ॥

भा०—हे इन्द्र ! (यः) जो (नः) हमें (अभि दासति) विनाश करता है (तस्य) उसके (प्राशं) उत्तम भोग सामर्थ्य को (त्वं जहि) तू नाश कर । और (शक्तिभिः) अपनी ज्ञानशक्तियों से (नः) हमें (अधि ब्रूहि) उत्तम उपदेश कर । (प्राशि) प्रश्न करने हारे के ऊपर (माम्) मुझको (उत्तरं) उत्कृष्ट ज्ञानवान् (कृधि) कर अथवा (प्राशि) हृदय में मोहरूप से व्यापने वाले अज्ञान पर मुझे (उत्तरं कृधि) अधिक शक्ति वाला बना ।

सायण के मत से—यह सूक्त 'पाटा' नामक औषध पर लगता है ।

६—(तृ० च०) पृष्ठ दुरस्यतो जहियोऽस्मान् अभिदासति' इति पैप्प० सं० ।

७—'प्राशं मामुत्तरं' इति सायणसम्मतः पाठः । 'तस्य पृष्टं' इति पैप्प० सं० ।

उसके मत से प्राश=प्रश्नकर्त्ता। प्रतिप्राश=प्रतिवादी। पाटानाम ओषधि से अपने शत्रु पर या प्रतिवादी पर विजय पाने की प्रार्थना है। परन्तु चतुर्थ मन्त्र में 'पाद्य' शब्द को सायणने 'पाठा' समझ लिया।

[२८] दीर्घायु की प्रार्थना।

शम्भुर्ऋषिः। जरिमायुर्देवता। १ जगती, २-४ त्रिष्टुभः, ५ भुरिक्।
पञ्चर्चं सूक्तम्॥

तुभ्यमेव जरिमन् वर्धतामयं मेममन्ये मृत्यवो हिंसिषुः शतं ये।
मातेव पुत्रं प्रमना उपस्थे मित्र एनं मित्रियात् पात्वंहसः॥ १॥

भा०—हे (जरिमन्) सब को जीर्ण करने हारे वार्धक्यकाल! हे बुढ़ापे! अथवा हे स्तुति योग्य अग्ने! (अयं) यह बालक (तुभ्यम् एव) तेरे तक पहुंचने के लिये ही (वर्धताम्) वृद्धि को प्राप्त हो (अन्ये मृत्यवः) और नाना प्रकार के देह को आत्मा से पृथक् करने वाले कोई भी प्रबल कारण (इमम्) इसको (शतं) सौ बरस तक (मा हिंसिषुः) न मारें, कष्ट न दें। (माता पुत्रम् इव) जिस प्रकार माता पुत्र को पालन करती है और सब विपत्तियों से बचाती है उसी प्रकार (मित्रः) मृत्यु से रक्षा करने वाला परमात्मा (प्रमनाः) प्रकृष्ट, उत्तम ज्ञानवान् प्रसन्न होकर (उपस्थे) अपनी गोद में धर कर (एनं) इसको (मित्रियात्) मित्रों के किये हुए (अंहसः) द्रोहादि पापाचरण व्यवहार से (पातु) रक्षा करे, बचावे।

मित्र एनं वरुणो वा रिशादा जरामृत्युं कृणुतां संविदानौ।
तदग्निर्होता वयुनानि विद्वान् विश्वा देवानां जनिमा विवक्ति॥२॥

[२८] १-'हिंसिषुः त्वत्', (च०) 'मित्रेन' इति पैप्प० सं०।
२-(प्र०) मित्रश्त्वा वरुणश्चरिशादौ (च०) 'जनिमानि वक्ति' इति पैप्प० सं०।

भा०—(मित्रः) मृत्यु से त्राण करने वाला प्राण और (वरुण) शरीर के सब कष्टों का वारण करने वाला अपान (रिशादा) दोनों हिंसा या प्राणापहरण करने वाले कारणों के विनाशक होकर (संविदानौ) परस्पर मिल कर एकचित्त होकर, एक दूसरे की शक्ति को प्राप्त होकर इस बालक को (जरामृत्युं) जरा काल में देह त्याग करने हारा (कृणुतां) करें। (होता) अन्नादिका भक्षण करने वाला या प्राण और अपान दोनों की आहुति करने वाला (अग्निः) जाठर-अग्नि या ज्ञानी अभ्यासी (वयुनानि) समस्त ज्ञान करने योग्य ज्ञानों और कर्मों को और लोकों को (विद्वान्) जानता हुआ (देवानां) देवों के, इन्द्रियों के भी (विश्वा) समस्त (जानिमा) जन्म अर्थात् प्रादुर्भाव होने के रहस्यों, लक्षणों को (विवक्ति) उपदेश करता है या वह अग्नि, परमात्मा समस्त ज्ञानों का स्वामी (विश्वा देवानां) समस्त देवों के (जनिम आविवक्ति) जीवों के उत्पत्ति के रहस्य का उपदेश करता है।

त्वमीशिषे पशूनां पार्थिवानां ये जाता उत त्रा ये जनित्राः।
मेमं प्राणो हासीन्मो अपानो मेमं मित्रा वधिषुर्मो अमित्राः ॥ ३ ॥

भा०—हे परमात्मन् ! (त्वं) तू (पार्थिवानां) पृथ्वी पर उत्पन्न होने वाले (पशूनां) जीवों में से (ये जाताः) जो उत्पन्न हुए और (ये जनित्राः) जो उत्पन्न होंगे उन सबका (ईशिषे) स्वामी है। इस कारण परमात्मन् ! आप से प्रार्थना है कि (इमं) इस बालक को (प्राणः) प्राण (मा हासीत्) न त्याग करे। और (मित्राः) मित्र लोग (मा वधिषुः) इसके प्राणों का नाश न करें और (अमित्राः उ मा) शत्रु भी इसका वध न करें।

३–'उतवा ये जनित्वाः' इति क्वाचित्कः पाठः। 'उतते जनित्वाः' (तृ०) 'धोपानो', (च०) 'मित्रो मो वधि' इति पैप्प० सं०।

द्यौष्ट्वा पिता पृथिवी माता जरामृत्युं कृणुतां संविदाने ।
यथा जीवा अदितेरुपस्थे प्राणापानाभ्यां गुपितः शतं हिमाः ॥४॥

भा०—हे बालक ! (द्यौः) द्यौ प्रकाशस्वरूप और रमण करने वाला, उत्पादक सूर्य के समान पिता और (पृथिवी) विशाल हृदय वाली, गर्भ में धारण करने वाली पृथिवी के समान (माता) माता दोनों (संविदाने) एक मति होकर (त्वा) तुझको (जरामृत्युं) वृद्धावस्था में देह छोड़ने में समर्थ (कृणुतां) करें । यह (अदितेः) इस पृथिवी की (उपस्थे) गोद में (प्राणापानाभ्यां) प्राण और अपान दोनों से (गुपितः) रक्षित होकर (शतं हिमाः) सौ वर्षों तक (जीवाः) जीवे ।

इममग्न आयुषे वर्चसे नय प्रियं रेतो वरुण मित्रराजन् ।
मातेवास्मा अदिते शर्म यच्छ विश्वे देवा जरदष्टिर्यथासत् ॥ ५ ॥

भा०—हे अग्ने ! देव ! (इमम्) इस पुत्र को (आयुषे) दीर्घ आयु और (वर्चसे) तेज और बल के लिये (नय) प्राप्त करा । हे वरुण ! हे मित्र ! हे राजन् ! यह हमारा ही (प्रियं) प्रिय (रेतः) वीर्य है, इसलिये हे (अदिते) अखंडचारित्रा पृथिवी ! आप (माता इव) माता के समान (अस्मा) इसको (शर्म) सुख और शरण (यच्छ) दो । और हे (विश्वे देवाः) समस्त विद्वान् पुरुषो और दिव्य पदार्थो ! आपके बल पर यह (यथा) जिस प्रकार (जरदष्टिः) जराकाल तक जीवन यापन करने वाला (असत्) हो ।

४–(प्र०) 'द्यौस्ते पिता' (द्वि०) 'कृणुतां दीर्घमायुः' (तृ०) यथा जीवा रित्या (दित्या)' इति पैप्प० सं० ।

५–(द्वि०) 'प्रियो रेतो' 'कृधि प्रियं' तै० स० । 'तिग्मौजाः वरुण' इति मै० स० । 'वरुण सशिशाधि' इति तै० आ० (तृ०) 'शर्म यंसत्' इति शा० गृ० सू० ।

[२६] ब्रह्मचर्य और दीर्घ जीवन की प्रार्थना ।

अथर्वा ऋषिः । मन्त्रोक्ता बहवो देवताः । १ अनुष्टुप् । २, ३, ५–७ त्रिष्टुभः । ४, पराबृहती निचृत्प्रस्तारा पंक्तिः । सप्तर्चं सूक्तम् ॥

पार्थिवस्य रसे देवा भगस्य तन्वो३ बले ।
आयुष्य/मस्मा अग्निः सूर्यो वर्च आ धाद् बृहस्पतिः ॥ १ ॥

भा०—(अस्मै) इस पुरुष को (देवाः) दिव्यगुण सम्पन्न दिव्य पदार्थ (अग्निः) अग्नि (सूर्यः) सूर्य और (बृहस्पतिः) समस्त बड़े लोकों का पालक और वेद वाणी का पालक परमेश्वर (पार्थिवस्य) पृथिवी से उत्पन्न (भगस्य) सेवन करने योग्य, भोगायतन इस (तन्वः) शरीर के (बले) बलस्वरूप (रसे) सारिष्ठ भाग वीर्य में (आयुष्यम्) दीर्घ आयु के लिये परम आवश्यक (वर्चः) तेज को (आधात्) आधान करते हैं। इसलिये रोग से मुक्त होने के लिये और कुमारों को पुष्ट करने के लिये उनको ब्रह्मचर्य का पालन कराना आवश्यक है।

आयुरस्मै धेहि जातवेदः प्रजां त्वष्टरधि निधेह्यस्मै ।
रायस्पोषं सवितरा सुवास्मै शतं जीवाति शरदस्तवायम् ॥२॥

भा०—हे (जातवेदः) समस्त पदार्थों में व्यापक या उनको जानने हारे अग्ने ! परमात्मन् (अस्मै) इस कुमार ब्रह्मचारी को (आयुः) दीर्घ आयु (धेहि) प्रदान करो। हे (त्वष्टः) समस्त शरीरों को रचना करने हारे परमात्मन् ! (अस्मै) इस कुमार के शरीर में (प्रजां) सन्तति उत्पन्न करने का विशेष सामर्थ्य (अधि निधेहि) स्थापित करो। हे (सवितः) सबके उत्पादक और प्रेरक परमात्मन् ! (अस्मै) इसको (रायस्पोषं) धन,

[२९] १–(तृ० च०) 'आयुरस्मै सोमो वर्च धाता बृहस्पतिः' इति पैप्प० सं० ।
२–(द्वि०) 'अधिनिधेह्यस्मिन्' इति ह्विटनिकामितः पाठः ।

जीवन और देह का पालन पोषण सामर्थ्य (आ सुव) प्रदान करो। (अयम्) यह कुमार (शतं शरदः) सौ वर्षों तक (जीवाति) जीवे।

आशीर्ण ऊर्जमुत सौप्रजास्त्वं दक्षं धत्तं द्रविणं सचेतसौ।
जयं क्षेत्राणि सहसायमिन्द्र कृण्वानो अन्यानधरान्त्सपत्नान् ॥३॥

भा०—हे माता और पिता ! आप दोनों (सचेतसौ) समान चित्त होकर (नः) हमारे (आशीः) आशीर्वाद धारण करो (उत) और (सौ-प्रजास्त्वं) उत्तम प्रजाओं के उत्पादक सामर्थ्य (दक्षं) बल और (द्रविणं) ऐश्वर्य को (धत्तं) धारण करो और (जयं) जय (क्षेत्राणि) और धन धान्य सम्पन्न खेतों को प्राप्त करो। हे इन्द्र ! परमात्मन् ! (अयम्) यह कुमार नव गृहपति (अन्यान्) और (सपत्नान्) अपने शत्रुओं को (अधरान्) नीचा (कृण्वानः) दिखाता हुआ (जयं) जय को और (क्षेत्राणि) धान्य सम्पन्न क्षेत्रों को भी प्राप्त करे।

इन्द्रेण दत्तो वरुणेन शिष्टो मरुद्भिरुग्रः प्रहितो न आगन्।
एष वां द्यावापृथिवी उपस्थे मा क्षुधन्मा तृषत् ॥ ४ ॥

भा०—यह पुरुष (इन्द्रेण) इन्द्र ऐश्वर्यशील राजा से (दत्तः) नाना पदार्थ प्राप्त करके (वरुणेन) सबसे श्रेष्ठ आचार्यरूप परम गुरु से (शिष्टः) शिक्षित होकर (मरुद्भिः) विद्वान् पुरुषों देवों, प्राणों और प्रजाओं से (प्रहितः) योग्य कार्य में नियुक्त हुआ (नः) हमारे पास (आगन्) आवे

३–'आशीर्णे' इति वेबरकामितः पाठः। 'आशीर्मे' इति तै० सं०। इश दधातु द्रविणं सुवर्चसम्' तै० सं०। मै० सं०, (प्र०) 'उत सुप्रजस्त्वं' इति पैप्प० सं०। 'सं जयात् क्षेत्राणि' इति पैप्प० सं०। 'सजयान्' इति मै० सं०, तै० सं०।

४–'वरुणेन सृष्टो', 'द्यावापृथिवी परिददामि. सामातृपत्' इति पैप्प० सं०।

हे (द्यावा पृथिवी) द्यौ और पृथिवी माता और पिता जनो ! (वां) आप दोनों के उपस्थे) गोद, रक्षा में रहकर वह कभी (मा क्षुधत्) भूखा न रहे और (मा तृपत्) और कभी प्यास से पीड़ित न हो।

ऊर्जमस्मा ऊर्जस्वती धत्तं पयो अस्मै पयस्वती धत्तम्।
ऊर्जमस्मै द्यावापृथिवी अधातां विश्वेदेवा मरुत ऊर्जमापः॥५॥

भा०—हे (द्यावा पृथिवी) माता और पिता ! (अस्मै) इस कुमार को आप दोनों (ऊर्जस्वती) अन्न और बल धारण करने वाली होकर (ऊर्जं) बल और अन्न का (धत्तं) दान करो और (पयस्वती) दूध और रस वाली हो कर (पयः) पुष्टिकारक पदार्थ (धत्तम्) प्रदान करो। (अस्मै) इसमें द्यौ और पृथिवी (ऊर्जं) बल और अन्न रस (अधातां) धारण करावें (विश्वे देवाः) समस्त देव, विद्वान् गण और दिव्य पदार्थ और (मरुतः) ज्ञानी पुरुष और व्यवहारविज्ञ व्यापारीगण और (आपः) आप्तजन या समस्त प्रजाएं (ऊर्जम्) पुष्टिकारक बल प्रदान करें।

शिवाभिष्टे हृदयं तर्पयाम्यनमीवो मोदिषीष्ठाः सुवर्चाः।
सवासिनौ पिबतां मन्थमेतमश्विना रूपं परिधाय मायाम्॥ ६॥

भा०—हे कुमार ! (ते) तेरे (हृदयं) हृदय को (शिवाभिः) कल्याणकारिणी शिक्षाओं से और शरीर को कल्याणकारी जलधारों से (तर्पयामि तृप्त करता हूं। तू (अनमीवः) अमीव=रोग रहित होकर (सुवर्चाः) उत्तम ब्रह्मचर्य से प्राप्त तेज से सम्पन्न हो कर (मोदिषीष्ठाः) अति प्रसन्न रह। हे माता पिताओ, वर वधुओ ! आप दोनों (अश्विनौ) आत्मवान् जितेन्द्रिय, पथ्यकारी, ज्ञानी स्त्री पुरुषों का (रूपं) स्वरूप (मायां और शोभा को (परिधाय) धारण करके (सवासिनौ[1]) एक ही

१. सवासिनौ-समानं वस्त्रं वसानौ एकत्र वसन्तौ वा इति सायणः। आच्छादनार्थस्य निवासार्थस्य वा वसतेर्व्रते णिनिः। व्रतं शास्त्रीयो नियमः। समानस्य च्छन्दसि स[illegible]ः।

व्रत में निष्ठ होकर दोनों समान रूप के वस्त्र धारण करके, या एकत्र रहकर (एतं) इस बलोत्पादक (मन्थम्) सत्तु के बने घोल को (पिबतां) पान करो। जिससे आप दोनों का बल बढ़े और स्वास्थ्य बना रहे। कुमार ब्रह्मचर्य पालन करें और मां बाप सदा पुष्टिकर अन्नों का उपभोग करें, व्रतनिष्ठ रहकर एकसे वस्त्र वहन कर, समान रूप से धर्म-कार्य किया करें।

इन्द्र॑ एतां स॑सृजे विद्धो अग्र॑ ऊर्जां स्व॒धाम॒जरां॒ सा त॑ ए॒षा।
तया॒ त्वं जी॑व श॒रदः॑ सु॒वर्चा॒ मा त॒ आ सु॑स्रोद् भि॒षज॑स्ते अक्रन् ॥७॥

भा०—हे कुमार! (इन्द्र) ज्ञानवान् पुरुष ने (विद्धः) भूख दुर्बलता एवं रोगों से पीड़ित होकर स्वयं (अग्रे) प्रथम ही (अजरां) न जीर्ण होने वाली, अविनश्वर, प्रभावकारिणी (ऊर्जां) बलकारिणी, रसायन रूप (स्वधां) अमृतरूप (एतां) इस अन्न को (ससृजे) उत्पन्न किया है। हे पुरुष ! हे कुमार ! (तया) उस अन्न के बल पर (त्वं) तू (सुवर्चाः) उत्तम तेजस्वी होकर (शरदः) सौ वर्ष तक (जीव) जीवन का भोग कर (ते) तेरा प्राप्त किया हुआ बलवीर्य (मा आ सुस्रोत्) कभी स्रवित न हो, क्योंकि इस प्रकार की व्यवस्था (भिषजः) रोगों को दूर करने हारे विद्वानों ने ही (ते) तेरे लिये (अक्रन्) बनाई है। अन्न खाकर जीवन यापन करने और वीर्य का पालन करने से दीर्घायु होता है यही सब वैद्य डाक्टरों की व्यवस्था है।

७–'अग्रमूर्जं' इति सायणसम्मतः पाठः। 'ससृजे विद्धोअग्रम ऊर्जस्वधामजता [रा] मेतमेपा'। इति पैप्प० सं०।

[३०] प्रेमपूर्वक स्वयंवर-विधान ।

प्रजापतिः ऋषिः । अश्विनौ देवता । १ पथ्यापंक्तिः । ३ भुरिक् । २, ४, ५ अनुष्टुभः । पञ्चर्चं सूक्तम् ॥

यथे॒दं भू॒म्या अधि॒ तृणं॒ वातो॑ मथा॒यति॑ ।
ए॒वा म॑थ्नामि ते॒ मनो॒ यथा॒ मां का॒मिन्यसो॒ यथा॒ मन्नाप॑गा॒ असः॑ ॥१॥

भा०—कन्या के प्रति विवाहेच्छु युवक कुमार इस प्रकार विचार करे । (यथा) जिस प्रकार (इदं तृणं) इस तृण को (भूम्या अधि) इस पृथ्वी पर (वातः) वायु का झकोरा (मथायति) उड़ाये फिरता और घुमाता फिराता है (एवा) उसी प्रकार (ते मनः) तेरे मन को मैं (मथ्नामि) अपने साथ २ लिये फिरता हूं । अर्थात् तेरे मन को मैं अपने वश करता हूं । (यथा) जिस प्रकार तू हे मेरे अभिलाषा की पात्र कुमारि ! तू (मां) मुझे ही (कामिनी) चाहने वाली (असः) हो । और (यथा) जिस प्रकार तू (मत्) मुझे छोड़ कर (अपगा) अन्यत्र जाने वाली (न असः) न हो । अर्थात् कुमार विवाह के पूर्व कुमारी के चित्त को इतना अधिक खेंचले कि वह उसी की अभिलाषा करे और उसको त्याग कर अन्य को वरण करने की कभी न सोचे । इतना प्रेमाकर्षण होने पर विवाह होना चाहिये ।

सं चेन्नया॑थो अश्विना का॒मिना॒ सं च॒ वक्ष॑थः ।
सं वां॒ भगा॑सो अग्मत॒ सं चि॒त्तानि॒ समु॑ व्र॒ता ॥ २ ॥

---

[३०] १–(प्र०) 'यथेदं भूम्याधिवत [?] स्तृणं' (प०) 'एवा ममत्वायसि' इति पैप्प० सं० ।

२–(तृ०) 'सं नौ भगासो' इति ह्विटनिकामितः पाठः । (प्र०) 'सं चेन्निषितो', (तृ० च०) 'सर्वाङ्गनस्याग्मत सं चक्षूंषि समुव्रता' इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे (अश्विना) आत्मवान् जितेन्द्रिय कुमार और कुमारी ! तुम दोनों (चेत्) यदि गृहस्थ रथ में अश्वी=आत्मवान् होकर, स्वतः कर्त्ता होकर गृहस्थ के कार्य (नयाथः) उठाने में समर्थ होओ, (च) और (कामिना) एक दूसरे के प्रति प्रेम, अभिलाषा वाले होकर एक दूसरे के भार को (संवक्षथः) मिल कर उठाने में समर्थ होओ, तब (वां) तुम दोनों के (भगासः) समस्त ऐश्वर्य भी (सं अग्मत) समानरूप से तुम्हें प्राप्त हों, चित्तानि) तुम्हारे हृदय के सब संकल्प (सं) एक होकर रहें (व्रता उ) और सब शास्त्र प्रतिपादित धर्मकार्य, यम नियम आदि व्रत भी (सम्) समानरूप से रहें और तुम दोनों मिल कर गृहस्थ होकर रहो । अन्यथा नहीं । विवाह होने के लिये युवक युवति के आत्मा एक, मनोरथ एक, चित्त और व्रत भी एक होने उचित हैं ।

यत्सुपर्णा विवक्षवो अनमीवा विवक्षवः ।
तत्र मे गच्छताद्धवं शल्य इव कुल्मलं यथा ॥ ३ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (शल्यः) कांटा, तीक्ष्ण सुई (कुल्मलं) कोमल फूल की कली को वेध जाता है उसी प्रकार (मे) मेरी (हवं) यह हार्दिक पुकार (तत्र) उस दिल पर (गच्छतात्) पड़े (यत्) जिसके विषय में (सुपर्णाः) संदेश लाने वाले उत्तम ज्ञानी पुरुष या पक्षिगण भी (विवक्षवः) मुझे संदेश बतलाना चाहते हैं और (अनमीवाः) नीरोग पुरुष भी (विवक्षवः) मुझे आरोग्यता आदि का संदेश दें ।

विवाहेच्छु कुमार विद्वान् संदेशहर और आरोग्यकारी वैद्यों का निर्णय प्राप्त करके अपने भावी गृहस्थ के लिये शुभाङ्गी स्त्री के प्रति अपनी अनुमति दे ।

३-(प्र०) 'यः सु [त्सु] पर्णा रक्षाणा [?] वा न वक्षणा [?] वा जातानर्पितं [वा यत्रार्पितं] मनः शल्येवा गुल्मळं यथा । इति पैप्प० सं० ।

यदन्तरं तद् बाह्यं यद् बाह्यं तदन्तरम् ।
कन्या/नां विश्वरूपाणां मनो गृभायौषधे ॥ ४ ॥

भा०—(विश्वरूपाणां) सब प्रकार से सब अङ्गों में रूपवती, सुसंगठित, उत्तम, अनवद्य, अनिन्दित शरीरवाली शुभांगी (कन्यानां) कन्याओं के (यद् अन्तरं) जो भीतर चित्त में होता है (तद् बाह्यं) वही उनके बाहर वाणी में भी होता है और (यद् बाह्यं) जो वे बाहर वाणी से प्रकट करती हैं (तद् अन्तरं) वही वे हृदय में चिन्तन किया करती हैं। हे (ओषधे) [1] अन्न आदि पुष्टिकारक पदार्थ तू प्रेमपूर्वक खाया जाकर (मनः) कन्या या वरण योग्य कुमारी के चित्त को (गृभाय) ग्रहण कर। अर्थात् विवाह के अवसर पर वर वधू परस्पर अन्न खाकर बाह्य के वचन और भीतरी हृदय को एक करलें और प्रेम से रहें। सर्वाङ्गों में शुभ कन्याएं बड़ी सदाचारिणी और सत्यवादिनी होती हैं। जो दुराचारिणी और असत्यवादिनी होती हैं उनके शरीरों की रचना में बहुत दोष होते हैं यह लक्षणवेत्ताओं का अनुभव है।

" ओं अन्नपाशेन मणिना प्राणसूत्रेण ग्रन्थिना। बध्नामि सत्यग्रन्थिना मनश्च हृदयं च ते। " यह ब्राह्मणमन्त्र विवाह की उत्तर विधि में पढ़ा जाता है, इससे वर अपना खाया अन्न शेष वधू को खिलाता है।

एयमंगन् पतिकामा जनिकामोहमागमम् ।
अश्वः कनिक्रदद् यथा भगेनाहं सहागमम् ॥ ५ ॥

भा०—दोनों का विवाह होजाने पर या विवाह के अवसर पर वर कहता है- इयम्) यह वधू (पतिकामा) पति की अभिलाषा वाली होकर (आ अगन्) विवाहवेदी पर आवे और (अहम्) मैं (आगमम्) यहां (जनिकामः) पुत्रोत्पादन में समर्थ भार्या की अभिलाषा वाला होकर

४—' यदन्तरं तद् बाह्यं ' इति पैप्प० सं०।

(आगमम्) यहां आऊं, (यथा अश्वः कनिक्रदद्) जिस प्रकार अश्व घोड़ी को देखकर हिनहिनाता है और प्रसन्न होता और अपनी प्रणयिनी को बुलाता है उसी प्रकार मैं भी (कनिक्रदद्) अपने हृदय और वाणी से प्रियतमा को बुलाता हुआ (भगेन सह) ऐश्वर्य के साथ (अगमम्) युक्त होऊं ।

इसी प्रकार स्त्री भी विचार करे कि मैं पतिकामा हूं यह भार्याकाम है मैं इस सौभाग्यशील पति के साथ युक्त होजाऊं ।

वेदमन्त्र भी है–' भगस्तेहस्तमग्रभीत् । '

[३१] रोगकारी जन्तुओं के नाश करने का उपदेश ।

कण्व ऋषिः । मही चन्द्रो वा देवता । १, अनुष्टुप । २, ४ उपरिष्टाद् विराड् बृहती । ३ आर्षी त्रिष्टुप् । पञ्चर्चं सूक्तम् ॥

इन्द्र॑स्य या म॒ही दृ॒षत् क्रिमे॒र्विश्व॑स्य॒ तर्ह॑णी ।
तया॑ पिनष्मि॒ सं क्रिमी॑न् दृ॒षदा॒ खल्वाँ॑ इव ॥ १ ॥

भा०—रोगकारक जन्तुओं के नाश करने का उपदेश करते हैं-(इन्द्रस्य) उस तेजस्वी सूर्य को (या) जो (मही) बड़ी भारी (दृषत्) विदारण करने वाली (विश्वस्य) समस्त (क्रिमेः) फैलने वाले रोग जन्तुओं की (तर्हणी) विनाशकारिणी शक्ति है (तया) उससे (क्रिमीन्) सब रोगकारी क्रिमियों को (सं पिनष्मि) एक साथ ही ऐसा पीसकर विनाश करूं जैसे (दृषदा) चक्की की शिलासे (खल्वान् इव) चनों को पीस डाला जाता है । सूर्य, वायु, प्राण और आत्मा ये इन्द्र शब्द से कहे जाते

[३१] १-(प्र०) ' महीधृषत् ', ' क्रमे ' इति क्वाचित्कौ पाठौ ।

हैं। इनकी शक्ति से रोगजन्तुओं को इस प्रकार नाश करना चाहिये कि रोगजन्तुओं के शरीर इनकी उग्र शक्ति से कट फट जावें।

दृष्टमदृष्टमतृहमथो कुरूरुमतृहम्।
अल्गण्डून्त्सर्वाञ् छलुनान् क्रिमीन् वचसा जम्भयामसि ॥ २ ॥

भा०—मैं (दृष्टम्) जो रोग कीट चक्षु से दीखने वाला है उसको (अतृहम्) नाश करूं और (अदृष्टम्) जो चक्षु से न दीखने वाला है उसको भी नाश करूं। (अथो) और (कुरूरुम्) कुत्सित शब्द करने वाले, चिरचिटाने वाले या बुरी तरह से रुलाने वाले कीट जाति को भी मैं (अतृहम्) विनाश करता हूं और (सर्वान्) सब प्रकार के (अल्गण्डून्) अति अधिक खाज पैदा करने वाले (शलुनान्) शरीर में प्रवेश कर जाने वाले, वेगवान् (क्रिमीन्) रोग कीटों को (वचसा) वाणी द्वारा, अपनी वाक्शक्ति के बल से (जम्भयामसि) उनका बांध देता हूं या उनका विनाश कर देता हूं।

अल्गण्डून् हन्मि महता वधेन दूना अदूना अरसा अभूवन्।
शिष्टानशिष्टान् नि तिरामि वाचा यथा क्रिमीणां नकिरुच्छिषातै ॥३॥

भा०—(अल्गण्डून्) अति अधिक खाज उत्पन्न करने वाले 'अल्गण्डू' नामक कीटों को (महता वधेन) बड़े विनाशक ओषधि से (हन्मि) विनाश करूं। वे सब कीट ओषधि या तेजाब से (दूनाः) जलभुन कर और (अदूनाः) या विना जले ही सूख कर (अरसाः) विना प्राण के

२–(तृ०) 'अलकाण्डूत' इति काचित्कः पाठः। 'अथो कुरीरमतृहन्' इति सायणाभिमतः पाठः। (च०) 'वर्चसा' इति काचित्कः पाठः। 'शलूनान् वचसा' इति ह्विटनिकामितः पाठः। (द्वि०) 'कारूर मदृहम्' (च०) 'शललान' इति पैप्प० सं०।

३–(च०) 'नकिरुच्छिष्यातै' इति ह्विटनिकामितः पाठः। (द्वि०) 'दूनाद दूना' इति पैप्प० सं०।

(अभूवन्) होजाते हैं । उन जन्तुओं में से में (शिष्टान्) शास्त्र में जिनके विशेष लक्षण कहे हैं उनको और (अशिष्टान्) उनके समान हानिकारक अन्यों को भी (वाचा) अपनी वाणी के बल से या वेदवाणी के किये उपदेश से (नितिरामि) इस प्रकार जड़ मूल से विनाश करूं (यथा) जिससे (क्रिमीणां) फैलने वाले रोगकारी कीटों में से (नाकिः) कोई भी न (उच्छिषाते) बच पावें ।

अन्वान्त्र्यं शीर्षण्य१मथो पार्ष्टेयं क्रिमीन् ।
अवस्कवं व्यध्वरं क्रिमीन् वचसा जम्भयामसि ॥ ४ ॥

भा०—(अन्वान्त्र्यं) आँतों में उत्पन्न होने वाले विषूचिका के कीट, (शीर्षण्यं) शिर देश में उत्पन्न होने वाले दाद, खाज और पीनस रोग के उत्पादक (अथो पार्ष्टेयं) और पृष्ठ देश के मोहरों में या पसलियों में उत्पन्न होने वाले नासूर या राजयक्ष्मा आदि के (क्रिमीन्) रोग कीटों को और इसी प्रकार (अवस्कवं) त्वचा के भीतर घुस जाने वाले दद्रु आदि के कीट, (व्यध्वरं) नाना प्रकार से फैलने वाले, या किसी प्रकार की ओषधियों से न विनाश होने वाले (क्रिमीन्) रोगकीटों को (वचसा) वाणी की शक्ति से या उपदिष्ट शास्त्र प्रयोग से (जम्भयामसि) विनाश करें ।

ये क्रिमयः पर्वतेषु वनेष्वोषधीषु पशुष्वप्स्व१न्तः ।
ये अस्माकं तन्व१माविविशुः सर्वं तद्धन्मि जनिम क्रिमीणाम् ॥५॥

४—(द्वि०) 'पार्ष्णेयं' इति सायणाभिमतः पाठः । (तृ०) 'व्यद्वरं' इति ह्विटनिकामितः पाठः ।

५—(तृ०) 'ते अस्माकं' इति काचित्कः पाठः सायणाभिमतश्च । 'तत्व आविशुः' इति सायाणाभिमतः पाठः । (प्र०) पर्वतेषु ये वनेषु ये ओषधीषु इति पैप्प० सं० । (तृ० च०) येऽस्माक तन्नो (त्व) स्थामचक्रि [रे] इन्द्रस्तान् हन्तु महतावधेन' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(ये क्रिमयः) जो क्रिमि, रोगजनक जन्तु (पर्वतेषु) पर्वतों में (वनेषु) वनों, जंगलों में (ओषधीषु) ओषधि आदि खाने योग्य पदार्थों में (पशुषु) पशुओं में और (अप्सु अन्तः) पान करने योग्य जलों में रहते हों और (ये) जो (अस्माकं) हमारे (तन्वं) शरीर में व्रण मार्ग से या अन्न जल के साथ (आविविशुः) घुस जाते हैं (सर्वं तद्) उन सब (क्रिमीणां) रोग जन्तुओं के (जनिम) जातियों को या उत्पत्ति के मूलकारण को (हन्मि) मैं विनाश करूं।

इति पञ्चमोऽनुवाकः ।

[तत्र सूक्तानि पञ्चैकोनत्रिंशच्च ऋचः]

[३२] रोगनाशक क्रिमियों के नाश करने का उपदेश।

कण्व ऋषिः । आदित्यो देवता । १ त्रिपदा भुरिग् गायत्री २—५ अनुष्टुभः । चतुष्पदा निचृदुष्णिक् । षड्‌र्चं सूक्तम् ।

उद्यन्नादित्यः क्रिमीन् हन्तु निम्रोचन् हन्तु रश्मिभिः ।
ये अन्तः क्रिमयो गवि ॥ १ ॥

भा०—(उद्यन्) उदित होता हुआ (आदित्यः) सूर्य का तेज (क्रिमीन्) रोगकीटों, फैलने वाले रोग जन्तुओं का (हन्तु) नाश करे और (निम्रोचन्) अस्त होता हुआ सूर्य भी (रश्मिभिः) किरणों से (हन्तु) उनका नाश करे (ये) जो (गवि) पृथिवी के या शरीर की इन्द्रियों के (अन्तः) भीतर (क्रिमयः) रोगजनक जन्तु विद्यमान हैं ।

[३२] १–'उद्यन्सूर्यः क्रिमीन्' इति ह्विटनिकामितः पाठः । (द्वि०) 'सूर्यो निम्रोचन् रश्मिहन्तु' इति पैप्प० स० ।

उदित और अस्त होते हुए सूर्य की किरणों में विशेष घातक गुण हैं इसीसे उस समय सूर्य को देखने का निषेध है । "नेक्षेतोद्यन्तमादित्यं नास्तं यान्तं कदाचन ।" तिरछी पड़ती किरणें ही घरों में, गुफाओं में और वृक्षों के झुरमुटों में भी प्रवेश कर सकती है ।

विश्वरूपं चतुरक्षं क्रिमिं सारङ्गमर्जुनम् ।
शृणाम्यस्य पृष्टीरपि वृश्चामि यच्छिरः ॥ २ ॥

भा०—मैं (विश्वरूपं) नाना आकर के (चतुरक्षं) चार २ आंखों वाले या मकड़ी के समान चारों तरफ देखने वाले (सारङ्गं) श्याम शरीर वाले या सरक कर चलने वाले (अर्जुनम्) श्वेत वर्ण के या कुटिल गति से जाने वाले कीट जाति को भी (शृणामि) विनाश करूं । और (अस्य) इसके (पृष्टीः) पीठ के प्रत्येक मोहरों को भी विनाश करूं और (यत्) जो (शिरः) उसको मुख्य शिर या अगला सिरा है उसको भी (वृश्चामि) काट डालूं । इन रोग कीटों के प्रत्येक अंग अंग का विनाश करना चाहिये क्योंकि उनका प्रत्येक अंग अलग अलग कर देने पर भी वे जीते रहते हैं ।

अत्रिवद् वः क्रिमयो हन्मि कण्ववज्जमदग्निवत् ।
अगस्त्यस्य ब्रह्मणा सं पिनष्म्यहं क्रिमीन् ॥ ३ ॥

भा०—(अत्रिवत्) जिस प्रकार हिंसक मांसभक्षी जीव अपने भक्ष्य जीव को विनाश कर देता है उस प्रकार और (कण्ववत्) कण २ करके

२–(प्र० द्वि०) योद्विशीर्षा चतुरक्षः क्रिमिश्शरगोऽर्जुनः ।

३–(प्र०) 'अत्रिवत्त्वा क्रिमे' (तृ०) 'अगस्त्यं ब्रह्मणा', इति पैप्प० सं० । 'अत्रिणा त्वा क्रिमेहन्मि' कण्वेन जमदग्निना विश्वावसो ब्रह्मणा' इत्यादि तै० आ० । 'हतस्ते अत्रिणाकृमिर्हतस्ते जमदग्निना ' इति मै० ब्रा० ।

खाने वाला मुर्गा आदि पक्षि कण २ चुन २ कर समस्त कण खाजाता है और या (जमदग्निवत्) जिस प्रकार प्रज्वलित आग एक ही वार में सब को भस्म कर देता है उस प्रकार हे (क्रिमयः) रोग जन्तुओ ! मैं (वः) तुमको इन नाना विधियों से (हन्मि) विनाश करूं। और (अहं) मैं (क्रिमीन्) इन रोगकारी जन्तुओं को (अगस्त्यस्य) अगस्त्य=अगम्य या वक्र उपायों को खोज निकालने वाले विद्वान् द्वारा उपदिष्ट (ब्रह्मणा) वेदमन्त्र से (सं पिनष्मि) उत्तम रीति से विनाश करूं। अगस्त्य के नाम से वेदमन्त्र देखो ऋ० मं० १ । सू० १८७, १८८, १८९, १९० ॥ इनमें अग्नि, ओषधि और जल सूर्य अन्यान्य प्रकारों से रोग, विष आदि की चिकित्सा का उपदेश किया गया है ।

हतो राजा क्रिमीणामुतैषां स्थपतिर्हतः ।
हतो हतमाता क्रिमिर्हतभ्राता हतस्वसा ॥ ४ ॥

भा०—जिस प्रकार भूमि पर आक्रमण करने वाले शत्रुओं के राजा, मन्त्री, माता, भाई, बहिन आदि सब मारडाले जाते हैं और शत्रु को निर्मूल कर दिया जाता है उसी प्रकार रोग-जन्तुओं (क्रिमीणां) चरण विक्षेप करने वाले कीटों का भी जो मुख्य कीट हो उस (राजा) राजा को (हतः) औषध प्रयोग से मारडाला जाय। (उत एषां) और इनके (स्थपतिः) रहने के निवास बनाने वाले जन्तुओं का भी (हतः) नाश किया जाय। और (हतमाता) इनके प्रसव करने वाली रानी कीड़ी को भी मारा जाय। (हतभ्राता) इनके सहवर्गी कीड़ों को भी मारा जाय और (हतस्वसा) इनके

४–(द्वि०) 'स्थपतिर्हतः', (तृ०) 'हतभ्रा[त्रा]ता', (च०) हतमहता [माता] इति पैप्प० सं० । 'हतः क्रिमीणां राजा अप्येषां स्थपतिर्हतः । 'अथो माता अथो पिता' इति तै० आ० । (प्र० द्वि०) 'हतः क्रिमीणां क्षुद्रको हता माता हतः पिता', इति तै० आ० ।

भगिनी मादा कीड़े को भी माराजाय, तब समझना चाहिये कि (क्रिमिः) फैलने वाले रोग-जन्तु की बला (हतः) नष्ट होगई ।

मधुमक्खी और कीड़ियों के भीतरी प्रबन्धों को देख कर यह अनुमान होता है कि कीटों में भी कुछ कीट उनमें राजा, कुछ उनके मकान बनाने वाले, कुछ भाई, कोई रानी आदि नाना विभाग होते हैं प्रायः ततैया, भूण्ड, भौंरे आदि जाति के कीट, दीमक, कीड़ी, मकोड़ी, मकोड़ा आदि जाति के कीटों में बड़ा संगठन होता है उनका विनाश शत्रु के नाश के समान ही करना उचित है ।

हुतासो अस्य वेशसो हुतासः परिवेशसः ।
अथो ये क्षुल्लका इव सर्वे ते क्रिमयो हुताः ॥ ५ ॥

भा०—(अस्य) इस शत्रु के जिस प्रकार (वेशसः) सेवक और भीतरी अन्तरंग पुरुष और (परिवेशसः) बाहर के रक्षकों को मार दिया जाता है और जिस प्रकार जो (क्षुल्लकाः) उसके और छोटे मोटे सहचर हों उनको भी मार दिया जाता है उसी प्रकार (अस्य) इस विनाश करने योग्य रोग-जन्तु के (वेशसः) भीतरी आश्रय-स्थानों या मुख्य जीवों को और (परिवेशसः) उनसे मिलते जुलते उस वर्ग के अन्य कीटों को भी (हतासः) मारा जाय । (अथो) और (ये) जो (क्षुल्लकाः) अत्यन्त क्षुद्र झिल्ली के रूप में या अण्डों के रूप में उनके बीजभूत (इव) से हैं (ते सर्वे) वे सब (क्रिमयः) रोगसंक्रामक जीव (हताः) मार दिये जाँय तभी रोग दूर हो सकता है ।

५-(तृ०) 'क्षुल्लका' इति नेदं पदं 'क्षुद्रक' पदस्य प्राकृतं रूपमपि त्वार्षम् । तैत्तिरीयारण्यकगतं 'क्षुद्रक' पदमस्य व्याख्यानम् ।

प्र ते शृणामि शृङ्गे याभ्यां वितुदायसि ।
भिनद्मि ते कुषुम्भं यस्ते विषधानः ॥ ६ ॥

भा०—विषैले जन्तु का नाश करने का उपदेश करते हैं । (ते) तेरे (शृङ्गे) उन दो कांटों को (शृणामि) नाश करता हूं (याभ्यां) जिनसे (वि तुदायसि) तू नाना प्रकार से काटता और पीड़ा देता है । और (ते) तेरे (कुषुम्भं) उस थैली को (भिनद्मि) फोड़ देता हूं (यः) जो (ते) तेरा (विषधानः) जहर रखने का स्थान है ।

---

[३३] देह के अङ्गों से रोग नाश करने का उपदेश ।

ब्रह्मा ऋषिः । यक्ष्मविबर्हणं चन्द्रमा वा देवता । आयुष्यं सूक्तम् । १, २ अनुष्टुभौ, ३ ककुम्मती, ४ चतुष्पदासुरिग् उष्णिक् , ५ उपरिष्टाद् विराट् बृहती, ६ उष्णिग् गर्भा निचृदनुष्टुप् , ७ पथ्या पंक्तिः । सप्तर्चं सूक्तम् ॥

अक्षीभ्यां ते नासिकाभ्यां कर्णाभ्यां छुबुकादधि ।
यक्ष्मं शीर्षण्यं मस्तिष्काज्जिह्वाया वि वृहामि ते ॥ १ ॥

ऋ० १० । १६३ । १ ॥

६–(तृ०) 'कुषूभम्' 'कुपभं' 'कषभं' 'कुतुभं' इति कचित्काः पाठाः । 'पुकंभं' इति सायणाभिमतः पाठः । प्र ते श्रृणामि शृंगे याभ्यायत्तन् [?] वितदायसि । 'अथो भिनद्मि तं कुम्भं यस्मिन् ते निह [हि] तं विषम् ' इति पैप्प० सं० । (तृ० च०) 'अथैषां भिनकः कुम्भो य एषां विषधानकः ।' इति मै० ब्रा० ।

[३३] १–(द्वि०) ' चुबुकादधि ' इति कचित्कः पाठः । (द्वि०) 'कर्णाभ्यां नास्यादधि', (च०) 'ललाटाद् विवमेमसि' इति पैप्प० सं० ।

भा०—इस सूक्त में समस्त शरीर के भिन्न २ अंगों में बैठे रोगों की चिकित्सा का उपदेश करते हैं । हे पुरुष ! मैं वैद्य आयुर्वेद का जानने हारा विद्वान् (ते) तेरे (अक्षीभ्यां) आंखों में से (नासिकाभ्यां) दोनों नासिकाओं में से और (छुबुकाद् अधि) ठोड़ी में से और (ते) तेरे (मस्तिष्कात्) शिर के भीतर के भेजे अर्थात् मस्तिष्क भाग में से और (जिह्वाया) जीभ में से भी और (शीर्षण्यं) शिर में बैठे (यक्ष्मं) रोग को (वि वृहामि) दूर करता हूं ।

ग्रीवाभ्यस्त उष्णिहाभ्यः कीकसाभ्यो अनूक्या/त् ।
यक्ष्मं दोषण्य१ं मंसाभ्यां बाहुभ्यां वि वृहामि ते ॥ २ ॥
ऋ० १० । १६३ । २ ॥

भा०—(ते ग्रीवाभ्यः) तेरी गर्दन की नाड़ियों से (उष्णिहाभ्यः) ऊपर को स्नेहमय रस द्रव्य ले जाने वाली धमनियों से (कीकसाभ्यः) जत्रु और वक्षःस्थल की हड्डियों से और (अनूक्यात्) अस्थियों के मिलाने वाले संधिभाग से और (ते अंसाभ्यां) तेरे कन्धों और (बाहुभ्यां) बाहुओं से (दोषण्यं) और हाथों में होने वाले (यक्ष्मं) रोग को (वि वृहामि) दूर करता हूं ।

'ग्रीवाभ्यः'=ग्रीवाः पञ्चदश । चतुर्दश वा एता कस्कराणि वीर्यं पञ्चदशम् । तस्माद् एताभिरण्वीभिः सतीभिर्गुरुभारं वहति । (श० ब्रा० १२ । २ । ४ । १०) ग्रीवा में १४ कस्कर=सूक्ष्म अवयव, मांसपेशियां हैं जिनके बल पर गर्दन भारी भार भी उठा लेती है ।

उष्णिहा=धमनीः इति सायणः । ऊर्ध्वं स्निग्धाभ्यः, रक्तादिना उत्स्नाताभ्यो वा नाडीभ्यः । तदुक्तं उष्णिग् उत्स्नाता भवति । स्निह्यतेर्वा स्यात् कान्तिकर्मणः । अनूक्यम्=अनुक्रमेणोच्यन्ति समवयान्ति अस्थीनि अस्मिन् इति अनूक्यम्

२–' कीकासाभ्योऽनुकाः ' (च०) 'उरस्तो वि वृहामसि' इति पैप्प० सं० ।

तत्संधिः । उच समवाये इत्यतः अनुपूर्वात् णयत् । दोषण्यम्=दोष्णोर्भवम् ।

हृदयात् ते परि क्लोम्नो हलीक्ष्णात् पार्श्वाभ्याम् ।
यक्ष्मं मतस्नाभ्यां प्लीह्नो यक्नस्ते वि वृहामसि ॥ ३ ॥

उत्तरार्धम् ऋ० १० । १६३ । ३ ॥

भा०—(ते हृदयात्) तेरे हृदय से, (क्लोम्नः) हृदय के समीप के फेफड़े से, (हलीक्ष्णात्) पित्तोत्पादक अंग से, (पार्श्वाभ्यां मतस्नाभ्यां) दोनों पासों पर लगे गुर्दों से, (प्लीह्नः) पिलही से और (ते यक्नः) तेरे यकृत्=कलेजे से हम (यक्ष्मं वि वृहामि) रोग को दूर करते हैं ।

आन्त्रेभ्यस्ते गुदाभ्यो वनिष्ठोरुदरादधि ।
यक्ष्मं कुक्षिभ्यां प्लाशेर्नाभ्या वि वृहामि ते ॥ ४ ॥

ऋ० १० । १६३ । ३ ॥

भा०—(ते आन्त्रेभ्यः) तेरी आंतों से, (गुदाभ्यः) गुदाओं से, (वनिष्ठोः) स्थूल आंतों से, (उदरात् अधि) और उदर अर्थात् आमाशय से (कुक्षिभ्यां) दोनों कोखों से, (प्लाशेः) मलाशय से और (नाभ्याः) तेरी नाभी से (यक्ष्मं वि वृहामि) रोग को दूर करता हूं ।

ऊरुभ्यां ते अष्ठीवद्भ्यां पार्ष्णिभ्यां प्रपदाभ्याम् ।
यक्ष्मं भसद्यं श्रोणिभ्यां भासदं भंससो वि वृहामि ते ॥ ५ ॥

ऋ० १० । १६३ । ४ ॥

३–' क्लोम्नस्ते हृदयाभ्यो हलीक्ष्णात् ' इति पैप्प० सं० । ' वनिष्ठोर्हृदयादधि ', ' यक्ष्मं मत्स्नाभ्यां यक्नः प्लाशिभ्यो वि वृहामिते ' इति पाठभेदौ ।

४–' यक्ष्मं श्रोणिभ्यां भासदाद् भंससो विवृहामि ते ' इत्युत्तरार्धे पाठभेदः । (तृ०) ' कुक्षिभ्यां पाण्योः ' (च०) 'वृहामसि ' इति पैप्प० सं० ।

५–(तृ०) ' यक्ष्मं श्रोणिभ्यां भासदाद्भसंसो ' इति ऋ० । ' वृहामसि ' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(ते ऊरुभ्यां) तेरी ऊरु=जंघाओं से (अष्ठीवद्भ्यां पार्ष्णिभ्यां) सख्त हड्डी वाले दोनों गोड़ों और एड़ियों से (प्रपदाभ्यां) पैर के अगले भागों, पंजों से तेरा यक्ष्म=रोग को विनाश करता हूं। और इसी प्रकार (श्रोणिभ्यां) दोनों कूल्हों से और (भसद्यं) कटिदेश में उत्पन्न रोग को दूर करता हूं और (ते भंससः) तेरे गुह्य=मूत्र मार्ग से ही (भासदं) गुह्य प्रदेश में उत्पन्न (यक्ष्मं वि वृहामि) रोग को भी दूर करता हूं।

अस्थिभ्यस्ते मुज्जभ्युः स्नावभ्यो धुमनिभ्यः ।
यक्ष्मं पाणिभ्यामङ्गुलिभ्यो नुखेभ्यो वि वृहामि ते ॥ ६ ॥

ऋ० १० । १६३ । ५ ॥

भा०—(ते अस्थिभ्यः) तेरी हड्डियों से (मज्जभ्यः) मज्जा भागों से (स्नायुभ्यः) स्नायुओं से (धमनिभ्यः) धमनी—नसों से (पाणिभ्यां) तेरे हाथों से (अंगुलिभ्यः) अंगुलियों से और (ते नखेभ्यः) तेरे नखों से (यक्ष्मं वि वृहामि) रोग को दूर करता हूं।

अङ्गेअङ्गे लोम्निलोम्नि यस्ते पर्वणिपर्वणि ।
यक्ष्मं त्वचस्यं/ ते वुयं कुश्यपस्य वीबर्हेण विष्वञ्चं वि वृहामसि ॥७॥

ऋ० १० । १६३ । ६ ॥

भा०—(ते) तेरे (अङ्गे अङ्गे) अंग २ में और (लोम्नि लोम्नि) रोम रोम में और (पर्वणि पर्वणि) पोरु २ में (ते त्वचस्यं) तेरी त्वचा

६–‘ मेहनाद् वनं करणाल्लोमभ्यस्ते नखेभ्यः । यक्ष्मं सर्वस्मादात्मनस्तमिदं विवृहामि ते ।’ इति ऋग्वेदे । (तृ०) यक्ष्मं पृष्टिभ्योमज्जभ्यो नाड्यां वि वृहामसि ’ इति पैप्प० सं० ।

७–‘ अङ्गादङ्गाल्लोम्नो जातं पर्वणि पर्वणि । यक्ष्मं सर्वस्मादात्मनस्तमिदं वि वृहामि ते । इति ऋ० । (द्वि०) ‘तत्र लोम्नो वद्धं’ इति पैप्प० सं० ।

के भीतर बैठे (विश्वञ्चं) सब देह में बैठे (यक्ष्मं) रोग को (कश्यपस्य) रोग के मूलकारण और दूर करने के सत् उपायों को देखने हारे, कश्यप ज्ञानी पुरुष के उपदेश किये हुए (वीबर्हेण) नाना प्रकार के रोगविनाशक उपाय से (वि वृहामसि) दूर करते हैं।

[३४] मोक्षमार्ग का उपदेश।

अथर्वा ऋषिः। पशुपतिर्देवता। पशुभागकरणम्। १-४ त्रिष्टुभः। पञ्चर्चं सूक्तम्॥

य ईशे॑ पशु॒पतिः॑ पशू॒नां चतु॑ष्पदामु॒त यो द्वि॒पदा॑म्।
निष्क्री॑तः॒ स य॒ज्ञियं॑ भा॒गमे॑तु रा॒यस्पोषा॒ यज॑मानं सचन्ताम्॥१॥

भा०—मुमुक्षु के लिये उपदेश करते हैं—(यः) जो विभूतियों का अभिलाषी आत्मा (पशूनां) अपनी इन्द्रियों द्वारा ज्ञान करने हारे (चतुष्पदां) चौपाये और (द्विपदां) दो पाये मनुष्य और पक्षियों पर भी (ईशे) अपना वश करता और उनका स्वामी हो जाता है। वह (पशुपतिः) 'पशुपति' कहाता है। (सः) वह (निष्क्रीतः) सब प्रकार से स्वतन्त्र हो कर (यज्ञियं) यज्ञयोग्य या परमात्मा सम्बन्धी (भागं) भाग ऐश्वर्य को (एतु) प्राप्त हो और (रायस्पोषाः) धनादि की समस्त विभूतियें और सामर्थ्य (यजमानं) उसी महान् यज्ञकर्ता आत्मसाधक को (सचन्तां) प्राप्त होते हैं।

प्र॒मु॒ञ्चन्तो॒ भुव॑नस्य॒ रेतो॑ गा॒तुं ध॑त्त॒ यज॑मानाय देवाः।
उपाकृ॑तं शशमा॒नं यदस्था॑त् प्रि॒यं दे॒वाना॒मप्ये॑तु॒ पाथः॑॥२॥

[३४] १–'येषां पशुपतिः' इति पैप्प०, तै० सं०। (द्वि०) 'यश्च द्विपदाम्', 'यजमानस्य सन्तु' इति तै० सं०।

२–(प्र०) 'प्रमुञ्चमाना', (च०) 'जीवं देवानां' इति तै० सं०। (प्र०) 'भुवनस्य गोपा' (द्वि०) 'देवा यजमानाय धत्त' (च०) 'अप्येति पाथः'। इति पैप्प० सं०।

भा०—हे (देवाः) विद्वान् पुरुषो ! और पृथिवी आदि लोको ! अथवा प्राकृतिक विकार रूप पञ्चभूतो ! (भुवनस्य) उत्पन्न होने हारे इस देह और विश्व के (रेतः) उत्पन्न होने के मूलकारण कर्मफल को या प्रकृति को (प्रमुञ्चन्तः) सर्वथा परित्याग करते हुए आप लोग (यजमानाय) पुण्यकार्य और ज्ञानयज्ञ के सम्पादक मुमुक्षु आत्मा के लिये (गातुं) ज्ञानमार्ग का (धत्त) आश्रय दो। (यद्) जब वह जीव (देवानां) मुक्त ज्ञानयोगी विद्वानों के (प्रियं पाथः) प्रिय मार्ग, देवयान मार्ग में (अस्थात्) दृढ़रूप से स्थिति करे तब (उपाकृतं) योगसाधनों से संस्कृत, पवित्र हृदय (शशमानं) इस देह-बन्धन को छोड़ कर स्वर्ग या मोक्ष लोक में जाने के लिये उद्यत, निरन्तर शमादि के पालक, इस आत्मा को वह मार्ग भी (एतु) प्राप्त हो। इस मन्त्र को 'बलिपशु' परक लगाना वाममार्ग है।

ये ब॒ध्यमा॑नमनु॒ दीध्या॑ना अ॒न्वैक्ष॑न्त॒ मन॑सा॒ चक्षु॑षा च।
अ॒ग्निष्टानग्रे॒ प्र मु॑मोक्तु दे॒वो वि॒श्वक॑र्मा प्र॒जया॑ संर॒राणः ॥ ३ ॥

भा०—(ये) जो ध्यानी योगाभ्यासी मुमुक्षु पुरुष (दीध्यानाः) योग-समाधि द्वारा ध्यान करते हुए (बध्यमानम्) देह-बन्धन में फंसे हुए आत्मा को (मनसा) अपनी मननशक्ति और (चक्षुषा) प्रज्ञानेत्र से (अनु ऐक्षन्त) अनुदर्शन करते हैं (अग्निः) सर्वप्रकाशक ज्ञानमय परमेश्वर (देवः) प्रकाशस्वरूप (विश्वकर्मा) समस्त विश्व का कर्त्ता (प्रजया) समस्त जीवों की प्रजा के साथ या प्रकृति के साथ (सं रराणः) उत्तम रीति

३–(प्र०) 'वध्यमानमनुवद्ध्यमाना अभ्यैक्षन्त' इति तै० सं०। (च०) 'देवः प्रजापतिः' इति तै० सं०, मै० सं०। प्रजया संविदानः' इति तै० सं०। 'प्रमुमुक्त देवः प्रजापतिः प्रजाभिः संविदानम्। इति पैप्प० सं०। (प्र०) 'ये वध्यमानमनु वध्यमानं' इति सायणाभिमतः पाठः।

से रमण करता हुआ जगदीश्वर (अग्रे) प्रथम ही (मुमोक्तु) इस देह के क्लेशमय बन्धन से मुक्त कर देता है, उनको जीवन्मुक्त कर देता है ।

ये ग्राम्याः पशवो विश्वरूपा विरूपाः सन्तो बहुधैकरूपाः ।
वायुष्टानग्रे प्र मुमोक्तु देवः प्रजापतिः प्रजया संरराणः ॥ ४ ॥

भा०—(ये) जो (पशवः) पशु स्वभाव के या देखने हारे जीवात्मागण (ग्राम्याः) ग्राम्यधर्म में लगे हुए (विश्वरूपाः) नाना योनियों में गये हुए (विरूपाः) नाना प्रकार के शरीर धारण करते (सन्तः) हुए भी (बहुधा) बहुत से प्रकारों से (एकरूपाः) एकही जीवात्मा जाति के हैं । (वायुः) सब को सूत्ररूप से बांधने वाला, सर्वव्यापक, सब का प्राणस्वरूप, देव (प्रजापतिः) परमात्मा (प्रजया) अपनी प्रजा, प्रकृष्ट रूप से प्रादुर्भाव होने वाली प्रकृति से (संरराणः) रमण करता हुआ (देवः) परमदेव (तान्) उन जीवों को (अग्रे) उनके साधना में प्रवृत्त होते ही (प्र मुमोक्तु) बार २ मुक्त करो ।

प्रजानन्तः प्रति गृह्णन्तु पूर्वे प्राणमङ्गेभ्यः पर्याचरन्तम् ।
दिवं गच्छ प्रति तिष्ठा शरीरैः स्वर्गं याहि पथिभिर्देवयानैः ॥५॥

भा०—जिस प्रकार (पूर्वे) पूर्वकल्प के ऋषिजन अथवा प्रथम २ (प्रजानन्तः) ब्रह्म और आत्मा के तत्व को भली प्रकार जानते हुए (अङ्गेभ्यः)

४–(प्र०) 'ये अरण्याः पशवो', (तृ०) 'वायुस्तान' इति तै० सं० । ये अरण्याः पशवो विश्वरूपा उत ये कुरूपाः०' (तृ०) मुमुक्तेति पूर्वमन्त्रवत् इति पैप्प० सं० ।

५–(प्र०) 'प्रतिगृह्णन्तु देवाः' (तृ०) 'ताभ्यां गच्छ प्रति' (च०) 'पथिभिः शिवेभिः' इति पैप्प० सं० (प्र०) 'प्रतिगृह्णन्ति' तृतीय चतुर्थयोः क्रमविपर्ययः । (तृ०) 'ओषधीषु प्रति तै० सं० । (च०) 'इति मै० सं० ।

समस्त अङ्गों में (पर्याचरन्तं) सर्वत्र गति करते हुए (प्राणं) प्राण को वश करते हैं उसी प्रकार मुमुक्षु जन भी योग-साधनों से उस प्राण को (प्रतिगृह्णन्तु) अपने वश करें । हे मुमुक्षु पुरुष ! तू भी (शरीरैः) अपने इन शरीरों द्वारा (प्रति तिष्ठः) आत्मा को प्रतिष्ठित साधनासम्पन्न सामर्थ्य-वान् कर और फिर (देवयानैः पथिभिः) विद्वानों द्वारा गमन करने योग्य, मुमुक्षु मार्ग, देवयान नामक ज्ञानमार्गों से (स्वर्गं) उस पुण्यफल, सुकृत, सुखमय लोक को (याहि) प्राप्त कर और (दिवं) उस प्रकाशस्वरूप ब्रह्मपद को भी (गच्छ) प्राप्त कर ।

यह सूक्त सायण ने बलि करने योग्य वध्य पशु पर लगाते हुए कौशिक सूत्रप्रदर्शित विनियोग लेकर महा अनर्थ किया है । यदि कौशिक सूत्र प्रदर्शित दिशा से ही सर्वलोकाधिपत्यकाम ज्ञानी परक यह सूक्त लगाया जाता तो उत्तम था ।

[३५] मोक्षमार्ग का उपदेश ।

अंगिरा ऋषिः । विश्वकर्मा देवता । १ विराड् गर्भा त्रिष्टुप् । २, ३ त्रिष्टुप् । ४, ५ भुरिग् । पञ्चर्चं सूक्तम् ॥

ये भ॒क्षय॑न्तो॒ न वसू॑न्यानृ॒धुर्यान॒ग्नयो॑ अ॒न्वत॑प्यन्त॒ धिष्ण्याः॑ ।
या तेषा॑मव॒या दुरि॑ष्टिः॒ स्वि॑ष्टिं न॒स्तां कृ॑णवद् वि॒श्वक॑र्मा ॥ १ ॥

भा०—इस सूक्त में भोग त्याग करके मोक्षमार्ग में जाने का

[३५] १–(तृ०) 'दुरिष्टेः स्विष्टिं नस्तान् कृण०' इति ह्विटनिकामितः पाठः कश्चित्कश्च । (प्र०) वसून्या वृधु इति कश्चित्कः पाठः । वसून्यानशुः इति मै० सं० । (तृ०) 'इयं तेषामवया दुरिष्ट्यै' (च०) 'विश्वकर्मा-कृणोतु' मै० सं० । (तृ०) 'दुरिष्टा स्विष्टं' इति पैप्प० सं० ।

उपदेश है । (ये) जो लोग (भक्षयन्तः) निरन्तर भोग करते हुए भी (वसूनि) देह में बसने हारे प्राणों को (न आनृधुः) समृद्ध, समर्थ, सम्पन्न, वर्चस्वी नहीं होने देते । और (यान्) जिनको (धिष्ण्या) देह के भीतर अपने २ स्थान में विराजमान (अग्नयः) प्राणादि अग्नियां (अनु अतप्यन्त) भोग के अनन्तर संताप देते हैं । (तेषां) उन भोगी पुरुषों का जो (अवयाः) हीन यज्ञ अर्थात् इन्द्रियों में विषयार्थों की आहुति या कुसंगति है और (दुरिष्टिः) दोषयुक्त शास्त्रविधान के प्रतिकूल तामस प्रवृत्ति हैं, (विश्वकर्मा) वह समस्त संसार का स्रष्टा परमेश्वर (नः) हमारे (तां) उस हीन प्रवृत्ति को (स्विष्टिं) उत्तम पुण्यकार्य में (कृणवत्) बदल दे ।

यज्ञपतिमृषय एनसाहुर्निर्भक्तं प्रजा अनुतप्यमानम् ।
मथव्यान्त्स्तोकानप यान् रराध सं नष्टेभिः सृजतु विश्वकर्मा ॥२॥

भा०—(प्रजाः) प्रजाः=पुत्र पौत्र आदि के (अनु) साथ स्वयं (तप्यमानं) कष्ट अनुभव करते हुए, उनकी ममता में बंधे (यज्ञपतिम्) यजमान आत्मा को (ऋषयः) तत्वदर्शी विद्वान् गण (एनसा) मोह में (निर्भक्तं) फंसा हुआ (आहुः) कहते हैं । और (यान्) जिन (मथव्यान्) मथन करने हारे, चित्त को हर्ष देने हारे (स्तोकान्) पदार्थों को (अप रराध) हम से परे रखता है (तेभिः) उन पदार्थों से भी (सः) वह (विश्वकर्मा) जगदीश्वर (नः) हमारे आत्मा को (संसृजतु) युक्त करे ।

२–(तृ०) 'मथव्यान्' इति सायणसम्मतः पाठः (प्र०) 'यजमानमृषय' (द्वि०) ' विहाय प्रजामनु तप्यमानाः ' (तृ०) 'मथव्यान्त्स्तोकावपताभ्यां तौ रराध' इति मै० सं० । (द्वि०) 'प्रजा निर्भक्ता अनुतप्यमानाः,' इति तै० सं० ।

अदान्यान्त्सोमपान् मन्यमानो यज्ञस्य विद्वान्त्समये न धीरः ।
यदेनश्चकृवान् बद्ध एष तं विश्वकर्मन् प्र मुञ्चा स्वस्तये ॥ ३ ॥

भा०—(धीरः न) धीर, प्रतिभावान् पुरुष के समान (विद्वान्) विद्वान्, विद्यासम्पन्न पुरुष भी (यज्ञस्य) यज्ञ के (समये) समय में=सत्संग के अवसर पर (सोमपान्) ब्रह्मानन्द रस का पान करने हारे अन्तर्ज्ञानी पुरुषों को भी (अदान्यान्) दान दक्षिणा देने के अयोग्य (मन्यमानः) समझता हुआ गर्व में आकर (बद्धः) मोह अविद्या में बद्ध (एष) यह जीव (यद्) जो (एनः) पाप या अनुचित कर्म (चकृवान्) कर देता है हे (विश्वकर्मन्) समस्त संसार के उत्पादक प्रभो ! आप (तं) उस जीव को (स्वस्तये) उसके कल्याण के लिये (प्र मुंच) उस पाप से मुक्त करो ।

घोरा ऋषयो नमो अस्त्वेभ्यश्चक्षुर्यदेषां मनसश्च सत्यम् ।
बृहस्पतये महिष द्युमन्नमो विश्वकर्मन् नमस्ते पाह्यस्मान् ॥४॥

भा०—(ऋषयः) यथार्थ मन्त्रों के द्रष्टा, विद्वान् वस्तुतः (घोराः) घोर तपस्वी होते हैं । (एभ्यः) इनके लिये हमारा सदा (नमः अस्तु) नमस्कार हो । (यद्) क्योंकि (एषां) इनकी (चक्षुः) आंख या यथार्थ दर्शन और (मनसः च) मन का मनन दोनों (सत्यम्) सत्य होते हैं । हे

३–(प्र०) 'अनन्यान्त्सोमपान्' (तृ०) 'एनश्चकृवान्महिबद्ध एषां इति तै० सं० । 'अयज्ञियान् यज्ञियान मन्यमानो' इति मै० सं० । (द्वि०) 'प्राणस्यविद्वानसमरे' (तृ०) 'एनोमहच्चकृवान् बद्ध' इति मै० सं० ।

४–(द्वि०) 'चक्षुष एषां मनसश्च सन्धौ,' (तृ०) 'माहिषद' (च०) नमो-विश्वकर्मणे स उपांत्व' इति तै० सं० । (प्र० द्वि०) 'भीमा ऋषयो' नमो-स्तु' (द्वि०) ' मनसश्चसंदृक् ' (तृ०) बृहस्पते महिपाय दिवे विश्व' इति पैप्प० सं० ।

(महिष) पूजनीय पद के दातः ! हे विश्वकर्मन् ! सबके उत्पादक ! (ते) तुझ (बृहस्पतये) महान् संसार के परिपालक, प्रभु के लिये (द्युमत्) सब से अधिक (नमः) नमस्कार है (नमः ते) तुझे बार २ नमस्कार है । तूही (अस्मान् पाहि) हमारी रक्षा कर । सायण-सम्मत पाठ—(महि पत् द्युमत् नमः) प्रभो ! आपका बड़ा भारी प्रकाशमय 'सत्' स्वरूप है ।

अथवा—अध्यात्म पक्ष में—चक्षु आदि ये प्राण ही घोर ऋषि हैं । इनको (नमः) अन्न प्राप्त हो । इन प्राणों और मन के बीच में से चक्षु का देखा ही सत्य है । हे महिष ! आत्मन् ! बृहती वाणी के पति ! इस तुझ आत्मा या आसन्य प्राण के लिये (द्युमत् नमः) तेजोमय, ज्ञानमय सोमरूप अन्न है । हे विश्वकर्मन् प्रभो ! आपको भी नमस्कार है । आप हमारी रक्षा करें ।

य॒ज्ञस्य॒ चक्षुः॒ प्रभृ॑ति॒र्मुखं॑ च वा॒चा श्रोत्रे॑ण॒ मन॑सा जुहोमि ।
इ॒मं य॒ज्ञं वित॑तं वि॒श्वक॑र्म॒णा दे॒वा य॑न्तु सुमन॒स्यमा॑नाः ॥ ५ ॥

अथर्व० १९ । ५८ । ५ ॥

भा०—(यज्ञस्य) इस पुरुषमय यज्ञस्वरूप आत्मा का (चक्षुः) आंख और (मुखं च) मुख (प्रभृतिः) उसका उत्तम भरण पोषण करने वाला साधन है । एक ज्ञानभरण करता है और दूसरा अन्नभरण करता है । इस यज्ञ में (श्रोत्रेण) श्रोत्र से (वाचा) वाणी से और (मनसा) मन से भी (जुहोमि) ज्ञान की आहुतियां प्रदान करता हूं । (विश्वकर्मणः) जगत् के स्रष्टा परमेश्वर ने इस शरीर में (विततं) विस्तृत किये हुए (इमं) इस (यज्ञं) यज्ञ को (देवाः) यज्ञ में विद्वान् पुरुषों के समान पंचभूतों की तन्मात्रा स्वरूप ये इन्द्रियगण (आ यन्तु) प्राप्त हों ।

[३६] कन्या के लिये योग्य पति की प्राप्ति ।

पतिवेदन ऋषिः । अग्नीषोमौ मन्त्रोक्ता सोमसूर्येन्द्रभगधनपतिहिरण्यौषधयश्च देवताः । १ भुरिग् । २, ५–७ अनुष्टुभः । ३, ४ त्रिष्टुभौ । ८ निचृत् पुरोष्णिक् । अष्टर्चं सूक्तम् ॥

आ नो॑ अग्ने सुम॒तिं सं॑भ॒लो ग॑मेदि॒मां कु॑मा॒रीं स॒ह नो॒ भगे॑न ।
जु॒ष्टा व॒रेषु॒ सम॑नेषु व॒ल्गुरो॒षं पत्या॒ सौभ॑गमस्त्व॒स्यै ॥ १ ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! आचार्य ! पुरोहित ! परमात्मन् ! (सं-भलः[1]) उत्तम रीति से आदान करने हारा योग्य पात्र या उत्तम विद्वान् प्रवक्ता (नः) हमारे पास (आ गमेद्) आवे और (इमां) इस (सुमतिं) उत्तम ज्ञान वाली, उत्तम मति वाली, बुद्धिमती (कुमारीम्) नवयौवना कुमारी कन्या को (भगेन सह) ऐश्वर्यमय धन और सौभाग्य के साथ (आ गमेत्) आकर स्वीकार करे । अथवा भला उत्तम विद्वान् , सत्पात्र इस कुमारी को (संगमेत) प्राप्त हो । और यह कन्या (समनेषु) समान चित्त वाले (वरेषु) वरों में से (पत्या) अपने पालन करने में समर्थ अभिलषित पति के संग (वल्गुः) मधुर वचन आलाप करके पश्चात् (अस्यै) इस कन्या को (ओषं) सह-वासरूप (सौभगं) सौभाग्य (अस्तु) प्राप्त हो ।

सोम॑जुष्टं ब्रह्म॑जुष्टमर्य॒म्णा संभृ॑तं॒ भग॑म् ।
धा॒तुर्दे॒वस्य॑ स॒त्येन॑ कृणोमि पति॒वेद॑नम् ॥ २ ॥

---

[३६] १–(प्र० द्वि०) सुमतिं स्कन्दलोक इमां कुमार्या मानो भगेन [?] । (तृ० च०) वल्गुरोषं पत्या भवति सुभगेमम्' इति पैप्प० सं० ।

१. सम्भलकः समादाता इति सायणः ।

२–' सोमजुष्टो अर्यम्णा सम्भृतो भगः ' (च०) ' कृणोमि पतिर्वेदनम् ' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(सोमजुष्टं) सोम. विद्वान्, प्रथम पति द्वारा प्रेमपूर्वक स्वीकृत, (ब्रह्मजुष्टं) ब्राह्मणों द्वारा अनुमोदित, (अर्यम्णा संभृतं) अर्यमा=विवाहाग्नि द्वारा उत्तम रीति से परिपालित, या राजा द्वारा परिरक्षित (पतिवेदनं) पति-वरणरूप (भगम्) सौभाग्यतम विवाहकृत्य को मैं पति और पत्नी (धातुः) समस्त संसार के पालक और उत्पादक (देवस्य) देव परमात्मा के (सत्येन) साक्षीभूत सत्य व्रत से (कृणोमि) करता हूं और करती हूं । अथवा कन्या का पिता कहता है कि विधाता=प्रजापति के व्रत से प्रेरित होकर मैं कन्या का विवाह करता हूं ।

इयमग्ने नारी पतिं विदेष्ट सोमो हि राजा सुभगां कृणोति ।
सुवाना पुत्रान् महिषी भवाति गत्वा पतिं सुभगा वि राजतु ॥३॥

भा०—हे अग्ने ! (इयं नारी) यह नारी (पतिं) पति को (विदेष्ट) प्राप्त हो । (राजा) विद्या और ऐश्वर्य से युक्त (सोमः) प्रसव करने में समर्थ सोम, प्रथम पति (हि) निश्चय से इसको (सुभगा) सौभाग्यसम्पन्न (कृणोति) करे । यह नारी (पुत्रान्) पुत्रों को (सुवाना) उत्पन्न करती हुई (महिषी[1]) पूजनीय श्रेष्ठ रानी के समान (भवाति) हो । और (पतिं) पति के पास (गत्वा) जाकर (सुभगा) सौभाग्यवती होकर (वि राजतु) नाना प्रकार से और विशेष रूप से शोभा को प्राप्त हो ।

यथाखरो मघवंश्चारुरेष प्रियो मृगाणां सुषदा बभूव ।
एवा भगस्य जुष्टेयमस्तु नारी संप्रिया पत्याविराधयन्ती ॥४॥

३–(प्र०) 'अग्ने नारि' इति क्वाचित्कः पाठः । पतिर्विदेष्ट (द्वि०) 'सुभगं कृणोतु' 'महिनी भवासि गत्वा पति सुभगे विराज' इति पैप्प० सं० ।

१. महिषी महनीया श्रेष्ठा भार्या इति सायणः ।

४–(द्वि०) 'सुपदं बभूव' इति ह्विटनिकामितः पाठः (प्र०) 'मघवान्' (च०) 'पत्याभिराधयन्ती' इति सायणाभिमतौ पाठौ । (प्र०) यथा खरं मघवं-श्चारुरेषु (तृ० च०) यां वयं जुष्टा भगस्यास्तु सम्प्रिया इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे (मघवन्) ऐश्वर्यसम्पन्न परमेश्वर ! (यथा) जिस प्रकार (एष) यह (खरः) कमनीय अश्व (मृगाणां) पशुओं में सबसे अधिक (प्रियः) उत्कृष्ट मनोहर और प्रेमपात्र है और इसीलिये (चारुः) उत्तम गतिशील और (सुपदाः) उत्तम सवारी देने हारा (बभूव) है उसी प्रकार (एषः) यह (खरः) कामनावान् अभिलाषायुक्त पुरुष भी (मृगाणां) स्त्रियों के चित्त की खोज लगाने वाले मृगजाति के पुरुषों में से (प्रियः) श्रेष्ठ (चारुः) सुन्दर, गृहस्थ-कार्य-सम्पादन में उत्कृष्ट और (सुपदा) गृहस्थ का उत्तम रीति से स्थिर करने हारा (बभूव) है। (एवं) इसी प्रकार के (भगस्य) सौभाग्यशील पुरुष के संग (जुष्टा) प्रेमपूर्वक संगत होकर (इयम् नारी) यह नारी (पत्या) अपने पति के साथ (आ विराधयन्ती) किसी प्रकार का अपराध या बिगाड़ या अनबन न करती हुई उसकी (संप्रिया) अति प्रियतमा (अस्तु) होकर रहे।

भग॑स्य ना॒वमा रो॑ह पू॒र्णामनु॑पदस्वतीम् ।
तयो॑प॒प्रतार॑य॒ यो व॒रः प्र॑तिका॒म्य॑: ॥ ५ ॥

भा०—हे कन्ये (यः) जो (वरः) वर (प्रतिकाम्यः) तेरी अभिलाषा के योग्य है, तू उस (भगस्य) सौभाग्यशील पति की (पूर्णाम्) पूरी (अनुपदस्वतीम्) विनाशरहित, शरणदायिनी (नावं) भवसागर के पार उतारने वाली नाव के समान शरण में (आरोह) चढ़, जा बैठ, (तया) उससे (उपप्रतारय) अपने उस पति को और अपने को भी भवसागर या ऋण से पार उतार।

आ क्र॑न्दय धनपते व॒रमाम॑नसं कृणु ।
सर्वं॑ प्रदक्षि॒णं कृ॑णु॒ यो व॒रः प्र॑तिका॒म्य॑: ॥ ६ ॥

५–(प्र०) 'नावमारुह पूर्णामनुपरस्त्रतीम्। त्रयो पूपाहितं यः पतिः पतिकाम्यः' इति पैप्प० सं०।

भा०—हे (धनपते) ऐश्वर्यवन् ! या कन्या के पितः ! उस (वरम्) वर को (आक्रन्दय) बुलाओ और उसको (आमनसं) अनुकूल चित्त वाला (कृणु) करो (यः) जो (वरः) वर (प्रतिकाम्यः) कन्या के अभिलाषा के अनुकूल है । हे वर ! तू (सर्वं) सबको (प्रदक्षिणं कृणु) अपने दायें रख कर प्रदक्षिणा कर अथवा (सर्वं प्रदक्षिणं कृणु) हे वर ! तू सर्व=अग्नि की प्रदक्षिणा कर । 'सर्व'=शर्वः, अग्नि के आठ नामों में से एक नाम है ।

इदं हिरण्यं गुल्गुल्वयमौक्षो अथो भगः ।
एते पतिभ्यस्त्वामदुः प्रतिकामाय वेत्तवे ॥ ७ ॥

भा०—हे कुमारि ! (इदं) यह (हिरण्यं) स्वर्णमय अंगूठी या स्वर्णमुद्रा, (गुल्गुलु) यह गूगल का सुगन्धित द्रव्य, (अयम् औक्षः[1]) यह प्रोक्षण, अर्घ्य, पाद्य का जल या दूध का बना पदार्थ, (अथो) और (भगः) यह सौभाग्य, या सुभगंकरण द्रव्य, सौभाग्यसूचक कुंकुम आदि द्रव्य (एते) ये सब पदार्थ (पतिभ्यः) पतियों के आगे प्रस्तुत करने के लिये (प्रतिकामाय) तेरे प्रेम के बदले में तुझसे प्रेम दर्शाने हारे अपने प्रियतम को (वेत्तवे) प्राप्त करने के लिये (त्वाम्) तुझको (अदुः) पुरोहित एवं माता और पिता और भाई देते हैं ।

आ ते नयतु सविता नयतु पतिर्यः प्रतिकाम्यः ।
त्वमस्यै धेह्योषधे ॥ ८ ॥

भा०—(सविता) सब का प्रेरक, उत्पादक परमात्मन् ! (ते) तेरे लिये हे कन्ये ! पति को (नयतु) प्राप्त करावे । और (यः) जो इस कन्या का

७-(प्र०) 'इदं हिरण्यं गुग्गुल्वय' इति क्वचित् पाठः । (प्र०) 'वयमुक्षो अथो भगः' (तृ०) 'त्वामधुः पतिकामाय' इति पैप्प० सं० ।

१. सेचनार्थस्य उक्षते रूपम्, नत्रोक्ष्णो वृषभार्थस्य ताद्धितम्, इति ह्विटनिः ।

(प्रतिकाम्यः) इसके प्रेम के एवज में इसको प्रेम से चाहता है वह (पतिः) पति इसको (नयतु) अपनी पत्नी बनाकर ले जावे । हे (ओषधे) पुष्टि-कारक ओषधे (त्वम्) तू (अस्यै) इस कन्या के गर्भ में उत्तम, पुष्ट, स्थापित वीर्य को (धेहि) धारण और पोषण कर ।

इति षष्ठोऽनुवाकः ।

[तत्र सूक्तानि पञ्च, ऋचश्चैकत्रिंशत् ।]

इति द्वितीयं काण्डं समाप्तम् ।

तत्रानुवाकाः षट्, त्रिंशत् षट् च सूक्तान्यथो ऋचः ।
सप्ताधिकं च द्विशतं, द्वितीयं काण्डमिष्यते ॥

रामवस्वङ्कचन्द्रेऽब्दे फाल्गुने सितपक्षके ।
पञ्चम्यां मङ्गले काण्डं द्वितीयं पूर्त्तिमैत्, शुभम् ॥

इति प्रतिष्ठितविद्यालंकार-मीमांसातीर्थविरुदोपशोभितश्रीमज्जयदेवशर्मणाविरचिते अथर्वणो ब्रह्मवेदस्यालोकभाष्ये द्वितीयं काण्डं समाप्तम् ।

* ओ३म् *

अथ तृतीयं काण्डम् ।

[१] शत्रु सेनाओं के प्रति सेनापति के कर्तव्य ।

अथर्वा ऋषिः । अग्निमरुदिन्द्रादयो बहवो देवताः । सेनामोहनम् । १ त्रिष्टुप् । २ विराड्गर्भा भुरिक् । ३, ६ अनुष्टुभौ, विराड् पुरोष्णिक् । षड्ऋचं सूक्तम् ॥

अग्निर्नः शत्रून् प्रत्येतु विद्वान् प्रतिदहन्नभिशस्तिमरातिम् ।
स सेनां मोहयतु परेषां निर्हस्तांश्च कृणवज्जातवेदाः ॥ १ ॥

भा०—(अग्निः) आगे २ चलने वाला, सेना का अग्रणी, सेनापति (नः शत्रून्) हमारे शत्रुओं पर (प्रति एतु) चढ़ाई करे और वह (विद्वान्) सब शत्रुओं की माया और युद्ध की विद्याओं को भली प्रकार जानता हुआ (अभिशस्तिं) चढ़ाई करने वाले, सब प्रकार से और सब ओरों से हमें घात करने हारे (अरातिम्) दानरहित, लुटेरे, शत्रु को (प्रतिदहन्) अपने आग्नेय अस्त्रों से जलाता, भूनता हुआ (सः) वह सेनापति (परेषां) पराये शत्रुओं की (सेनां) समस्त सेना को (मोहयतु) मोह में डालदे, उनको किंकर्तव्य-विमूढ़ करदे । और वह (जातवेदाः) सब उत्पन्न हुई घटनाओं को जानने हारा शत्रुओं को (निर्हस्तान्) निहत्था, शस्त्ररहित (कृणवत्) कर दे ।

---

[१] १–(प्र०) 'अग्निर्नो विद्वान् प्रत्येतु शत्रून्' इति पैप्प० सं० ।

यूयमुग्रा मरुत ईदृशे स्थाभिप्रेत मृणत सहध्वम् ।
अमीमृणन् वसवो नाथिता इमे अग्निर्ह्येषां दूतः प्रत्येतु विद्वान् ॥२॥

भा०—सेनापति का सेनाभटों के प्रति उपदेश है (मरुतः) वायु के समान तीव्र गति से जाने और बल पराक्रम का कार्य करने हारे वीरो ! (यूयम्) तुम लोग सदा (उग्राः) अपने हथियारों को उठाये रहो और सदा बल बनाये रहो । (ईदृशे स्थ) अब युद्ध के अवसर में हो कि तुम शत्रु के प्रति (अभि प्रेत) चढ़ाई करो, (मृणत) उनको मारो और (सहध्वं) शत्रु के प्रहारों को सहन करो । (इमे) ये (नाथिताः) शत्रु को उपताप पैदा करने हारे (वसवः) राष्ट्र में वसने हारे प्रजागण ही हैं जो (अमीमृणन्) अपने शत्रुओं का नाश करते हैं । (एषां) इनमें से (दूतः) मुख्य प्रतिनिधि, सबसे अधिक शत्रुसेना का संतापक (अग्निः) अग्निस्वरूप सेनापति है जो (विद्वान्) सब कार्यों को जानने हारा होकर (प्रति एतु) शत्रु के प्रति गमन किया करे ।

अमित्रसेनां मघवन्नस्माञ्छत्रूयतीमभि ।
युवं तानिन्द्र वृत्रहन्नग्निश्च दहतं प्रति ॥ ३ ॥

साम० उ० ९ । ३ । ६ । २ ॥

भा०—हे (मघवन्) ऐश्वर्यसम्पन्न राजन् ! (अस्मान्) हम से (शत्रूयतीम्) शत्रुता का व्यवहार करती हुई (अमित्रसेनां) शत्रु-सेना को (अभि) लक्ष्य करके चढ़ाई कर । हे इन्द्र ! राजन् हे ! (वृत्रहन्) राष्ट्र

२–अमीमृडन् वसवो नाथितेभ्यो अग्निर्ह्येषां विद्वान् प्रत्येतु शत्रून् । इति पैप्प० सं० । (तृ०) 'नाथितानिमे' इति लडविग्कामितः पाठः । (द्वि०) 'मृडयत सहध्वम् । अमीमृडन् वसवो नाथितासो अग्निर्हि शत्रून् प्रत्येति विध्यन्' इति 'ओफ्रेश्' कामितो मन्त्रपाठः ।

३–(तृ०) 'युवंतामिन्द्र' इति साम०, सायणाभिमतश्च ।

को घेरने हारे शत्रु के विनाशक ! और हे (अग्ने) सेनापते ! (युवं) आप दोनों (तान्) उन शत्रुओं के (प्रति दहतं) उनके अपराध के दण्ड में भस्म कर डालो, निर्मूल कर दो ।

प्रसूत इन्द्र प्रवता हरिभ्यां प्र ते वज्रः प्रमृणन्नेतु शत्रून् ।
जहि प्रतीचो अनूचः पराचो विष्वक्सत्यं कृणुहि चित्तमेषाम् ॥४॥

ऋ० ३ । ३० । ६ ॥

भा०—हे (इन्द्र) राजन् (ते) तेरा (वज्रः) रथ (प्रसूतः) उत्कृष्ट रूप में सारथियों द्वारा चलाया हुआ (हरिभ्यां) वेगवान् घोड़ों से (प्रवता) उत्तम सुरक्षित मार्ग से (प्र एतु) आगे २ बढ़े और साथ ही (वज्रः) विद्युत् के समान खड्ग भी (शत्रून्) शत्रुओं को (प्रमृणत्) विनाश करता हुआ (प्र एतु) आगे २ बढ़े । और तू (प्रतीचः) सामने से लड़ाई करने वाले, (अनूचः) पीछे से आक्रमण करने वाले और (पराचः) दूर देश से आक्रमण करने वाले सब शत्रुओं को (जहि) विनाश कर और (एषां) इनके (चित्तम्) चित्त को (सत्यं) सचमुच (विष्वक्) अव्यवस्थित (कृणुहि) कर दे । अथवा—(विष्वक्) सब प्रकार से इनके चित्त को (सत्यं कृणुहि) सत्यपथानुगामी बना दे जिससे वे शत्रुभाव छोड़ कर श्रेष्ठ पुरुष हो जांय ।

इन्द्र सेनां मोहयामित्राणाम् ।
अग्नेर्वातस्य ध्राज्या तान् विषूचो विनाशय ॥ ५ ॥

भा०—हे (इन्द्र) राजन् ! (अमित्राणाम्) शत्रुओं को (सेनां) सेना को (मोहय) किंकर्त्तव्यताविमूढ़ कर और (अग्नेः) अग्नि के

४–‘ विश्वे सत्यं कृणुहि विष्टमस्तु ’ इति ऋ० । ‘विश्वं विष्टं कृणुहि सत्यमेषाम्’ इति पैप्प० सं० ।

५–(प्र०) ‘ मनोमोहनं कृण्व इन्द्रामित्रेभ्यस्त्वम् ’ इति पैप्प० सं० ।

और (वातस्य) प्रचण्ड वायु के (भ्राज्या[1]) अस्त्र से (तान्) उनको (विपूचः) छिन्न भिन्न करके (विनाशय) नाश कर डाल । राजा शत्रु की सेना पर आग्नेयास्त्र और वायवास्त्र का प्रयोग करे ।

इन्द्रः सेनां मोहयतु मरुतो घ्नन्त्वोजसा ।
चक्षूंष्यग्निरा दत्तां पुनरेतु पराजिता ॥ ६ ॥

भा०—(इन्द्रः) राजा या ऐश्वर्यवान् या विजुली के समान शस्त्र-धारी पुरुष (सेनां) शत्रुसेना को (मोहयतु) व्याकुल विमूढ़ कर दे । (मरुतः) वायु के समान वेगवान् उग्र भट लोग (ओजसा) बड़े बल से (घ्नन्तु) मारें और (अग्निः) तीव्र आग्नेय अस्त्र उनके (चक्षूंषि) आंखों को (आदत्तां) हर ले । इस प्रकार वह शत्रुसेना (पुनः) बाद में (पराजिता) पराजित होकर (एतु) लौट जाय या हमारी शरण में आये ।

[२] शत्रुसेना के प्रति सेनापति के कर्तव्य ।

अथर्वा ऋषिः । सेनासंमोहनम् । अग्न्यादयो बहवो देवताः । १, ५, ६ त्रिष्टुभः । २-४ अनुष्टुभौ । षड्ऋचं सूक्तम् ॥

अग्निर्नो दूतः प्रत्येतु विद्वान् प्रतिदहन्नभिशस्तिमरातिम् ।
स चित्तानि मोहयतु परेषां निर्हस्तांश्च कृणवज्जातवेदाः ॥ १ ॥

---

१. भ्रज गतौ इत्यस्मादुणादिरिन् सार्वधातुकः । वाहुलकाद्वा इञ् । वसिवपियजिभ्रजि इत्यादिषु सायणेन भ्रजेः पाठः कृतः नतु उणादौ कचित् भ्रजेः पाठः उपलभ्यते । क्षेमकरणत्रिवेदिनापि तथैवालेखि इति तच्चिन्त्यम् ।

६-(प्र०) ' इन्द्रसेना ' इति कचित् पाठः । (तृ०) ' चक्षूंष्यग्निराधत्ताम् ' इति सायणाभिमतः पाठः ।

[२] १-(प्र०) ' प्रत्येतु शत्रून् ' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(नः दूतः अग्निः विद्वान् अभिशस्तिम् अरातिम् प्रतिदहन् प्रति एतु) हमारा मुख्य प्रतिनिधि विद्वान् अग्निरूप अग्रणी=सेनापति हम पर चढ़ाई करने वाले शत्रु को संताप देता हुआ शत्रु पर चढ़ाई करे (सः परेषां चित्तानि मोहयतु) वह शत्रुओं के चित्तों को विमूढ़ करदे । और (जातवेदाः) स्वयं सब का ज्ञान करता हुआ (निर्हस्तान् कृणवत्) शत्रुओं को निहत्था करदे । (देखो व्याख्या अथर्व० ३ । १ । १ ॥)

अयमग्निरमूमुहद् यानि चित्तानि वो हृदि ।
वि वो धमत्वोकसः प्र वो धमतु सर्वतः ॥ २ ॥

भा०—हे शत्रुओ ! (वः) आप लोगों के (हृदि) हृदय में (यानि) जितने (चित्तानि) चेतना सामर्थ्य हैं (अयम्) यह (अग्निः) अग्नि, सेनापति उनको भी (अमूमुहत्) विनाश करे और (वः) आप लोगों को (ओकसः) अपने मोरचा के स्थान, दुर्ग से भी (वि धमतु) निकाल बाहर करे और (सर्वतः) सब स्थानों में (वः) आप लोगों को (प्र धमतु) पछाड़ दे ।

इन्द्र चित्तानि मोहयन्नर्वाङाकूत्या चर ।
अग्नेर्वातस्य ध्राज्या तान् विषूचो वि नाशय ॥ ३ ॥

भा०—हे इन्द्र ! राजन् ! (चित्तानि) शत्रुओं के चित्तों को (मोहयन्) विमूढ़ करता हुआ (आकूत्या) हमारे अनुकूल सम्मति, सद्-बुद्धि से (अर्वाङ्) हमारे प्रति (चर) आ और (अग्नेः) अग्नि और (वातस्य) प्रचण्ड वायु की (ध्राज्या) गति से (तान्) उन शत्रुओं को (विषूचः) छिन्न भिन्न करके (विनाशय) विनष्ट कर डाल । (देखो अथर्व० ३ । १ । ५)

२-(तृ०) ' वि वो धमात्वोकसः ' इति पैप्प० सं० ।

३-(द्वि०) ' आकूत्या अधि ' इति पैप्प० सं० ।

व्या/कूतय एषामितार्थो चित्तानि मुह्यत ।
अथो यदुद्यैषां हृदि तदेषां परि निर्जहि ॥ ४ ॥

भा०—हे (आकूतयः[1]) सद्-विचारो ! (एषां) इन शत्रुओं से तुम (वि इत) विपरीत हो जाओ (अथो) और इनके (चित्तानि) चित्तों को (मुह्यत) मूढ़ कर दो । (अथो) और (यद्) जो (अद्य) आज (एषां) इनके (हृदि) हृदय में चिन्तित मनोरथ है (तद्) वह भी (एषां) इनका (परि निर्जहि) सब प्रकार से नाश हो जाय ।

'वि आऽकूतयः'—ऐसा पदपाठ होने पर भी 'व्याकूतयः' सायण ने एक पद माना है ।

अमीषां चित्तानि प्रतिमोहयन्ती गृहाणाङ्गान्यप्वे परेहि ।
अभि प्रेहि निर्दह हृत्सु शोकैर्ग्राह्यामित्रांस्तमसाविध्य शत्रून् ॥ ५ ॥
यजु० १७ । ४४ ॥ ऋ० १० । १०३ । १२ ॥

भा०—हे (अप्वे[1]) व्याधि और भय ! पापवृत्ते ! (अमीषां) इन शत्रुओं के (चित्तानि) चित्तों को (प्रतिमोहयन्ती) मुग्ध, व्याकुल करती हुई इनके (अंगानि) शरीरों को (गृहाण) जा पकड़ । (पराइहि) हमारे यहां से परे चली जा और (अमित्रान्) शत्रुओं को (अभिप्रेहि) प्राप्त हो और उनको (शोकैः) शोकों द्वारा (निर्दह) भस्म कर डाल और हमारे (ग्राह्या) अज्ञान की जकड़ से और (तमसा) अन्धकार से (शत्रून्) शत्रुओं को (विध्य) वेध डाल, विनाश कर ।

४–१. 'व्याकूतय' इत्येकं पदम् सा० भा० ।

५–(प्र०) 'अमीषां चित्तं प्रतिलोभयन्ती' (च०) 'अन्धेनामित्रास्तमसा सचन्ताम्.' इति ऋ० ।

१. अपवाययति, अपगमयति सुखं प्राणांश्चेति अप्वा, पापदेवता । भयजनितातीसारादयो व्याधयोऽप्वाः इति वेबरः । यथा चाह व्यासो महाभारते भीष्मपर्वणि–'श्रुत्वातु निनदं योधाः शकृन्मूत्रं प्रसुस्रुवुः' । भी० प० १ । १८ ॥

असौ या सेना मरुतः परेषामस्मानैत्यभ्योजसा स्पर्धमाना ।
तां विध्यत तमसापव्रतेन यथैषामन्यो अन्यं न जानात् ॥ ६ ॥

ऋ० १० । १०३ । परि० ॥ साम० उ० ९ । ३ । ४ । ३ ॥ यजु० १७ । ४७ ॥

भा०—(मरुतः) हे सेना के वायु समान 'प्रचण्ड' वेगवान् सुभट पुरुषो ! (या) जो (असौ) यह (परेषां) शत्रुओं की (सेना) सेना (ओजसा) अपने बल से (स्पर्द्धमाना) स्पर्द्धा करती हुई (अस्मान्) हम पर (अभि एति) चढ़ती चली आ रही है (तां) उसको (अपव्रतेन) कार्यव्यापार में शिथिल कर देने वाले (तमसा) अन्धकार से ऐसा (विध्यत) पीड़ित कर कि (यथा) जिस प्रकार (एषां) इनमें से (अन्यः) एक (अन्यं) दूसरे को भी (न जानात्) न जान पावे ।

---

[३] राजा की पुनः स्थापना ।

अथर्वा ऋषिः । नाना देवाः अग्निर्वा देवता । १, २, ४ त्रिष्टुभः । ३ चतुष्पदा भुरिक्पंक्तिः । ५, ६ अनुष्टुभौ । षड्ऋचं सूक्तम् ॥

अचिक्रदत् स्वपा इह भुवदग्ने व्यचस्व रोदसी उरूची ।
युञ्जन्तु त्वा मरुतो विश्ववेदस आमुं नय नमसा रातहव्यम् ॥१॥

ऋ० ६ । ११ । ४ ॥

६–(द्वि०) 'अस्मानभ्येति नः' यजु०, साम० । (तृ०) 'तां गूहत' इति सा० । (च०) 'अमीषां' ऋ० प० । 'एतेषां' साम० । 'च जानन्' यजु० ।

[३] १–अदिद्युतत् स्वपाको विभावाऽग्ने यजस्व रोदसी उरूची । आयुं नय नमसा रातहव्या अञ्जन्ति सुप्रयसं पंचजनाः । इति मै० सं० । (प्र०) भवदग्ने (तृ० च०) 'अमुं नय नमसा रातहव्यो युजन्ति सुप्रजसं पंचजनाः' इति पैप्प० सं० ।

भा०—राजा राष्ट्र को प्राप्त करे इस का उपदेश करते हैं- हे अग्ने ! सेनापते ! (स्वपाः) निज प्रजा का उत्तम रूप से पालने वाला राजा (अचिक्रदत्) सर्वत्र अपनी शासन-घोषणाएं करता हुआ और राष्ट्र के अधिकारियों को बुलाता हुआ (इह भुवद्) इस राष्ट्र में शासन करने में समर्थ है। हे (अग्ने) सब के अग्रणी नेता ! तू (उरूची) बड़े सर्वव्यापक (रोदसी) द्यौ और पृथिवी के समान राजवर्ग=शासकवर्ग और प्रजा= शास्य वर्ग दोनों को (व्यचस्व) अपने वश कर। (विश्ववेदसः) समस्त विद्याओं, देशों और पदार्थों को जानने हारे (मरुतः) विद्वान् गण (त्वा) तेरे साथ (युञ्जन्तु) सहयोग करें (रातहव्यम्) अपनी प्रजा से हव्य अपना षष्ठांश रूप कर प्राप्त करने हारे (अमुं) इस राष्ट्रपति राजा को (नमसा) बड़े भारी आदर सत्कार पूर्वक (आ नय) राष्ट्र पर आरूढ कर। एक वार राष्ट्र हाथ से निकल जाने पर भी पुनः सेनापति को चाहिये कि वह अपने हाथ से गये राष्ट्र पर अपने राजा को आरूढ करे और राष्ट्र से उसको कर दिलवादे और विद्वानों को अपने साथ मिलाये रखे।

ब्रह्मपक्ष में हे अग्ने ! (इह) तू इस संसार में 'सु-अपाः' उत्तम कर्म ज्ञान सम्पन्न, (भुवद्) है। (उरूची रोदसी व्यचस्व) तू विशाल पृथिवी और द्यौ को व्याप्त करता या फैलाता है। (विश्ववेदसः मरुतः त्वा युंजन्तु) ज्ञानी विद्वान् तुझे योग से साक्षात् करते हैं। हे पुरुष (अमुं) उस (रातहव्यं) अन्न और ज्ञान सुखप्रद परमेश्वर को (नमसा नयः) भक्ति से प्राप्त कर। प्राप्त्यर्थोऽत्र णीः।

अध्यात्मपक्ष में — यह आत्मा इस देहरूप राष्ट्र में सब इन्द्रियों का पालक शुभकर्मकर्ता दोनों प्राण और अपान पर वश करता है सब महत्= प्राण उसके साथ सहयोग करें। परमात्मा उस जीवात्मा को अन्न और ज्ञान द्वारा पुष्ट करके सन्मार्ग पर ले जावे।

दूरे चित् सन्तमरुषास इन्द्रमा च्यावयन्तु सख्याय विप्रम् ।
यद् गायत्रीं बृहतीमर्कमस्मै सौत्रामण्या दधृषन्त देवाः ॥ २ ॥

भा०—(अरुषासः) रोषरहित, प्रेमयुक्त प्रजाएं एवं ज्ञानसम्पन्न विद्वान् पुरुष (दूरे चित्) दूर देश में (सन्तं) विद्यमान होते हुए भी (विप्रम्) बुद्धिमान् (इन्द्रम्) ऐश्वर्यवान् प्रभु और राजा को (सख्याय) अपने सख्य=सौहार्द के कारण (आच्यावयन्तु) बुलाते हैं । (यत्) और तब (गायत्रीम्) गायत्री, ब्रह्मबल और (बृहती) बृहती छन्द, क्षत्रबल स्वरूप (अर्क) सूर्य के समान पूजनीय (अस्मै) इस राजा को (देवाः) विद्वान् पुरुष (सौत्रामण्या) सौत्रामणी याग से (दधृषन्त) पुनः पुनः पुष्ट करते हैं ।

अद्भ्यस्त्वा राजा वरुणो ह्वयतु सोमस्त्वा ह्वयतु पर्वतेभ्यः ।
इन्द्रस्त्वा ह्वयतु विड्भ्य आभ्यः श्येनो भूत्वा विश आ पतेमाः ॥ ३ ॥

भा०—युद्धकाल में विपत्तिग्रस्त राष्ट्र के राजा के तीन ही आश्रय-स्थल होते हैं—१ समुद्र या जलीय प्रदेश; २ पर्वत प्रदेश, ३ अपनी प्रजाएं । इन तीनों स्थलों से भी राजा को बुला कर राष्ट्र पर आरूढ़ करे । (अद्भ्यः) जलमय प्रदेशों से (वरुणः) सब से श्रेष्ठ, सब से बड़ा (राजा) राजा (त्वा) तुझ राजा को (ह्वयतु) बुला कर, प्रेरित करके उस राज्य रहित राष्ट्र पर भेजे । इसी प्रकार (पर्वतेभ्यः) यदि वह पर्वतमय प्रदेशों में हो तो वहां से (सोमः) ओषधियों का राजा या ब्राह्मण विद्वान्, (त्वा)

२–(च०) 'दध्रान्त' इति पैप्प० सं० । 'ददृहन्त' इति ह्विटनि-कामितः पाठः ।

३–(प्र० द्वि०) 'वरुणो जुहाव सोमस्त्वा यं ह्वयति०' (तृ०) इन्द्र-स्त्वा यं ह्वयति' इति पैप्प० सं० ।

तुझ राजा को (ह्वयतु) बुला कर राष्ट्र पर शासन करने की आज्ञा दे। (इन्द्रः) प्रजाओं का ऐश्वर्यशील मुख्य भाग भी (त्वा) तुझ को बुलाले। हे राजन् ! (आभ्यः) इन प्रजाओं के लिये (श्येनः) ज्ञानवान् और पक्षियों में बाज़ के समान शत्रु पर आक्रमणकारी बलवान् या श्येन व्यूहाकार होकर (इमाः) इन (विशः) प्रजाओं में (आपत) आ और प्रवेश कर।

श्येनो हव्यं नयत्वा परस्मादन्यक्षेत्रे अपरुद्धं चरन्तम्।
अश्विना पन्थां कृणुतां सुगं त इमं संजाता अभिसंविशध्वम् ॥४॥

भा०—(अन्यक्षेत्रे) दूसरे के राष्ट्र में या आहाते में (चरन्तं) विचरते हुए (अपरुद्धं) शत्रुओं से घिरे हुए या कारागार में रुद्ध (हव्यं) अपनी प्रजाओं से बुलाये जाने योग्य (त्वा) तुझ उत्तम राजा को (परस्मात्) दूसरे के राष्ट्र से (श्येनः) ज्ञानवान् चतुर दूसरे के राष्ट्र से वेगपूर्वक हर ले जाने वाला पुरुष (आनयतु) निकाल लावे। और (अश्विनौ) दो प्रकार के गुप्तचर एक नगर में रहने वाले दूसरे अरण्य में रहने वाले दोनों हे राजन् ! (ते) तेरे (पन्थां) मार्ग को (सुगं) सुखपूर्वक जाने योग्य (कृणुतां) करें और हे (सजाताः) उस राजवंश के अन्य सगोत्र भाइयो ! (इमं) पुनः राष्ट्र में आये हुए इस राजा को आप लोग (अभि-सं विशध्वम्) प्राप्त कर उससे मिल कर अपना राष्ट्र बसाओ और पालन करो।

ह्वयन्तु त्वा प्रतिजनाः प्रति मित्रा अवृषत।
इन्द्राग्नी विश्वे देवास्ते विशि क्षेममदीधरन् ॥ ५ ॥

४–(प्र०) 'श्येनो हविः' इति पैप्प० सं०। (द्वि०) 'अवरुद्धं चरन्तं' इति कश्चित्कः।

५–(प्र०) 'वयन्तु' इति कश्चित, सायणाभिमतश्च पाठः। 'ह्वयन्तिस्त्वा पञ्चजनाः' (द्वि०) 'वर्षत' (च०) 'क्षेममदीधरः' इति पैप्प० सं०।

भा०—हे राजन्! (प्रतिजनाः) तेरे प्रतिकूल लोग भी (त्वा ह्वयन्तु) तेरे अनुकूल होकर तुझे बुलावें और (मित्राः) मित्रजन भी (त्वा प्रति) तेरे प्रति (अवृषत) अपना सर्वस्व अर्पण करें। (इन्द्राग्नी) इन्द्र, विद्युत् और अग्नि और (विश्वेदेवाः) समस्त राष्ट्र के विद्वान्गण या दिव्य पदार्थ (ते विशि) तेरी प्रजा में (क्षेमम्) कल्याण सुख और सम्पत्तियों का (अदीधरन्) धारण करावें।

यस्ते हवं विवदत् सजातो यश्च निष्ट्यः।
अपाञ्चमिन्द्र तं कृत्वाथेममिहाव गमय ॥ ६ ॥

भा०—हे राजन्! (यः) जो (सजातः) चाहे तेरे अपने गोत्र का या समान वल हो या चाहे (निष्ट्यः) तुझ से नीच वर्ण का या निर्वल हो, जो कोई भी (ते) तेरे (हवं) प्रजाओं की तरफ से पुनः राज्य सिंहासन पर आरूढ होने के प्रस्ताव का या तेरे शासन का (वि वदत्) विरोध करे हे इन्द्र! राजन्! (तं) उसको (अपाञ्चं कृत्वा) देश से वाहर या सभा भवन से वाहर करके और (इमं) उसको (इह) इस राष्ट्र में दण्डित रूप से (अव गमय) विदित करादे।

[४] राजा का राज्याभिषेक।

अथर्वा ऋषिः। इन्द्रो देवता। १ जगती। ५, ६ भुरिजौ। २, ३, ४, ७ त्रिष्टुभः। सप्तर्चं सूक्तम्॥

आ त्वा गन् राष्ट्रं सह वर्चसोदिहि प्राङ् विशां पतिरेकराट् त्वं वि राज सर्वास्त्वा राजन् प्रदिशो ह्वयन्तूपसद्यो नमस्यो भवेह ॥ १ ॥

[४] १–(प्र०) 'आ त्वा अगत्' इति ह्विटनिकामितः पदच्छेदः। (द्वि०) 'प्राक्विशां' इति पैप्प० सं०, सायणाभिमतश्च।

भा०—राजा को राजसिंहासन पर स्थापित करने का उपदेश करते हैं—हे (राजन्) राजन् ! सबसे अधिक गुणों में प्रकाशमान और सब प्रजाओं के चित्तों को अनुरंजन करने हारे पुरुष ! (त्वा) तुझको (राष्ट्रं) यह राष्ट्र (आगन्) प्राप्त होता है—तेरे हाथों सौंपा जाता है । तू (वर्चसा) अपने पराक्रम और वर्चः-तेज के साथ सूर्य के समान (उद् इहि) ऊपर उठ, उन्नति कर । तू (प्राङ्) सबसे आगे चलने हारा, नेता होने के कारण (विशां) समस्त प्रजाओं का (पतिः) पालक है । (त्वं) तू (एकराट्) एकमात्र सर्वोपरि अधिकारी होकर (विराज) शोभा दे—विराजमान हो । हे राजन् ! (त्वा) तुझको (सर्वाः) समस्त (प्रदिशः[1]) दिशा प्रदिशाओं के वासी अर्थात् उत्तम मार्ग दर्शाने वाली समितिएं (ह्वयन्तु) आदरपूर्वक बुलावें और तेरा स्वागत करें (इह) इस राष्ट्र में तू सब का (उपसद्यः) प्राप्त करने योग्य, शरण योग्य और (नमस्यः) आदर करने योग्य (भव) हो ।

जिसको समस्त राष्ट्र चुने जो नेता हो, वही सबसे मुख्य राज-पद पर स्थापित किया जाय । सब अधीन देश उसको अपना राजा स्वीकार करें । सब व्यक्ति अपने कष्टों को उससे कहें और सब उसका आदर करें ।

त्वां विशो॑ वृणतां राज्या॑य त्वामिमाः प्रदिशः॒ पञ्च॑ दे॒वीः ।
वर्ष्म॑न् रा॒ष्ट्रस्य॑ क॒कुदि॑ श्रयस्व॒ ततो॑ न उ॒ग्रो वि भ॑जा वसू॑नि ॥२॥

१. प्रपूर्वाद् दिशतेरिव प्रादेशिको गुरुः । प्रकृष्टं दिशन्ति इति प्रदिशः विद्वत् सभाः ।

२–(द्वि०) 'त्वां हवन्त मरुतः स्वर्काः ?' (प्र०) 'गावोऽवृणन्राज्याय' (तृ०) 'क्षत्रस्य ककुभि शिश्रियाणः' इति तै० सं० । तत्रैव (द्वि०) 'त्वां वर्धन्ति' (तृ०) 'क्षत्रस्य ककुभिः' इति मै० सं० । 'राष्ट्रस्य ककुधि' (प्र०) 'वृणुताम्' (च०) 'अतो वसूनि वि भजास्युग्रः' इति पैप्प० सं० ।

भा०—राजा को समस्त प्रजाएं स्वयं चुनें और चुना हुआ राजा समस्त राष्ट्र की सम्पत्तियों को प्रजा में बांटें इसका उपदेश करते हैं। हे राजन्! (विशः) समस्त देश में बसने हारी प्रजाएं (राज्याय) राज्य अर्थात् अपने ऊपर शासन करने के लिये (त्वां) तुझको (वृणतां) स्वयं चुनें। (इमाः) ये (देवीः) विद्वानों की बनी हुईं (पंच) पांच (प्रदिशः) उत्तम मार्ग दर्शाने वाली विद्वत्समितियां भी वरण करें। (राष्ट्रस्य) समस्त राष्ट्र के (वर्ष्मन्) शरीर में, समस्त अहाते में से (ककुदि) सबसे उत्तम स्थान सिंहासन एवं श्रेष्ठ सम-प्रदेश राजधानी में (श्रयस्व) तू आश्रय ले, अपना राजमहल बनाकर निवास कर या राजसिंहासन पर विराजमान हो (ततः) उसके बाद (उग्रः) सदा राजदण्ड का बल उठाये रखकर (नः) हम प्रजाओं में यथोचित रीति से (वसूनि) राष्ट्र के बसने योग्य जीवनोपयोगी धनों को (वि भज) न्यायपूर्वक विभाग कर।

अच्छ॑ त्वा यन्तु ह॒विनः॑ सजा॒ता अ॒ग्निर्दू॒तो अ॑जि॒रः सं च॑रातै।
जा॒याः पु॒त्राः सु॒मन॑सो भवन्तु ब॒हुं ब॒लिं प्रति॑ पश्यासा उ॒ग्रः ॥३॥

भा०—(सजाताः) तेरे समान उच्चवंश में उत्पन्न हुए कुलीन एवं तेरे समान बल, प्रभाव एवं उत्तम गुणों में सम्पन्न पुरुष हो (हविनः) हव=आज्ञाकारी शासक होकर (त्वा) तेरे अनुकूल (अच्छ) भली प्रकार (यन्तु) चलें। (अजिरः) न जीर्ण होने वाला या वेगवान् तुझ से प्रेरित हुआ (अग्निः[1]) विद्वान् राष्ट्र का अग्रणी या अग्नि के समान असह्य होकर सुखस्वरूप (दूतः) तेरा प्रतिनिधि पुरुष (सं चरातै) सर्वत्र समानभाव से विचरण करे। (जायाः) स्त्रियां और (पुत्राः) पुत्र

३–' यन्तु भुवनस्य जातोऽग्निर्दूतोवजरसे दधाति ' (तृ०) ' आयास्पुत्राः ' इति पैप्प० सं० ।

१. त्वयाप्रेरितो गमनशीलो ।

(सुमनसः) उत्तम मनवाले (भवन्तु) हों । और तू (उग्रः) न्यायव्यवस्था को बनाये रखता हुआ (बहुं) बहुत प्रकार के (बलिं) करों को (प्रति पश्यासै) स्वीकार कर या उनकी नियोजना कर ।

अश्विना त्वाग्रे मित्रावरुणोभा विश्वे देवा मरुतस्त्वा ह्वयन्तु ।
अधा मनो वसुदेयाय कृणुष्व ततो न उग्रो वि भजा वसूनि ॥४॥

भा०—हे राजन् ! (त्वा) तुझ को (अग्रे) सब से प्रथम (अश्विना) दोनों अश्विगण-सेनापति और सभापति और (मित्रा वरुणा) मित्र और वरुण मित्र=पुलिस विभाग का अध्यक्ष और गुप्तचर विभाग का अध्यक्ष ये दोनों और (विश्वे देवाः) समस्त विद्वान् गण और (मरुतः) समस्त सैनिक लोग या समस्त वैश्यगण भी (त्वा) तुझको (ह्वयन्तु) अपना राजा स्वीकार करें । (अध) और तू भी (मनः) अपना संकल्प (वसुदेयाय) उत्तम धनों को प्रजा के प्रति निछावर करने के लिये ही (कृणुष्व) बनाये रख । (ततः) तदनुसार ही (नः) हमें (उग्रः) उद्यत दण्ड हो (वसूनि) समस्त सम्पदाएं (वि भज) विविध प्रकारों से विभाग कर ।

जैसा कालिदास ने लिखा है:—

प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत् ।
सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः ॥

राजा दिलीप प्रजाओं की लक्ष्मी-वृद्धि के लिये प्रजाओं से बलि=कर लिया करता था । सूर्य भी तो पृथिवी से रस इसीलिये ऊपर को खींच लेता है कि पुनः वह उसे सहस्र गुणा लाभकारी बना कर बरसा दे ।

४–(तृ० च०) 'सजातानां मध्यमेष्ठाहमस्यस्मेक्षेत्रो सविते विराज' इति पैप्प० सं० ।

अथवा-(अश्विनौ) सूर्य और पृथिवी (मित्रावरुणा) मित्र और वरुण मेघ और समुद्र और विश्व देव और (मरुतः) वायु सब उस राजा को (ह्वयन्तु) उपदेश करें अर्थात् उसको अपना २ गुण सिखावें। अर्थात् राजा सूर्य के समान प्रजा से बलि ले, पृथिवी के समान सब का आश्रय हो, पर्जन्य-मेघ के समान सब पर समान भाव से सुखों, अन्नों और कृपा का वर्षक हो, समुद्र के समान गम्भीर गुणरत्नों का आकार हो, इसी प्रकार समस्त दिव्य पदार्थों के गुण उसमें हों वह वायु के समान उग्रकर्मा हो।

जैसा कि मनु भगवान् ने लिखा है:—

इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च।
चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः॥
यस्मादेषां सुरेन्द्राणां मात्राभ्यो निर्मितो नृपः।
तस्मादभिभवत्येष सर्वभूतानि तेजसा॥
तपत्यादित्यवच्चैष चक्षूंषि च मनांसि च।
न चैनं भुवि शक्नोति कश्चिदप्यभिवीक्षितुम्॥
सोऽग्निर्भवति वायुश्च सोर्कः सोमः स धर्मराट्।
स कुबेरः स वरुणः स महेन्द्रः प्रभावतः॥ (मनु० अ० ७)

इन्द्र, वायु, सूर्य, अग्नि और वरुण, चन्द्र कुबेर इन सब के गुणांशों को एकत्र कर राजा बनाया जाता है। इस कारण समस्त प्राणियों को अपने तेज से दबा लेता है। वह सूर्य के समान सब के चित्तों और मनों को तपाता है, उसकी तरफ़ कोई आंख उठा कर भी नहीं देख सकता, वह अपने प्रभाव से ही साक्षात् अग्नि है, वायु है, सूर्य है, सोम है, धर्मराज है, कुबेर है, वरुण है और वही महेन्द्र है।

आ प्र द्र॑व पर॒मस्याः॑ परा॒वतः॑ शि॒वे ते॒ द्यावा॑पृथि॒वी उ॒भे स्ता॑म्।
तद॒यं राजा॒ वरु॑ण॒स्तथा॑ह॒ स त्वा॒यम॑ह्वत् स उपे॒दमेहि॑ ॥ ५ ॥

भा०—हे राजन् ! (परमस्या परावतः) अत्यन्त दूर देशों तक भी तू (आ प्र द्रव) जाया कर और वहां से पुनः अपनी राजधानी में आ जाया कर । इस दौरे के कार्य में (उभे) दोनों (द्यावापृथिवी) नर और नारी, राजा और प्रजावर्ग, द्यौ और पृथिवी (ते) तेरे लिये (शिवे) मंगलकारी (स्ताम्) होवें (तत्) तभी (अयं) यह (राजा) राजा (सः) वह (वरुणः) वरुणस्वरूप है, परमात्मा का प्रतिनिधि शासक है । (सः) वह ही (त्वा) तुझ को (अयम्) यह ईश्वर (अह्वत्) उपदेश करता है कि (स इदं उप एहि) वह ही तू योग्य पुरुष इस पद को प्राप्त हो ।

इन्द्रे॑न्द्र मनु॒ष्या॒३ः परे॑हि॒ सं ह्यज्ञा॑स्था॒ वरु॑णैः संविदा॒नः ।
स त्वा॒यम॑ह्वत् स्वे स॒धस्थे॒ स दे॒वान् य॑क्ष॒त् स उ॑ कल्पयाद्वि॒शः ॥६॥

(इन्द्र, इन्द्र) हे ऐश्वर्यशील 'इन्द्र' नाम से पुकारने योग्य, साक्षात् इन्द्ररूप राजन् ! (मनुष्याः=मनुष्यान्) समस्त मानवों को (परेहि) लांघ कर उनसे परे रह, उनको अपने वशकर और (वरुणैः) शासकविभाग में नियुक्त अधिकारियों, या वरण करने वाले प्रजा के प्रतिनिधियों, उसको घेर कर बैठने वाले अमात्यों द्वारा (संविदानः) समस्त राष्ट्र की बातों पर विचार और सहमति कर (हि) निश्चय से तू सब कुछ (सं अज्ञास्थाः)

५-(द्वि०) 'उभे बभूतम्' (च०) 'अह्वत् स्वेनमेहि' इति पैप्प० सं० । (प्र०) 'आप्रेहि परमस्याः परावतः' इति मै० सं० ।

६-'इन्द्र इव मनुष्यः परेहि संह्यशास्था वर्णैः संविदानः' इति ह्विटनिकामितः पाठः । 'इन्द्रो इदं मनुष्य प्रेहि संयशियास्त्वा वरुणेन संविदानः [?]' इति पैप्प० सं० ।

ठीक २ प्रकार से निश्चय कर लिया कर। (सः अयम्) वह यह मनुष्य-लोक ही (त्वा) तुझ को (स्वे) अपने (सधस्थे) सभास्थान समाज और गृहों पर (अह्वत्) आदरपूर्वक बुलाता है। (सः) वह तू राजा ही (देवान्) विद्वान् पुरुषों को (यक्षत्) स्थान पर नियुक्त करता है। (सः उ) वह राजा ही (विशः) समस्त प्रजाओं को (कल्पयात्) सुव्यवस्थित करता है उनको उनके व्यापारों में लगाता है। अथवा—(स अयम्) हे प्रजाजनो ! वह राजा ही राष्ट्र प्रजा को (स्वे सधस्थे) अपने राजभवन में (अह्वत्) बुलाकर एकत्र करता है। (स देवान् यक्षत्) विद्वानों को सादर एकत्र करता और (सः उ विशः कल्पयात्) वह ही प्रजाओं को उनके कार्यों में व्यवस्थित करता है।

पथ्या/रेवतीर्बहुधा विरूपाः सर्वाः सङ्गत्य वरीयस्ते अक्रन्।
तास्त्वा सर्वाः संविदाना ह्वयन्तु दशमीमुग्रः सुमना वशेह ॥ ७ ॥

भा०—(पथ्याः) धर्ममार्ग को न त्यागने हारी, (रेवतीः) धनसम्पन्न, (विरूपाः) नाना प्रकार की (सर्वाः) सब प्रजाएं (बहुधा) प्रायः (ते) तेरे (वरीयः) वरण करने योग्य निर्वाचन किये गये राजपद को (अक्रन्) नियत करती हैं। इसलिये (ताः सर्वाः) वे सब प्रजाएं (संविदानाः) अपना ऐकमत्य करके (त्वा ह्वयन्तु) तेरे प्रति अपना मत, अभिप्राय प्रकट करें। और उस अवस्था के (उग्रः) उग्र, राजदण्ड को अपने हाथ में लेकर तेजस्वी होकर भी (सुमनाः) शुभ चित्त से युक्त होकर (इह) इस राष्ट्र मे (दशमीम्) दशावरा परिषद् को (वश) अपने वश किया कर, उसमें सभापति होकर विराजमान हो।

त्रैविद्यो हेतुकस्तर्की नैरुक्तो धर्मपाठकः।
त्रयश्चाश्रमिणः पूर्वे परिषत् स्याद् दशावरा ॥ मनु० १२।१११॥

७-' वसेह ' इति सायणाभिमतः पाठः।

सायणने ६० वर्ष से ऊपर के १० वर्षों को ' दशमी ' दशमी शब्द से लिया है ।

[५] ' पर्णमणि ' के रूप में प्रधान पुरुषों का वर्णन ।

अथर्वा ऋषिः । सोमो देवता । पुरोनुष्टुप् , त्रिष्टुप् , विराड् उरोबृहती । २–७ अनुष्टुभः । अष्टर्चं सूक्तम् ॥

आयमंगन् पर्णमणिर्बली बलेन प्रमृणन्त्सपत्नान् ।
ओजो देवानां पय ओषधीनां वर्चसा मा जिन्वत्वप्रयावन् ॥ १ ॥

भा०—(अयं) यह (पर्णमणिः) उत्तम ज्ञानवान् , पालन करने हारा शिरोमणि पुरुष राष्ट्र में (आ अगन्) आता है जो (बली) बलवान् होकर (बलेन) अपने बल से (सपत्नान्) शत्रुओं को (प्रमृणन्) विनाश करता है। वही (देवानां) समस्त दिव्य शक्तियों या राष्ट्र के देवों के (ओजः) तेज और बल का साक्षात् रूप है और (ओषधीनां) समस्त ओषधियों का (पयः) रस जिस प्रकार सब रोगों को दूर करता है उसी प्रकार वह राष्ट्र की सब त्रुटियों को दूर करता है । वही (अप्रयावन्) विना प्रयाण किये अथवा विना प्रमाद के (मा) मुझे, राष्ट्र के कार्य करने हारे पुरुष को (वर्चसा) अपने तेजःसामर्थ्य से (जिन्वतु) ठीक २ मार्ग में प्रेरित करे ।

मयि क्षत्रं पर्णमणे मयि धारयताद् रयिम् ।
अहं राष्ट्रस्याभीवर्गे निजो भूयासमुत्तमः ॥ २ ॥

---

[५] १–(च०) ' मयि राष्ट्रं जिन्वत्वप्रयुच्छन् '
२–(द्वि०, तृ०) 'अहं क्षत्रस्याभीवर्गे यजा भूयासमुत्तरा' इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे पर्णमणे ! पालन करने और भरण पोषण करने हारे पुरुष-रत्न ! तुम (मयि) मुझे (क्षत्रं) क्षत्र-क्षात्र बल और (रयिम्) धन धान्य पदार्थ (धारयताद्) धारण करा । जिसके आधार पर (अहं) मैं (राष्ट्रस्य) इस राष्ट्र के (अभीवर्गे) शासक वर्ग में (निजः) उनका निज, आत्मीय बन्धु होकर भी (उत्तमः) सबसे उत्कृष्ट होकर (भूयासम्) रहूं ।

यं निदधुर्वनस्पतौ गुह्यं देवाः प्रियं मणिम् ।
तमस्मभ्यं सहायुषा देवा ददतु भर्तवे ॥ ३ ॥

भा०—(यं) जिस (प्रियं) प्रिय (गुह्यं) सुगुप्त (मणिम्) बहु-मूल्य मणि को (देवाः) देवों, विद्वानों ने (वनस्पतौ) वनस्पति=वृक्ष के समान–राष्ट्र के पालक रूप में (निदधुः) गुप्तरूप से रखा है । हे (देवाः) देवगण ! विद्वान् पुरुष (तं) उस (मणिं) सारवान् बहुमूल्य नरशिरोमणि को (अस्मभ्यं) हम प्रजा के (भर्त्तवे) भरण पोषण करने एवं धारण करने के लिये (आयुषा सह) आयु–दीर्घजीवन के सहित प्रदान करें ।

(वनस्पतौ) वृक्ष जिस प्रकार गुप्त रूप से ईश्वर की दिव्य शक्तियों से बहुत उत्तम मणिरूप सारभूत पदार्थ को कितने ही आवरणों के भीतर रख लेता है जिन को यथावत् उपयोग करने से मनुष्य की आयु बढ़ती है उसी प्रकार राष्ट्ररूप वृक्ष में उसके मणिभूत नेता विद्यमान हैं जो सदा सुगुप्त रहते हैं । प्रजाजन को चाहिये, राज्य की दीर्घायु के लिये और अपनी यथासुख आयु भोग करने के लिये उस मुख्य शिरोमणि पुरुष को प्राप्त करें और विद्वानों से उसको राष्ट्रपति बनाने का आग्रह करें ।

३–(द्वि०, तृ०, च०) 'वाजिं देवाः प्रियं निधिम्, ते मा इन्द्रः सहायुषा ददातु भर्तवे' इति पैप्प० सं० ।

सोमस्य पर्णः सह उग्रमागन्निन्द्रेण दत्तो वरुणेन शिष्टः ।
तं प्रियासं बहु रोचमानो दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ॥ ४ ॥

भा०—(सोमस्य) सोमरूप राष्ट्र का (पर्णः) पालन करने हारा विद्वद्गण (इन्द्रेण) राजा की शक्ति के साथ मिल कर (उग्रम्) बल को (आगन्) प्राप्त होता है । वह विद्वद्गण भी (इन्द्रेण दत्तः) राजाशक्ति से बहुत ऐश्वर्य आदि पाकर (वरुणेन) राष्ट्र के कष्टनिवारक या सर्वश्रेष्ठ वरण करने योग्य शासक द्वारा (शिष्टः) अनुशासित होता है । मैं राजा भी (शतशारदाय) सौ वर्षों के (दीर्घायुत्वाय) दीर्घ जीवन को प्राप्त करने के लिये उस विद्वद्गण सहित (बहु रोचमानः) प्रजा का बहुत प्रिय एवं सुशोभित और संमानित होता हुआ (तं) उस विद्वत्समूह को (प्रियासं) पालन पोषण करूं ।

आ मारुक्षत् पर्णमणिर्मह्या अरिष्टतातये ।
यथाहमुत्तरोसान्यर्यम्ण उत संविदः ॥ ५ ॥

भा०—राजा भी इस बात का विचार रखे कि (पर्णमणिः) प्रजा की रक्षा एवं पालन और पोषण करने हारा, शिरोमणि पुरुष अमात्य या मन्त्री के समान होकर (मह्या) बड़े भारी कल्याण अर्थात् (अरिष्टतातये) राष्ट्र को नाश होने से बचाने के लिये (मा आरुक्षत्) मेरे पास, मुझ से भी ऊपर विराजमान हो । (यथा) जिससे (अहम्) मैं उस (अर्यम्णः) शत्रुओं के नियामक (संविदः) उत्तम ज्ञानसम्पन्न, विचार

४–(तृ०) ' तं प्रियासं ' इति ह्विटनिकामितः पाठः । 'तमहं बिभर्मि' इति (द्वि०) 'वरुणेन सख्यः' इति पैप्प० सं० । (तृ०) 'बहुरोचमानं' इति सायणाभिमतः पाठः ।

५–(द्वि०) ' मह्यारिष्ट ' (च०) ' मनुष्या अधिसंशतः ['म्मतः] ' इति पैप्प० सं० ।

में सहायक पुरुष के साथ (उत्तरः) उसके अधीन होकर (असानि) रहूं अर्थात् राजा भी अपने से ऊपर एक विद्वान्, ज्ञानी, न्यायकारी, पुरोहित को नियुक्त करे जिससे सब राजकार्यों में सहमति लिया करे ।

ये धीवा॑नो रथका॒राः क॒र्मा॒रा ये म॑नी॒षिणः॑ ।
उ॒प॒स्तीन् प॑र्ण॒ मह्यं॒ त्वं सर्वा॑न् कृण्व॒भितो॒ जना॑न् ॥६॥

भा०—हे (पर्ण) राष्ट्र के पालक मन्त्रिन् ! (त्वं) तू (मह्यं) मुझ राजा के लिये इस राष्ट्र में निवास करने हारे (ये) जो (धीवानः) बुद्धिमान्, कलाकौशल में चतुर (रथकाराः) शीघ्र गमन करने वाले रथों के बनाने वाले शिल्पी, (कर्माराः) लोहे, सुवर्ण आदि धातु के कारीगर और (ये) जो (मनीषिणः) मननशील अध्यात्मवेदी विद्वान् हैं उन सब (जनान्) पुरुषों को मेरे (अभितः) चारों ओर (उपस्तीन्) उपस्थित (कृणुहि) कर । वह मन्त्री ऐसा प्रबन्ध करे जिससे सब शिल्पी और विद्वान्गण राष्ट्र के लिये नियुक्त होकर राजकार्य में सहायक हों। सरकार की तरफ़ से कारखानों, गाड़ियों और विद्यालयों का प्रबन्ध हो ।

ये राजा॑नो राज॒कृतः॑ सू॒ता ग्रा॑म॒ण्य॑श्च॒ ये ।
उ॒प॒स्तीन् प॑र्ण॒ मह्यं॒ त्वं सर्वा॑न् कृण्व॒भितो॒ जना॑न् ॥ ७ ॥

भा०—राजमन्त्री का एक कार्य और बतलाते हैं—हे (पर्ण) राष्ट्र-पालक मन्त्रिन् ! (ये) जो (राजानः) अन्य राजा सामन्तगण और (राजकृतः) राजाओं को बनाने हारे, उनके पुरोहितगण, मन्त्रिगण हैं और (ये) जो (सूताः) रथों के उत्तम संचालक और (ग्रामण्यः) ग्राम

६–(प्र०) 'यत् तक्षाणो रथ' (तृ० च०) 'सर्वांस्त्वानृण [?] रन्धयोपस्तिं कृणु मेदिनम्' इति पैप्प० सं० ।

७–(तृ० च०) 'उपास्तिरस्तु वैश्य उत शूद्र उतार्य' इति पैप्प० सं० ।

के प्रधान नेता पुरुष हों उन (सर्वान्) सब (जनान्) उत्तम पुरुषों को (मह्यं) मेरे (उपस्तीन्) समीप उपस्थित (कृणु) कर ।

पर्णो/सि तनूपानः सयोनिर्वीरो वीरेण मया ।
संवत्सरस्य तेजसा तेन बध्नामि त्वा मणे ॥ ८ ॥

भा०—हे (पर्ण) पालक ! तू (तनूपानः) हमारे शरीर की रक्षा करने हारा होने के कारण ही (पर्णः) पर्ण=पालक (असि) है । (मया) मुझ (वीरेण) वीर पुरुष के साथ तू भी (वीरः) वीर (असि) है । हे (मणे) मननशील, राष्ट्र-स्तंभनशील ! हे शोभाप्रद ! (तेन) उस (तेजसा) तेज, बल के कारण ही (त्वा) तुझ को (संवत्सरस्य) एक वर्ष के लिये (बध्नामि) उचित कार्य में नियुक्त करता हूं ।

इति प्रथमोऽनुवाकः ।

[तत्र सूक्तानि पञ्च ऋचश्च त्रयस्त्रिंशत् ।]

पर्ण शब्द पर विचार ।

'पर्ण' का शब्दार्थ है 'पलाश'=ढाक या पत्र । इसके विषय में तैत्तिरीय ब्राह्मण में लिखा है—तस्य सोमस्य पर्णमच्छिद्यत । तत्पर्णोऽभवत् । तत्पर्णस्य पर्णत्वम् । (तै० १ । १ । ३ । १०) 'तृतीयस्यामितो दिवि सोम आसीत् तं गायत्री आहरत् तस्य पर्णमच्छिद्यत् । तत्पर्णोऽभवत् ॥' शतपथ में लिखा है—तत्र वै गायत्री सोममच्छापतत् तद् अस्या आहरन्त्या अपाद् अस्ता अभ्यापत्य पर्णं प्रचिच्छेद । गायत्र्यैवा सोमस्य वा राज्ञः तत्पातित्वा पर्णोऽभवत् । श० १ । ७ । १ । १ ॥ अन्यत्र तैत्तिरीय ब्रा० में—गायत्रो वै पर्णः ॥ तै० ३ । २ । १ । १ ॥ शत० में—सोमो वै पर्णः ॥ श० ६ । ५ । १ ॥ देवा वै ब्रह्मन् अवदन्त तत्पर्ण उपाशृणोत् ॥ सुश्रवा वै नाम ॥ तै० १ ।

१ । ३ । ११ ॥ देवानां ब्रह्मवादे वदतां यत् उपाशृणोः सुश्रवा वै श्रुतोऽसि ततो मामाविशतु ब्रह्मवर्चसम् ॥ तै० १ । २ । १ । ६ ॥

अर्थात् (१) सोम का पर्ण=पत्ता टूट गया वही पर्ण हो गया ! (२) तीसरे द्यौलोक में सोम था उस को गायत्री ला रही थी उसका पर्ण टूट पड़ा । वह पर्ण हो गया । (३) गायत्री सोम को लेने गयी जब ला रही थी तो एक विना चरण के लंगड़े धनुर्धर ने बाण प्रहार करके उसका पर्ण=पंख काट डाला गायत्री का या राजा सोम का वह पर्ण [पंख या पत्र] गिरकर पर्ण [पलाश] हो गया ।

इसके अतिरिक्त इस सूक्त की व्याख्या करते हुए सायण ने यह सूक्त पलाश मणि पर लगाया है । इस सूक्त के चतुर्थ मन्त्र में 'सोमस्य पर्ण' इस प्रकार लिखा है । फलतः शतपथ के संदेह का निवारण यहां होता है वह पत्र 'सोम' का है जो गायत्री के लाते हुए टूट कर गिरा । गायत्री किस प्रकार लाई इसके लिये शतपथ में ही लिखा है । 'तद्धै कनिष्ठं छन्दः सद् गायत्री प्रथमाच्छन्दसो युज्यते तदु तद्वीर्येण यच्छ्येना भूत्वा दिवः सोममाहरत् ।' गायत्री छन्द 'श्येन' होकर द्यौलोक से सोम को लाया । फलतः श्येन को किसी निशानेबाज ने बाण मारा । तो उस श्येन का पंख झड़ा और सोम की डाली का पत्ता गिरा ।

गायत्री क्या पदार्थ है ।

(१) गायत्री=गयांस्तत्रे । प्राणा वै गयाः, तत्प्राणांस्तत्रे ॥ श० १४ । ८ । १५ । ७ ॥ (२) सेयं सर्वा कृत्स्ना मन्यमानाऽगायद् यदगायत् तस्मादियं (पृथिवी) गायत्री ॥ श० ६ । १ । ५ । १५ ॥ (३) या वै गायत्री आसीदियं वै सा पृथिवी ॥ श० ॥ १ । ४ । १ । ३४ ॥ (४) पृथिव्यां विष्णुर्व्यक्रंस्त गायत्रेण छन्दसा । श० १ । ६ । ३ । १० । (५) गायत्रोऽयं भूलोकः ॥ ता० ७ । ३ । ६ । कौ० ८ । ६ ॥ (६) प्राणो गायत्री

प्रजननम् ॥ ता० १६ । १४ । ५ । १६ ॥ प्राणो वै गायत्री ॥ श० ६ । ४ । २ । ५ ॥ (७) अग्निर्वै गायत्री ॥ श० ३ । ४ । १ । १९ ॥ (८) ब्रह्म हि गायत्री । ता० ११ । ११ । ९ ॥ (९) गायत्री ब्रह्मवर्चसम् ॥ तै० २ । ७ । ३ । ३ ॥ ज्योतिर्वै गायत्री ॥ कौ० १६ । ६ ॥ (१०) वीर्यं वै गायत्री ॥ ता० ७ । ३ । १३ ॥ यज्ञो वै गायत्री ॥ श० ४ । २ । ४ । २० ॥ (११) एषा वै गायत्री पक्षिणी चक्षुष्मती ज्योतिष्मती भास्वती यद् द्वादशाहस्तस्य यावतिरात्रौ यावन्तराग्निष्टोमौ ते चक्षुषी ये अष्टौ मध्य उक्थ्याः स आत्मा ॥ ऐ० ४ । २३ ॥ (१२) यद् गायत्री श्येना भूत्वा दिवः सोममाहरत् तेन सा श्येनः ॥ श० ३ । ४ । १ । १२ ॥ (१३) या द्यौः साऽनुमतिः सा उ एव गायत्री ॥ ऐ० ३ । ४८ ॥

फलतः, गायत्री शब्द से प्राणों की रक्षा करने वाली चितिशक्ति, पृथिवी, प्रजनन शक्ति, प्राण, ब्रह्म, अग्नि, ब्रह्मवर्चस् , तेज, वीर्य, ज्योति, आत्मा की उभयपक्षा शक्ति, श्येन (आत्मा) ये ही अर्थ है ।

सोम क्या पदार्थ है ।

(१) स्वा वै मे एषा (तनूः) श० ३ । ९ । ४ । २२ ॥ (२) श्रीर्वै सोमः ॥ श० ४ । १ । ३ । ९ ॥ (३) राजा वै सोमः । श० १४ । १ । ३ । १२ ॥ (४) सोमो वै पर्णः ॥ कौ० २ । २ ॥ (५) सोमो वैष्णवो राजा—तस्याप्सरसो विशः ॥ श० १३ । ४ । ३ । ८ ॥ सोमः पवमानः ॥ श० २ । २ । ३ । २२ ॥ प्रजापतिः ॥ श० ५ । १ । ३ । ७ ॥ संवत्सरः ॥ तै० १ । ६ । ८ । २ ॥ यदाह श्येनोऽसि इति सोमं वा एतदाह । एष वै अग्निर्भूत्वा अस्मिंल्लोके संश्यायति ॥ गो० पू० ५ । १२ ॥ वृत्रः । श० ३ । ४ । ३ । १३ ॥ क्षत्रम् । श० ३ । ४ । १ । १० ॥ यश० ॥ श० ४ । २ । ४ । ९ ॥ अन्नम् । श० ३ । ९ । १ । ८ ॥ प्राणः ॥ श० ७ । ३ । १ । ४५ ॥ इन उद्धरणों से सोम भी नाना पदार्थों का वाचक है ।

अब पर्णमणि पर विचार कीजिये ।

पर्ण—सोम का वह अंश है जिसको इन्द्र ने दिया और वरुण ने दिया उग्र के साथ आया। अर्थात्, क्षात्रवृत्ति के साथ २ जो तेज प्राप्त होता है जो राजा के तेज या बल से प्राप्त होता है वही 'पर्ण' मणि है। वह कई प्रकार का है। इस सूक्त में प्रत्येक मन्त्र में उस पर्णमणि या पालक क्षात्र-बल का भिन्न २ रूप दर्शाया है। फलतः, वह पर्णमणि वह अधिकार या अधिकारसूचक पद या उसका चिह्नभूत पदार्थ है जिसको धारण कर लेने पर राजा को सूक्त में वर्णित अधिकार प्राप्त होते हैं। यह वह एक पदक या पदसूचक चिह्नमात्र है। इस पदक से निम्नलिखित अधिकार प्राप्त होते हैं—(१) राजा अपने उन शत्रुओं पर जो उसके राष्ट्र पर बराबरी की हकदारी जमाना चाहें उनका नाश करे। (२) यह पद उससे कभी न लिया जाय। उसको ऊंचा स्थान प्राप्त हो। (३) वह प्रजा का पालन पोषण करे और प्रजा के स्वास्थ्य का वन्दोवस्त करे। (४) सेनाविभाग और पुलिस के विभाग को नियत करे। (५) पुरोहित या प्रधान मन्त्री (चेम्बर लेन) को नियत करे। (६) शिल्पियों, कारीगरों और विद्वान् अध्यापकों को नियत करे। (७) राजाओं, राजकृत्, पुरोहितों रथवाहकों, ग्रामाधिपतियों को नियुक्त करे। (८) अपने शरीर की रक्षा के लिये अंगरक्षक (Body guard) नियत करे। इन अधिकारों को प्राप्त करना और उनके अनुकूल समर्थ पुरुषों को नियत करना दोनों ही बातें मन्त्रों में सूचित की गई हैं।

सोम=यश, गायत्री=पृथिवी या वीर्य। वीर्य यश या पृथिवी का विजय करता है। सोम का एक पत्ता—अंश—प्रमाणपत्र यह पर्ण है जो इतने अधि-कार प्रजा पर उसको दिलाता है।

यह अलंकार अध्यात्मपक्ष में आत्मा पर लगता है। प्राण=स्वयं वह श्येन है, आत्मा=सोम है। आत्मा का एक पक्ष आनन्दरूप पर्ण है जो

शरीर को सब शक्तियों पर वश कराता है। इत्यादि अलंकार अधिक विचार की अपेक्षा रखते हैं।

[६] वीर सैनिकों के कर्त्तव्य ।

जगद्-वीजं पुरुष ऋषिः । वनस्पतिरश्वत्थो देवता । अरिक्षयाय अश्वत्थदेवस्तुतिः । १-८ अनुष्टुभः । अष्टर्चं सूक्तम् ॥

पुमा॑न् पुं॒सः परि॑जातोऽश्व॒त्थः ख॑दि॒रादधि॑ ।
स ह॑न्तु॒ शत्रू॑न् माम॒कान् यान॒हं द्वेष्मि॒ ये च॒ माम् ॥ १ ॥

भा०—जिस प्रकार (खदिराद् अधि) खदिर नामक वृक्ष पर (परि जातः) उत्पन्न हुआ (अश्वत्थः) पीपल का वृक्ष गुणों में अति अधिक हो जाता है उसी प्रकार (पुंसः) वीर्यवान् पुरुष से उत्पन्न हुआ (पुमान्) वीर्यवान् पुरुष भी बड़ा गुणी, वलवान् और निर्भय होता है। राजा ऐसे पुरुषों से यह आशा करे कि (सः) वह वीर पिता के वीर्य से उत्पन्न वीर पुरुष (अश्वत्थः) अश्व पर आरूढ़ होकर (मामकान्) मेरे उन (शत्रून्) शत्रुओं को (हन्तु) विनाश करे (यान्) जिनको (अहं) मैं (द्वेष्मि) प्रेमभाव से नहीं देखता और साथ ही (ये च) और जो (माम्) मुझ से भी द्वेष करते हैं।

जिस प्रकार वैद्य तीक्ष्णवीर्य ओषधि को प्राप्त करने की इच्छा से ऐसे पीपल को खोजता है जो तीक्ष्णवीर्य खदिर पर उत्पन्न हुआ हो उसी प्रकार राजा भी युद्ध में शत्रु के विजय के लिये ऐसे पुरुषों को अपनी सेना में ले जिनके पूर्व पुरुषा, मां बाप वलशाली, वीर्यवान् हों। उनके संस्कार साहस के कार्यों में प्रबल होते हैं। ऐसे पुरुषों को अश्वत्थ से उपमा देने के कारण

[६] १-' (प्रं०) परिजातो अश्वत्थः ' (च०) ' यॉश्चाहं ' इति पैप्प० सं० ।

उनको उसी प्रकार का जो चिह्न धारण कराया जावे, उसका ही नाम 'अश्वत्थमणि' समझना उचित है।

तानश्वत्थ निः शृंणीहि शत्रून् वैबाधदोधतः।
इन्द्रेण वृत्रघ्ना मेदी मित्रेण वरुणेन च ॥ २ ॥

भा०—हे (अश्वत्थ) अश्व के ऊपर तीक्ष्ण हो कर विराजने वाले वीर घुड़सवार बहुयुद्धविजयी पुरुष ! तू (वृत्रघ्ना) विघ्नकारी शत्रुओं को नाश करने हारे (इन्द्रेण) राजा के साथ और (मित्रेण) सब के साथ स्नेह करने हारे प्रजा को मृत्यु से बचाने हारे, या मित्र राजा और (वरुणेन च) वरुण-पुलिस और गुप्तचर के विभाग के साथ (मेदी) मित्रभाव से उनको पुष्ट करता हुआ। (वैबाधदोधतः) राष्ट्रवासियों को नाना पीड़ाओं से कंपाने हारे या स्वयं कांपने वाले (शत्रून्) राष्ट्रशत्रुओं को (निःशृणीहि) सर्वथा, सब प्रकारों से विनाश कर।

अर्थात् घुड़सवार वीर पुरुषों को राजा अपने संग और राष्ट्र के रक्षक पुलिस विभाग और गुप्तचर विभागों में भी नियुक्त करे।

यथाश्वत्थ निरभनोऽन्तर्महत्यर्णवे।
एवा तान्त्सर्वान्निर्भङ्ग्धि यानहं द्वेष्मि ये च माम् ॥ ३ ॥

भा०—हे (अश्वत्थ) हे घुड़सवार वीर पुरुष ! और हे अश्व के समान युद्ध में निष्प्रकम्प पुरुष ! (यथा) जिस प्रकार से (महति) बड़े भारी

२—ह्विटनिसायणयोर्मतेन वैबाध। 'दोधतः' इति पदद्वयम् पदपाठानुसारेण चैकं पदम्। (द्वि०) 'शत्रून् मयि वाधदोधतः' इति पैप्प० सं०। 'यथाश्वत्थ निष्णामिपूर्वान् जातानुत परान्। एवा पृतन्यतस्त्वमभितिष्ठ सहस्वता' इति चाधिकः पाठः। पैप्प० सं०।

३—(प्र०) 'निरभिनः' इति सायणाभिमतः पाठः। 'निर्भिन्न' इति ह्विटनिकामितः, काचित्कश्च। (तृ०) 'निर्भिङ्ग्धि' इति क्वचित्।

(अर्णवे) समुद्रसेना के समुद्र में (अन्तः) भीतर प्रवेश करके (निरमनः) शत्रुओं का मर्दन करते हो उसी रीति से (यान् अहं द्वेष्मि) जिन को मैं द्वेष करता हूं और (ये च माम्) जो मुझ को द्वेष करते हैं (तान् सर्वान्) उन सब को भी (भङ्ग्धि) विनाश कर डाल ।

यः सहमानश्चरसि सासहान इव ऋषभः ।
तेनाश्वत्थ त्वया वयं सपत्नान्त्सहिषीमहि ॥ ४ ॥

भा०—हे (अश्वत्थ) वीर अश्वारोहिन् (यः) जो तू (ऋषभ इव) ऋषभ=महावृषभ, बड़े सांड या दर्शनशील दूरदर्शी पुरुष के समान (सहमानः) सब संकटों को धीरता से सहन करता और (सासहानः) अपने विरोधियों को बार २ पराजित करता हुआ (चरसि) विचरण करने में समर्थ है (तेन) इस कारण (त्वया) तुझ वीर पुरुष से हम राजागण (सपत्नान्) अपने विरोधियों को (सहिषीमहि) पराजित करते हैं।

सिनात्वेनान् निर्ऋतिर्मृत्योः पाशैरमोक्यैः ।
अश्वत्थ शत्रून् मामकान् यानहं द्वेष्मि ये च माम् ॥ ५ ॥

भा०—हे (अश्वत्थ) अश्वारोहिन् ! (मामकान् शत्रून्) मेरे उन शत्रुओं को (यान् अहं द्वेष्मि) जिनको मैं द्वेष करता हूं और (ये च माम्) जो मुझ को द्वेष करते हैं (निर्ऋतिः) अश्वारोहियों की घोर सेना (एनान्) इन शत्रुओं को (मृत्योः) मृत्यु के (अमोक्यैः) कभी न छूटने हारे (पाशैः) जालों से (सिनातु) बांध दे । अर्थात् अश्वारोहियों की सेना ही शत्रुओं को ऐसा घेरे कि शत्रु लोग बच के न जाने पावें।

४–(प्र०) 'चरति' इति सायणाभिमतः, पैप्प० सं० । (द्वि०) 'सा सहानैव' (च०) 'सं विषीवहि' इति पैप्प० सं० । (द्वि०) 'इवर्षभः' इति क्वचित् ।
५–(द्वि०) 'पाशैरनिमोक्यैः' (च०) 'यांश्चाह' इति पैप्प० सं० । (प्र०) 'सिमात्वेमान्' इति क्वचित् ।

यथा॑श्वत्थ वा॑नस्प॒त्याना॒रोह॑न् कृणु॒षेऽध॑रान् ।
ए॒वा मे॒ शत्रो॑र्मू॒र्धानं॒ विष्व॑ग् भिन्धि॒ सह॑स्व च ॥ ६ ॥

भा०—हे (अश्वत्थ) अश्वारोहिन् वीर पुरुष ! (यथा) जिस प्रकार पीपल का वृक्ष जिसको 'अश्वत्थ' कहा जाता है वह (वानस्पत्यान्) अन्य बड़े २ वृक्षों पर (आरोहन्) अपना मूल जमा कर और बड़ा होकर उन का सब रस स्वयं खा जाता है और उनको जीते रहने देकर भी अपने आप ही प्रधान हो जाता है (एवा) उसी प्रकार तू अपने शत्रुओं को (अधरान्) नीचे (कृणुषे) कर दे और (मे) मेरे (शत्रोः) शत्रु के (मूर्धानं) शिर को या मुख्यता को (विष्वग्) सब प्रकार से (भिन्धि) तोड़ डाल और (सहस्व च) उनको पराजित भी कर। इस सूक्त में अश्वत्थ के दृष्टान्त से वीर पुरुष को किस प्रकार वर्णित किया जाय इसकी व्याख्या इसी मन्त्र में स्पष्ट है।

तेऽध॒राञ्चः॒ प्र प्ल॑वन्तां छि॒न्ना नौरि॑व॒ बन्ध॑नात् ।
न वै॑बा॒धप्र॑णुत्तानां॒ पुन॑रस्ति नि॒वर्त॑नम् ॥ ७ ॥

अथर्व० ९ । २ । १२ ॥

भा०—(ते) वे मेरे शत्रुगण (अधराञ्चः) नीचे गिरे हुए (बन्धनात्) बांधने हारी रज्जु के बंधन से (छिन्ना) कटी हुई (नौः इव) नाव के समान (प्र प्लवन्ताम्) भंवर में पड़ कर बह जांय और डूब जांय। (वैबाधप्रणुत्तानां) नाना प्रकार की पीड़ाओं से विनष्ट हुए उच्छिन्न शत्रुओं का (पुनः) फिर (निवर्त्तनम्) लौट कर आना (न अस्ति) सम्भव नहीं।

प्रैणा॑न् नुदे॒ मन॑सा॒ प्र चि॒त्तेनो॒त ब्रह्म॑णा ।
प्रैणा॑न् वृ॒क्षस्य॒ शाख॑याश्व॒त्थस्य॑ नुदामहे ॥ ८ ॥

७—'नवायकप्रणुत्तानां' इति अथर्व० [९ । २ । १२]

८—(प्र०) प्रैनान् नुदामि (च०) नुदामसि (द्वि०) प्रत्यत्येन ब्रह्मणा।

इति पैप्प० सं०।

भा०—मैं (एनान्) इन शत्रुओं को (मनसा) अपने राष्ट्र के मानस बल, मन्त्रशक्ति से भी (प्र नुदे) अच्छी प्रकार पराजित करता हूं। (प्र चित्तेन) अपने राष्ट्र के चित्त=विज्ञान द्वारा भी विनाश करूं और (उत ब्रह्मणा) ब्रह्म—ब्राह्मणों के बल से भी विनाश करूं। और (एनान्) इन शत्रुओं को (अश्वत्थस्य) पीपल की (शाखया) शाखा से जिस प्रकार उसका आधार वृक्ष विनाश को प्राप्त हो जाता है उस प्रकार बलशाली अश्वारोही क्षत्रियवर्ग के (शाखया[1]) व्यापक शक्ति या सेना के दण्ड-बल से (प्र नुदामहे) उनका विनाश करता हूं।

[७] क्षेत्रिय व्याधियों का निवारण।

भृग्वंगिरा ऋषिः । यक्ष्मनाशनो देवता । १–५, ७ अनुष्टुभः । ६ भुरिक् । सप्तर्चं सूक्तम् ॥

हरिणस्य रघुष्यदोऽधि शीर्षणि भेषजम् ।
स क्षेत्रियं विषाणया विषूचीनमनीनशत् ॥ १ ॥

भा०—क्षेत्रिय व्याधि क्षय, कुष्ठ, अपस्मार आदि के निवारण का उपाय बतलाते हैं—(रघुष्यदः) अति वेग से दौड़ने वाले (हरिणस्य) हरिण के (शीर्षणि अधि) सिर के ऊपर जो सींग हैं वह (भेषजम्) रोगों को दूर करने वाला पदार्थ है। (सः) वह विद्वान् चिकित्सक (विषाणया) सींग के द्वारा ही (विषूचीनम्) नाना प्रकार के कष्ट देने वाले रोगों को (अनीनशत्) विनाश करता है।

---

१. 'शाखृ व्याप्तौ' (भ्वादिः)।

[७] १–'हरिणस्यरघुष्यतो' इति आप० श्रौ० सू०।

अनु त्वा हरिणो वृषा पुद्भिश्चतुर्भिरक्रमीत् ।
विषाणे वि ष्य गुष्पितं यदस्य क्षेत्रियं हृदि ॥ २ ॥

भा०—हे (विषाणे) रोगनाशक सींग (त्वा अनु) तेरे उत्पन्न हो जाने के अनन्तर (वृषा हरिणः) नर हरिण (चतुर्भिः) चार (पद्भिः) चरणों से (अक्रमीत्) चौकड़ी भरने लगता है । (अस्य) इस रोगी के (हृदि) हृदय में (गुष्पितं) छिपे हुए (क्षेत्रियं) क्षय आदि रोग को तू (वि ष्य) नाना प्रकार से नाश कर ।

हरिण के सींग के स्पर्श से त्वचा का दोष और प्रलेप से व्रण और भस्म से क्षय, कास, श्वास और अपस्मार की व्याधि दूर होती है ।

अदो यदवरोचते चतुष्पक्षमिव च्छदिः ।
तेना ते सर्वं क्षेत्रियमङ्गेभ्यो नाशयामसि ॥ ३ ॥

भा०—(अदः) यह (यद्) जो (चतुष्पक्षम्) चार पक्षों से (च्छदिः) शरीर को आच्छादन करने वाली मृगच्छाला (अव रोचते) शोभा देती है (तेन) उससे हे रोगी ! (ते) तेरे (अंगेभ्यः) सब अंगों से (सर्वं क्षेत्रियम्) सब प्रकार की वात, रक्त आदि व्याधियों को (नाशयामसि) हम दूर करते हैं ।

मृगच्छाला के प्रयोग से रक्तपित्त वात आदि का नाश होता है । उस पर बैठने, ओढ़ने आदि से बवासीर, कण्डु, खाज आदि रोग दूर होते हैं ।

२—'यदि किंचित् क्षेत्रियं हृदि' इति पैप्प० सं० । 'अनु त्वा हरिणो मृगः पद्भिश्चतुर्भिरक्रमीत् । विषाणे विष्य तं ग्रन्थिं यदस्य गुपितं हृदि' इति आप० श्रौ० सू० ॥

अमू ये दिवि सुभगे विचृतौ नाम तारके ।
वि क्षेत्रियस्य मुञ्चतामधमं पाशमुत्तमम् ॥ ४ ॥

अथर्व० २ । ८ । १ ॥

भा०—(दिवि) द्यौलोक, आकाश में (ये) जो (सुभगे) सौभाग्य शील (विचृतौ नाम तारके) विचृति, मूलनक्षत्र नामक तारे हैं वे दोनों (क्षेत्रियस्य) इस क्षेत्र या शरीर में होने वाले (अधमं) नीच, नाभि से नीचे के देह में लगे और (उत्तमम्) नाभि से ऊपर के देहभाग में लगे (पाशं) व्याधि, अपस्मार आदि के रोगपाश को (वि मुञ्चताम्) विशेष रूप से मुक्त कर दें ।

प्रातःकाल के अवसर पर मूलनक्षत्र का जब उदय होता है तब प्रातः-स्नान से शरीर के कुष्ठ आदि रोग शान्त होते हैं ।

आप इद् वा उ भेषजीरापो अमीवचातनीः ।
आपो विश्वस्य भेषजीस्तास्त्वा मुञ्चन्तु क्षेत्रियात् ॥ ५ ॥

ऋ० १० । १३७ । ६ ॥ अथर्व० ६ । ९ । १ । ३ ॥

भा०—आरोग्य के लिये जो स्नान का काल पहले मन्त्र में दर्शाया है उस काल की प्रधानता है । उसके अतिरिक्त स्नान के योग्य जल की प्रधानता भी दर्शाते हैं । (आपः इद् वा उ) अथवा, आपः=जल ही (भेषजीः) स्वयं रोगहारक उत्तम औषध हैं । क्योंकि (आपः) आपः=जल ही (अमीव-चातनीः) रोग-जन्तुओं का नाश करने में समर्थ हैं । (आपः विश्वस्य

४–(प्र०) 'उद् अगातां भगवती' अथर्व० २ । ८ । १ ॥ (तृ०) विक्षेत्रियं त्वा अभ्यानशे इति पैप्प० सं० ।

५–(तृ०) 'आपः सर्वस्य' इति ऋ० (च०) 'तास्ते कृण्वन्तु भेषजम्' इति ऋ०, अथर्व० ६ । ९१ । ३ ॥

भेषजीः) जलों से ही समस्त रोगों की चिकित्सा हो जाती है । (ताः त्वा) वे जल ही तुझे (क्षेत्रियात्) शरीरगत, परम्परा-प्राप्त पैतृक रोगों से भी (मुञ्चन्तु) छुड़ा दे सकते हैं ।

जल चिकित्सा का विस्तृत रहस्य अंगविद्या आयुर्वेद से जानना चाहिये, जल के द्वारा नेति, धोती, वस्ति, क्रिया एवं धारास्नान, मार्जन, तर्पण, स्वेदन आदि विविध उपचारों से कुष्ठ एवं त्वचा के समस्त रोग और ज्वर और रक्तविकार और हृदयरोग, मस्तिष्क रोग और वीर्यदोष शान्त किये जाते हैं ।

यदा॑सुतेः क्रियमा॑णायाः क्षेत्रि॒यं त्वा॑ व्यान॒शे ।
वेदा॒हं तस्य॑ भेष॒जं क्षे॑त्रि॒यं ना॑शयामि॒ त्वत् ॥ ६ ॥

भा०—हे रोगिन् ! (क्रियमाणायाः) की जाती हुई (आसुतेः[1]) वीर्य की आधान क्रिया या प्रसव क्रिया से लेकर ही (यद्) जो (क्षेत्रियं) क्षेत्रगत रोग (त्वा) तेरे शरीर में (व्यानशे) फैला हुआ है (तस्य) उस की भी मैं (भेषजं वेद) चिकित्सा जानता हूं । इसलिये (त्वत्) तेरे (क्षेत्रियं) शरीरगत ऐसे रोग को भी (नाशयामि) विनाश कर दूं ।

अ॒प॒वा॒से नक्ष॑त्राणामपवा॒स उ॒षसा॑मु॒त ।
अ॒पास्मत् सर्वं॑ दुर्भू॒तमप॑ क्षेत्रि॒यमु॑च्छतु ॥ ७ ॥

भा०—(नक्षत्राणाम्) नक्षत्रों के (अपवासे) अस्त होजाने (उत) और (उपसाम्) उषाकाल, प्रभात वेला के भी (अपवासे) व्यतीत हो जाने पर जो स्नान आदि क्रिया एवं औषध प्रयोग है उससे (अस्मत्) हमारे शरीरों से (दुर्भूतं) बुरे व्यवहारों से या विषम अन्न आदि भोजनों और

१. 'आसुतिः द्रवीभूतमन्नम्' इति सायणः, पानमिति संशयितो ह्विटनिः ।
७–'अपास्मात्' इति वेवरकामितः पाठः । (द्वि०) 'अपवास ततोपसम्' (तृ०) 'सर्वमाभयत्' इति पैप्प० सं० ।

विपस उपचारों से उत्पन्न हुआ (सर्व) सब प्रकार का (क्षेत्रियं) शरीरगत रोग (अप उच्छतु) दूर हो जाय ।

प्रातःकाल के आतप में स्वेदन, स्नान और प्रभास्नान से शरीर के रोग नाश होते हैं ।

[८] राजा के कर्तव्य ।

अथर्वा ऋषिः । मित्रो विश्वेदेवा वा देवताः । २, ६ जगत्यौ । ४ चतुष्पदा विराड् बृहतीगर्भा त्रिष्टुप् । ५ अनुष्टुप् । १, ३ त्रिष्टुभौ । पड़्चं सूक्तम् ॥

आ यातु मित्र ऋतुभिः कल्पमानः संवेशयन् पृथिवीमुस्रियाभिः ।
अथास्मभ्यं वरुणो वायुरग्निर्बृहद् राष्ट्रं संवेश्यं/दधातु ॥ १ ॥

भा०—(मित्रः) सूर्य जिस प्रकार (ऋतुभिः) छहों ऋतुओं द्वारा नाना प्रकार के सामर्थ्यों को प्रकट करता हुआ (उस्रियाभिः) अपनी किरणों द्वारा (पृथिवीं) पृथिवी को (संवेशयन्) आच्छादित करता हुआ समस्त प्राणिगणों से बसा देता है । और समस्त देश को (वरुणः) जल, (वायुः) वायु और (अग्निः) अग्नि भी प्राणियों को बसाते हैं उसी प्रकार राजा (मित्रः) प्रजा को विनष्ट होने से बचाने वाला और अपनों के प्रति सदा स्नेहवान् होकर (ऋतुभिः) सत्य धर्मों, कर्मों और शिल्पों से (कल्पमानः) स्वयं समर्थ होकर (पृथिवीं) इस पृथिवी राष्ट्र को (उस्रियाभिः) उन्नतिशील प्रजाओं से (संवेशयन्) बसाता हुआ स्वयं (अथ) और (वरुणः) राष्ट्र का रक्षक, राष्ट्र में सब से श्रेष्ठ प्रजा के स्वयं वरण करने योग्य, (वायुः) सब का प्रेरक, (अग्निः) सबका नेता होकर (बृहत्) बड़े भारी (अस्मभ्यं) हम प्रजागण के (संवेश्यं) बसने योग्य (राष्ट्रं) राष्ट्र को सुसम्पन्न सुव्यवस्थित बना कर (दधातु) पालन करे ।

धाता रातिः सवितेदं जुषन्तामिन्द्रस्त्वष्टा प्रति हर्यन्तु मे वचः ।
हुवे देवीमदितिं शूरपुत्रां सजातानां मध्यमेष्ठा यथासानि ॥ २ ॥

भा०—राजा पूर्वोक्त प्रकार की प्रजा की प्रार्थना सुन कर निम्नलिखित प्रकार से अधिकारी गण नियुक्त करें। (इदं) इस राष्ट्र को (धाता) सन्निधाता नामक अधिकारी (रातिः[1]) दानशील दानाध्यक्ष, (सविता) समाहर्त्ता ये तीनों अधिकारी राष्ट्र को (जुषन्तां) बसावें और सम्पन्न करें। और (इन्द्रः) सेनापति (त्वष्टा) सब कारीगरों का मुख्य शिल्पाध्यक्ष ये सब (मे) मेरे (वचः) वाणी, आज्ञा के (प्रति हर्यन्तु) अनुकूल रह कर कार्य करें। और (शूरपुत्रां) शूरवीर पुत्रों को उत्पन्न करने हारी (देवीं) दिव्यगुण युक्त, (अदितिं) अदीन, स्वतः सब से मुख्य, आदरणीय पृथिवी, मातृशक्ति को (हुवे) मैं संबोधित करता हूं कि वह वीर पुत्रों को मेरे संग करे कि मैं (सजातानां) समान बल वाले अन्य राजाओं के बीच में (यथा) जिस प्रकार (मध्यमेष्ठाः) मध्यस्थ, सब के बलों को समान रूप से तुला रखने वाला (असानि) रहूं। राष्ट्र को इतना प्रबल बना कर रहना चाहिये शत्रुपक्ष और मित्रपक्ष दोनों को तुला रख सके।

धाता=सन्निधाता, दानाध्यक्ष, समाहर्त्ता आदि अधिकारी गणों का विवरण देखिये अथर्ववेद उपवेद (अर्थशास्त्र कौटिल्य का 'अध्यक्ष-प्रचार' नामक अधिकरण)

हुवे सोमं सवितारं नमोभिर्विश्वानादित्याँ अहमुत्तरत्वे ।
अयमग्निर्दीदायद् दीर्घमेव सजातैरिद्धोऽप्रतिब्रुवद्भिः ॥ ३ ॥

भा०—(अहम्) मैं (सोमं) सब के प्रेरक विद्वान् शान्त, पुरुष को (सवितारं) सविता, समाहर्ता पद पर (हुवे) नियत करता हूं। और

१. रातिर्दानशीलोऽर्यमा इति सायणः। (द्वि०) 'प्रतिगृह्णन्तु' इति पैप्प० सं०। (च०) 'यथा स्याम्', 'आरम्' इति वा ह्विटनिकामितः पाठः।

(उत्तरत्वे) और उसके आधीन (विश्वान्) सब (आदित्यान्) अदिति रूप राष्ट्र माता के पुत्रों को (नमोभिः) आदर योग्य पदों से विभूषित करता हूं । (अयम्) यह (अग्निः) सब का नेता होकर (सजातैः) समान रूप से बलवान् हुए (अप्रतिब्रुवद्भिः) अपना विरोध न करने हारे इन आदित्य पुरुषों द्वारा (इद्धः) खूब प्रज्वलित, प्रभाववान् होकर (दीर्घम् एव) चिरकाल तक (दीदयद्[1]) शोभा दे ।

इहेदसाथ न परो गमाथेर्यो गोपाः पुष्टपतिर्व आजत् ।
अस्मै कामायोप कामिनीर्विश्वे वो देवा उपसंयन्तु ॥ ४ ॥

भा०—राजा अपने अधिकारीगण और प्रजाओं को उपदेश करता है कि-'हे प्रजाओ ! (इह इत्) यहां ही इसी राष्ट्र में ही (असाथ) सुख पूर्वक निवास करो । (परः) दूर (न) मत (गमाथ) जाओ । इसी प्रकार का उपदेश राजा अपनी सेनाओं के प्रति भी करता है । (ईर्यः) तुमको सन्मार्ग पर चलाने हारा आज्ञापक (गोपाः) गौओं को पालन करने हारे गोपति के समान तुम प्रजाओं और सेनाओं का पालक, (पुष्टपतिः) तुम्हारे पुष्टिकारक-पदार्थों का भी परिपालक (वः) तुमको (आजत्) ठीक मार्ग पर चला रहा है । आप लोग (अस्मै) इसके (कामाय) अभिलाषा के अनुकूल ही (कामिनीः) अपनी अभिलाषा उसी प्रकार बनाये रक्खो जिस प्रकार अभिलाषा वाली स्त्रियां अपने प्रियपतियों के प्रति रहती हैं ।

---

१. दीदायद् इति सांहितिको दीर्घः । पदपाठस्तु 'दीदयत' इत्येव । (द्वि०) 'विश्वान् देवान्' इति पैप्प० सं० ।

४–(च०) 'उपसंनयन्तु' (तृ०) उपकामिनीस्त, उपकामिनीरित इति वा ह्विटनिकामितः पाठः । (तृ० च०) अस्मै वः कामा उपकामिनी विश्वे देवा उपसत्यामिह इति पैप्प० सं० । (प्र०) 'नपुरः' इति सायणाभिमतः पाठः ।

तभी (वः) तुमको (विश्वे देवाः) समस्त विद्वान्‌गण भी (उप संयन्तु) प्राप्त हों, तुम्हारे आज्ञावर्ती और सहायक हों ।

राजा सब विभागों पर अध्यक्ष नियत करे, उसके अनुसार सब चलें, तभी सब राष्ट्र विद्वान्‌गण भी उनकी सहायता करें ।

सं वो मनांसि सं व्रता समाकूतीर्नमामसि ।
अमी ये विव्रता स्थन तान् वः सं नमयामसि ॥ ५ ॥

अथर्व० ६ । ९४ । १ ॥

भा०—अधिकारियों का प्रजाओं के प्रति उपदेश । हम लोग (वः) आप प्रजागण के (मनांसि) चित्तों को (सं नमामसि) अपने अनुकूल करते हैं । (व्रता सम्) आप लोगों के कर्मों को अपनी व्यवस्था के अनुकूल करते हैं (आकूतीः सम्) आपके विचारों को भी हम अपने अनुकूल करते हैं । और (ये) जो (अमी) ये पुरुष (विव्रताः) नियमों के प्रतिकूल कार्य करने हारे (स्थन) हों (तान्) उनको (वः) आपके सामने ही (सं नमयामसि) पुनः व्यवस्था के अनुकूल झुकावें, उनको दबावें, दण्ड दें ।

अहं गृभ्णामि मनसा मनांसि मम चित्तमनु चित्तेभिरेत ।
मम वशेषु हृदयानि वः कृणोमि मम यातमनुवर्त्मान एत ॥ ६ ॥

अथर्व० ६ । ९४ । २ ॥

५–(तृ०) 'विव्रतास्थ' च 'संमनंसत' इति मै० सं० । (तृ०) 'विव्रतास्तन' इति सायणाभिमतः पाठः । 'सं वो मनांसि संव्रता समुचिजान्याकरम्' यजु० [१२ । ५८ (प्र० द्वि०)] सं वो मनांसि जानतां संव्रता आकूतिः । असौ यो विमनाजनस्तं समावर्त्तयामसि इति ऋ० १० । १९१ । खिलो मन्त्रः ।

६–(प्र०) 'गृह्णामि' इति सायणाभिमतः ।

भा०—(अहं) मैं राजा, शासक (मनांसि) अपनी प्रजा के मनों को (मनसा) अपने मन से (गृभ्णामि) ग्रहण करता हूं, वश करता हूं। हे प्रजाजनो! एवं मेरे अधीन शासकवर्गो ! (चित्तेभिः) अपने चित्तों से (मम चित्तम् अनु) मेरे चित्त के अनुकूल ही (एत) होकर रहो । (वः) तुम्हारे (हृदयानि) हृदयों को मैं (मम) अपने (वशेषु) अधीन के कार्यों में (कृणोमि) नियुक्त करता हूं । आप लोग (अनुवर्त्मानः) मेरे अनुकूल मार्ग पर चलने हारे होकर (मम यातम्) मेरे चले रास्ते पर ही (एत) गमन करो । अर्थात् मेरे विधान किये मार्ग से विपरीत विरुद्ध मार्ग पर पैर मत रक्खो ।

उसी सूक्त से आचार्य माणवक के हृदय और नाभिदेश को स्पर्श करके उसको अपने अनुकूल बनाने का उपदेश करता है। राजा का प्रजा से, पिता का पुत्रों से, पति का अपने परिवार से एवं गुरु का शिष्य से जो सम्बन्ध है वह एक प्रकार का शास्य-शासक का सा ही है । उनको भी अपनी २ सरकार सी है, फलतः इस सत्ता की उन पक्षों में भी योजना कर लेनी चाहिये ।

[६] प्रबल जन्तुओं और हिंसक पुरुषों के वश करने के उपाय ।

वामदेव ऋषिः । द्यावापृथिव्यौ उत विश्वेदेवा देवताः । १, ३, ५ अनुष्टुभः, ४ चतुष्पदा निचृद् बृहती, ६ भुरिक् । षडृचं सूक्तम् ॥

कर्शफस्य विशफस्य द्यौः पिता पृथिवी माता ।
यथाभिचक्र देवास्तथापं कृणुता पुनः ॥ १ ॥

[६] १–(प्र०) 'कर्षभस्य विषभस्य', (च०) 'तथापि' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(कर्शफस्य[1]) कर्शक=करशफ अथवा कृशशफ़, जिन पशुओं के शफ़=खुर निर्बल हैं या पंजे के समान हैं जैसे व्याघ्र आदि और (विशफस्य) या जिन के शफ़ खुर नहीं हैं, विना चरण के हैं जैसे सर्प आदि उन सब जन्तुओं का भी (द्यौः) वह दिव्य गुण वाला सब का प्रकाशक प्रभु ही (पिता) पालक है और (पृथिवी) यह पृथिवी सब का आश्रय ही (माता) माता है। इस कारण (देवाः) विद्वान् लोग (यथा अभि चक्र) जिस प्रकार इनके प्रति व्यवहार करते आये और इनका निवारण करने का उपदेश करें (पुनः) फिर भी हे पुरुषो ! तुम (तथा अप-कृणुत) वैसा ही इनका निवारण करो। अर्थात् उनका द्वेषबुद्धि द्वारा विनाश करना उचित नहीं, उनका वश करना उचित है।

अश्रे॒ष्माणो॑ अधारय॒न् तथा॒ तन्मनु॑ना कृ॒तम् ।
कृ॒णोमि॒ वध्रि॒ विष्क॑न्धं मुष्काब॒र्हो गवा॑मिव ॥ २ ॥

भा०—विद्वान् पुरुष अपने ऊपर आक्रमणकारी जन्तुओं को किस प्रकार वश करें उसका उपदेश करते हैं। (अश्रेष्माणः[1]) दूसरे को पीड़ा न पहुंचाने वाले, दयालु या उनसे बहुत ममता न करने वाले, अनासक्त पुरुष उन सब जन्तुओं को (अधारयन्) पालन पोषण ही करते हैं (तथा) और उसी प्रकार (मनुना) मननशील पुरुष भी (तत्) वही (कृतम्[2])

---

१. कर्शफ-विशफ शब्दयोर्व्याकृतिंतन्वानः क्षेमकरणत्रिवेदी यत्कृशालिबालिग-दिभ्योऽभचंत् ऋषिवृषिभ्यां कित् इत्येते सूत्रे उदाजहार तदसमञ्जसम् ताभ्यां शरभवृषभशब्दयोः सिद्धिर्नतु कर्शफविशफयोः ।

२–'अश्रेष्माणोऽधा' इति पैप्प० सं० ।

१. श्रिषुश्लिषु प्रुषु प्लुषु दाहे । भ्वादिः । श्लिष श्लेषणे । चुरादिः । श्लिष आलिंगने दिवादिः । इत्येतेभ्यो धातुभ्यः सर्वधातुभ्य औणादिको मनिन् ।

२. कृतमित्यत्र: तव्यार्थे क्तः ।

करता है । हे पुरुषो ! (विष्कन्धं) विशेष रूप से जिनके स्कन्ध उठे हुए हों ऐसी जन्तुजाति को भी मैं (वध्रिं) वश करने योग्य ही (कृणोमि) बनाता हूं । जिस प्रकार (गवाम् इव) बैलों को वश करने के लिये उनके (मुष्काबर्हः) अण्डकोशों को तोड़ दिया जाता है और इससे वे जन्तु वश हो जाते हैं उनका क्रूरस्वभाव टूट कर सौम्य हो जाते हैं उसी प्रकार और भी प्रबल कन्धे वाले बलवान जानवरों को वश करने का उपाय है ।

पिशङ्गे सूत्रे खृगलं तदा बध्नन्ति वेधसः ।
अवस्युं शुष्मं काबवं वध्रिं कृण्वन्तु बन्धुरः ॥ ३ ॥

भा०—हिंसक जन्तुओं को वश करने के उपाय । (वेधसः) विद्वान् लोग, उपाय करने हारे पुरुष (तदा) पशुओं को वश करने के अवसर पर (खृगलं) गैंडे जैसे मोटे खाल वाले अथवा कठोर गले वाले सांड के समान जन्तु को भी (पिशङ्गे) दृढ, खूब बटे हुए (सूत्रे) सूत डोरी या रस्से में (बध्नन्ति) बांध लेते हैं । और (बन्धुरः) बांधने हारा पुरुष (काबवं) हिंसक, मरखने प्राणी को प्रथम (अवस्युं) अन्न, भोजन के अभिलाषी बना कर (शुष्मं) उपवास आदि द्वारा शुष्क करके (वध्रिं) बांधने लायक, (कृण्वन्तु) कर लिया करें । अर्थात् हिंसक पशुओं को पहले कुछ दिन भूखा रखकर फिर भोजन चारा दिखाना चाहिये तब वे आप से आप वश हो जाते हैं ।

येना॑ श्रवस्यव॒श्चर॑थ दे॒वा इ॑वासुरमा॒यया॑ ।
शुनां॑ क॒पिरि॑व॒ दूष॑णो॒ बन्धु॑रा काब॒वस्य॑ च ॥ ४ ॥

३–(प्र०) 'सूत्रे पिशङ्गे खृगिलम्' (द्वि०) 'यदा' (तृ०) 'अवस्यंशुष्म कावत्रम् [कावर्धं ?] इति पैप्प० सं० । अवस्यमिति सायणाभिमतः पाठः ।

४–(तृ० च०) 'दूषणं बन्धरा काभवस्य च' इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे पुरुषो! आप लोग भी (येन) जिस प्रकार से (असुर-मायया) वैश्य व्यापारियों की बुद्धि से प्रेरित होकर (अवस्यवः) अपनी पेट-पूजा के निमित्त अन्न को प्राप्त करने की इच्छा करते हुए (देवा इव) विद्वान् सदाचारी पुरुषों के समान ही (चरथ) इस लोक में विचरो और एक दूसरे से लड़ना झगड़ना छोड़ कर परस्पर मिलकर रहते हो उसी प्रकार इन जन्तुओं को भी अपने सद्व्यवहार से उनको अन्नादि देने के एवज़ में सधा कर भोला बना कर रक्खो, उनको तुम अन्न दो और उन से काम लो। क्योंकि यदि उनको बांध कर रक्खोगे और उनको दण्ड ही दण्ड दोगे तो वह भी उनके स्वभाव को बिगाड़ देता है क्योंकि जिस प्रकार (शुनां) कुकुर=कुत्तों के बीच में (कपिरिव) बन्दर के आ जाने से बन्दर को क्रोध आ जाता है और आपस में एक दूसरे को फाड़ खाने की चेष्टा करते हैं, इसी प्रकार (काबवस्य) हिंसाशील जन्तु को भी (बन्धुरः) निरन्तर बांधे रहना (दूषणः) उनके स्वभाव को और भी बिगाड़ देता है वे भी अपने बांधने वाले के प्राण के प्यासे हो जाते हैं। इसलिये उनको भी पेट भर अन्न देकर उन से कार्य लेना चाहिये।

दुष्ट्यै हि त्वा भत्स्यामि दूषयिष्यामि काबवम्।
उदाशवो रथा इव शपथेभिः सरिष्यथ ॥ ५ ॥

भा०—यदि (काबवं) हिंसक जन्तु को किसी कारण से (दूषयिष्यामि) क्रुद्ध भी कर दूं तो भी उस (त्वा) तुझ हिंसक जन्तु को (दुष्ट्यै) बिगड़े स्वभाव के कारण ही (भत्स्यामि) बांध कर रक्खूंगा। और इस प्रकार बांध कर रखने से भी (आशवः[1]) शीघ्रकारी (रथाः) रथों के

५–(प्र०) 'भत्स्यामि' इति ह्विटनिसंस्करणगतः पाठः। 'भन्त्स्यामि' इति ह्विटनिकामितः। 'जुष्टि त्वा कांच्छाभिजोषयित्वा भव' इति पैप्प० सं०। (च०) 'करिष्यथ' इति सायणाभिमतः पाठः।

१. 'उदाशवः' इति सायणमत एकं पदम्।

समान; रथ में लगे घोड़ों के समान (शपथेभिः) तीक्ष्ण वचनों से या विश्वास्य वचनों से प्रेरित होकर ही तुम (सरिष्यथ) सन्मार्गों पर चलोगे।

अर्थात् जब पशु को उसकी दुष्टता पर मारा जाय तो वह और भी बिगड़ जाता है तो भी उसको पुचकार कर या कठोर वचन कह कर सीधे रास्ते पर ले आना चाहिये और समय २ पर हन्टर भी लगाना चाहिये।

एकशतं विष्कन्धानि विष्ठिता पृथिवीमनु।
तेषां त्वामग्र उज्जहरुर्मणिं विष्कन्धदूषणम् ॥ ६ ॥

भा०—(विष्कन्धानि) प्रबल स्कन्ध वाले हिंसक जन्तुओं की (एकशतं) एक सौ एक या सैकड़ों जातियां (पृथिवीम् अनु) पृथिवी पर विचरती हैं। (तेषामग्रे) उनके भी प्रथम (त्वां) तुझ को (मणिम्) उनका शिरोमणि, रूप से उन पर वश करने हारा (उत्—जहरुः) अधिष्ठाता रूप से स्थापित किया है। तू स्वयं (विष्कन्धदूषणम्) उन प्रबल जन्तुओं को वश करने में समर्थ है।

इस अन्तिम मन्त्र में विष्कन्ध और दूषण ये दो शब्द प्रबल हिंसक जीव और उनके वश करने के उपायों के अतिरिक्त सेनानिवेश और उनके वश करने के उपाय पर भी प्रकाश डालते हैं। जिस प्रकार पशुओं को वश करने का उपाय कहा गया इसी प्रकार हिंसक पुरुषों की छावनी को भी उन में परस्पर फोड़ कर उनको वश कर लेना चाहिये। संक्षेप से शत्रु वश करने के लिये इतनी नीतियों का उपदेश किया है (१) बैलों के समान उनका मदकारी अंश निकाल देने से शत्रु वश में हो जाएंगे, (२) गैंडे के समान या मोटे कन्धे वाले पशु के समान दृढ़ रज्जू से बांधलो, (३) जिस शत्रु के पास अन्न न रहे उसको भूखा मार कर फिर अन्न दो और

६–(तृ०) 'उज्जहुः'। इति ह्विटनिसायणयोरभिमतः पाठः। (तृ० च०) 'तेषां च सर्वेषां इदमस्ति विष्कन्धदूषणम्' इति पैप्प० सं०।

वश करो, (४) सदा किसी पर बन्धन मत रक्खो, नहीं तो वानर और कुत्तों की सी चीर फाड़ होती रहेगी। इसलिये उनको अन्नादि पदार्थ देकर उनसे बदले में काम ले और व्यापार विनियम द्वारा उनको बांधे रहे, (५) यदि उत्पात करे तब उन पर तर्जना करे और बन्धन लगादे।

[१०] अष्टका रूप से नववधू के कर्त्तव्य।

अथर्वा ऋषिः। अष्टका देवता। ४, ५, ६, १२ त्रिष्टुभः। ७ अवसाना अष्टपदा विराड्गर्भा जगती। १, ३, ८-११, १३ अनुष्टुभः। त्रयोदशर्चं सूक्तम्॥

प्रथमा ह व्युवास सा धेनुरभवद् यमे।
सा नः पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम्॥ १॥

भा०—अष्टका रूप से पत्नी के स्वरूप का वर्णन करते हैं-हे (यमे) ब्रह्मचर्य आदि को पालन करने हारी! ब्रह्मचारिणी! (प्रथमा) सबसे प्रथम, श्रेष्ठ कुमारी रूप से जो स्त्री अपने पति के गृह में (ह) निश्चय से (वि उवास) विशेष रूप से वास करती है (सा) वही उसके घर की (धेनुः) गौ के समान समस्त कार्यों में सुख के देने हारी (अभवत्) होती है। (नः) हमारे घरों में भी उसी प्रकार (सा) वह पत्नी (पयस्वती) वर्धनशील सुखों के देने हारी होकर (उत्तरां उत्तरां समाम्) ज्यों २ वर्ष पर वर्ष बीतते जांय त्यों त्यों (दुहाम्[1]) घर को सुखों से भरती जाय।

---

[१०] १-(प्र०) 'या प्रथमा व्योच्छत' (तृ०) 'धुक्ष्व' इति तै० सं० 'दुहे' इति मै० सं०। 'दुहा' इति मै० मा०। (च०) 'समान्' इति सायणाभिमतः पाठः।

१. दुह प्रपूरणे। अदादिः।

यां देवाः प्रति नन्दन्ति रात्रिं धेनुमुपायतीम् ।
संवत्सरस्य या पत्नी सा नो अस्तु सुमङ्गली ॥ २ ॥

भा०—गृहपत्नी नववधू को रात्रि और गौ से उपमा दे कर उसका वर्णन करते हैं—(यां) जिस (रात्रिं) रमण करने योग्य सब को प्रसन्न करने एवं सुख देने हारी रात्रि के समान और (उप आयतीम्) स्वामी के पास प्रेम से स्वयं आने हारी (धेनुं) नाना सुखों को उत्पन्न करने हारी गौ के समान गार्हस्थ्य सुख को प्राप्त कराने हारी वधू को (देवाः) विद्वान् पुरुष (प्रतिनन्दन्ति) देख कर बहुत प्रसन्न होते हैं (या) जो (संवत्सरस्य) उत्तम रीति से वत्स=बालकों को अन्नादि से पुष्ट करने हारे अपने स्वामी के गृह की पत्नी अर्थात् स्वामिनी होकर रहती है वह (नः) हमारे समाज के लिये (सुमङ्गली) उत्तम शुभ मङ्गल करने हारी हो।

नवोढ़ा को आशीर्वाद दिया जाता है 'सुमङ्गलीरियं वधूः इमां समेत पश्यत।' अथवा अन्यत्र भी "सुमङ्गली प्रतरणी गृहाणां सुशेवा पत्ये श्वशुराय शम्भूः।" (अथर्व॰ १० । २ । २६)

संवत्सरस्य प्रतिमां यां त्वा रात्र्युपास्महे ।
सा न आयुष्मतीं प्रजां रायस्पोषेण सं सृज ॥ ३ ॥

भा०—हे (रात्रि) रमण करने योग्य सब को सुख देने हारी रात्रि के समान पति को सुख देने हारी पत्नि! (यां) जिस (त्वां) तुझ को हम (संवत्सरस्य) संवत्सर, यजमान, गृहपति, प्रजापति का (प्रतिमां) दूसरा

२–(प्र०) 'यां जनाः', (द्वि०) 'इनायतीम्' इति मै० ब्रा० । (द्वि०) 'धेनुरात्रिमुपा' (च०) सुमंगला' इति पैप्प० सं० ।

३–(द्वि०) 'ये त्वा रात्रिमुपासते' (तृ०) 'तेषामायु' इति पैप्प० सं० । (द्वि०) 'रात्रि यजामहे' इति मै० ब्रा० । 'संवत्सरस्य प्रतिमा या तां रात्रिमुपास्महे' इति पा० गृ० सू० ।

स्वरूप या दूसरी मूर्त्ति—अर्धांगिनी के समान (उपास्महे) जानते हैं (सा) वह तू (नः) हमारी (आयुष्मतीं) दीर्घायु (प्रजां) प्रजा को (रायस्पोषेण) धन धान्य आदि पुष्टिकारक पदार्थों द्वारा (संसृज) युक्त कर ।

इयमेव सा या प्रथमा व्यौच्छदास्वितरासु चरति प्रविष्टा ।
महान्तो अस्यां महिमानो अन्तर्वधूर्जिगाय नवगज्जनित्री ॥४॥

अथर्व० ८ । ९ । ११ ॥

भा०—(इयम् एव) यह ही वधू (सा) वह है (या) जो (प्रथमा) गुणों में सब से श्रेष्ठ होने के कारण (इतरासु) अन्य घर की (आसु) स्त्रियों के बीच में (व्यौच्छत्) अपने गुणों का विशेष प्रकाश करती हुई (प्रविष्टा) उनके हृदयों में प्रविष्ट होकर (चरति) विचरती है, रहती है (अस्यां) इस नवोढा स्त्री में ही (महान्तः) बड़े भारी (महिमानः) महत्वपूर्ण यश हैं । वह (वधूः) नववधू (अन्तः) अन्तःपुर में (नवगत्) नव २, नये २ रूप को धारण करने हारी या अपने नव पति से संगत होकर (जनित्री) प्रजा को उत्पन्न करती हुई (जिगाय) सब से उत्कृष्ट होकर रहे ।

वानस्पत्या ग्रावाणो घोषमक्रत हविष्कृण्वन्तः परिवत्सरीणम् ।
एकाष्टके सुप्रजसः सुवीरा वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥ ५ ॥

४-(द्वि०) ‘ अन्तरस्यां चरति ’ इति शा० गृ० सू० । ‘सा अप्स्वन्तश्चर० ’ नै० सं० ‘सेयमप्स्वन्त’ इति मै० ब्रा० । (तृ०) ‘त्रयएनां महिमानः सचन्ते’ इति तै० सं० । तत्रैव ‘ त्रितएनां ’ इति पैप्प० सं० । विश्वे ह्यस्यां महिमानोऽन्तः । इति मै० ब्रा० । (च०) वधूर्जगान’ तै० सं० । ‘वधूर्मिमाय’ इति पैप्प० सं० । ‘ वधूर्मिमाय नवकृत् ’ इति शा० गृ० । ‘नवगज्जनित्रीम्’ इति पैप्प० सं० ।

५-(तृ०) ‘ एकाष्टकायै हविषा विधेम ’ इति पैप्प० सं० । ‘ सुप्रजासः ’

भा०—गृहपत्नी को गृह के कार्यों का उपदेश करते हैं। (वानसपत्याः) वनस्पति या काठ के बने हुए (ग्रावाणः) कूटने के साधन ऊखल मूसल, (हविः) यज्ञ के योग्य सामग्री धान्य आदि (कृण्वन्तः) उत्पन्न करते हुए (परिवत्सरीणम्) प्रत्येक वर्ष (घोषम्) उत्तम शब्द (अक्रत) करें । हे (एकाष्टके) एकमात्र गृह की आठों प्रहर सुध लेने हारी गृहणी ! तेरे कारण हम (सुवीराः) उत्तम बलसम्पन्न, वीर्यवान् पुत्रों से युक्त (सुप्रजसः) और उत्तम सन्तानों से युक्त (रयीणां) और पशु एवं धन समृद्धियों के (पतयः) स्वामी (स्याम) हों ।

इडा॑यास्प॒दं घृ॒तव॑त् सरीसृ॒पं जात॑वेदः॒ प्रति॑ ह॒व्या गृ॑भाय ।
ये ग्रा॒म्याः प॒शवो॑ वि॒श्वरू॑पा॒स्तेषां॑ स॒प्ताना॑ं॒ मयि॒ रन्ति॑रस्तु ॥६॥

भा०—(इडायाः) गौ का (सरीसृपं) निरन्तर गमन करने वाला (पदं) स्वरूप या चरण (घृतवत्) घृतादि पुष्टिकारक पदार्थ से युक्त होता है । हे (जातवेदः) अग्ने ! परमेश्वर ! (प्रति) प्रतिदिन (हव्या) हवन करने योग्य पदार्थों और प्रेमपूर्वक पढ़ी गयी स्तुतियों को (गृभाय) स्वीकार करो । (ये) जो (ग्राम्याः) ग्राम में पालन करने योग्य, पुरुषों के संघ में रहने के स्वभाव वाले (विश्वरूपाः) नाना प्रकार के (पशवः) पशु हैं (तेषां) उन सब (सप्तानां) सातों प्रकारों के पशुओं की (रन्तिः)

इति क्वचित्पाठः । (प्र०) 'उलूखलाग्रावा ' (द्वि०) 'वत्सरीणाम्' (तृ०) 'सुप्रजा वीरवन्तः ' इति हि० गृ० सू० । (प्र०) 'औलूखलाः सम्प्रवदन्ति ग्रावाणः ' (च०) 'ज्योग् जीवेम बलिहृतो वयं ते' इति मै० ब्रा० ।

६–' घृतवत् चराचर ' (द्वि०) ' जातवेदो हविरिदं जुषस्व ' इति मै० ब्रा० । (च०) ' सप्तानां इह रन्तिरस्तु ' इति तै० आ० । (च०) ' पुष्टिरस्तु ' आ० श्रौ० सू० ।

आनन्द बहार (मयि) मेरे पास (अस्तु) हो। गृहस्थी पुरुष गोपालन करे, उससे दूध, दही, मक्खन प्राप्त कर प्रतिदिन यज्ञ करे, उपासना करे। गो-पालन, पशु-पालन करे और उनसे सुख और जीवन का आनन्द प्राप्त करे। गौ, बकरी, भेड़, हाथी, गधा, अश्व और ऊंट ये सात पशु हैं।

आ मां पुष्टे च पोषे च रात्रि देवानां सुमतौ स्याम।
पूर्णा दर्वे परा पत सुपूर्णा पुनरा पत।
सर्वान् यज्ञान्त्संभुञ्जतीषमूर्जं न आ भर॥ ७॥

यजु० ३ । ५१॥

भा०—हे (रात्रि) रमणसाधनसम्पन्न गृहपत्नि ! तू मुझ गृहस्थ के (पुष्टे) अति अधिक पुष्टि देने योग्य, बढ़े हुए धन में और (पोषे च) बालकों के पालन पोषण कार्य में सहायक हो। हम सब (देवानां) विद्वान् पुरुषों की (सुमतौ) शुभ मति में ही (स्याम) रहें। यज्ञ का उपदेश करते हैं— हे (दर्वे) घृतपूर्ण चरुस ! तू (पूर्णा) पूर्ण होकर (परापत) अग्नि-होत्र की अग्नि में पड़ और (सुपूर्णा) उत्तम रीति से पूर्ण होकर (पुनः आ पत) वार २ आहुति डाल। तू (सर्वान्) समस्त (यज्ञान्) पुण्य-कार्यों को (संभुञ्जती) पालन करती हुई (ऊर्जं) रस और बल पुष्टि-कारक (इषम्) अन्न को (नः) हमें (आ भर) प्राप्त करा। दर्वि की उपमा से यह मन्त्र गृहपत्नी का कर्त्तव्य भी कहता है कि—हे (दर्वे) सब दुःखों को दलन करने हारी तू (पूर्णा) शरीर में पूर्ण होकर (परा पत) घर के कार्यों में लग और (सुपूर्णा) खूब हृष्ट पुष्ट होकर (पुनः आ पत) वार २ हमारे प्रति आ, अथवा प्रसन्न चित्त से तू माता पिता के पास जा और भी अधिक प्रसन्नता से पुनः अपने पतिगृह में लौट कर आ और सब पुण्य कर्मों का पालन करती हुई हमारे लिये पुष्टिकर पदार्थों को प्राप्त करा।

७-' पूर्णा दर्वि ' इति यजु० । (प्र०) ' सम्भुञ्जती ' इति पैप्प० सं० ।

आयमंगन्त्संवत्सुरः पतिरेकाष्टके तव ।
सा न आयुष्मतीं प्रजां रायस्पोषेण सं सृज ॥ ८ ॥

भा०—हे (एका-अष्टके) एकमात्र घर को आठों प्रहर सुधारने वाली गृहपत्नि अथवा समस्त सुखों का एकमात्र स्वयं भोग देने हारी ! तेरा (पतिः) स्वामी (अयम्) यह (संवत्सरः) संवत्सरस्वरूप, यज्ञरूप, पुरुष है जो सम्=भली प्रकार वत्सरः=पुत्रों का दान करने एवं लालन पालन करने में समर्थ है । (सा) वह तू (आयुष्मती प्रजां) दीर्घ आयु वाली प्रजा को (रायस्पोषेण) धनादि पोषणकारी पदार्थों से (संसृज) युक्त कर ।

ऋतून् यंज ऋतुपतींनार्तवानुत हांयनान् ।
समाः संवत्सरान् मासान् भूतस्य पतये यजे ॥ ६ ॥

अथर्व० ११ । ६ । १७ ॥

भा०—मैं गृहपति (ऋतून् यजे) सब ऋतुओं में उन ऋतुओं के अनुकूल यज्ञ करूं और (ऋतुपतीन्) ऋतुओं के परिपालक अग्नि, वायु आदि देवशब्दवाच्य पदार्थों को भी (यजे) उचित रीति से संगत करके अपने अनुकूल करूं । (आर्तवान्) ऋतुओं के पक्ष मास आदि विशेष २ भागों को भी (यजे) यज्ञ द्वारा सुखकारी बनाऊं । (उत) और (हायनान्) सब वर्षों या सब दिनों में (यजे) यज्ञ करूं । और (समाः) सब (संवत्सरान्) संवत्सरों, वर्षों और (मासान्) सब मासों में भी यज्ञ करूं और सब कालों में मैं (भूतस्य पतये) समस्त प्राणियों के पालक परमात्मा की (यजे) उपासना करूं ।

८–(तृ० च०) 'तस्मै जुहोमि । हविषा घृतेन शौनः शर्म यच्छतु ' इति पैप्प० सं० ।

इस मन्त्र में ब्रह्मयज्ञ और देवयज्ञ का उपदेश करके ऋतुयज्ञ, मासयज्ञ, पाक्षिकयज्ञ, वार्षिकयज्ञ और दैनिकयज्ञ करने का भी उपदेश किया है ।

ऋतुभ्यंष्ट्वार्तवेभ्यों माद्भ्यः संवत्सरेभ्यंः ।
धात्रे विधात्रे समृधें भूतस्य पतंये यजे ॥ १० ॥

अथर्व० १९ । ३७ । ४ ॥

भा०—हे पत्नि ! अष्टके ! (त्वा) तुझे भी (ऋतुभ्यः) ऋतुओं के लिये (आर्तवेभ्यः) ऋतुभागों के लिये (माद्भ्यः) मासों और (संवत्सरेभ्यः) वर्षों के लिये (धात्रे) सब के पालक पोषक (विधात्रे) सब के उत्पादक, (समृधे) सब को समृद्ध करने हारे, (भूतस्य पतये) सब प्राणियों के परिपालक परमात्मा के लिये (यजे) अपने संग पत्नी बनाकर रखूं और तेरे संग ही सब यज्ञ आदि पवित्र कार्यों को करूं ।

इडंया जुह्वतो व्रयं द्रेवान् घृतवंता यजे ।
गृहानलुंभ्यतो व्रयं सं विशेमोप गोमंतः ॥ ११ ॥

भा०—गृहस्थ पुरुषों को सदाचार का उपदेश करते हैं । (इडया) अन्न और भूमि से उत्पन्न हुए पवित्र पदार्थों को (जुह्वतः) दान प्रतिदान और अग्नि में आहुति देते हुए (वयं) हम (देवान्) देवगण अग्नि, वायु, जल आदि पदार्थों और विद्वान् पुरुषों को (घृतवता) घृत आदि पोषण-कारी पदार्थों से (यजे) उनको संगत कर पुष्टकारक करूं और उनका आदर करूं और (वयं) हम सब (गोमतः) गौ आदि पशुओं से सम्पन्न (गृहान्) गृहों में (अलुभ्यतः) एक दूसरे के पदार्थों का लोभ न

१०-(प्र० द्वि०) 'यजुर्ऋत्विग्भ्य आर्तवेभ्यः माभ्यः, संवत्सराय च' इति पैप्प० सं० ।

११-(च०) 'द्रुपदे स्वपगोमते' इति पैप्प० सं० ।

करते हुए, निर्लोभ होकर (उप सं विशेम) परस्पर मिल कर एक दूसरे के समीप रहें ।

एकाष्टका तपसा तप्यमाना जजान गर्भं महिमानमिन्द्रम् ।
तेन देवा व्यसहन्त शत्रून् हन्ता दस्यूनामभवच्छचीपतिः ॥१२॥

भा०—(एकाष्टका) एकमात्र गृहिणी (तपसा) गृहस्थ के पालन रूप तप और ब्रह्मचर्य से (तप्यमाना) व्रत पालन करती हुई (महिमानम्) महत्वपूर्ण (इन्द्रं) ऐश्वर्ययुक्त, गुणगौरवयुक्त आत्मा को (गर्भं) अपने गर्भरूप में (जजान) धारण करके उत्पन्न करती है । (तेन) उस उत्तम पुत्र से (देवाः) विद्वान् गण भी (शत्रून्) अपने शत्रुओं को (व्यसहन्त) पराजित करते हैं । और वही बड़ा होकर (शचीपतिः) शक्ति सेना का स्वामी हो कर (दस्यूनाम्) राष्ट्र के नाशकारी पुरुषों को (हन्ता अभवत्) विनाशकारी होता है । स्त्रियों को तपस्या ही बड़े २ राजर्षियों को उत्पन्न करती है ।

इन्द्रपुत्रे सोमपुत्रे दुहितासि प्रजापतेः ।
कामानस्माकं पूरय प्रति गृह्णाहि नो हविः ॥ १३ ॥

भा०—हे अष्टके पत्नि ! हे (इन्द्रपुत्रे) इन्द्र, ऐश्वर्यवान् पुत्र वाली ! और हे (सोमपुत्रे) सौम्यगुण सम्पन्न चन्द्र के समान आह्लादकारी पुत्र प्रसव करनेहारी स्त्रि ! तू (प्रजापतेः) प्रजा के पति गृहस्थ की (दुहिता) समस्त कामनाओं को पूर्ण करने हारी (असि) है । इसलिये तू (अस्माकं) हमारे (कामान्) समस्त अभिलाषाओं को (पूरय) पूर्ण कर और (नः) हमारा (हविः) पुष्टिकारक पदार्थ, अन्न और उत्तम ज्ञानोपदेश एवं आदान करने योग्य वीर्यांश को भी (प्रतिगृह्णाहि) स्वीकार कर, धारण कर ।

१२-(तृ० च०) 'तेन दस्यून् व्यसहन्त देवा हन्तासुराणामभवच्छचीभिः' इति पैप्प० सं० ।

इस सूक्त में अष्टका देवता है सायण ने 'अष्टका' शब्द से माघ की कृष्णाष्टमी का ग्रहण किया है। और समस्त सूक्त उसी पर ही लगाया है। परन्तु हमें वैसा करना अभीष्ट नहीं जचा क्योंकि शतपथ ने अष्टका और एकाष्टका दोनों की व्याख्या दूसरी ही की है। "अष्टका-यामुखां सम्भरति। प्राजापत्यमेतदहर्यदष्टका। प्राजापत्यमेतत्कर्म यदुखा। प्रजापत्य एव तदहन् प्राजापत्यं कर्म करोति। पर्वैवाष्टकायाम्। पर्व एतत्संवत्सरस्य यदष्टका पर्वैतदग्नेर्यदुखा पर्वण्येव तत्पर्व करोति। पर्वैवाष्टकायाम्। अष्टका वा उखा।" (शत० ६। २। २। २३-२५॥ प्राजापत्यमेतत्कर्म यदुखा। योनिर्वा उखा॥ शत० ७। ५। १३८॥ अष्टका काल में उखा संभरण किया जाता है। यह अष्टका का दिन प्रजापति का दिवस है। और उखा का सम्भरण भी प्रजापति का कार्य है। अष्टका के दिन प्रजापति का कार्य करना संगत ही है। यह एक पर्व भी है। अष्टका ही उखा है। उखा का अर्थ योनि है। इस प्रकार से अष्टका वास्तव में ऋतुमती स्त्री का प्रतिनिधि है। उसी के कर्तव्यों को लक्ष्य करके 'उखा-सम्भरण' और अष्टका कर्म हैं जिन में ये मन्त्र येनि-सम्भरण=गृहस्थ के कार्यों का उपदेश करने वाले मन्त्रों से वह पर्व मनाया जाता है। इनका मुख्यार्थ गृहस्थकर्मपरक ही है।

इति द्वितीयोऽनुवाकः।

[तत्र पञ्च सूक्तानि, ऋचश्च चत्वारिंशत्।]

[११] आरोग्य और दीर्घायु होने के उपाय।

ब्रह्मा भृग्वङ्गिराश्च ऋषी। ऐन्द्राग्न्युपसो यक्ष्मनाशनो वा देवता। ४ शक्वरीगर्भा जगती, ५, ६ अनुष्टुभौ, ७ उष्णिग् बृहतीगर्भा, पथ्यापंक्तिः; ८ त्र्यवसाना षट्पदा बृहतीगर्भा जगती, १-३ त्रिष्टुभः। अष्टर्चं सूक्तम्॥

मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय कमज्ञातयक्ष्मादुत राजयक्ष्मात् ।
ग्राहिर्जग्राह यद्येतदेनं तस्या इन्द्राग्नी प्र मुमुक्तमेनम् ॥ १ ॥

ऋ० १० । १६१ । १ ।

भा०—बालकों और घर के रोगग्रस्त पुरुषों के आरोग्य रखने और दीर्घायु होने के उपायों का उपदेश करते हैं । हे बालक ! (त्वा) तुझ को मैं गृहपति (जीवनाय) सुखपूर्वक जीवन व्यतीत कराने के लिये (हविषा) सुगन्धित पुष्टिकारक चरु द्वारा (अज्ञातयक्ष्माद्) अज्ञात स्वरूप वाले संग दोष से लगने वाले रोग से और (उत राजयक्ष्मात्) तपेदिक जैसे भयंकर, शोषक रोग से भी (मुञ्चामि) बचाये रखूं । (यदि) यदि (एनं) इस बालक को (ग्राहिः) सब अंगों को पकड़ लेने वाला, मसाने का रोग या शीत-वात रोग भी (जग्राह) पकड़ले तो भी (इन्द्राग्नी) इन्द्रः=शुद्ध वायु या सूर्य का आतप और अग्निः=होमाग्नि दोनों (एनं) इस बालक को (तस्याः) उस रोग से (प्र मुमुक्तम्) मुक्त करें ।

यदि क्षितायुर्यदि वा परेतो यदि मृत्योरन्तिकं नीत एव ।
तमा हरामि निर्ऋतेरुपस्थादस्पार्शमेनं शतशारदाय ॥ २ ॥

ऋ० १० । १६१ । २ ॥

भा०—(यदि) यदि यह बालक (क्षितायुः) रोग से अपनी जीवन शक्ति को खो भी चुका हो (यदि वा) और चाहे यह बालक (परेतः)

[११] ऋग्वेदे यक्ष्मनाशनः प्राजापत्य ऋषिः । यक्ष्मनाशघ्नं देवता । १–(तृ०) 'यदि वैतदेनं' इति ऋ० । 'ग्राह्यागृहीतो यद्येष यातस्तत इन्द्रा' इति पैप्प० सं० ।

२–(च०) 'अस्पार्शम्' इति शं० पा० । (प्र०) 'यदु खराडुर्यदि [?]' इति पैप्प० सं० ।

और भी परली, निराशाजनक दशा को पहुंच गया हो यदि (मृत्योः) शरीर के प्राण से छूट जाने की दशा के (अन्तिकं) समीप तक भी (नीत एव) पहुंच ही गया हो। तो भी (तं) उस बालक को मैं उपायज्ञ पुरुष (निर्ऋतेः) मृत्यु के या रोगकारी कारणों के (उपस्थात्) चंगुल से पुनः (आहरामि) फिर लौटा लेता हूं। (एनं) और इस बालक को (शतशारदाय) सौ वर्ष का जीवन बिताने के लिये (अस्पार्षम्) पुनः बलवान् कर देता हूं।

सहस्राक्षेण शतवीर्येण शतायुषा हविषाहार्षमेनम्।
इन्द्रो यथैनं शरदो नयात्यति विश्वस्य दुरितस्य पारम् ॥३॥
ऋ० १० । १६१ । ३ ॥

भा०—मैं (सहस्राक्षेण) हज़ारों पुष्परूप चक्षु से युक्त या सहस्राक्ष नामक (शतवीर्येण) सैकड़ों वीर्य वाले (शतायुषा) सौ वर्ष की आयु देने वाले (हविषा) ओषधि से (एनम्) इस आशातीत बालक को भी मैं पुनः जीवन के लिये (आहार्षम्) मौत के पंजे से छुड़ा कर ले आऊं। (यथा) जिससे (इन्द्रः) परमात्मा (एनं) इस जीव को (शरदः) सौ वर्षों तक (विश्वस्य) समस्त (दुरितस्य) दुष्ट, पाप कर्म के दुष्फल के (पारं) पार (अति नयाति) कर दे।

शतवीर्या ओषधि दूर्वा का एक भेद है जो सहस्रवीर्या और मत्स्याक्षी भी कहाती है जो बालक को पुष्टि के लिये दी जाती है।

शतं जीव शरदो वर्धमानः शतं हेमन्ताञ्छतमु वसन्तान्।
शतं त इन्द्रो अग्निः सविता बृहस्पतिः शतायुषा हविषा-
हार्षमेनम् ॥ ४ ॥ ऋ० ११६ । ४ ॥

३–(प्र०) 'सहस्राक्षेण शतशारदेन' (द्वि०) 'हार्षमिमम्' (तृ०) 'शतं यथैनं शरदो नयातीन्द्रो वि-' इति ऋ०।

४–(तृ०) 'शतं त इन्द्राग्नी सविता', (च०) 'हविषेमान् पुनर्दुः' इति पैप्प० सं०।

भा०—(शतायुषा) सौ वर्ष की आयु देने में समर्थ (हविषा) हवि-रूप ओषधि से मैं (एनं) इस बालक को (आहार्षम्) मौत के मुंह से लौटा ले आया हूं । विद्वान् लोग बालक को आशीर्वाद दें हे बालक तू (वर्धमानः) बराबर वृद्धि को प्राप्त होता हुआ (शतं शरदः) सौ शरत् कालों तक (शतं हेमन्तान्) सौ हेमन्त कालों तक और (शतम् उ वसन्तान्) सौ वसन्तों तक (जीव) जी, प्राण धारण कर और (इन्द्रः) परमेश्वर (अग्निः) ज्ञानवान् (सविता) सब का प्रकाशक और उत्पादक (बृहस्पतिः) महान् ब्रह्माण्ड का स्वामी परमात्मा (ते) तुझे (शतं) सौ वर्ष की आयु प्रदान करें।

प्र विशतं प्राणापानावनड्वाहाविव व्रजम् ।
व्यंन्ये यन्तु मृत्यवो यानाहुरितरान्छतम् ॥ ५ ॥
अथर्व० ८ । १ । २० ॥

भा०—(अनड्वाहौ) जिस प्रकार रथ के दोनों बैल अपने (व्रजम्) निवास स्थान वृषशाला में प्रविष्ट होते हैं उसी प्रकार हे (प्राणापानौ) प्राण और अपान, भीतर जाने और भीतर से बाहर आने वाले श्वास प्रश्वास तुम दोनों (प्रविशतं) इस बालक में सुखपूर्वक उत्तम रीति से प्रवेश करो (अन्ये) और जो (मृत्यवः) आत्मा से देह के छूट जाने के नाना कारण हैं (यान्) जिन (इतरान्) औरों को भी (शतम्[1]) सौ (आहुः) गिनाया जाता है वे भी (वि यन्तु) दूर हो जांय ।

इहैव स्तं प्राणापानौ माप गातमितो युवम् ।
शरीरमस्याङ्गानि जरसे वहतं पुनः ॥ ६ ॥

१. 'मृत्यून् एक शतं ब्रूमः' इति अथर्व० ११ । ६ । १६ ॥ 'शतमन्यान् परिवृणक्तु मृत्यून्' अथर्व० १ । ३० । ३ ॥ 'ये मृत्यवः एकशतम्' अथर्व० १ । २ । २७ ॥

६–(द्वि०) 'गामितो जवम्' इति सायणाभिमतः पाठः ।

भा०—हे (प्राणापानौ) प्राण और अपान ! तुम दोनों (इह एव) इस देह में ही (स्तं) रहो (युवम्) तुम दोनों (इतः) इस देह को छोड़ कर (मा अपगातम्) मत जाओ। (अस्य) इस बालक के (शरीरम्) शरीर को और (अंगानि) अंगों को भी (पुनः) बराबर (जरसे) वृद्धावस्था तक (वहतं) धारण करो।

जरायै त्वा परि ददामि जरायै नि धुवामि त्वा ।
जरा त्वा भद्रा नेष्ट व्य१न्ये यन्तु मृत्यवो यानाहुरितरान्छतम् ॥७॥

भा०—हे बालक ! (त्वा) तुझको (जरायै) वृद्ध होने की दशा तक (परि ददामि) सब प्रकार से रक्षा करता हूं और उस बुढ़ापे तक तुझे पहुंचाता हूं। (त्वा जरायै) तुझको जराकाल तक (नि धुवामि) सब प्रकार से व्यवहार योग्य बनाये रखता हूं। (त्वा) तुझको (जरा) वार्धक दशा भी (भद्रा) कल्याण, सुखों को (नेष्ट) प्राप्त कराये अर्थात् बुढ़ापे में भी शरीर को वात आदि रोग न सतावें। और (अन्ये मृत्यवः) और मृत्यु के कारण भी (यान् इतरान् शतम् आहुः) जिनको लोग सौ गिनाया करते हैं वे भी (वि यन्तु) दूर हों।

अभि त्वा जरिमाहित गामुक्षणमिव रज्ज्वा ।
यस्त्वा मृत्युरभ्यधत्त जायमानं सुपाशया ।
तं ते सत्यस्य हस्ताभ्यामुदमुञ्चद् बृहस्पतिः ॥ ८ ॥

भा०—हे बालक (त्वा) तुझको (जरिमा) बुढ़ापे ने भी (अहित) इस प्रकार बांध लिया है जैसे (रज्ज्वा) रस्सी से (उक्षणम् गाम् इव) वृषभ, बैल को बांध लिया जाता है। अर्थात् अब तेरे जीते रहने पर भी तुझे जीवन के अन्त में बुढ़ापा तो अवश्य ही आवेगा। शेष रही बाल्यकाल की मृत्यु ! (यः मृत्युः) जिस अकालमृत्यु ने (जायमानं त्वा) उत्पन्न होते ही तुझको (सुपाशया) दृढ़ फांसे से (अभि अधत्त) फांस

लिया है (तं) उसको (बृहस्पतिः) विश्व के पति परमात्मा या वाचस्पति वैद्य (ते) तुझे (सत्यस्य हस्ताभ्याम्) सत्य के हाथों से अर्थात् वास्तविक सत्य औषध-प्रयोग और तेरे आत्मा के शेष पुण्य इनके आधार पर (उद् अमुञ्चद्) बचा लें ।

[१२] बड़े २ भवन बनाने का उपदेश ।

ब्रह्मा ऋषिः । वास्तोष्पतीयम् शालासूक्तम् । वास्तोष्पतिः शाला च देवते । १, ४, ५ त्रिष्टुभः, २ विराड् जगती, ३ बृहती, ६ शक्करीगर्भा जगती, ७ आर्षी अनुष्टुप्, ८ भुरिग्, ९ अनुष्टुप् । नवर्चं सूक्तम् ॥

इहैव ध्रुवां नि मिनोमि शालां क्षेमे तिष्ठाति घृतमुक्षमाणा ।
तां त्वा शाले सर्ववीराः सुवीरा अरिष्टवीरा उप संचरेम ॥ १ ॥

भा०—निवास योग्य भवन, हवेली, शाला, गृह आदि बनाने का उपदेश करते हैं—(इह एव) इस उत्तम भूमि प्रदेश में ही (ध्रुवां शालां) ध्रुव, दृढ़ शाला को (नि मिनोमि) बनाता हूं । (क्षेमे) इस सुरक्षित प्रदेश में यह शाला, बनी हुई हवेली (घृतम्) सूर्य के प्रकाश को और शुद्ध वायु को (उक्षमाणा) अपने भीतर रहने वाले जनों को उत्तम रीति से देती हुई (तिष्ठाति) स्थिर रूप से खड़ी रहे । हे (शाले) हवेली ! (तां त्वा) उस तुझ में हम (सर्ववीराः) सब प्रकार के छोटे बड़े पुत्रों सहित, (सुवीराः) उत्तम बल वीर्य सम्पन्न होकर (अरिष्टवीराः) आरोग्यता युक्त सामर्थ्यवान् होकर (उप संचरेम) रहें, विचरें ।

[१२] १-(च०) ' अभि संचरेम ' इति पैप्प० सं० ।

इहैव ध्रुवा प्रति तिष्ठ शालेश्वावती गोमती सूनृतावती ।
ऊर्जस्वती घृतवती पयस्वत्युच्छ्रयस्व महते सौभगाय ॥ २ ॥

भा०—विशाल भवन बनाने का उपदेश करते हैं। हे (शाले) विशाल भवन! (इहैव) इसी आधार नींव पर तू (ध्रुवा) खूब मज़बूत दृढ़ होकर (प्रति तिष्ठ) प्रतिष्ठित रह, जमी रह और (अश्वावती) घोड़ों (गोमती) गौओं और (सूनृतावती) शुभ वेदवाणियों और (ऊर्जस्वती) अन्न और (घृतवती) प्रकाश, वायु एवं घृत और (पयस्वती) गौ भैसों के दूध और उत्तम जल आदि पदार्थों से सम्पन्न होकर (महते सौभगाय) मेरे बड़े भारी सौभाग्य को बनाये रखने के लिये (उच्छ्रयस्व) खूब ऊंची उठ कर खड़ी हो जा।

बड़े २ भवन बनाओ जिसमें घोड़े बँध सकें, गायें पाल सकें, वेदपाठी ब्राह्मण वेदपाठ करें, अन्नागार हों, घी दूध के कोठे हों और बड़ी समृद्धि रखी जा सके, जिसके कारण सब यश गावें।

धरुण्यसि शाले बृहच्छन्दाः पूतिधान्या ।
आ त्वा वत्सो गमेदा कुमार आ धेनवः सायमास्पन्दमानाः ॥३॥

भा०—हे (शाले) विशाल भवन! तू (धरुणी) विशाल स्तंभों से युक्त (बृहत् छन्दाः) बड़ी लम्बी चौड़ी छतों से ढकी, (पूतिधान्या)

२—(प्र०) 'इहेव स्थूणे प्रतितिष्ठ ध्रुवा' (द्वि०) 'गोमती शील मावती' (तृ०) ऊर्जस्वती पयसा पिन्वमाना' इति पा० गृ० सू०।

३—(द्वि०) 'बृहच्छदिः पूतधान्या' इति ह्विटनिकामितः पाठः। 'सायमास्यन्दमानाः' इति सायणाभिमतः पाठः। 'स्पन्दमाना' इति शं० प०। 'एनां शिशुः क्रन्दत्याकुमार आस्पन्दन्तां धेनवो नित्यवत्साः' शां० गृ० सू०। 'आ त्वा शिशुराक्रन्द त्वा गावो धेनवो वाश्यमानाः' इति पा० गृ० सू०।

पवित्र धन-धान्यों से परिपूर्ण हो । (त्वा) तुझमें (वत्सः) बच्चे और (कुमारः[1]) कुमार=बालक (आगमेत्) आवें, खेलें और रौनक रहें, (धेनवः) गौएं भी (सायं) सायङ्काल के समय (आस्पन्दमानाः) शनैः २ चलती हुईं (आ) आकर प्रवेश करें । अर्थात् तू आबाद रह, उजड़ मत ।

इमां शालां सविता वायुरिन्द्रो बृहस्पतिर्नि मिनोतु प्रजानन् ।
उक्षन्तूद्ना मरुतो घृतेन भगो नो राजा नि कृषिं तनोतु ॥ ४ ॥

भा०—(इमां शालां) इस शाला को (सविता) सूर्य (इन्द्रः) विद्युत्, (वायुः) वायु, (बृहस्पतिः) और वेदप्रवक्ता विद्वान् ये सब (प्रजानन्) उत्कृष्ट रूप में प्रकट होकर (नि मिनोतु) इसको उत्तम रूप से बनावें । (मरुतः) वायुएं और वायुविद्या को जानने हारे शिल्पी एवं सम्पन्न व्यापारीगण और प्रजाएं भी (घृतेन) सेचनसमर्थ (उद्ना) जल से (उक्षन्तु) उसका सेचन करें और (नः) हमारा (भगः) ऐश्वर्यवान् (राजा) शोभा सम्पादन करने हारे शिल्पी (कृषिं) नाना प्रकार के विलेखन आदि चित्र-कार्यों को (नि तनोतु) करें । अथवा भाविनी संज्ञा को ध्यान में रख कर कहा है कि हमारा (भगः राजा) भाग्यवान् राजा, मुख्य पुरुष ही (कृषिं नि तनोतु) शाला बनवाने के लिये नींव आदि खुदवावे या खेती बाड़ी करे ।

मानस्य पत्नि शरणा स्योना देवी देवेभिर्निमितास्यग्रे ।
तृणं वसाना सुमना असस्त्वमथास्मभ्यं सहवीरं रयिं दाः ॥५॥

---

१. जात्याख्यायामेकवचनम् ।

४–(प्र०, द्वि०) 'वायुरग्निस्त्वष्टा होता नि०' (च०) 'भगो नः सोमो', 'उक्षन्तून्ना' इति पैप्प० सं० । (तृ०) 'उक्षन्तूद्ना' इति शं० पा० । 'उक्षन्तु उद्ना' इति क्वचित् । 'उक्षन्तून्ना' इत्यपि बहुत्र ।

५–(तृ० च०) 'ऊर्जं वसना सुमना यशस्त्वं रयिं नोऽधि सुभगे सुवीरम्' इति पैप्प० सं० । मानः सपत्नः शरणः स्योना देवो देवेभिर्विमितास्यग्रे तृणं वसाना: सुमना असि त्वम् । इति हि० गृ० सू० ।

भा०—शाला या गृह और गृहणी दोनों को समान रूप से दर्शाते हैं। हे (मानस्य पत्नि) मान, प्रतिष्ठा का पालन करने हारी धर्मपत्नी के समान शाले ! तू (शरणा) सब को शरण देने वाली (स्योना) सुखकारिणी (देवी) दिव्यगुणशालिनी सुखदा है। तुझे (देवेभिः) देव, विद्वान् शिल्पियों ने (अग्रे) पूर्व कल्पों में भी बराबर (निर्मिता असि) इसी प्रकार का बनाया है। (त्वं) तू तृण-वल्कल-धारिणी ब्रह्मचारिणी के समान अब भी (तृणं वसाना) फूस के सुन्दर आवरण और काठ आदि की सुन्दर छत को धारण करती हुई (सुमनाः) शुभ चित्त वाली मनोनुकूल (असः) हो, (अथ) और (अस्मभ्यं) हमें (सहवीरं) पुत्रों के साथ (रयिं) यश, वीर्य, धन धान्य को (दाः) प्रदान कर।

ऋतेन स्थूणामधि रोह वंशोग्रो विराजन्नप वृङ्क्ष्व शत्रून्।
मा ते रिषन्नुपसत्तारो गृहाणां शाले शतं जीवेम शरदः सर्ववीराः॥६॥

भा०—वंश को ध्वजा के समान ऊपर रखने का उपदेश करते हैं। हे (वंश) ध्वजादण्ड के समान वंश ! तू जिस प्रकार ध्वजादण्ड अपने बल से विशाल शाला के स्थूल स्तम्भ के आगे चढ़ाया जाता है, उसी प्रकार (उग्रः) बलवान् होकर (ऋतेन) सत्य के बल से (स्थूणा) दृढ़ आधारस्तम्भ पर (अधि रोह) खड़ा रह और (विराजन्) विशेष प्रकार से शोभा देकर (शत्रून्) शत्रुओं का (वृङ्क्ष्व) निवारण कर। हे शाले ! (ते) तेरे भीतर (गृहाणां उपसत्तारः) गृहों को बसाने वाले या गृहों, कमरों में बैठने वाले (मा रिषन्) क्लेश को प्राप्त न हों और हम (सर्ववीराः) सब पुत्रों सहित (शतं जीवेम) सौ वर्षों तक जीवन व्यतीत करें।

६–(प्र०) 'स्थूणाऽधि', (तृ० च०) सत्तारो विराजं जीवान् शरदश्शतानि' इति पैप्प० सं०। 'उपसत्तारः शाले—सुवीराः' इति ह्विटनिकामितः पाठः। 'मा ते ऋषन्' इति सायणसम्मतः पाठः।

एमां कुमारस्तरुण आ वत्सो जगता सह ।
एमां परिस्रुतः कुम्भ आ दध्नः कलशैरगुः ॥ ७ ॥

भा०—(इमां) इस शाला में (कुमारः आ) कुमार बालक (तरुणः) युवा पुरुष (वत्सः) बच्चे (जगता सह) अन्य भी जीवों के साथ (आ अगुः) आवें और (इमां) इसमें (परिस्रुतः) स्रवण करने हारे पदार्थ घी, दूध, मक्खन, शहद और (कुम्भः) घड़े (दध्नः) दही के (कलशैः) भरे कलसों सहित (आ अगुः) आवें।

पूर्णं नारि प्र भर कुम्भमेतं घृतस्य धारामृमृतेन संभृताम् ।
इमां पात्रीममृतेना समङ्ग्धीष्टापूर्तमभि रक्षात्येनाम् ॥ ८ ॥

भा०—गृहपत्नी के कर्तव्य का उपदेश करते हैं। हे (नारि) गृहपत्नि ! (एतं) इन (कुम्भ) घड़ों और मटकों को (पूर्णं) पूर्ण भरकर (प्रभर) अपने घर में लेजा। और (अमृतेन) अमृत अन्न और जल से (संभृता) सम्पन्न (घृतस्य धाराम्) घी दूध की धारा को भी घर में लेजा। (इमां) इस (पात्रीम्) थाली को (अमृतेन) उत्तम अन्न रस से (आ समङ्ग्धि) सुशोभित कर और (एनां) इस शाला को (इष्टापूर्तं) यज्ञ

७-(प्र०) 'आत्वा कुमार' (तृ०) 'आत्वा परिश्रितः,' (च०) 'कलशश्च या' इति पैप्प० सं०। एमां, परिश्रुतः इति क्वचित्। 'परिस्रुतः कुम्भाः', (च०) 'कलशीरगुः' इति सायणाभिमतः पाठः। (द्वि०) 'जगदैः सह' इति पा० गृ० सू०। 'जगता सह' इति आ० गृ० सू०। वत्सो भुवनाः परि इति शां० गृ० सू०।

८-(तृ०) 'इमां पात्रीममृतेना समिन्धि इति सायणसम्मतः पाठः सुसंगततरः। 'पातृनमृतेन' इति शं० पा०, प्रायिकश्च पाठः। 'पूर्णा नाभिरिप्रहराभि-कुम्भमपारमन्तोषधीनान् घृतस्य। इमा प्रान्नेरमृतस्य०' इत्यादि पैप्प० सं०।

दान और कूप बागीचा और बावड़ी आदि (अभि) चारों तरफ से (रक्षति) रक्षा करे ।

अथवा पाठान्तर—हे नारि ! (इमां पातॄन्) इस शाला की रक्षा करने वालों को (अमृतेन) अन्नादि जीवनयुक्त पदार्थों से (आ समङ्ग्धि) हृष्ट पुष्ट कर ।

इमा आपः प्र भराम्ययक्ष्मा यक्ष्मनाशनीः ।
गृहानुप प्र सीदाम्यमृतेन सहाग्निना ॥ ९ ॥

अथर्व० ९ । ३ । २३ ॥

भा०—गृह में किस प्रकार के पदार्थ लावे इसका उपदेश करते हैं । (इमाः) इन (यक्ष्मनाशिनीः) रोगनाशक स्वच्छ (आपः) जलों को मैं (अयक्ष्मा) नीरोग रह कर (प्रभरामि) अपने घर में भरूं । और (अमृतेन) अन्न के साथ २ (ऋतेन) शुद्ध ज्ञानमय (अग्निना) अग्नि के समान तेजस्वी प्रकाशक विद्वान के सहित (गृहान् उप) अपने गृहों में (प्र सीदामि) प्रसन्न होकर रहूं ।

[१३] जलों के नामों के निर्वचन ।

भृगुर्ऋषिः । वरुणः सिन्धुर्वा देवता । १ निचृत् । ५ विराड् जगती । ६ निचृत् त्रिष्टुप् । २—४, ७ अनुष्टुभः । सप्तर्चं सूक्तम् ॥

यद॒दः सं॑प्रय॒तीरहा॒वन॑दता ह॒ते ।
तस्मा॒दा न॒द्यो॒३ नाम॑ स्थ॒ ता वो॒ नामा॑नि सिन्धवः ॥ १ ॥

भा०—एक पदार्थ के भिन्न २ नाम रखने के विज्ञान का उपदेश करते हैं । उदाहरण के लिये जल के नामों की व्याख्या करते हैं । हे (आपः) जलो ! (अदः अहौ) इस मेघ के (हते) विद्युत् और वायु द्वारा ताड़ित

होने पर (संयतीः) एकत्र होकर बहते हुए (अनदत) ध्वनि करते हो, समृद्धि को प्राप्त होते हो, इसलिये तुम (नद्यः नाम) नदी नाम से (आस्थ) पुकारे जाते हो (तस्मात्) इसी कारण हे (सिन्धवः) प्रस्रवणशील, बहने वाले जलो (वः) तुम्हारे (ताः) वे नाना प्रकार के (नामानि) नाम भी हैं।

यत् प्रेषिता वरुणेनाच्छीभं समवल्गत ।
तदाप्नोदिन्द्रो वो यतीस्तस्मादापो अनु ष्ठन ॥ २ ॥

भा०—(यत्) जब (वरुणेन) पृथ्वी पर आवरण करने हारे मेघ द्वारा (प्रेषिताः) प्रेरित होकर (शीभं) शीघ्र ही (समवल्गत) गति करते हो (तत्) तब (वः यतीः) गति करते हुए तुम में (इन्द्रः) वायु (आप्नोत्) व्याप्त हो जाता है (तस्मात्) इसलिये तुम (आपः) 'आपः' (अनु स्तन) इस नाम से पुकारे जाते हो।

अपकामं स्यन्दमाना अवीवरत वो हि कम् ।
इन्द्रो वः शक्तिभिर्देवीस्तस्माद् वार्नाम वो हितम् ॥ ३ ॥

भा०—'वार' नाम जलों का क्यों है ? (अपकामं) नीचे जाने की वासना=वेग से युक्त होकर (स्यन्दमानाः) बहते हुए (इन्द्रः) इन्द्र विद्युत् ने या विद्युत् या शक्ति के उत्पादन के कला के विज्ञ विद्वान् ने (वः शक्तिभिः) तुम्हारी ही शक्ति=वेग, सामर्थ्यों के कारण (वः) तुमको (अवीवरत्) वरण किया, तुमने आश्रय लिया अर्थात् उसने अपने यन्त्रों को घुमाने के लिये जलधाराओं को वरण किया, चुना नालिका रूप से रोक कर प्रयोग किया। (तस्माद्) इस कारण (वः) तुम्हारा नाम (वार् हितम्) 'वार्' ऐसा धर दिया।

२-(प्र०) 'सम्प्रच्युता वरुणेन यद्' इति मै० सं० ।
३-(तृ०) 'इन्द्रो वः सक्तासिंदैः' इति पैप्प० सं० ।

एको वो देवोप्यतिष्ठत् स्यन्दमाना यथावशम् ।
उदानिषुर्महीरिति तस्मादुदकमुच्यते ॥ ४ ॥

भा०—हे (आपः) जलो ! (एकः देवः) एक विद्वान् पुरुष (यथावशम्) स्वच्छन्द रूप से (स्यन्दमानाः) बहते हुए (वः) तुम जलों पर भी (अपि अतिष्ठत्[1]) वश प्राप्त करता और (महीः) पृथिवी के ऊपर (उद् आनिषुः) ऊंचे स्थानों पर भी चढ़ा देता है (तस्मात्) इस कारण से जल को (उदकम्) उदक (उच्यते) कहा जाता है । अर्थात् जलों में ऊपर उठने का भी गुण है । नल के बल से जल समुद्र पृष्ठ से ३३ फीट ऊपर उठ सकता है । अथवा (एको देवः वः स्यन्दमानाः यथावशम् अपि अतिष्ठत्) एक विद्वान् तुम जलों पर भी अपनी शक्ति और कामना के अनुकूल वश करता (महीः उदानिषुः) और बड़े २ पदार्थों को ऊपर उठा देता है (तस्मात् उदकमुच्यते) इस कारण जल को उदक कहा जाता है । अर्थात् जल के ऊपर उठाने के गुण से बड़े २ पदार्थों को ऊपर उठाने का कार्य लिया जाता है। जैसे 'ब्रामा प्रेस' में जल का यह गुण कार्य में लाया जाता है कि जितना बल एक तरफ़ लगाया जाय उतना ही वे दूसरी तरफ़ पहुंचा देते हैं । अथवा बहती हुई जलधाराओं को विद्वान् अपने वश करके जहां चाहे ऊपर से या बह ऊपर की भूमि में उठा कर ले जाता है। उनको यन्त्र के बल से ऊपर उठा लेता है जैसे वाटर वर्क्स में पर्वतों के शिखर पर भी जल को उठा दिया जाता है इसी से इसका नाम 'उदक' है । अथवा देव=सूर्य किरणों द्वारा समुद्र से जलों को मेघ रूप में आकाश के प्रति उठा लेता है । इत्यादि ।

४—'एको न देवः उपातिष्ठत् स्यन्दमाना उपेत्य' इति पैप्प० सं० ।

१. अपि शब्द अध्यर्थं इति सायणः ।

आपो भद्रा घृतमिदाप आसन्नग्नीषोमौ बिभ्रत्याप इत् ताः ।
तीव्रो रसो मधुपृचामरंगम आ मा प्राणेन सह वर्चसा गमेत् ॥५॥

भा०—(भद्राः) कल्याणकारिणी, सुखदायिनी (आपः) आपः= जल ही (घृतम् इत्) घृत-तेज=कान्ति देने हारी, पौष्टिक पदार्थ (आसन्) हैं । (ताः इत्) वे ही (आपः) आपः=जल (अग्निषोमौ) अग्नि और सोम दोनों को (बिभ्रति) धारण करती हैं । (मधुपृचाम्) जीवन, अमृत से युक्त तुम जलों का (तीव्रः रसः) तीव्र रस (अरंगमः) खूब उत्तम रीति से मिल जाने वाला (प्राणेन वर्चसा सह) मेरे प्राण और वर्चस्-तेज के साथ (मा आगमेत्) मुझे भी प्राप्त हो । जलों का अग्नि स्वरूप अंश=उद्जन (Hydrozen) जो स्वयं ज्वलनशील है और जो तेजाब बनाने में आवश्यक अंग है जल का दूसरा अंश सोमस्वरूप ओक्सीजन (Oxizen) है जो ' ओष ' उत्पन्न करता है अर्थात् ज्वलन में सहायक है वह स्वयं नहीं जलता । वह ओषधियों में 'ओष' उत्पन्न करने से सोमात्मक है । जिन में से उद्जन स्वतः ज्वलनशील होने से घृतरूप है । और ऑक्सीजन भी पुष्टिदायक होने से 'घृतस्वरूप' है । यह इसकी वैज्ञानिक व्याख्या है ।

आदित् पश्याम्युत वा शृणोम्या मा घोषो गच्छति वाङ् मासाम् ।
मन्ये भेजानो अमृतस्य तर्हि हिरण्यवर्णा अतृपं यदा वः ॥ ६ ॥

५–(प्र०) 'मिदाप आसुरग्नी' (च०) 'वर्चसागन्' तै० सं० । (प्र०) 'आपोदेवीर्घृतमिन्वा उ आपः' मै० सं० । ' आपो देवीर्घृतमितामाहुरग्नी ' (द्वि०) 'इत्याः' (तृ०) 'गमामाप्रा' इति पैप्प० सं० ।

६–'वाग्मासान् ' इति सायण सम्मतः पाठः । (द्वि०) 'वाङ् न आसां' इति तै० सं० ।

भा०—(आत्) इसके अनन्तर (आसाम्) इनके बीच में से मैं (पश्यामि) आरपार भी देख लेता हूं (उत वा) और (आसाम्) इनके बीच में से (शृणोमि) श्रवण भी कर सकता हूं। (घोषः) शब्द भी (आसाम्) इन जलों के बीच में से (मा) मुझ तक (आगच्छति) आ जाता है और (आसाम्) इन में से (वाक्) वाणी भी (मा) मुझ तक गुजर आती है। हे जलो ! हे (हिरण्यवर्णाः) अमृतस्वरूप या शब्द और प्रकाश को हरण करने वाले परमाणुओं के बने जलो ! (यदा) जब (वः) तुम को (अतृपम्) प्राप्त करता हूं (तर्हि) तब मैं अपने को (अमृतस्य) अमृत का (भेजानः) सेवन करता हुआ (मन्ये) मानता हूं।

जल के तीन गुण दर्शाये (१) ये पारदर्शक हैं अर्थात् किरणें इन में प्रवेश कर सकती हैं। चक्षु इनके भीतर देख सकती हैं। दूसरे ये शब्दवाही हैं अर्थात् शब्द को भी एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुंचा देते हैं, तीसरे आरोग्यदायक होने से तृप्तिकारक और पुष्टिकारक हैं।

इदं व आपो हृदयमयं वत्स ऋतावरीः ।
इहेत्थमेत शक्वरीर्यत्रेदं वेशयामि वः ॥ ७ ॥

भा०—हे (आपः) जलो ! (वः) तुम्हारी (इदं) यह जीवन-शक्ति (हृदयम्) हृदय, सारभूत पदार्थ है ! हे (ऋतावरीः) ऋत=चेतना-शक्ति को अपने भीतर गुप्त रखने वाले जलो ! (अयं) यह मण्डूक आदि जलजन्तु तुम्हारे (वत्सः) बच्चों के सामान हैं। हे (शक्वरीः) शक्तिसम्पन्न जलो ! आप (इह) इस भूतल पर (इत्थम्) इस प्रकार मेरे बनाये यन्त्र-मार्गों से (एत) गति करो (यत्र) जहां २ (इदम्) इस प्रकार से (वः) आपको (वेशयामि) प्रवेश कराऊं। तभी तुम मेरे बहुतसे यन्त्रों को शक्ति से चला सकोगे।

विज्ञानों का विशेष विवरण वैज्ञानिक ग्रन्थों से जानना चाहिये।

'आपः' शब्द से प्रजाओं का भी ग्रहण होता है उस पक्ष में भी यह सूक्त स्पष्ट है । जैसे—

(१) हे प्रजाओ ! 'अहि' स्वरूप कभी न मरने हारे आत्मा के समान राजा पर आघात होने पर आप लोग विचलित होकर नाद करती हो इस कारण आपका नाम 'नदी' है । और राजा के विचलित हो जाने पर प्रजाएं भी भाग जाती हैं इसलिये प्रजाओं का एक नाम 'सिन्धु' है ।

(२) वरुण रक्षक राजा से प्रेरित होकर शीघ्र उन्नति करती हो । तुम्हें इन्द्र प्राप्त होता है इसलिये तुम 'आपः' कहाती हो ।

(३) यथेच्छ उच्छृंखल चलती हुई तुम को इन्द्र राजा ने व्यवस्था से रोक दिया इससे तुम्हारा नाम ' वार् ' है ।

(४) एक देव=राजा तुम पर अधिष्ठाता होकर रहता है वह तुम सब को उन्नत करता है इसलिये तुम्हारा एक नाम 'उदक' है ।

(५) हे उत्तम प्रजाओ ! तुम ही राजा के पोषक पदार्थ हो, तुम अग्नि=सेनापति और सोम=राजा और विद्वान् दोनों को पोषण करती हो तुम्हारा तीव्र रस=क्षात्रबल मुझ राजा के प्राण और तेज, जीवन-विक्रम के साथ २ मुझे प्राप्त हो ।

(६) मैं राजा देखता हूं और सुनता भी हूं कि मेरी घोषणा भी प्रजा में प्रचारित होती है और मेरी वाणी का हुक्म भी माना जाता है । जब इन सम्पन्न प्रजाओं को मैं अपने सुप्रबन्ध से प्रसन्न कर देता हूं तब मुझे भी अमृत=स्वर्ग के भोग के समान अपने को समझता हूं । अर्थात् प्रजा के प्रसन्न कर देने पर ही राजा को भी परम सुख है ।

इसी प्रकार यह सूक्त अध्यात्म पक्ष में इन्द्रियों पर लगता है ।

[१४] गौओं और प्रजाओं की वृद्धि का उपदेश ।

ब्रह्मा ऋषिः । नाना देवताः उत गोष्ठो देवता । १, ५ अनुष्टुभः, ६ आर्षी त्रिष्टुप् । षड्ऋचं सूक्तम् ॥

सं वो गोष्ठेन सुषदा सं रय्या सं सुभूत्या ।
अहर्जातस्य यन्नाम तेना वः सं सृजामसि ॥ १ ॥

भा०—गौओं और गोपति के दृष्टान्त से राजा को प्रजाओं की और गोपति को गौओं की वृद्धि का उपदेश है । हम लोग हे गौओ ! (वः) तुम को (सुषदा गोष्ठेन) सुख से बैठने, जमने, जम कर रहने योग्य 'गोष्ठ', गोशाला में रख कर (सं सृजामसि) सुख प्राप्त करावें, पालें, (रय्या सं) पुष्टिकारक पदार्थों से और (सुभूत्या) उत्तम भूति, सन्तान और धन आदि सम्पत्ति से तुम को (सं) सजावें । और (यत्) जो (अहर्जातस्य) प्रतिदिन का जो (नाम) परिचय है (तेन) उससे भी (वः) तुम को (सं सृजामसि) पालन करें ।

इसी प्रकार राजा प्रजा के लिये उत्तम नगर, पुष्टिदायक अन्न, उत्तम सम्पत्ति और दैनिक परिचय और इनाम और पदवियों से सुशोभित करे ।

सं वः सृजत्वर्यमा सं पूषा सं बृहस्पतिः ।
समिन्द्रो यो धनंजयो मयि पुष्यत यद् वसु ॥ २ ॥

भा०—हे प्रजाओ और गौओ ! (वः) तुम को (अर्यमा) न्यायाधीश स्वामी (सं सृजतु) पालन करे, बढ़ावे (पूषा) भागधुक्=कर-संग्राहक

[१४] १-(द्वि०) 'रय्या सं सपुष्ट्या' इति पैप्प० सं० ।
२-(च०) 'मयि पुष्यतु' इति ह्विटनीकामितः पाठः । 'इह पुष्यति' इति पैप्प० सं० ।

नामक अधिकारी और (बृहस्पतिः) विद्वान् पुरोहित और (इन्द्रः) इन्द्र सेनापति (यः धनंजयः) जो शत्रुओं से धन को विजय करके लावे वह भी (सं, सं, सं, सम्) तुम्हें पालन करे तुम लोग (मयि) मुझ राजा के (यद् वसु) तुम्हारे सब प्रकार के धन धान्य सामर्थ्य को (सं पुष्यत) पुष्ट करो ।

संजग्माना अबिभ्युषीरस्मिन् गोष्ठे करीषिणीः ।
बिभ्रतीः सोम्यं मध्वनमीवा उपेतन ॥ ३ ॥

भा०—हे गौवो ! आप (अस्मिन्) इस (गोष्ठे) गौओं के रहने की शाला में (अबिभ्युषीः) निर्भय होकर (संजग्मानाः) परस्पर एकत्र होकर (करीषिणीः) गोबर और मूत्र आदि करती हुई और (सोम्यं) शुभ उत्तम गुणयुक्त (मधु) मधुर दुग्ध (बिभ्रतीः) धारण करती हुई (अनमीवाः) रोगरहित होकर (उपेतन) आकर रहो । इसी प्रकार हे प्रजाओ ! तुम भी इस राष्ट्र में (करीषिणीः) ऐश्वर्यसम्पन्न होकर, निर्भय होकर एकत्र परस्पर संगठित होकर रहो । और (सोम्यं मधु बिभ्रतीः) शुभ मधुर गुण और जीवन धारण करती हुई नीरोग होकर रहो ।

इहैव गाव एतनेहो शकेव पुष्यत ।
इहैवोत प्र जायध्वं मयि संज्ञानमस्तु वः ॥ ४ ॥

भा०—हे (गावः) गौओ ! (इह एव) यहां, इस गोशाला में ही (एतन) आओ । (इह उ) और यहां ही (शका इव) मक्खियों के समान

३–(प्र० द्वि०) 'सं जग्माना अविह्रुता अस्मिन् गोष्ठे पुरीषिणीः' (च०) 'स्वावेशा न आगत' इति मै० सं । (प्र०) 'सं जानाना विहृतं', (तृ०) 'सोम्यं हविः' (च०) 'स्वावेशास एतन' इति पैप्प० सं० ।

४–(द्वि०) 'शका इव' इति पैप्प० सं० ।

(पुष्यत) पुष्ट होओ, वृद्धि को प्राप्त होओ । (उत) और (इह एव) यहां ही (प्रजायध्वं) खूब प्रजा, पुत्रादि सन्तानों को उत्पन्न करो, और (मयि) मुझ में (वः) तुम्हारा (संज्ञानम्) पूर्ण परिचय हो । तुम अपने प्रतिपालक को खूब पहिचानो । हे प्रजाओ ! आप लोग इस राष्ट्र में आओ और यहां ही पुष्ट होओ और यहां ही प्रजा पुत्रादि से सम्पन्न होओ और तुम प्रजाओं का अपने राजा के प्रति पूर्ण परिचय रहे ।

शिवो वो गोष्ठो भवतु शारिशाकेव पुष्यत ।
इहैवोत प्र जायध्वं मया वः सं सृजामसि ॥ ५ ॥

भा०—हे गौवो ! (वः) तुम्हारे लिये (गोष्ठः) यह गोशाला (शिवः) कल्याणकारी (भवतु) होवे । और तुम (शारिशाका इव) मधुमक्खियों के समान (पुष्यत) वृद्धि को प्राप्त होओ । (उत) और (इह एव) यहां ही (प्रजायध्वं) प्रजा आदि उत्पन्न करो । (वः) आपको मैं (मया) अपने से (सं सृजामसि) और भी सम्बद्ध करता हूं । राजा का प्रजा के प्रति वचन भी स्पष्ट है ।

मया गावो गोपतिना सचध्वमयं वो गोष्ठ इह पोषयिष्णुः ।
रायस्पोषेण बहुला भवन्तीर्जीवा जीवन्तीरुप वः सदेम ॥ ६ ॥

भा०—(मया गोपतिना) मुझ गोपाल के साथ हे (गावः) गौओ (सचध्वं) प्रेम से मिलकर रहो । (अयं वः गोष्ठः) यह तुम्हारे रहने की शाला है । (इह) यहां ही यह (पोषयिष्णुः) उत्तम रीति से पोषण

५–(द्वि०) 'शारिशाका इव' इति पैप्प० सं० । 'शारिः शाका इव' इति रोथकामितः पाठः ।

६–'बहुता भवन्तः' इति ह्विटनिकामितः पाठः । (प्र०) 'गावो गोपत्या' इति पैप्प० सं० । (च०) 'उपवः सदाम' इति रोकवेललैन्मेनकामितः पाठः ।

करने हारा स्वामी रहता है । हम (जीवाः) जीवनसम्पन्न होकर (वः) तुम को (रायस्पोषेण) धन, सम्पत्ति और पुष्टि से (बहुलाः भवन्तीः) बहुत संख्या में बढ़ती हुई (जीवन्तीः) सुखपूर्वक जीवन बिताती हुई तुम गौओं को (उपसदेम) प्राप्त हों ।

इसी प्रकार राजा अपनी प्रजाओं के प्रति कहे ।

---

[१५] वणिग्–व्यापार का उपदेश ।

पण्यकामोऽथर्वा ऋषिः । विश्वेदेवाः उत इन्द्राग्नी देवताः । १ भुरिग्, ४ त्र्यवसाना बृहतीगर्भा विराड् अत्यष्टिः, ५ विराड् जगती, ७ अनुष्टुप्, ८ निचृत्, २, ३, ६ त्रिष्टुभः । अष्टर्चं सूक्तम् ॥

इन्द्रमहं वणिजं चोदयामि स न एतु पुरएता नो अस्तु ।
नुदन्नरातिं परिपन्थिनं मृगं स ईशानो धनदा अस्तु मह्यम् ॥ १ ॥

भा०—व्यापार करने का उपदेश करते हैं । (अहं) मैं व्यापार-व्यवसाय की वृद्धि चाहने वाला पुरुष (इन्द्रं) ऐश्वर्यशाली धनी, (वणिजं) व्यवहार-व्यापार में कुशल पुरुष को (चोदयामि) प्रेरणा करता हूं कि (सः नः एतु) वह हमारे पास आवे और (नः पुरः-एता अस्तु) हमारे आगे २ चलने हारा मुख्य पुरुष होकर रहे । वह (अरातिं) दान न करने या कर न देने हारे शत्रु को (परिपन्थिनं) व्यापार के मार्ग और व्यवस्था के उल्लंघन करने वाले या व्यापार के मार्ग में लूट और चोरी करने वाले (मृगं) चोर पुरुष को (नुदत्) पीड़ित, दण्डित करता हुआ (सः ईशानः) वह सब का स्वामी होकर (मह्यम्) मुझे (धनदाः) धन का देने वाला (अस्तु) हो ।

---

[१५] १–'इन्द्र वयं वणिजं हवामहे स नस्त्राता पुर एतु प्रजानन्' इति पैप्प० सं० ।

ये पन्थानो बहवो देवयाना अन्तरा द्यावापृथिवी संचरन्ति ।
ते मा जुषन्तां पयसा घृतेन यथा क्रीत्वा धनमाहराणि ॥ २ ॥

उत्तरार्धः अथर्व० ६ । ५५ । १ प्र० द्वि० ॥

भा०—(ये) जो (बहवः) बहुतसे (पन्थानः) मार्ग (देवयानाः) विद्वानों के जाने के योग्य (द्यावापृथिवी अन्तरा) द्यौ=आकाश और पृथिवी के बीच में जल स्थल और आकाश में रथ, जहाज और विमान द्वारा जाने के लिये बने हुए (संचरन्ति) नाना स्थानों पर जाते हैं । (ते) वे 'मां) मुझे भी (पयसा) जल और (घृतेन) घी आदि पुष्टिकारक पदार्थों के साथ २ (जुषन्तां) प्राप्त हों (यथा) जिनसे मैं दूर देश में जाकर (क्रीत्वा) बहुत से पदार्थ खरीद कर (धनम्) बहुत सा धन अपने देश में (आ-हराणि) ले आऊं ।

इध्मेनाग्न इच्छमानो घृतेन जुहोमि हव्यं तरसे बलाय ।
यावदीशे ब्रह्मणा वन्दमान इमां धियं शतसेयाय देवीम् ॥ ३ ॥

ऋ० ३ । १८ । ३ ॥

भा०—हे अग्ने ! जिस प्रकार (इच्छमानः) तुम को चाहने वाला या तुझ द्वारा यज्ञ करने का अभिलाषी मैं (घृतेन) घृत के साथ (हव्यं) आहवनीय पदार्थ को (इध्मेन) काष्ठ के संग (तरसे बलाय) दुःखों से पार होजाने और बल प्राप्त करने के लिये (जुहोमि) आहुति देता हूं (यावद् ईशे) और जितना मैं कर सकता हूं उतना (ब्रह्मणा वन्दमानः)

२–' इहैव पन्थाः बहवो देवयानंमनुद्यावापृथिवी सुप्रणीतिः । तेषामहनाम् वर्चस्या दधामि यथा क्रीत्वा धनमाहवानि ।' इति पैप्प० सं० । (तृ०) ' ते मे ' इति केवरकामितः पाठः ।

३–ऋग्वेदे कतो वैश्वामित्र ऋषिः । नग्निर्देवता ।

वेदमन्त्रों से स्तुति करता हुआ यज्ञ करता हूं (इमां) इस (देवीम्) दिव्यगुणयुक्त उत्तम शुभ (धियं) धारणावती बुद्धि को भी पुष्ट करता हूं कि मुझे (शतसेयाय) अपरिमित सैकड़ों धन प्राप्त हों। अर्थात् संसार के सागर से पार करने और इसमें दृढ़ता से चित्त को बल देने के लिये यज्ञ होम और वेदमन्त्रों से ईश्वर का भजन आवश्यक है वहां साथ ही व्यापार करने के लिये सैकड़ों धन प्राप्त करने के लिये दृढ़ धारणा भी आवश्यक है।

इमामग्ने शरणिं मीमृषो नो यमध्वानमगाम दूरम्।
शुनं नो अस्तु प्रपणो विक्रयश्च प्रतिपणः फलिनं मा कृणोतु।
इदं हव्यं संविदानौ जुषेथां शुनं नो अस्तु चरितमुत्थितं च ॥४॥

पूर्वार्धः ऋ० १ । ३१ । १६ प्र० द्वि० ॥

भा०—हे (अग्ने) परमात्मन् या साक्षिन्! जामिन! दोनों के बीच के मध्यस्थ पुरुष! (इमाम्) इस (नः) हमारी (शरणिम्) पीड़ा, थकान को (मीमृषः) क्षमा कर। (यम्) जिस (अध्वानं) मार्ग को हम (दूरम्) दूर तक (अगाम) चले जावें और (नः) हमारा (प्रपणः) अपने पदार्थ को दूसरे के हाथ बेचने के लिये उसका भाव=दर नियत करना और (विक्रयश्च) उसको दूसरे के हाथ बेचदेना और (प्रतिपणः) दूसरे के पदार्थ का स्वयं प्राप्त करने के लिये दर नियत करना ये सब व्यवहार (नः) हमारे लिये (शुनं) शुभ, सुखकारी या अतिशीघ्र (अस्तु) हो जांय। यह सब व्यवहार (मां) मुझ को (फलिनं) बहुत फल लाभ प्राप्त करने में समर्थ (कृणोतु) करे। मध्यस्थ कहता है कि—हे व्यवहार, व्यापार

४-(द्वि०) 'न इममध्वानं यमगामदूरात्' इति ऋ०। (तृ०) 'पणोनो अस्तु' (च०) 'गोधनिः नः कृणोतु' (प्र०) 'संरराणा हविरिदं जुषन्तां' इति पैप्प० सं०।

करने वाले व्यापारियो ! तुम दोनों (इदं हव्यं) इस लेन देन के पदार्थ को (संविदानौ) खूब अच्छी प्रकार से परस्पर सलाह करके (जुषेथां) प्राप्त करो जिससे (नः) हमारा (चरितम्) यह किया हुआ व्यापार या चलान किया गया माल और (उत्थितं च) उठाया हुआ नफा भी (नः शुनं अस्तु) हमें सुखकारी हो ।

येन धनेन प्रपणं चरामि धनेन देवा धनमिच्छमानः ।
तन्मे भूयो भवतु मा कनीयोऽग्ने सातघ्नो देवान् हविषा निषेध ॥५॥

भा०—मैं व्यापारी (धनेन) धन से (धनम्) धन को (इच्छमानः) चाहता हुआ (देवाः) हे विद्वान् उत्तम पुरुषो ! (येन धनेन) जिस धन से (प्रपणं चरामि) व्यापार, विनियम, लेन देन का व्यवहार करता हूं (तत्) वह (मे) मेरा (भूयो भवतु) बहुत अधिक हो जाय । (मा कनीयः) वह कमती न हो । हे (अग्ने) साक्षिन् ! मध्यस्थ या राजन् ! (सातघ्नः) लाभ लेन देन में प्रतिबन्धक (देवान्) देव अधिष्ठातारूप शासक राजपुरुषों को भी (हविषा) उनकी हविः=शुल्क देकर के (निषेध) उनको बाधा डालने से रोक दो ।

येन धनेन प्रपणं चरामि धनेन देवा धनमिच्छमानः ।
तस्मिन् म इन्द्रो रुचिमा दधातु प्रजापतिः सविता सोमो अग्निः ॥६॥

भा०—हे (देवाः) अधिकारिवर्गो ! शासको एवं विद्वान् पुरुषो ! (धनेन धनम् इच्छमानः) धन से और अधिक धन को प्राप्त करने की इच्छा करता हुआ मैं (येन धनेन) जिस धन से (प्रपणं चरामि)

५—'धनेन देवान्' इति लैन्मेनकामितः पाठः ।

६—(प्र०) 'यत् पणेन प्रतिपणं चरामि' (तृ०) 'इन्द्रो मेतस्मिन्नृचमा दधातु बृहस्प०' इति पैप्प० सं० (तृ०) 'सचिमा' हि० गृ० सू० ।

व्यापार करता हूं (तस्मिन्) उसमें (इन्द्रः) ऐश्वर्यशील परमेश्वर या वह राजा (मे) मेरी (रुचिम्) इच्छा और उत्साह को (आ दधातु) और बढ़ावे जो (प्रजापतिः) समस्त प्रजाओं का स्वामी (सविता) सबको उन्नति मार्ग पर प्रेरणा करने वाला (सोमः) सोम=वेद का विद्वान् (सविता) सब का प्रेरक (अग्निः) नेता है ।

उप॑ त्वा नम॑सा व॒यं होत॑र्वैश्वानर स्तु॒मः ।

स नः॑ प्र॒जास्वा॒त्मसु॒ गोषु॑ प्रा॒णेषु॑ जागृहि ॥ ७ ॥

भा०—हे (होतः) दान प्रतिदान करने वाले और हे (वैश्वानर) समस्त पुरुषों में व्यापक परमेश्वर ! (त्वा) तेरी (नमसा) बड़े आदर से (उप स्तुमः) स्तुति करते हैं। (सः) वह तू (नः प्रजासु) हमारी प्रजाओं में, (आत्मसु) हमारे आत्माओं में, (गोषु) हमारी ज्ञान-इन्द्रियों और उनकी चेष्टाओं में और (प्राणेषु) कर्म-इन्द्रियों में (जागृहि) तू सदा जागृत रहता है, तुझे साक्षी करके हम सब व्यवहार करें।

वि॒श्वाहा॑ ते॒ सद॒मिद्भ॑रे॒माश्वा॑येव॒ तिष्ठ॑ते जातवेदः ।

रा॒यस्पोषे॑ण॒ समि॒षा मद॑न्तो॒ मा ते॑ अग्ने॒ प्रति॑वेशा रिषाम ॥ ८ ॥

यजु० ११ । ७२ ॥ अथर्व० १९ । ५५ । १ ॥

भा०—हे (जातवेदः) सर्वज्ञ परमात्मन् या विद्वन् ! जिस प्रकार (तिष्ठते) खड़े हुए (अश्वाय इव) घोड़े के लिये घास दाना बराबर दिया ही जाता है इसी प्रकार (ते) तेरे नाम से भी (सदम् इत्) सदा ही (विश्वाहा) सब दिनों हम धर्मादा रूप से (भरेम) दान करें। और हम (रायस्पोषेण) धनों और पुष्टिकारी पदार्थों से और (इषा) अन्नों से (सम् मदन्तः) खूब हृष्ट पुष्ट होते हुए हे (अग्ने) परमात्मन् या विद्वन् ! (ते

७-(च०) 'अग्ने माते', ' अहरप्रयावं भरन्तोऽश्वायेव तिष्ठते घासमस्मै ' इति यजु० । ' रात्रिं रात्रिमप्रयातं ' इति अथर्व० १९ । ५५ । १० ॥

प्रतिवेशाः) तेरे पड़ोसी बनकर, सदा समीपतम रह कर ही (मा रिषाम) कभी क्लेशित न हों ।

अर्थात् परमात्मा के नाम से या विद्वानों के निमित्त नित्य अपने आप में से कुछ देना चाहिये और उनके समीप रहकर प्रसन्न रहें ।

इति तृतीयोऽनुवाकः ।

[तत्र सूक्तानि पञ्च, ऋचश्चाष्टात्रिंशत् ।]

---

[१६] नित्य प्रातः ईश्वर स्तुति का उपदेश ।

अथर्वा ऋषिः । बृहस्पत्यादयो नाना देवताः । १ आर्षी जगती, ४ भुरिक् पंक्तिः, २, ३, ५–७ त्रिष्टुभः । सप्तर्चं सूक्तम् ॥

प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे प्रातर्मित्रावरुणा प्रातरश्विना ।
प्रातर्भगं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं प्रातः सोममुत रुद्रं हवामहे ॥ १ ॥

यजु० ३४ । ३४ ॥ ऋ० ७ । ४१ । १ ।

भा०—नित्य प्रातःकाल ईश्वर स्तुति करने का उपदेश करते हैं । हम लोग (प्रातः) प्रभातवेला में (अग्निं) उस प्रकाशस्वरूप परमेश्वर को (प्रातः) और प्रभातवेला में ही उस (इन्द्रं) परमैश्वर्यवान्, परमेश्वर को और (प्रातः) प्रातःकाल के अवसर में ही (मित्रावरुणा) प्राण और उदान इन दोनों के समान सर्वशक्तिमान् परमेश्वर को और (प्रातः) प्रभातकाल में ही (अश्विना) गुरु और उपदेशक माता और पिता दोनों को (हवामहे) उपासना करते, आदर करते और व्यवस्थित करते और

---

[१६] १–ऋग्वेदे वसिष्ठ ऋषिः । लिङ्गोक्ता देवताः । 'रुद्रं हुवेम' इति पाठभेदः, ऋ०, पैप्प० सं० । 'भगमुग्रं हुवेम' इति पाठभेदः ऋ०, पैप्प० सं० ।

नमस्कार करते हैं। (प्रातः) प्रभातकाल में ही (भगं) भजन करने योग्य, (पूषणम्) सब के पोषक, (ब्रह्मणस्पतिं) वेद और ब्रह्माण्ड के स्वामी प्रभु को और (प्रातः) प्रभातकाल में ही उस (सोमं) अन्तर्यामी प्रेरक (उत रुद्रं) और पापियों को रुलाने हारे, सर्वरोगनाशक जगदीश्वर को (हवामहे) उपासना करते हैं।

प्रातर्जितं भगमुग्रं हवामहे वयं पुत्रमदितेर्यो विधर्ता ।
आध्रश्चिद् यं मन्यमानस्तुरश्चिद् राजा चिद् यं भगं भक्षीत्याह ॥२॥

यजु० ३४ । ३५ ॥ ऋ० ७ । ४१ । २ ॥

भा०—(प्रातः) प्रातः पांच घड़ी रात्रि रहे तब (जितं) सदा जयशील अथवा (प्रातर्जितं) प्रभातकाल में सब के हृदयों पर वश करने वाले (भगं) सब के सेवन करने योग्य (उग्रं) तेजस्वी, बलशाली (अदितेः पुत्रं) इस आदित्य को भी गिरने से बचाने हारे, परमात्मा को हम (हवामहे) उपासना करते हैं (यः) जो (अदितेः) सूर्य आदि लोकों का (विधर्त्ता) विशेष रूप से धारण करने हारा है और (आध्रः चित्) दरिद्र पुरुष भी और (तुरः चित्) बलशाली, वेगवान् पुरुष भी और (राजाचित्) समृद्ध राजा पुरुष भी (यं भगं) जिस सेवन, भजन करने योग्य ईश्वर को (मन्यमानः) अपना इष्टदेव स्वीकार करता हुआ (भक्षि इति आह) मैं भजन उपासना करूं इस प्रकार कहा करता है।

भग प्रणेतर्भग सत्यराधो भगेमां धियमुदवा ददन्नः ।
भग प्र णो जनय गोभिरश्वैर्भग प्र नृभिर्नृवन्तः स्याम ॥ ३ ॥

ऋ० ७ । ४१ । ३ ॥ यजु० ३४ । ३६ ॥

२–'प्रातर्जितम्' इति पदपाठानुसार्येकम्पदम् । दयानन्दमते तु प्रातरित्येकम्पदं जितमित्येकम् ।

भा०—हे (भग) सेवनीय, भजन करने योग्य ! हे (प्रणेतः) प्रणयन करन हारे, हे सब के रचने हारे सर्वोत्पादक ! हे (सत्यराधः) सत्य ज्ञानवन् ! सत्यधन ! हे भग ! परमेश्वर ! (धियं ददद्) धारणावती बुद्धि को प्रदान करते हुए आप (नः) हमें (उद् अव) उन्नति के मार्ग पर ले चलो । हे भग ! ऐश्वर्यसम्पन्न ! (नः) हमें (गोभिः) गौओं, ज्ञानेन्द्रियों और (अश्वैः) अश्वों और कर्मेन्द्रियों से (प्र जनय) और भी अधिक उन्नत कर । हे (भग) सकल ऐश्वर्य के स्वामिन् ! हम (नृभिः) बहुत से नेता पुरुषों द्वारा (नृवन्तः) सम्पन्न, वीर जनता से युक्त होकर (स्याम) रहें ।

उतेदानीं भगवन्तः स्यामोत प्रपित्व उत मध्ये अह्नाम् ।
उतोदितौ मघवन्त्सूर्यस्य वयं देवानां सुमतौ स्याम ॥ ४ ॥

यजु० ३४ । ३७ ॥ ऋ० ७ । ४१ । ४ ॥

भा०—हे (मघवन्) धन और ज्ञान सम्पन्न ईश्वर (उत) और (इदानीं) इस समय (भगवन्तः) सौभाग्यसम्पन्न (स्याम) हों (उत) और (प्रपित्वे) सायंकाल के समय (उत) और (अह्नाम्) दिनों के (मध्ये) मध्यकाल में (उत) और (सूर्यस्य उदितौ) सूर्य के उदयकाल में भी (वयं) हम (देवानां) देव, विद्वान् जनों के (सुमतौ) शुभ मति, सद्विचारों में उनके अनुकूल (स्याम) रहें ।

भग एव भगवाँ अस्तु देवस्तेना वयं भगवन्तः स्याम ।
तं त्वा भग सर्व इज्जोहवीमि स नो भग पुरएता भवेह ॥ ५ ॥

यजु० ३४ । ३८ ॥ ऋ० ७ । ४१ । ५ ॥

४—'उतोदिता मघवन्' इति पाठभेदः, ऋ० । 'तेन वयं' इति पाठभेदः ऋ० ॥ सर्व इज्जोहवीति ऋग्वेदीयः पाठः । तिङ्तिङो भवन्तीति तिपः स्थाने मिबिति सायणकृतं समाधानम् ।

५—(प्र०) 'देवाः' इति यजुः०, ऋ० ।

भा०—हे (भग) सकल ऐश्वर्यसम्पन्न ! (तं) उस (त्वां) आप को (जोहवीमि) जिस प्रकार मैं उपासना करता हूं उसी प्रकार (सर्व इत्) सब प्राणी ही उपासना करते हैं । (सः) वह आप हे (भग) ईश्वर ! (इह पुरः-एता) हमारे इन सब कामों में प्रथम स्मरण करने योग्य (भव) हो । हे ईश्वर ! आप (भगः) 'भग' ऐश्वर्यस्वरूप इसीलिये हो क्योंकि आप (भगवान्) भगवान् अर्थात् समस्त ऐश्वर्यों से सम्पन्न (देवः अस्तु) देव हो । (तेन) उस आपकी कृपा से (वयं) हम भी (भगवन्तः) ऐश्वर्य से सम्पन्न (स्याम) हो जांय ।

समध्वरायोषसो नमन्त दधिक्रावेव शुचये पदाय ।
अर्वाचीनं वसुविदं भगं मे रथमिवाश्वा वाजिन आ वहन्तु ॥६॥
ऋ० ७ । ४१ । ६ ॥

भा०—उषो देवता । (उषसः) विशोका प्रज्ञाएं प्रातःकाल की उषाओं के समान (अध्वराय) ब्रह्मयज्ञ के लिये उसी प्रकार (सम् नमन्त) प्रकट होती हैं जिस प्रकार (दधिक्रावा) निरन्त ध्यान धारणा करने हारा योगाभ्यासी (शुचये पदाय) शुद्ध ज्योतिर्मय परम पद ब्रह्म के साक्षात्कार के लिये कटिबद्ध होता है । (रथमिव वाजिनः अश्वाः) जिस प्रकार वेगवान् अश्व रथ को ऐसे देश में ले जाते हैं जहां बहुत धन आदि प्राप्त हों ठीक उसी प्रकार (वाजिनः) ज्ञानसम्पन्न उषाएं-पापदाहिका ज्योतिष्मती प्रज्ञाएं (मे) मेरे अणिमादि योगशक्तियों से सम्पन्न (रथं) ईश्वर में रत आत्मा को (अर्वाचीनं) साक्षात् (वसुविदं) आवासयोग्य, शरण के देने हारे (भगं) परमब्रह्म के प्रति (आवहन्तु) ले जांय ।

अश्वावतीर्गोमतीर्न उषासो वीरवतीः सदमुच्छन्तु भद्राः ।
घृतं दुहाना विश्वतः प्रपीता यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥७॥
ऋ० ७ । ४१ । ७ ॥

६–(तृ०) 'भग नो' इति पाठभेदः ऋ०, पैप्प० सं० ।

७–(तृ०) 'प्रपीना' इति तै० ब्रा० । 'प्रवीणाः' इति पैप्प० सं० ।

भा०—उषो देवता। हे (उषासः) पूर्व में प्रभात-प्रकाश के समान ज्योतिष्मती या दहन करने हारी उषारूप प्रज्ञाओ ! आप (अश्वावतीः) अश्व=आत्मा के बल से सम्पन्न एवं (गोमतीः) इन्द्रियों या प्राणों के बल से सम्पन्न [उषापक्ष में] या अश्व-सूर्य से सम्पन्न और गो=किरणों से सम्पन्न (वीरवतीः) वीर=प्राणों से सम्पन्न (भद्राः) कल्याण, सुख-कारिणी होकर (सदम्) मेरे हृदय-प्रदेश को (उच्छन्तु) प्रकाशित करो। (घृतं) प्रकाशमय रूप आत्मा, सत्यज्ञान या आनन्द, अमृतरस को (दुहानाः) परिपूर्ण करती हुई, प्रकट करती हुई (विश्वतः) सब प्रकार से (प्रपीनाः) परिपुष्ट होकर (यूयं) आप (नः) हमें (सदा) निरन्तर सब कालों में (पात) रक्षा करो।

[१७] कृषि और अध्यात्म योग का उपदेश।

विश्वामित्र ऋषिः। सीता देवता। १ आर्षी गायत्री, २, ५, ९ त्रिष्टुभः, ३ पथ्या-पंक्तिः, ७ विराट्पुरोष्णिक्, ८, निचृत्, ३, ४, ६ अनुष्टुभः। नवर्चं सूक्तम्॥

सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वि तन्वते पृथक्।
धीरा देवेषु सुम्नयौ॥ १॥

ऋ० १०। १०। १४॥ यजु० १२। ६७॥

भा०—कृषिविद्या के उपदेश के साथ २ योगद्वारा ब्रह्मप्राप्ति का उपदेश करते हैं। (देवेषु) विद्वान् पुरुषों में (सुम्नयौ) सुख के प्राप्त करने वाले आत्मा रूप क्षेत्र में (कवयः) विद्वान् दूरदर्शी लोग (सीराः)

[१७] १–(तृ०) 'सुम्नया' इति ऋ०, यजु०। ऋग्वेदे (१, २) अनयोर्बुधः सौम्य ऋषिः। विश्वेदेवा ऋत्विजो वा देवताः। तत्रैव (३–९) एतासां वामदेव ऋषिः। शुनः शुनासीरौ सीता च देवताः।

प्राणरूप हलों को (युञ्जन्ति) युक्त करते हैं, और (धीराः) धीर बुद्धि-मान् पुरुष (युगा) योग के अङ्गोंरूप जुओं को (पृथक्) पृथक् २ (वितन्वत) प्राणरूप बैलों के कन्धों पर रखते हैं अर्थात् उनका पृथक् २ अभ्यास करते हैं। उसी प्रकार हे पुरुषो ! तुम भी करो।

महर्षि दयानन्द ने योग समाधिपक्ष में इस प्रकार लगाया है—(कवयः) विद्वान्, क्रान्तदर्शी, क्रान्तप्रज्ञ और (धीराः) ध्यान वाले योगी जन (पृथक्) अलग २ (सीराः) योगाभ्यास द्वारा ब्रह्म की उपासना करने के लिये सीरा=नाड़ियों में अपने चित्त को लगाते हैं अर्थात् परमात्मा का ज्ञान करने का यत्न करते हैं। और जो (युगा) योगयुक्त कर्मों को (वितन्वते) करते हैं वे (देवेषु) विद्वान् जनों में (सुम्नया) सुख से रह कर परमानन्द को प्राप्त करते हैं। (देखो ऋग्वेदादिभाष्य। उपासना-विषय)

अथवा—जिस प्रकार किसान सीर—हलों को जोतते और पृथक् २ बैलों पर जुआ लगाते हैं, धीर लोग सीराः=प्राणों को योगाभ्यास से वश करते हैं और पृथक् उन पर योग की क्रियाओं का अभ्यास करते हैं। और वे धीर=ध्यानी जन (देवेषु) इन्द्रिय गणों पर सुम्नयु=सुख को प्राप्त कराने वाली सुषुम्ना नाड़ी में भी योगाभ्यास करते हैं।

शतपथ में इन मन्त्रों की अध्यात्मव्याख्या करते हुए यह विशेष लिखा है—" स वा आत्मानमेव विकृषति।......एतद्वा अस्मिन् देवाः संस्करिष्यन्तः पुरस्तात्प्राणान् अदधुः तथैवास्मिन्नयमेतत् संस्करिष्यन् पुरस्तात्प्राणान् दधाति। लेखा भवन्ति लेखासु हि इमे प्राणाः।" फलतः—आत्मा ही क्षेत्र है उसमें प्राण ही लेखा है जो उनकी नाना वृत्तियों द्वारा उसमें पृथक् २ वर्तमान है। वे जोड़े हैं दो नाक, दो कान, दो आंख, प्राण—अपान, व्यान, उदान। इन सब देवों में सुम्नयु=सुख के संचारक रूप आत्मा में ही धीर पुरुष अपनी समस्त चित्तवृत्ति का निरोध=योग करते हैं।

युनक्त सीरा वि युगा तनोत कृते योनौ वपतेह बीजम् ।
विराजः श्नुष्टिः सभरा असन्नो नेदीय इत् सृण्यः पक्वमा यवन् ॥२॥

यजु० १२ । ६८ ॥ ऋ० १० । १०१ । ३ ॥

भा०—कृषि कर्म का उपदेश करते हैं (सीरा युनक्त) हलों को जोत लो, (युगा) बैल के जोड़ों को (वितनोत) हल के जुओं में लगाओ और हल चलाओ । और (यौनौ) बीज-उत्पत्ति के स्थान क्षेत्र के (कृते) योग्य हो जाने पर उसमें (बीजम्) बीज को (वपत) बोओ । (विराजः) और जब अन्न की (श्नुष्टिः) सीट्टा या बालें (सभराः) अन्न से पूर्ण (असत्) हो जांय तब (नेदीय इत्) उसके कुछ काल बाद ही (पक्वं) पका अन्न (सृण्यः) दरांती, काटने के हथियार हसुओं से काट कर (आयवन्) प्राप्त करो ।

अन्नं वै विराट् तै० ३ । ८ । १० । ४ ॥ यदा वा अन्नं पच्यतेऽथ ते सृण्या उपचरन्ति श० ७ । २ । २ । ५ ॥

महर्षि दयानन्द अध्यात्म पक्ष में—हे योगिगण ! (युनक्त) योगाभ्यास द्वारा परमात्मा के साथ अपने आत्मा को मिलाओ और आनन्द को प्राप्त करो । (वि तनुध्वम्) मोक्ष सुख को सदा विस्तारित करो । और युग=उपासना युक्त कर्मों को और (सीराः) प्राण रूप आदि से युक्त नाड़ियों को (युनक्त) उपासना कर्म में लगाओ । इस प्रकार (कृते योनौ) अन्तः करण

२—' गिरा च श्रुष्टिः ' इति पाठभेदः, यजुः० । (द्वि०) ' तनुध्वं ' इति ऋ०, यजु० । ' कृते क्षेत्रे ' इति पैप्प० सं० । (तृ०) 'स्नुष्टि' इति क्वचित् । 'श्लुष्टिः, लुष्टि, स्नुष्टिः' इति चान्ये पाठाः । 'स्नुष्टिः' (च०) ' पक्वमायुवन् ' इति पैप्प० सं० । ' पक्वमेयात् ' इति ऋ०, यजु० । ' पक्वमायात ' तै० सं०, मै० सं० । ' इत्सृण्याः ' तै० सं० । 'इच्छ्रिण्याः' इति क्वचित् ।

के शुद्ध कर लेने पर उसमें योगोपासना से विज्ञान के बीज को बोओ और (गिरा च) और परमविद्या वेदवाणी से (युनक्त) युक्त होवो और (श्रुष्टिः) शीघ्र ही योग का फल (नः नेदीयः) हमारे अत्यन्त समीप (असत्) हो, परमेश्वर के अनुग्रह से (पक्वं) शुद्धानन्द स्वरूप सिद्ध परिपक्व फल (एयात्) हमें सब ओर से प्राप्त हो (इत् सृण्यः) और उपासना युक्त योग-वृत्तियां 'सृणी' अर्थात् हंसुओं के समान हैं जो सब क्लेशों को काट डालती हैं। ये वृत्तियां (सभराः) शान्ति और पुष्टि गुणों से सम्पन्न हों, इन वृत्तियों से परमात्म-योग को करो।

लाङ्गलं पवीरवत् सुशीमं सोमसत्सरु ।
उदिद् वपतु गामविं प्रस्थावद् रथवाहनं पीवरीं च प्रफर्व्यम् ॥३॥

यजु० १२ । ७१ ॥

भा०—कृषि से कितने पदार्थ उत्पन्न होते हैं इसका उपदेश करते हैं। (पवीरवत्) सीता या फाली से युक्त या समृद्धि से युक्त (लाङ्गलम्) हल, (सुशीमम्) उत्तम सुख का उत्पादक और (सोमसत्-सरु) सोम= बीज रूप अन्न के स्थापन करने के लिये जो हल चलाया जाता है वह अर्थात् कृषि ही (गाम्) गौओं को, (अविम्) भेड़ों को और (प्रस्थावद्) दूर देश में प्रस्थान करने में समर्थ (रथ वाहनम्) रथों और बैलों और

३–(प्र०) 'पवीरवत् लाङ्गलं', 'सुवेशं सोमपित्सलम्' इति पैप्प० सं०। 'पवीरवं' इति तै० सं०। 'सुशेवं सोमपित्सरु' इति यजु०। 'ददत्कृषते' इति पैप्प० सं०। 'सुमतित्सरु' इति तै० सं०। (तृ०) 'तदुद्वपति' इति यजु०। 'तदित्कृषति, प्रफर्व्यां' इति तै० सं०। लाङ्गलं पवीरवत् सुशेवं सोमपित्सरु। तदुद्वपतिगामविं प्रफर्व्यं च पीवरीं, प्रस्थावद्रथवाहणम्' इति पाठभेदः, यजु०। 'सोमसत्सरु' इति सायणसम्मतः पाठः।

घोड़ों को और (पीवरीम् च) हृष्ट पुष्ट शरीर वाली (प्रफर्व्यम्) स्त्रियों को भी (उद् वपनु इत्) उन्नत किया करता है।

'सोमसत् त्सरु' इति सायण सम्मतः पाठः। आर्ष पदपाठस्तु 'सोम-सत्-सरु'। याजुषः पाठः 'सोमपित्सरु'। पद पाठस्तु 'सोम पि-त्सरु'। उभयत्र उव्वट सायण महीधरैर्व्याकृतिबला=द् व्याचक्षाणैः यद्वेति' संदेहा-स्पदी कृतम्। शतपथे 'सोमपित्सरु' इत्यन्नं वै सोमः। श० ७। २। २। ११॥

अध्यात्म पक्ष में पवी-चेतना या ध्यानवृत्ति से युक्त जो लाङ्गल=हल= प्राण है वही सुख का उत्पादक और 'सोमसत् ब्रह्मास्वाद रस के आश्रयस्थान ब्रह्मरन्ध्र तक जाने वाला है। वही (गाम्) ज्ञानेन्द्रिय (अविं) आत्मा को और (प्रस्थावद्) गति करने हारे, विनाशी, (रथवाहनं) इन्द्रियों सहित शरीर को (पीवरीं) हृष्ट पुष्ट (प्रफर्व्यम्) चेतना शक्ति को भी (उद्वपति) उत्कृष्ट बनाता और उन्नत करता है।

इन्द्रः सीतां नि गृह्णातु तां पूषाभि रक्षतु।
सा नः पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम् ॥ ४ ॥

ऋ० ४। ५७। ७॥

भा०—आध्यात्म कृषि का उपदेश करते हैं। (इन्द्रः) राजा जिस प्रकार (सीतां) कृषि से उत्पन्न हुए कर को स्वयं अपने लिये ग्रहण करता है और (तां पूषा अभिरक्षतु) और 'पूषा=भागदुह्' नामक अधिकारी उसकी रक्षा करता है उसी प्रकार यह (इन्द्रः) आत्मा (सीतां) शरीर मन आत्मा तीनों को एक सूत्र में बांधने वाली प्राण शक्ति चेतना को (निगृह्णातु) व्यवस्थित करे। (पूषा) पोषण स्वभाव वाला प्राण (तां रक्षतु) उसकी रक्षा करे। (सा) वह (पयस्वती) आनन्द रस की वर्षा करने हारी

४-(द्वि०) 'पूषा अनुयच्छतु' इति ऋ०। 'पूषा मंह्य' इति पैप्प० सं०।

ऋतम्भरा कामधेनु (उत्तरां उत्तराम् समाम्) प्रति वर्ष, उत्तरोत्तर अधिक फल देने वाली कृषि के समान (दुहाम्) ब्रह्मानन्द, योग-समाधिजन्य रस को अधिकाधिक उत्पन्न करे ।

शुनं सुफाला वि तुदन्तु भूमिं शुनं कीनाशा अनु यन्तु वाहान् ।
शुनासीरा हविषा तोशमाना सुपिप्पला ओषधीः कर्तमस्मै ॥५॥

पूर्वार्धः पूर्वोर्धेनसमः ॥ ऋ० ४ । ५७ । ८ ॥ यजु० १२ । ६९ ॥

भा०—आध्यात्म योग के तत्व को पुनः कृषि कर्म के दृष्टान्त से उपदेश करते हैं । (सुफालाः) उत्तम, तीक्ष्ण फालिएं, हल के नीचे लगी लोहे की तीक्ष्ण हलिएं (शुनं) खूब तेज़ी से सुख पूर्वक (भूमिं) भूमि को (वितुदन्तु) खोदें । और (कीनाशाः) किसान लोग (शुनं) सुख पूर्वक (वाहान्) अपने हल को वाहने वाले बैलों के पीछे २ (अनु यन्तु) चलें । हे (शुनासीरा) हे शुन और सीर ! वायु और सूर्य तुम दोनों (हविषा[1]) पृथिवीस्थ जल से (तोशमाना[2]) पृथवी को ही सिंञ्चन करते हुए (अस्मै) इस आत्मा के लिये या इस संसार के लिये या हमारे लिये (सुपिप्पलीः) उत्तम फलों से सम्पन्न (ओषधीः) अन्न आदि ओषधियों को (कर्त्तम्) उत्पन्न करो ।

५-(प्र०) 'शुनं नः फाला' इति ऋ० । 'वि कृषन्तु' ऋ०, यजु० । (द्वि०) 'कीनाशो अभ्येतु वाहैः' इति मै० सं० । 'कीनाशा अभियन्तु वाहैः इति ऋ० ।

१. हविषा जलेनेत्युव्वटमहीधरौ ।

२. 'तोषमाणा' इति सायणसम्मतः पाठः । 'शुनं केनाशो अन्वेतु वाहं शुनंफालो विनदन्नयतु भूमिम् । शुनासीरा हविषा यो यजत्रै ! सुपिप्पला ओषधयः सन्तु तस्मै ।' इति पैप्प० सं० ।

अध्यात्म पक्ष में—उत्तम फालियां प्राण ही इस भूमि, क्षेत्र या अन्तःकरण को या अविद्या रूप क्षेत्र को विनाश करें (कीनाशाः) सब अज्ञानों को नाश करने हारे विद्वान् उन प्राणों का अनुयमन करें। या प्राणगण इन्द्रियों के द्वारों में ठीक रीति से गमन करें। शुन=प्राण वायु और सीर अपान वायु दोनों=हविः अर्थात् कर्म योग से वशीभूत होकर इस आत्मा को उत्तम फलसम्पन्न, पापनाशक ज्ञान-ध्यान-वृत्तियों को उत्पन्न करें।

शुनं वाहाः शुनं नरः शुनं कृषतु लाङ्गलम्।
शुनं वरत्रा बध्यन्तां शुनमष्ट्रामुदिङ्गय ॥ ६ ॥

ऋ० ४ । ५७ । ४ ॥

भा०—(वाहाः) वाहन, बैल और घोड़े, (शुनं) सुख पूर्वक हल को खेंचें, (नरः) नेता, हांकने वाले किसान लोग (शुनं) सुख पूर्वक हल चलावें, और (लाङ्गलम्) हल भी (शुनं कृषतु) सुख पूर्व उत्तम रूप से खेत को खोदे। (वरत्राः) रस्सियां भी (शुनं) सुख पूर्वक, मज़बूती से (बध्यन्ताम्) बांधी जांय और (शुनं) खूब उत्तम (अष्ट्राम्) अष्ट्रा=चाबुक को (उद् इङ्गय) ऊपर उठा २ कर चलाओ।

अध्यात्म पक्ष में—(वाहाः) इन्द्रियगण-(नरः) प्राणगण (लाङ्गलं) आत्मा या मुख्य प्राण (वरत्रा) सब से श्रेष्ठ वरण करने योग्य आत्मा के स्वरूप को त्राण करने हारी बुद्धियां, या मनोवृत्तियां, (अष्ट्रा) देह में व्यापक चिति शक्ति।

६–(प्र०) 'शुनं नाराः' तै० आ०। (च०) 'शुनमुष्ट्राम्' इति कचित्। 'वृत्रमायच्छ शुनमष्ट्रामुदिङ्गयः। शुनं तु तप्यतां फालः शुनं वहतु लाङ्गलम्' इति पैप्प० सं०।

शुनांसीरेह स्म मे जुषेथाम् ।
यद्दिवि चक्रथुः पयस्तेनेमामुप सिञ्चतम् ॥ ७ ॥

ऋ० ४ । ५७ । ५ ॥

भा०—(इह) इस देह रूप क्षेत्र में हे (शुनासीरा) वायु और आदित्य के समान प्राण और उदान ! (मे) मुझ आत्म-साधक योगी के (जुषेथाम्) अनुकूल, वशीभूत होकर रहो। (दिवि) द्यौलोक में स्थित (यत् पयः) जिस जलको जिस प्रकार सूर्य और वायु इस पृथ्वी पर बरसा देते हैं उसी प्रकार तुम दोनों भी (यत्) जो (दिवि) मूर्धा स्थान में ब्रह्मरन्ध्र में समाहित हो जाने के कारण होने वाला समाधि जन्य (पयः) आनन्द रस है (तेन इमाम्) उससे इस चितभूमि को (उप सिञ्चतम्) आप्लावित कर दो ।

सीते वन्दामहे त्वार्वाची सुभगे भव ।
यथा नः सुमना असो यथा नः सुफला भुवः ॥ ८ ॥

ऋ० ४ । ५७ । ६ ॥

भा०—हे (सीते) हल के अग्रभाग के समान समस्त देहरूप क्षेत्र को खनन करने (एवं उपयोगी बनाने वाली चिति शक्ति ! (त्वा) तुझ को (वन्दामहे) हम नमस्कार करते हैं, तेरे यथार्थ रूप को वर्णन करते हैं । हे (सुभगे) उत्तम पुष्टि कारक तू (अर्वाची) साक्षात् हमें प्रत्यक्ष (भव) हो (यथा) जिस प्रकार (नः) हमारे लिये तू (सुमनाः) शोभन मनन,

---

७–(प्र०) शुनासीराविमां वाचं जुषेथां यद्दिवि चक्रथुः पयः । ते नेमामुप-सिञ्चतम् ।' इति ऋ० ।

८–' प्रथमद्वितीयपादयोर्व्यत्ययः ' इति ऋ०, (तृ०) ' यथा नः सुभगासति यथा नः सुफलासति ' इति ऋ० ।

ज्ञान वाली (असः) हो और (यथा) जिस प्रकार (नः) हमारे लिये (सुफला) उत्तम मोक्ष सुख रूप फल से युक्त (भुवः) हो ।

जिस प्रकार हल की फाली से सब समृद्धि प्राप्त होती है और फसल भी उत्कृष्ट होती है उस प्रकार चिति शक्ति के साक्षात्कार से योगी को परम आनन्द प्राप्त होता है ।

घृतेन सीता मधुना समक्ता विश्वैर्देवैरनुमता मरुद्भिः ।
सा नः सीते पयसाभ्याववृत्स्वोर्जस्वती घृतवत् पिन्वमाना ॥६॥

यजु० १२ । ७० ॥

भा०—(सीता) हलमें लगी फाली (घृतेन) घृत और (मधुना) मधु से (समक्ता) चुपड़ी गयी और (मरुद्भिः) विद्वान् वैश्यगण और (विश्वैः देवैः) सभी विद्वत् जनों से (अनुमता) उपयोगी रूप से स्वीकृत है । हे सीते ! (सा) वह तू (ऊर्जस्वती) पुष्टिकारक अन्न देनेहारी और (घृतवत्) घी दूध आदि पदार्थों से (पिन्वमाना) सब को तृप्त करती हुई (पयसा) पुष्टिकारक अन्न और जल के सहित (नः अभि-आ-ववृत्स्व) हमारे पास विद्यमान रह ।

[१८] ब्रह्म-विद्या की विरोधिनी अविद्या के नाश का उपदेश ।

अथर्वा ऋषिः । वनस्पतिर्देवता । १-३, ५, अनुष्टुभः, ४ चतुष्पदा अनुष्टुब्-गर्भा उष्णिग्, ६ उष्णिग्गर्भा पथ्यापंक्तिः । षड्ऋचं सूक्तम् ॥

६-(प्र०) 'समज्यताम्', (तृ०) 'अस्मान्' इति यजु० । (च०) 'ऊर्जो भागं मधुमत्पिन्वमाना' इति मै० सं० ।

इमां खनाम्योषधिं वीरुधां बलवत्तमाम् ।
यया सपत्नीं बाधते यया संविन्दते पतिम् ॥ १ ॥

ऋ० १० । १४५ । २ ॥

भा०—इन्द्राणी ऋषिका । उपनिषत्सपत्नीबाधनं देवता । उपनिषद् ब्रह्म विद्या की सपत्नी अविद्या है उसको बाधन=विनाश करने का उपदेश व्यवहारिक सपत्नी के विरोध के दृष्टान्त से स्पष्ट करते हैं । (इमां) इस (ओषधिं) पाप दहन करने के सामर्थ्य वाली (वीरुधां) नाना प्रकार से या विशेष सामर्थ्य से अज्ञान की विरोधिनी, स्वतः उत्पन्न होनेहारी (बलवत्तमाम्) अति वीर्यवती ओषधि के समान इस ऋतम्भरा प्रज्ञा को (खनामि) खोदता हूं, योगसाधनों से प्राप्त करता हूं, (यया) जिससे (सपत्नी) अपने पति हृदयेश्वर आत्मा पर अपना अधिकार जमाने वाली अविद्या को (बाधते) विनाश किया जाता है और (यया) जिसके बल पर (पतिं) उस पालक प्रभु परमेश्वर, को (सं-विन्दते) प्राप्त किया जाता है ।

दृष्टान्त में सर्वांगसाम्य आवश्यक नहीं है । यहां केवल जिस प्रकार सौतको सौत परे हटानी है उसी प्रकार अविद्या को विद्या परे हटावे, यही साम्य है ओषधि के प्रयोगांश में समानता नहीं, प्रत्युत बाधनांश में समानता है ।

उत्तानपर्णे सुभगे देवजूते सहस्वति ।
सपत्नीं मे परा णुद पतिं मे केवलं कृधि ॥ २ ॥

ऋ० १० । १४५ । २ ॥

[१८] ऋग्वेदे इन्द्राणी ऋषिः । उपनिषत्सपत्नीबाधनं देवता । १–‘ वीरुधं ’ इति पाठभेदः ऋ० । (च०) ‘ कृणुते केवलं पतिम् ’ इति पैप्प० सं० । २–‘ सपत्नीं मे पराधम पतिं मे केवलं कुरु ’ इति पाठभेदः ऋ० । ‘उत्तान-पर्णां सुभगां सह मानां सहस्वतीम् ’ इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे (उत्तानपर्णे) उत्तानपर्णा नामक (सुभगे) सौभाग्य देने हारी (देवजूते) विद्वानों से सेवित (सहस्वति) बलदायिके ! (मे) मेरी ब्रह्म-विद्या की सपत्नी अविद्या को (परा णुद) दूर भगा दे और (केवलं) केवल स्वरूप ब्रह्म को ही (मे) मेरा (पतिं) पति, पालक (कृधि) बना दे।

उत्तानपर्णा=उच्च हृदयों में विस्मृत रूप से ब्रह्म-विद्या के पर्ण=प्रज्ञान, रहस्य खुलते हैं इसलिये उस ब्रह्म-विद्या को 'उत्तान-पर्णा' कहा गया है। देवयान से जाने हारे मुमुक्षु उसका सेवन करते हैं इससे वह 'देवजूता' है सहः=बल स्वरूप प्रभु उसके आश्रय हैं इससे वह ' सहस्वती ' है। ' के ' आनन्दे बलनं स्वरूपावगतिर्यस्य स केवलः। वह आनन्द मात्र प्रतीत होने हारा 'केवल' ब्रह्म है।

नहि ते नाम जग्राह नो अस्मिन् रमसे पतौ।
परामेव परावतं सपत्नीं गमयामसि ॥ ३ ॥

ऋ० १० । १४५ । ४ ॥

भा०—हे सपत्नि ! अविद्ये ! (ते नाम) तेरे नाम और स्वरूप को मैं ब्रह्म-विद्या (नहि जग्राह) कभी नहीं ग्रहण करती। और तू (अस्मिन् पतौ) इस परिपालक ब्रह्म में कभी (नो रमसे) रमण भी नहीं करती। और हम विद्यावान् पुरुष भी (सपत्नीम्) तुझ अविद्या को (पराम् एव परावतम्) दूर ही दूर (गमयामसि) हटाया करते हैं।

उत्तराहमुत्तर उत्तरेदुत्तराभ्यः।
अधः सपत्नी या ममाधरा साधराभ्यः ॥ ४ ॥

ऋ० १० । १४५ । ३ ॥

३–(प्र०) ' नह्यस्या नाम गृभ्णामि नोऽस्मिन् रमते जने ' इति ऋ०।

४–(तृ०) ' अथा सपत्नीं ' इति ऋ०। ' उत्तराहमुत्तराभ्य उत्तरो एदधरेभ्यः। अधः सपत्नि सामर्थ्यधरेदधरेभ्यः ' इति पैप्प० सं०। ' उत्तराहामुत्तरे ' इति रोथकामितः पाठः।

भा०—हे उत्तरे ! उर्ध्व लोक में तराने वाली कर्म-विद्ये ! (अहम् उत्तरा) मैं तुझ से भी अधिक उत्कृष्ट लोक में पुरुष को तराती हूं । (उत्त-राभ्यः) ऊर्ध्वगति प्राप्त कराने हारी सभी विद्याओं, कर्म पद्धतियों की अपेक्षा मैं ब्रह्म-विद्या (उत्तरा इत्) उत्कृष्ट ही हूं । और (मम या सपत्नी) मेरी जो विरोधिनी अविद्या अज्ञानरूपिणी मुझ से (अधः) नीचे है (सा अधराभ्यः अधरा) नीचे लेजाने वाली कर्मगतियों से भी नीचे गिराने वाली है ।

अहमस्मि सहमानाथो त्वमसि सासहिः ।
उभे सहस्वती भूत्वा सपत्नीं मे सहावहै ॥ ५ ॥

ऋ० १० । १४५ । ५ ॥ अथर्व० १९ । ३२ । ५ ॥

भा०—हे कर्मविद्ये ! (अहम्) मैं ब्रह्म-विद्या (सहमाना) सब काम, क्रोध आदि शत्रुओं पर विजय प्राप्त करती हूं (अथो) और (त्वम् सासहिः असि) तू भी हे निरन्तर सब आलस्य आदि पर वश करती है । (उभे) हम दोनों (सहस्वती) सहनशील और विजयशील होकर एक हो जांय तो (मे सपत्नी) मेरी विरोधिनी अविद्या को हम दोनों (सहावहै) जीत लें ।

अभि तेऽधां सहमानामुप तेऽधां सहीयसीम् ।
मामनु प्र ते मनो वत्सं गौरिव धावतु पथा वारिव धावतु ॥ ६ ॥

ऋ० १० । १४५ । ६ ॥

भा०—हे अविद्ये ! (ते) तुझे दूर करने के लिये (सहमानां) तुझ अविद्या को विनाश करने वाली इस ब्रह्म-विद्या को (अभि अधाम्)

५–(तृ०) 'भूत्वी' इति पाठभेदः ऋ० ।
६–(प्र०) 'उप तेधां', (द्वि०) 'उपत्वाधां सहीयसा' इति ऋ० ।

सब प्रकार से धारण कर लिया है । और (ते) तुझे (सहीयसीम्) पराजित करने हारी इस कर्म-विद्या को भी (उप अधाम्) गुरुओं के समीप जाकर अभ्यास किया है । हे शिष्य ! (ते मनः) तेरा मन अब अविचल भाव से (वत्सं गौः इव) गाय जिस प्रकार अपने बच्छड़े के पास आ जाती है और (पथा वाः इव) जिस प्रकार खोद कर बनाई गयी नहर के मार्ग से जल धारा दौड़ती है उसी प्रकार (ते मनः) तेरा मन (माम्-अनु) मुझ ब्रह्मवित् पुरुष के अधीन होकर (धावतु) खिंचा आवे ।

[१६] शत्रुओं पर विजय करने के लिये अपने राष्ट्र की शक्ति बढ़ाने का उपदेश ।

वसिष्ठ ऋषिः । विश्वेदेवा उत चन्द्रमा उतेन्द्रो देवता । १ पथ्याबृहती, ३ भुरिग् बृहती, ६ त्र्यवसाना पट्पदा त्रिष्टुप्ककुम्मतीगर्भातिजगती, ७ विराडास्तारपंक्ति, ८ पथ्यापंक्तिः, २, ४, ५ अनुष्टुभः । अष्टर्चं सूक्तम् ॥

संशितं म इदं ब्रह्म संशितं वीर्यं१ बलम् ।
संशितं क्षत्रमजरमस्तु जिष्णुर्येषामस्मि पुरोहितः ॥ १ ॥

यजु० ११ । १ ॥

भा०—पर राष्ट्र की सेना के विजय करने के उपदेश के साथ २ भीतरी अन्तः करण के योग-विघातक अन्तराय, काम क्रोधादि के विजय का उपदेश करते हैं । राष्ट्र के पुरोहित के कर्त्तव्य बतलाते हैं । (मे) मुझ राष्ट्र के पुरोहित का (इदं) यह (ब्रह्म) वेद विज्ञान, ब्रह्मचर्य और

[१९] १—यजुर्वेदे नाभानेदिष्ठ ऋषिः । 'जिष्णुः' इति लेखकप्रमादवशाद्बहुत्र पाठः । 'जिष्णु' इति पञ्चम्यामपि ऋचि पठ्यते । (तृ०) 'जिष्णु' इति सायणाभिमतः पाठः । 'संशितं क्षत्रं जिष्णु यस्याहमस्मि पुरोहितः' इति यजु० । (तृ०) 'क्षत्रं मे जिष्णु' इति पैप्प० सं० ।

ब्राह्मणत्व, (संशितम् अस्तु) भली प्रकार बलवान् और सामर्थ्यवान् रहे, और (वीर्यं बलम्) मेरे राष्ट्र का वीर्य=वीरों के योग्य बल भी (संशितम् अस्तु) खूब प्रबल, तीक्ष्ण और असह्य हो । और (येषां) जिन राष्ट्रवासी राजवंशों का मैं (पुरोहितः) ऐहिक और पारलौकिक कार्यों में पुरोहित आचार्य (अस्मि) हूं उन क्षत्रियों का (क्षत्रम्) क्षात्र बल सेना बल और तेज भी (संशितम्) खूब तीक्ष्ण, उग्र (जिष्णुः) सदा विजय शील और (अजरम् अस्तु) कभी नष्ट न होने वाला रहे ।

समहमेषां राष्ट्रं स्यामि समोजो वीर्यं॒ बलम् ।
वृश्चामि शत्रूणां बाहूननेन हविषाहम् ॥ २ ॥

उत्तरार्धः अथर्व० ६ । ४२ । २ ॥

भा०—(एषां) इन क्षत्रियों के (राष्ट्रम्) राज्य भर को (सं स्यामि= श्यामि) खूब सामर्थ्य युक्त, तीक्ष्ण और प्रबल करता हूं और (ओजः) ओज=जिस बल से शरीर में आत्मा और राष्ट्र में राजा निवास करते हैं और विघ्न बाधा आने पर भी उस शरीर या राष्ट्र में रह कर विघ्न बाधा का मुकाबला किया जाता है उस बल को और (वीर्यं) वीर्य, सामर्थ्य, और (बलम्) बल, सेना-बल को भी (सं स्यामि) खूब तीक्ष्ण करता हूं और (अनेन हविषा) इस प्रकार के पुष्टिकारक हवि=अन्न से जिससे राष्ट्रवासी सेना-बल देश के निमित्त अपना प्राण देने पर तैयार रहें उस हविः=उपाय से (शत्रूणां) शत्रु, राष्ट्र के विनाशक पुरुषों के (बाहून्) बाधा डालने वाले साधनों को (अहम्) मैं (वृश्चामि) काट डालता हूं ।

२–(प्र०) 'श्यामि' इति सायणाभिमतः, ह्विटनिकामितश्च । 'पश्यामि' इति पैप्प० सं० । (द्वि० तृ०) 'वृश्चामि शत्रूणां बाहू समश्वानवानहम्' इति पैप्प० सं० ।

सेना और राष्ट्र सेवकों का उचित वेतन, पुरस्कार, अन्न, और कृपा आदि सब सन्तुष्टि कारक पदार्थ और अन्यान्य उपाय सब 'हविः' शब्द से कह गये हैं।

नीचैः पद्यन्तामधरे भवन्तु ये नः सूरिं मघवानं पृतन्यान्।
क्षिणामि ब्रह्मणामित्रानुन्नयामि स्वानहम् ॥ ३ ॥

उत्तरार्धः यजु० ११ । ८२ तृ० च० ॥

भा०—(ये) जो (नः) हमारे (सूरिं) ज्ञानमार्ग और क्रियामार्ग के उपदेशक, आज्ञापक पुरुष और (मघवानं) धनसम्पन्न पुरुष राजा को (पृतन्यान्) विनाश करने के लिये बड़ी सेनाओं की योजना करें वे (नीचैः) नीचे (पद्यन्ताम्) जा गिरें और वे (अधरे भवन्तु) हमारे नीचे अधीन होकर रहें (अहम्) मैं पुरोहित या राजा स्वयं (ब्रह्मणा) वेद के विज्ञान और ब्राह्मणों की सत् मन्त्रणा के बल से (अमित्रान्) शत्रुओं को (क्षिणामि) विनाश करूं और (स्वान्) अपने पक्ष के पुरुषों को (अहम् उत्-नयामि) मैं उन्नति शील बनाऊं।

तीक्ष्णीयांसः परशोरग्नेस्तीक्ष्णतरा उत।
इन्द्रस्य वज्रात् तीक्ष्णीयांसो येषामस्मि पुरोहितः ॥ ४ ॥

भा०—वे क्षत्रिय लोग (येषाम् पुरोहितः अस्मि) जिनका मैं पुरोहित हूं (परशोः तीक्ष्णीयांसः) फरसे की धार से भी अधिक तीक्ष्ण स्वभाव वाले, शत्रुविनाशक और (उत अग्नेः तीक्ष्णतराः) अग्नि से भी अधिक तीक्ष्ण, तेजस्वी और शत्रु को भस्म करने वाले, उग्र हों और (इन्द्रस्य वज्रात् तीक्ष्णीयांसः) इन्द्र के वज्र=विद्युत् से भी अधिक तीक्ष्ण, प्रबल प्रहार करने हारे हों।

३—(प्र०) 'अवः पद्यन्ताम्' (द्वि०) 'नः इन्द्रन्' इति पैप्प० सं०।
(तृ०) 'क्षिणोमि' इति सायणाभिमतः, यजु०।

एषामहमायुधा सं स्याम्येषां राष्ट्रं सुवीरं वर्धयामि ।
एषां क्षत्रमजरमस्तु जिष्ण्वेषां चित्तं विश्वेऽवन्तु देवाः ॥ ५ ॥

भा०—जिनका मैं पुरोहित हूं (एषाम् आयुधा) उन राष्ट्रवासी वीरों के हथियारों को (संस्यामि) खूब तीक्ष्ण, प्रबल सामर्थ्यवान् बनाऊं। (एषाम्) इनके (सुवीरम् राष्ट्रम्) उत्तम वीरों से परिपूर्ण राष्ट्र को (वर्धयामि) खूब उन्नत, परिपुष्ट करूं। जिससे (एषां क्षत्रम् अजरम्) इनका क्षात्र बल अजर, अविनाशी और (जिष्णु अस्तु) सदा विजयशील हो और (विश्वे देवाः) राष्ट्र के सब विद्वान् विचार शील पुरुष और अधिकारी गण (एषां) इनके (चितम्) चित्त, हृदय को (अवन्तु) रक्षा करें, इनके दिल न टूटने दें। सदा सद्-विचारों और उत्साह वृद्धि द्वारा उनके चित्तों को उत्साही, धीर, और दृढ़ बना कर कभी निराश न होने दें।

उद्धर्षन्तां मघवन् वाजिनान्युद् वीराणां जयतामेतु घोषः ।
पृथग् घोषा उलुलयः केतुमन्त उदीरताम् ।
देवा इन्द्रज्येष्ठा मरुतो यन्तु सेनया ॥ ६ ॥ ऋ० १० । १० । ३ । १० ॥

भा०—हे (मघवन्) ऐश्वर्य सम्पन्न ! राजन् ! (वाजिनानि) वेगवान् घोड़े (उद् हर्षन्ताम्) खूब हृष्ट होकर हिन-हिनावें (जयतां) विजयशील (वीराणां) वीर पुरुषों का (घोषः) सिंहनाद (उद् एतु)

५–(प्र०) 'श्यामि' सायणाभिमतः, पैप्प० सं० । (द्वि०) 'वर्धयस्व' (च०) 'उग्रम् एषां चित्तं बहुधा विश्वरूपा' इति पैप्प० सं० ।

६–ऋग्वेदे अप्रतिरथ ऐन्द्र ऋषिः । 'उद्धर्षय मघवन्नायुधान्युत्सत्वनां मामकानां मनांसि । उद्वृत्रहन् वाजिनां वाजिनान्युद्रथानां जयतां यन्तु घोषाः ।' इति ऋ० ॥ उद्धर्षन्तावाजिनां वाजिनान्युद् वैराणां जयतामेतु घोषः पृथग्घोष उलुलय केतुमन्त उदीरताम् इति पैप्प० सं० ।

ऊपर उठे, आकाश को गुंजावे। (केतुमन्तः) विजय सूचक झण्डों सहित (उलुलयः घोषाः) विजय नाद प्रदर्शक नाना प्रकार की हर्षध्वनियां (पृथक्) अलग २ समस्त राष्ट्र में (उद् ईरताम्) उठें। (इन्द्र-ज्येष्ठाः देवाः) इन्द्र=राजा को सब से मुख्य रखने वाले राष्ट्र के अधिकारी गण (मरुतः) और सेना के अध्यक्ष या वायु के समान तीव्रगति, शत्रुमारक सैनिक (सेनया) अपनी सेना सहित (यन्तु) मैदान में आवें।

प्रेता जयंता नर उग्रा वः सन्तु बाहवः।
तीदणेषवोबलधन्वनो हतोग्रायुधा अबलानुग्रबाहवः ॥ ७ ॥

पूर्वार्धः ऋ० । १० । १०३ । १३ (प्र० तृ०) ॥ यजु० १७ । ४६ ॥

भा०—हे (नरः) नेता लोगो ! (प्र इत) आगे बढ़ो (जयत) विजय करो (वः) तुम्हारी (बाहवः) बाहुएं (उग्राः सन्तु) खूब बलशाली और शत्रुओं को विनाश करने में भयंकर हो उठें। और आप लोग (तीक्ष्ण-इषवः उग्र-आयुधः) तीक्ष्ण धनुष बाण और भयंकर २ हथियार धारण कर (उग्र-बाहवः) प्रचण्ड-बाहु होकर (अबल-धन्वनः) कच्चे निर्बल धनुष वाले, अबलान्, निर्बल शत्रुओं को (हत) विनाश करो।

अवसृष्टा परा पत शरव्ये ब्रह्मसंशिते।
जयामित्रान् प्र पद्यस्व जह्येषां वरंवरं मामीषां मोचि कश्चन ॥८॥

ऋ० ६ । ७५ । १६ ॥ यजु० २७ । ४५ ॥

७–ऋग्वेदे, अप्रतिरथ ऐन्द्र ऋषिः (द्वि०) 'इन्द्रो वः शर्मयच्छतु' (च०) 'अनाधृष्या यथासथ' इति ऋ० यजु० (प्र०) 'उपप्रेता जयताना स्थिरा वः' इति तै० सं०। 'प्रयता जयता नर उग्रा वः सन्तुबाहवः। इन्द्रोवः शर्म-यच्छतु अनाधृष्या यथासथ' इति पैप्प० सं०।

८–ऋग्वेदे पायुर्भारद्वाज ऋषिः। इषवो देवता। (तृ०) 'गच्छामित्रान्' (च०) 'मामीषां कञ्चनोच्छिषः' इति ऋ०, यजु०। 'अवसृष्टः परापत शरो ब्रह्म-संशितः।' आ० श्रौ० सू०।

भा०—हे (ब्रह्म-संशिते शरव्ये) ब्रह्म=वेद ज्ञान और विचार के अनुसार तीक्ष्ण, प्रबल और उग्र बनाये हुए बाण, (अवसृष्टा) धनुष से छूट कर (परापत) दूर जा अर्थात्=हे क्षत्रिय धनुर्धारी तू ब्राह्मण गुरुओं से खूब शिक्षित होकर शत्रु पर जा पड़ । और (अमित्रान् जय) शत्रुओं पर विजय कर, (प्र पद्यस्व) उनमें घुस जा, (एषाम् वरम्-वरम्) इनमें से उत्तम उत्तम, प्रधान २ पुरुष को (जहि) विनाश कर, (आमीषां कः चन मा मोचि) इनमें से किसी को मत छोड़, किसी को बचा न रहने दे ।

[२०] ईश्वर से उत्तम ऐश्वर्य और सद्-गुणों की प्रार्थना ।

वसिष्ठ ऋषिः । अग्निर्वा मन्त्रोक्ता नाना देवताः । १–५ ७, ९, १० अनुष्टुभः, ६ पथ्या पंक्तिः, ८ विराड्जगती । दशर्चं सूक्तम् ॥

अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातो अरोचथाः ।
तं जानन्नग्न आ रोहाधा नो वर्धया रयिम् ॥ १ ॥

ऋ० ३ । २९ । १० ॥ यजु० ३ । १४ ॥

भा०—ऋग्वेदे विश्वामित्र ऋषिः । अग्नि देवता । हे (अग्ने) आत्मन्! (ते) तेरा (अयं) यह (ऋत्वियः) ऋतु के अनुसार, गर्भ ग्रहण काल में ही उत्पन्न हुआ (योनिः) उत्पत्ति स्थान है (यतः जातः) जहां से उत्पन्न होकर तू (अरोचथाः) खूब प्रदीप्त होता है । हे अग्ने ! (तं) उस परमात्मा का ज्ञान करके ही (आरोह) तू उन्नति के मार्ग पर चढ़ (अध) और (नः) हम इन्द्रियगण के (रयिम्) पुष्टिकारक प्राण और देह भाग को (वर्धय) पुष्ट करो ।

[२०] १-(द्वि०) 'असीदथाः' (च० 'वर्धया गिरः' ऋ० यजु० ।

अग्ने अच्छा वदेह नः प्रत्यङ् नः सुमना भव ।
प्र णो यच्छ विशां पते धनदा असि नस्त्वम् ॥ २ ॥

ऋ० १० । १४१ । १ ॥ यजु० ९ । २८ ॥

भा०—अग्निस्तापस ऋषिः । विश्वेदेवा देवताः । हे (अग्ने) परमात्मन् या विद्वन् ! (इह) इस संसार में (नः) हमें (अच्छा) उत्तम रीति से (वद) उपदेश करो और (नः) हमारे (प्रत्यङ्) प्रति आकर (सु-मनाः) शुभ-संकल्प होकर (भव) रहो । हे (विशां-पते) समस्त प्रजाओं के पालक परमात्मन् ! (त्वं) आप (नः धनदा असि) हमें सब प्रकार का धन देने हारे हो, अतः (नः प्रयच्छ) हमें वह सब ऐश्वर्य प्रदान करो ।

प्र णो यच्छत्वर्यमा प्र भगः प्र बृहस्पतिः ।
प्र देवीः प्रोत सूनृता रयिं देवी दधातु मे ॥ ३ ॥

ऋ० १० । १४१ । २ ॥ यजु० ९ । २९ ॥

भा०—(अर्यमा) प्रजाओं का नियन्ता न्यायकारी (नः रयिं प्र यच्छतु) हमें नियमन बल और समृद्धि दे । (भगः) सर्वैश्वर्यवान् परमेश्वर (प्र यच्छतु) हमें धन दे । (बृहस्पतिः) ज्ञानों का स्वामी या वेद वाणी का पति प्रभु हमें (प्रयच्छतु) हमें वेद का विज्ञान दे । (देवीः) दिव्यगुणों वाली प्रभु की शक्तियां हमें (प्र यच्छन्तु) दिव्य शक्तियों का प्रदान करें । और (सूनृता देवी) शुभ ऋत-सत्य वेदवाणी स्वयं (मे) हम में सत्य ज्ञान (दधातु) धारण करावे ।

२–(तृ०) 'प्र नो यच्छ विशस्पते' इति ऋ० । 'भुवस्पते' इति तै० सं० । 'सहस्रजित्' इति यजु० । (च०) 'त्वंहि धनदा असि' इति यजु० । (द्वि०) 'प्रतिनः' इति यजु० ।

३–(च०) 'रायो देवी ददातु नः' इति ऋ० । (द्वि०तृ० च०) प्र पूषा बृहस्पतिः । प्र वाग् देवी ददातु नः स्वाहा इति यजु० ।

सोमं राजानमवसेऽग्निं गीर्भिर्हवामहे ।
आदित्यं विष्णुं सूर्यं ब्रह्माणं च बृहस्पतिम् ॥ ४ ॥

ऋ० १० । १४१ । ३ ॥ यजु० ९ । २६ ॥ साम० १ । ९१ ॥

भा०—(अवसे) अपनी रक्षा के लिये (अग्निम्) ज्ञान के प्रकाशक (सोमं) संसार के उत्पादक और प्रेरक (राजानम्) सब से अधिक प्रकाशमान् एवं सब पर राजा के समान शासक (आदित्यम्) सूर्य के समान सब को रस देने और सब के आकर्षण करने हारे (विष्णुम्) सर्व व्यापक (ब्रह्माणम् च) और सब से बड़े (बृहस्पतिम्) और समस्त ब्रह्माण्ड और वेदादि विज्ञान के स्वामी प्रभु को (गीर्भिः) वाणियों द्वारा (हवामहे) हम वर्णन करते और स्तुति करते हैं ।

त्वं नो अग्ने अग्निभिर्ब्रह्म यज्ञं च वर्धय ।
त्वं नो देव दातवे रयिं दानाय चोदय ॥ ५ ॥

ऋ० १० । १४१ । ६ ॥ यजु० ९ । २६ ॥

भा०—हे-अग्ने ! परमात्मान् (त्वं) आप (नः) हमें और हमारे (ब्रह्म) वेद के जानने हारे विद्वान् ब्राह्मणों और (यज्ञं च) वैदिक उत्तम यज्ञ कर्म को (अग्निभिः) विद्वान् पुरुषों द्वारा (वर्धय) बढ़ाओ । हे (देव) परमात्मन् (नः) हमारे में से (दातवे) दानशील पुरुषों को भी (दानाय) और अधिक दान करने के लिये (रयिं) धनादि ऐश्वर्य का (चोदय) प्रदान करो ।

४–(तृ०) 'आदित्यान्' इति ऋ० । (प्र०) 'वरुणमग्ने' इति साम० । (द्वि०) 'अन्वारभामहे' इति यजु० ॥

५–(तृ०) 'देवतातये रायो' इति ऋ० । पैप्प० सं० । 'देवदानवे' इति सायणाभिमतः पाठः ।

इन्द्रवायू उभाविह सुहवेह हवामहे ।
यथा नः सर्व इज्जनः संगत्यां सुमना असद् दानकामश्च नो भुवत् ६

यजु० ३३ । ८६ ॥ ऋ० १० । १४१ । ४ ॥

भा०—हे (इन्द्र-वायू) सूर्य और वायो ! (उभौ) आप दोनों (इह) इस लोक में (सु-हवा) उत्तम रीति से अपनी शक्ति से दूसरे को जीवन और प्राणों का दान करते हो, अतः हम आप दोनों के (इह) इस कार्य में (हवामहे) गुणों का कीर्त्तन करते हैं (यथा) जिससे (नः) हम में (सर्व इत् जनः) सभी लोग (सं-गत्याम्) परस्पर के मेलजोल में (सुमनाः) उत्तम चित्त वाले हों और (नः) हममें सब लोग (दानकामः च) दान देने की इच्छा वाले (भुवत्) हों ।

अर्यमणं बृहस्पतिमिन्द्रं दानाय चोदय ।
वातं विष्णुं सरस्वतीं सवितारं च वाजिनम् ॥ ७ ॥

ऋ० १० । १४१ । ५ ॥ यजु० ९ । २७ ।

भा०—हे परमात्मन् ! आप (अर्यमणम्) न्यायकारी प्रजा के नियन्ता को (बृहस्पतिम्) वेद के पारिपालक विद्वान् को और (इन्द्रम्) ऐश्वर्यशील राजा को (दानाय) हमारे इष्ट धनादि सामर्थ्य दान करने के लिये (चोदय) प्रेरित कर । इसी प्रकार (वातम्) सब के प्रेरक प्राण रूप वायु (विष्णुम्) सर्व व्यापक आकाश (सरस्वतीम्) सर्व रसमय, ज्ञानमय वेद वाणी और (वाजिनम्) बल ज्ञान और अन्न के दाता (सवितारम्) सूर्य को भी प्रेरित करे कि वे हमें अपनी शक्तियों से बलवान करें ।

६–(प्र०) 'इन्द्रवायू बृहस्पति' इति ऋ० 'इन्द्रवायू सुसंदृशा (च०) 'नोदय' इति यजु० । (च०) 'सर्वइज्ज नः अनमीवाः संगमे' इति यजु० । 'यथानः सर्वमिज्जगत् अयक्ष्मं सुमना असत्' तै० सं० ।

७–(तृ०) 'वाचं विष्णु' । इति यजु० ॥

वाजस्य नु प्रसवे सं बभूविमेमा च विश्वा भुवनान्यन्तः ।
उतादित्सन्तं दापयतु प्रजानन् रयिं च नः सर्ववीरं नि यच्छ ॥८॥

यजु० ९ । २५ । २४ ॥

भा०—हम (वाजस्य प्रसवे) ज्ञान और बल के उत्पन्न करने में (सम् बभूविम) उत्तम रूप से समर्थ हों और (इमा च विश्वा भुवनानि) और ये समस्त भुवन भी (अन्तः) उसी समस्त ज्ञान-बलोत्पादक परमात्मा के भीतर ही उत्पन्न होकर समर्थ होते हैं । (उत) और हे परमात्मन् आप (प्रजानन्) सर्वज्ञ, सब कुछ जानते हुए (अदित्सन्तम्) न दान करने वाले पुरुष से भी (दापयतु) दान कराया करें । और (नः) हमें (सर्ववीरं) सब प्रकार के वीर, श्रेष्ठ, बलवान् पुत्रों से युक्त धन सम्पत्ति को (नि यच्छ) प्रदान करें ।

दुह्रां मे पञ्च प्रदिशो दुह्रामुर्वीर्यथा बलम् ।
प्रापेयं सर्वा आकूतीर्मनसा हृदयेन च ॥ ९ ॥

भा०—(पञ्च प्रदिशः) पांचों मुख्य दिशाएं अथवा पांचों गुरु पितृ स्थानीय, पांचों शिक्षक माता, पिता, गुरु, आचार्य, सुहृद् और बन्धु इस प्रकार का (बलम्) ज्ञान, बल प्रदान करें और (उर्वीः) छहों उर्वी, द्यौ, पृथिवी, दिन, रात्रि, जल और औषधि ये छहों महान् दिव्य शक्तियां (बलम् दुह्राम्) मुझे बल से परिपूर्ण करें (यथा) जिससे मैं (मनसा) अपने ज्ञान सामर्थ्य, मनन संकल्पों द्वारा (हृदयेन च) और हृदय से (सर्वाः) सब प्रकार की (आकूतीः) शुभ मतियों, ज्ञानों को (प्र आपेयम्) प्राप्त होऊं ।

८–(तृ०) 'दापयति' (च०) 'सनो रयिं सर्व' इति यजु० । 'सर्ववीराम्' इति तै० सं० ।

गो॒सनिं॒ वाच॑मुदेयं॒ वर्च॑सा मा॒भ्युदि॑हि ।
आ रु॑न्धां स॒र्वतो॑ वा॒युस्त्वष्टा॒ पोषं॑ दधातु मे ॥ १० ॥

भा०—मैं (गोसनिं) गौ=वाणी, ज्ञान, आत्मा और परमेश्वर और वेद, वाणी को भजन करने हारी (वाचम्) वाणी का (उदेयं) उच्चारण करूं । हे परमात्मन् (मा वर्चसा) मुझ को ब्रह्म तेज से (अभि उत्-इहि) और भी उन्नत कर । (सर्वतः) सब प्रकार (वायुः) सब का विधारक परमात्मा (मे) मुझे (आ रुन्धाम्) सब बुरे मार्गों में जाने से बचावे । (त्वष्टा) सब पदार्थों का उत्पादक परमात्मा (मे) मेरा (पोषं दधातु) पोषण करे ।

इति चतुर्थोऽनुवाकः ।

[तत्र पञ्च सूक्तानि, ऋचश्च चत्वारिंशत् ।]

[२१] लोकोपकारक अग्नियों का वर्णन ।

वसिष्ठ ऋषिः । अग्निर्देवता । १ पुरोऽनुष्टुप्, २, ३, ८ भुरिजः, ५ जगती ६ उपरिष्टाद्-विराड् बृहती, ७ विराड्गर्भा, ९ निचृदनुष्टुप्, १० अनुष्टुप् । दशर्चं सूक्तम् ॥

ये अ॒ग्नयो॑ अ॒प्स्व१॒॑न्तर्ये वृ॒त्रे ये पुरु॑षे॒ ये अश्म॑सु ।
य आ॑वि॒वेशौष॑धी॒र्यो वन॒स्पतीं॒स्तेभ्यो॑ अ॒ग्निभ्यो॑ हु॒तम॑स्त्वे॒तत् ॥१॥

भा०—ये (अग्नयः) जो अग्नियां (अप्सु अन्तः) जलों के भीतर समुद्र में वाड़वाग्नि रूप में और जलों में उद्रजन के रूप में हैं और (ये

१०-(तृ०) 'आरुधाम्' इति क्वचित् ।

[२१] १-यो अप्स्वन्त र्यो वृत्रेऽन्तर्यः पुरुषे योश्मनि । यो विवेश ओषधी०, इति पैप्प० सं० । 'आविवेशौषधी' इति मै० सं० ।

वृत्रे) जो अग्नियां वृत्र–आवरण कारी मेघ में विद्युत् रूप से हैं और (ये) जो (पुरुषे) पुरुषों में ज्ञान रूप से, उत्साह, बल पराक्रम और जठराग्नि रूप से या विद्वान् आत्मा और इन्द्रिय रूप से वर्त्तमान हैं (ये अश्मसु) और प्रस्तरों में और (ये) जो (ओषधीः) रोग नाशक वनस्पतियों में रस रूप से और (यः) जो (वनस्पतीन्) वनस्पतियों में (आ-विवेश) प्रविष्ट है (तेभ्यः) उन (अग्निभ्यः) सब अग्नियों के लिये (एतम्) यह इस प्रकार (हुतम्) उचित प्रयोग (अस्तु) हो।

यः सोमे अन्तर्यो गोष्वन्तर्य आविष्टो वयःसु यो मृगेषु ।
य आविवेश द्विपदो यश्चतुष्पदस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥२

भा०—(यः) जो अग्नि (सोमे अन्तः) सोम के भीतर हर्षोत्पादक रस शक्ति रूप, (यः गोषु) जो गौओं में दुग्धरूप से (यः वयःसु) और जो पक्षियों में कालोत्पात प्रदर्शक (यः मृगेषु) सहन, बल और साहस रूप से (यः) जो (द्वि-पदः) मनुष्यों और (चतुः-पदः) चौपायों के भीतर वैश्वानर आत्मा, जीवन, और चैतन्य रूप से (आ-विवेश) आविष्ट है । (तेभ्यः सर्वेभ्यः एतत् हुतम् अस्तु) उन सब के लिये मेरा यह इस प्रकार का उचित दान या प्रयोग हो ।

य इन्द्रेण सरथं याति देवो वैश्वानर उत विश्वदाव्यः ।
यं जोहवीमि पृतनासु सासहिं तेभ्यो० ॥ ३ ॥

भा०—(यः) जो (वैश्वानरः) समस्त नरों में निवास करने वाला

२–(द्वि०) 'वयांसि य आविवेश,' इति मै० सं० । 'यो विष्टो वयसि' पैप्प० सं० ।

३–(प्र०) 'येनेन्द्रस्य रथं सम्बभूवुः' इति काठक० । 'येनेन्द्रण सरथं संबभूवे' (द्वि०) 'उत विश्वदेव्यः' इति पैप्प० सं० । (द्वि०) 'उत विश्वदेव्यः' इति ह्विटनिकामितः पाठः ।

जीवात्मा (देवः) देव (इन्द्रेण) इन्द्र-प्राण या परमात्मा के साथ (सरथं) एक ही रूप देह में याति उसके साथ मिलता है (उत) और वही (विश्वदाव्यः) समस्त जगत् में, बन में, अग्नि के समान चेतना रूप से, कर्म-धन्धन के दाहक रूप में विद्यमान है अथवा (यः देवः वैश्वानरः) जो सर्वव्यापक परमात्म देव (इन्द्रेण सरथं याति) इन्द्र=इस आत्मा के साथ इस देह या विश्व में विद्यमान है (उत विश्व-दाव्यः) और समस्त संसार को बन में लगी आग के समान प्रलयकाल में भस्म करने हारा कालाग्नि स्वरूप है, (यं सासहिं) जिस सहनशील, सबके वशकर्त्ता ईश्वर को (पृतनासु) समस्त जीवों में (जोहवीमि) हम स्मरण करते हैं (तेभ्यः अग्निभ्यः हुतम् अस्तु एतत्) उन सब तेज स्वरूप आत्माओं को यह मेरा त्याग किया हवि पदार्थ उपकार कहो।

यो देवो विश्वाद् यमु काममाहुर्यं दातारं प्रतिगृह्णन्तमाहुः ।
यो धीरः शक्रः परिभूरदाभ्यस्तेभ्यो० ॥ ४ ॥

भा०—(यः देवः) जो देव (विश्वाद्) समस्त संसार को प्रलयकाल में ग्रास कर जाता है। (यं उ कामम् आहुः) और जिसको समस्त संसार में व्यापक समष्टि इच्छा शक्ति का प्रति रूप, 'काम' स्वरूप विद्वान् बतलाते हैं (यं दातारं) और जिसको सबको सब पदार्थों का दाता होते हुए भी (प्रतिगृह्णन्तम् आहुः) सबका दिया भक्ति उपहार अथवा प्रलयकाल में सर्व संसार को अपने भीतर स्वीकार करता हुआ बतलाते हैं। और (शक्रः) शक्ति सम्पन्न (धीरः) धारणा और ध्यान से सम्पन्न एवं सब का पालक पोषक और (अदाभ्यः) किसी से पराजित एवं हिंसित न होने

४–(प्र०) 'विश्वादमग्निं यमु' इति मै० सं०, 'हुतादमग्निं यमु' इति काठः। (द्वि०) 'प्रतिग्रहीतारमाहुः' मै० सं०। काठ०। (तृ०) 'धीरोयः' इति मै० सं०। (प्र०) 'यमु काममाह' इति पैप्प० सं०।

वाला अद्वितीय (परिभूः) सब पर वशकर्त्ता और सर्वव्यापक है (तेभ्यो-अग्निभ्यः हुतम् अस्तु एतत्) इन सब गुण विशिष्ट अग्नि=परमात्मा की शक्तियों को मेरा स्मरण और त्याग प्राप्त हो। देखो कामसूक्त [अथर्व० का० ९ सू० २ ॥]

विश्वात्—अत्ता चराचरग्रहणात् । वेदान्तसूत्रम् । परमात्माका नाम 'अत्ता' है वह चराचर संसार को प्रलयकाल में खा जाता है । " कामोऽस्मि भरतर्षभ " और "प्रजनश्चास्मि कंदर्पः" इत्यादि गीता ।

यं त्वा होतारं मनसाभि संविदुस्त्रयोदश भौवनाः पञ्च मानवाः । वर्चोधसे यशसे सूनृतावते तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥५॥

भा०—हे परमात्मन् ! (यं होतारं त्वा) सब विश्व को ग्रहण करने एवं प्रलयाग्नि या अपने ही कालाग्नि स्वरूप में आहुतिरूप से डाल देने हारे तुझको विद्वान् लोग (मनसा अभि) अपनी मनः शक्ति, मानस योग से (अभि सं विदुः) साक्षात् ज्ञान करते हैं । (त्रयोदश भौवनाः) तेरह भौवन संवत्सर के अवयव १३ मास और (पञ्च मानवाः) पांच मनु की कलियत वसन्त आदि पांच ऋतुएं जिस प्रकार संवत्सर को अपने में व्यापक एक रूप करके तन्मय हुए रहते हैं उसी प्रकार विश्वकर्मा आदि १३ भौवन=सृष्टिकर्त्ता परमेश्वर की विशेष शक्तियां और पांच मानव अर्थात् शरीरगत् प्राणों के समान समष्टि में पांच तत्व जिसको अपने में व्यापक पाते हैं उस (वर्चोधसे) तेज, प्रकाश को धारण करने हारे (यशसे) महान यशः स्वरूप महामहिम, (सूनृतावते) वेद वाणी के स्वामी उस प्रभु के लिये (तेभ्यः अग्निभ्यः मम एतत् हुतम् अस्तु) और उसकी अग्निरूप अन्य शक्तियों को मेरा यह त्यक्त, आहुत पदार्थ उपकारक हो ।

५–(द्वि०) 'भुवना: पञ्च' इति पैप्प० सं० ।

उ॒क्षान्ना॑य व॒शान्ना॑य॒ सोम॑पृष्ठाय वे॒धसे॑।
वै॒श्वा॒न॒रज्ये॑ष्ठेभ्य॒स्तेभ्यो॑ अ॒ग्निभ्यो॑ हु॒तम॑स्त्वे॒तत् ॥ ६ ॥

पूर्वार्धः ऋ० ८। ४३। ११ (प्र० द्वि०)॥

भा०—हे वैश्वानर! (उक्ष-अन्नाय) उक्षा=शरीर को एवं समष्टि रूप से समस्त ब्रह्माण्ड को वहन करने वाले आत्मा को अपना अन्न=प्राप्य विषय बनाने वाले भक्त योगीजन, (वशा-अन्नाय) वशा=सब संसार को समष्टि, व्यष्टिरूप से वश करने वाली जीव=चेतना शक्ति को अपना अन्न=मानस भोजन बनाने हारे और (वेधसे) संसार के पदार्थों को रचना करने वाले (सोम-पृष्ठाय) आनन्द स्वरूप आनन्द का आस्वादन करने वाले (वैश्वानर-ज्येष्ठेभ्यः) और वैश्वानर समस्त लोकों में व्यापक ब्रह्म जिन में सब से श्रेष्ठ है (तेभ्यः अग्निभ्यः हुतम् अस्तु एतत्) उन जीवन मुक्त, ज्येष्ठ ज्ञानी आत्माओं के लिये मेरा यह समस्त त्याग—आहुति स्वीकार हो।

दिवं॑ पृथि॒वीमन्व॒न्तरि॑क्षं॒ ये वि॒द्युत॑मनुसं॒चर॑न्ति।
ये दि॒क्ष्व॑न्तर्ये वाते॑ अ॒न्तस्तेभ्यो॑ अ॒ग्निभ्यो॑ हु॒तम॑स्त्वे॒तत् ॥७॥

भा०—और (ये दिवं) जो द्यौ लोक में, आदित्य और दिव्य विज्ञान के पीछे और (पृथिवीम्) पृथिवी और पार्थिव लोक रचना सम्बन्धी विज्ञान के पीछे और जो (अन्तरिक्षं) अन्तरिक्ष, वायु विद्या के पीछे और (ये विद्युतम्) जो विद्युत् विद्या के पीछे २ (अनु सं चरन्ति) ज्ञान मार्ग से उनका अनुसरण करते, ज्ञान खोजते और उनका प्रयोग करते हैं और (ये दिक्षु अन्तः) जो दिशाओं के और (ये वाते) जो वात=प्रचण्ड वायु के ज्ञान में ही संलग्न हैं (तेभ्यः अग्निभ्यः हुतम् अस्तु एतत्) उन ज्ञानमय विद्वान् रूप अग्नियों के लिये हमारी त्याग रूप आहुति हो।

हिर॑ण्यपाणिं सवि॒तार॒मिन्द्रं॒ बृह॒स्पतिं॒ वरु॑णं मि॒त्रम॒ग्निम्।
विश्वा॑न् दे॒वानङ्गि॑रसो हवामह इ॒मं क्र॒व्यादं॑ शमयन्त्व॒ग्निम् ॥८॥

भा०—(हिरण्य पाणिं) सुवर्ण को हाथ में लिये, धनाढ्य (सवितारं) किरणों से सम्पन्न, सूर्य के समान सब के प्रेरक (बृहस्पतिं) वेद विद्या के विद्वान्, (वरुणं) सबसे श्रेष्ठ, या पापियों के निवारक, (मित्रम्) जनता को मृत्यु से बचाने वाले, (अग्निम्) आगे २ मार्ग दिखाने वाले विद्वान् और (आंगिरसः) अंग २ विद्याओं में पारंगत या अंग=शरीर के भीतर व्यापक रसों के विज्ञान को जानने हारे आयुर्वेद के ज्ञाता (विश्वान् देवान्) समस्त विद्वानों को (हवामहे) हम एकत्र करके उनसे प्रार्थना करते हैं कि (इमम्) इस (क्रव्य-अदम् अग्निम्) क्रव्याद=नर देह को खाजाने वाली मृत्यु या श्मशानाग्नि एवं जनता में फैली हुई मृत्युकारी विपत्ति को (शमयन्तु) शान्त करें, राष्ट्र का ऐसा सुप्रबन्ध करें कि राष्ट्र में मौतें घट जांय। और लोक सुखी और चिरायु रहें।

शान्तो अग्निः क्रव्याच्छान्तः पुरुषरेषणः ।
अथो यो विश्वदाव्य१स्तं क्रव्यादमशीशमत् ॥ ९ ॥

भा०—उपरोक्त इतना उपाय कर लेने पर (क्रव्यात् अग्निः शान्तः) मृत मनुष्यों के शरीरों को खाकर भस्म कर डालने वाली अग्नि अर्थात् मृत्यु का रौद्र संहार जो (पुरुष-रेषणः) पुरुषों का विनाश करने हारा है वह (शान्तः) शान्त हो जाता है (अथो) और जो (विश्व-दाव्यः) विश्व को वन वन्हि के समान जलाने वाला क्रव्याद् अग्नि है उसको हम (अशीशमन्) अपने प्रयत्न से शान्त कर दें।

ये पर्वताः सोमपृष्ठा आप उत्तानशीवरीः ।
वातः पर्जन्य आदग्निस्ते क्रव्यादमशीशमन् ॥ १० ॥

९–(द्वि०) 'पुरुषरेषिणः', (तृ०) 'विश्वदव्य' इति पैप्प० सं० ।
१०–(च०) 'अशीशमम्' इति क्वचित् ।

भा०—जन मारक महाव्याधि के और अकालिक विनाश करने के उपायों को संक्षेप से दिखाते हैं—(ये पर्वताः) जो पर्वत (सोम-पृष्ठाः) सोम जैसी बहुवीर्य ओषधियों को अपनी पृष्ठ पर उत्पन्न करते हैं और जो (आपः) जल (उत्तान-शीवरीः) सर्वदा सूर्य चन्द्र और नक्षत्र, इन ज्योतियों में खुले रहते हैं वे हंसोदक अथवा 'उत्तान'=ऊंचे गण्ड-शैलों में स्थित हैं जिनमें रोगनाशक गुण हैं और (वातः) प्रचण्ड वायु जो अपने झकोरों से ही हैज़े आदि रोगों को उड़ा ले जाते है और (पर्जन्यः) मेघ जिसके बरसने से अकाल दूर हो जाता है और (अग्निः) अग्नि जिससे यज्ञ और प्रज्वालन से गृह शुद्ध और नीरोग हो जाते हैं (ते) ये वे उपाय हैं जो (क्रव्य-अदम्) क्रव्य=मानव के अपरिपक्व शरीरों को खाने वाले मृत्यु एवं श्मशानाग्नि को (अशीशमन्) शान्त करते हैं ।

[२२] तेजस्वी होने की प्रार्थना ।

वसिष्ठ ऋषिः । वर्चो देवता । बृहस्पतिरुतविश्वेदेवाः । १ विराट् त्रिष्टुप्, ३ त्रिपदा परानुष्टुब् विराड्जगती, ४ त्र्यवसाना पट्पदा जगती, २, ५, ६, अनुष्टुभः । षड्चं सूक्तम् ॥

हस्तिवर्चसं प्रथतां बृहद् यशो अदित्या यत् तन्वः संबभूव ।
तत् सर्वे समदुर्मह्यमेतद् विश्वे देवा अदितिः सजोषाः ॥ १ ॥

भा०—(हस्ति-वर्चसं) हस्त=मारने के साधन हथियारों से सम्पन्न अथवा हस्ती के समान बलवान्, शस्त्र-योद्धा, राजा और बलशाली सेना-पति का 'वर्चः' तेज, या हाथी के समान सर्वोपमर्दक बल या हाथियों की सेना

---

[२२] १–(द्वि०) 'आदित्यायम्' इति क्वचित् । (तृ०) 'विश्वेदेवासः' इति पैप्प० सं० ।

का वैभव और (बृहत् यशः) बड़ा भारी यश (यत्) जो (अदितेः) न खण्डित होने वाली अखण्ड और अदीन, स्वतन्त्र राष्ट्र प्रजा के (तन्वः) शरीर से (संबभूव) उत्पन्न हो वह (प्रथताम्) समस्त संसार में फैले। (सर्वे) सब ही (तत्) उस लोकयश और ख्याति के (मह्यं) मुझ राष्ट्र पालक को (सम् अदुः) प्रदान करते हैं। और (विश्वेदेवाः) सर्व राष्ट्र के शासक गण और (अदितिः) स्वतन्त, अखण्डित अधिकार वाली राष्ट्र प्रजा भी (स-जोषाः) सप्रेम मुझे उस यश और मान को प्रदान करते हैं। राजा किस प्रकार अपना यश प्राप्त करे इसके उत्तर में वेद कहता है कि स्वतन्त्र स्वायत्त शासन और अधिकार प्राप्त प्रजा ही राजा के मान का कारण है। पराधीन पंगु प्रजा राजा के मान की वृद्धि नहीं कर सकता।

मित्रश्च वरुणश्चेन्द्रो रुद्रश्च चेततु।
देवासो विश्वधायसस्ते माञ्जन्तु वर्चसा ॥ २ ॥

साम० पू० २ । ६ । १० ॥

भा०—(मित्रः) मित्र, न्यायाधीश, (वरुणः) वरुण, पोलिस विभाग और गुप्तचर विभाग का अध्यक्ष और (इन्द्रः)=सेनापति और (रुद्रः) दुष्टों का रुलाने वाला दण्ड-विभाग का अध्यक्ष इनमें से प्रत्येक (चेततु) सदा सावधान रहें। (विश्व-धायसः देवासः) समस्त राष्ट्र के पालक पोषक अधिकारीगण विद्वान् होकर (मा वर्चसा अञ्जन्तु) मुझको अपने बल और तेज से सम्पन्न करें। सभी सावधान होकर जब कार्य करते हैं तब उनका बल भी राजा का बल कहाता है और उसकी प्रतिष्ठा का कारण होता है।

२–(द्वि०) 'चेततुः' इति बहुत्र, पैप्प० सं०। (च०) 'सोमः पूषा च चेततुः' इति साम०।

येन॑ ह॒स्ती वर्च॑सा संब॒भूव॒ येन॒ राजा॑ मनु॒ष्ये॒/ष्व॒प्स्व॒न्तः ।
येन॑ दे॒वा दे॒वता॒मग्र॒ आय॒न् तेन॒ माम॒द्य वर्च॒साग्ने॑ वर्च॒स्विनं॑ कृणु ॥३॥

भा०—(येन वर्चसा) जिस तेज से और बल पराक्रम से (हस्ती) हस्ती जैसा महाकाय जन्तु (सं बभूव) सामर्थ्यवान् हो जाता है और (मनुष्येषु अप्सु) राष्ट्र में व्यापक मानुष प्रजाओं में (येन) जिस बल पराक्रम से (राजा संबभूव) राजा सामर्थ्यवान् होता है । (येन) और जिस बल पराक्रम से (देवाः) विद्वान् पुरुष या पृथिवी, अप्, तेज, वायु आकाश, काल, दिशा, आत्मा, मन आदि दिव्य पदार्थ (अग्रे) सृष्टि के प्रारम्भ में (देवताम्) देवभाव को, सृष्टि-उत्पादक विशेष सामर्थ्य को प्राप्त हुए हे (अग्ने) प्रकाशस्वरूप परमेश्वर ! (तेन वर्चसा) उस तेज से (अद्य) इस जीवन में (माम्) मुझ को (वर्चस्विनं) वर्चस्वी, तेजस्वी (कृणु) बनाओ ।

यत् ते॒ वर्चो॑ जातवेदो बृ॒हद् भव॒त्याहु॑तेः ।
याव॒त् सूर्य॑स्य॒ वर्च॑ आसु॒रस्य॑ च ह॒स्तिनः॑ ।
ताव॒न्मे अ॒श्विना॒ वर्च॒ आ ध॑त्तां॒ पुष्क॑रस्रजा ॥ ४ ॥

भा०—हे (जातवेदः) समस्त पदार्थों में व्यापक प्रभो ! जिस प्रकार अग्नि में (आहुतेः) आहुति गिरने से उसका प्रकाश और ताप प्रचण्ड

३–(तृ०) 'अग्र आयम्' इति क्वचित् । (द्वि०) 'मनुष्येष्वन्तः' (तृ० च०) 'येनदेवा ज्योतिषा द्यामुदायन् तेन माग्ने वर्चसासंसृजेह' इति पैप्प० सं०

४–(द्वि०)–'आहुते' इति सायणः । 'आहुतम्' इति पैप्प० सं० । (च०) 'कृणुतां पुष्क०' (तृ०) 'यावद् वर्चः सूर्यस्य' इति पैप्प० सं० ।

हो जाता है उसी प्रकार कालाग्नि स्वरूप आप में समस्त विश्व की महान् आहुति पड़ने से भी (यत् ते बृहद् वर्चः) आपका जो महान् तेज प्रकट होता है और इसके अंश रूप साक्षात् (सूर्यस्य) सूर्य का (यावत्-वर्चः) जो तेज और (आसुरस्य) असु प्राणों में रमण करने वाले (हस्तिनः) सबको आघात करने या व्यापने वाले प्राण का जो तेज है हे (अश्विना) द्यौ और पृथिवी और अध्यात्म में प्राण और अपान और राजा और प्रजा तुम दोनों (पुष्कर-स्रजा) नक्षत्र रूप या लोकरूप पुष्करों की माला पहने या देहरूप पुरियों को माला रूप से धारण करने वाले या पुष्टि करनेहारे, शासक, मुख्य पुरुषों के निर्माता या अपने में उनको माला रूप से धारने वाले होकर (तावत् वर्चः) उतना बल (मे आधत्ताम्) मेरे में धारण करावें।

पुष्कर=देखो परिशिष्ट सामवेद विशेपपद-दर्पण ।

यावच्चतस्रः प्रदिशश्चक्षुर्यावत् समश्नुते ।
तावत् समैत्विन्द्रियं मयि तद्धस्तिवर्चसम् ॥ ५ ॥

भा०—(यावत् चतस्रः प्रदिशः) जितनी भर चारों दिशाएं हैं और यावत् चक्षुः (समश्नुते) और जितनी दूर तक हमारी चक्षु फैल सकती हैं (तावत्) उतना (मयि) मुझ में (हस्तिं-वर्चसम्) हस्ति के समान या सूर्य के समान (इन्द्रियं) मेरे आत्मा का सामर्थ्य (सम् आ एतु) मुझ में समा जाय । मैं अनन्त तेजस्वी हो जाऊं ।

हस्ती मृगाणां सुषदामतिष्ठावान् बभूव हि ।
तस्य भगेन वर्चसाभि षिञ्चामि मामहम् ॥ ६ ॥

भा०—(मृगाणां) पशुओं में से (हस्ती) हाथी (सुषदाम्) उत्तम सवारियों में से (अति-ष्ठावान्) अति अधिक स्थिर, निश्चल और सब से

५–(तृ०) 'समेतु' इति सायणः ।

बढ़ कर युद्ध में निर्भय, टिकाऊ और प्रतिष्ठादायी (बभूव ह) है इसी प्रकार आकाश-मण्डल में (सुपदां) सुस्थिर (मृगाणां) नक्षत्रों में से (हस्ती) सूर्य जिस प्रकार (अति-ष्ठावान्) अति अधिक तेजस्वी है उसके (भगेन) लक्ष्मी, सौभाग्य (वर्चसा) और तेज से (अहम्) मैं स्वयं अपने आपको अपने राजपद के योग्य बनावे।

---

[२३] उत्तम सन्तान उत्पन्न करने की विधि।

ब्रह्मा ऋषिः। चन्द्रमा उत योनिर्देवता, ५ उपरिष्टाद्-भुरिग्-बृहती, ६ स्कन्धोग्रीवी बृहती, १–४ अनुष्टुभः। षड्र्चं सूक्तम्।

येनं वेहद् बभूविंथ नाशयांमसि तत् त्वत्।
इदं तदुन्यत्र त्वदप दूरे नि दंध्मसि ॥ १ ॥

भा०—हे नारि! (येन) जिस कारण से (वेहद्) तू बांझ या पुत्र को उत्पन्न करने में असमर्थ (बभूविथ) है (तत्) उस कारण को (त्वत्) मुझ से (नाशयामसि) हम दूर करते हैं। (इदं) इस (तद्) उस अप्रत्यक्ष कारण को (त्वद् अन्यत्र) तुझ से (दूरे) दूर (अप नि दध्मसि) परे कर देते हैं।

आ ते योनिं गर्भ एतु पुमान् बाण इवेषुधिम्।
आ वीरोऽत्र जायतां पुत्रस्ते दशमास्यः ॥ २ ॥

भा०—वन्ध्यापन के कारण को दूर कर देने पर (ते योनिं) हे स्त्रि! तेरे बालक उत्पन्न करने के स्थान, गर्भाशय भाग में (गर्भः) वीर्य कण से गर्भित हुआ (पुमान्) रजो डिम्ब अर्थात् पुमान् गर्भ (इषु-धिम्)

---

[२३] २–(प्र०) 'गर्भो योनिम् एतु', 'आवीरो जा०' इति आ० गृ० सू०।

तर्कस में सुरक्षित (बाण-इव) बाण के समान (एतु) प्राप्त हो । और फिर (अत्र) इस गर्भ में (वीरः) पूर्ण वीर्यवान् (पुत्रः) पुत्र (दश-मास्यः) दश मासों तक पुष्टि को प्राप्त होकर (जायतां) उत्पन्न हो ।

पुमांसं पुत्रं जनय तं पुमाननु जायताम् ।
भवासि पुत्राणां माता जातानां जनयांश्च यान् ॥ ३ ॥

भा०—हे नारि ! तू (पुमांसम् पुत्रम् जनय) पुमान्, पुत्र को उत्पन्न कर और (तम् अनु पुमान् जायताम्) उसके बाद भी पुनः पुमान् पुत्र ही उत्पन्न हो । और (यान् जनयाः) जिन २ पुत्रों को तू उत्पन्न करे उन (जातानाम्) उत्तम रीति से उत्पन्न हुए उन सब (पुत्राणाम्) पुत्रों की (माता भवासि) तू माता बनी रहे । अर्थात् तेरे सब पुत्र चिरकाल तक जीवित रहें ।

यानि भद्राणि बीजान्यृषभा जनयन्ति च ।
तैस्त्वं पुत्रं विन्दस्व सा प्रसूर्धेनुका भव ॥ ४ ॥

भा०—(ऋषभाः) वीर्य सेचन में समर्थ, उत्तम पुरुष (यानि) जिन (भद्राणि) कल्याणकारी (बीजानि) बीजों को (जनयन्ति) अपने

३—(च०) ' जनयाश्चयाम् ' इति बहुत्र । (द्वि०) ' त्वं पुमान् ' इति सायणः, पैप्प० सं० । ' पुमाननुजनयामित्र ' इति पैप्प० सं० । (च०) ' जातानां विन्दस्वयान् ' मै० ब्रा० । ' तेषां माता भविष्यसि जातानां जनयासि च ' इति गो० गृ० सू० ।

४—(द्वि०) 'पुरुषा जनयन्ति नः' (तृ०) तेभिस्त्वं पुत्रं जनय सुप्रसूर्धेनुका भव ' इति गो० गृ० सू० । ' यानि प्रभूणि वीर्याणि ऋषभाः जनयन्तु नः । तैस्त्वं गर्भिणि भव सा जायतां वीरतमा स्वानाम्० । सा प्रसूर्धेनुगा भव' इति हि० गृ० सू० । ' तानि भद्राणि बीजानि ऋषभा जनयन्ति नौ ' इति मन्त्रपाठे ।

शरीर में उत्पन्न करें एवं गर्भ में आहित करें (तैः) उन अमोघ बीजों से (त्वं) तू (पुत्रं विन्दस्व) पुत्र को प्राप्त कर (सा) वह तू (प्रसूः) उत्तम रीति से पुत्रों को उत्पन्न करके (धेनुका भव) दूध पिलाने वाली सच्ची माता बन।

कृणोमि ते प्राजापत्यमा योनिं गर्भ एतु ते।
विन्दस्व त्वं पुत्रं नारि यस्तुभ्यं शमसच्छमु तस्मै त्वं भव ॥ ५ ॥

भा०—हे नारि! (ते) तेरे लिये मैं (प्राजापत्यम्) प्रजापति का कार्य अर्थात् पुत्रोत्पत्ति या बीजवपन का कार्य (कृणोमि) करता हूं। (योनिम्) योनि स्थान में (गर्भः) गर्भ, गर्भित डिम्ब (आ एतु) आवे। हे नारि! (त्वम् पुत्रम् विन्दस्व) तू ऐसे पुत्र को प्राप्त कर (यः) जो (तुभ्यं) तुझे (शम् असत्) कल्याण और सुख का देने हारा हो और हे नारि! (तस्मै) उस पुत्र के लिये (त्वं उ शम् भव) तू भी शान्तिदायक, कल्याणकारिणी और सुखकारी माता हो। पुत्र माता को शान्ति दें, रोग का कारण न हों, जीवन में दुःख न दें, इसी प्रकार पुत्रों को माता कष्ट न दें, रोग न दें और शान्ति दें।

यासां द्यौः पिता पृथिवी माता समुद्रो मूलं वीरुधां बभूव।
तास्त्वा पुत्रविद्याय दैवीः प्रावन्त्वोषधयः ॥ ६ ॥

पूर्वार्धः अथर्व० ८ । ७ । २ तृ० च० ॥

भा०—(यासां) जिन (वीरुधाम्) लताओं का (पिता) परिपालक

५—(प्र०) 'करोमि ते' हि० गृ० सू० (द्वि०) 'आगर्भो योनिमेतु ते' इति पैप्प० सं०।

६—(प्र०) 'द्यौष्पिता' इति क्वचित्। (प्र० द्वि०) 'यासां पिता पर्जन्यो भूमिर्माता बभूव'

(द्यौः) सूर्य और (माता पृथिवी) माता पृथिवी और (समुद्रः) जल धाराओं का बरसाने वाला मेघ (मूलं) मूल (बभूव) है (ताः) वे (देवीः) दिव्य ओषधियां हे नारि ! (ओषधयः) रस वीर्य विपाक को धारण करने वाली होकर (त्वा) तेरी और तेरे गर्भ को (पुत्र-विद्याय) पुत्र लाभ के लिये (प्र अवन्तु) रक्षा करें ।

[२४] उत्तम धान्य और औषधियों के संग्रह का उपदेश ।

भृगुर्ऋषिः । वनस्पतिरुत प्रजापतिर्देवता । १, ३–७ अनुष्टुभः, २ निचृत्पथ्यापंक्तिः । सप्तर्चं सूक्तम् ॥

पयस्वतीरोषधयः पयस्वन्मामकं वचः ।
अथो पयस्वतीनामा भरेऽहं सहस्रशः ॥ १ ॥

अथर्व० १८ । ३ । ३६ ॥ पूर्वार्धः ऋ० १० । १७ । १४ प्र० द्वि० ॥

भा०—गर्भ पालन के निमित्त धान्य और ओषधियों के संग्रह करने का उपदेश करते हैं । (ओषधयः) धान्य आदि ओषधियां (पयस्वतीः) शरीर को पुष्ट करने में समर्थ, सार भाग से युक्त हों, और (मामकं वचः) मेरा वचन भी (पयस्वत्) सार और रस से पूर्ण हो, (अथो) और (अहं) मैं (सहस्रशः) हजारों (पयस्वतीनाम्) अन्नादि सारभूत पुष्टिकारक पदार्थों से युक्त वनस्पतियों को (आ भरे) अपने घर पर नित्य लाऊं ।

[२४] १–(तृ० च०) 'अपां पयस्वदित्पयस्तेन मासह शुन्धत' इति ऋ० । (च०) 'भरेयम्' इति सायणः । 'अथो पयस्वतीं पय आहरामि सहस्रशः' इति पैप्प० सं० ।

वेदाहं पयस्वन्तं चकार धान्यं/बहु ।
सम्भृत्वा नाम यो देवस्तं वयं हवामहे योयो अयज्वनो गृहे ॥२॥

भा०—(अहं) मैं उस (पयस्वन्तं) सब से अधिक सारभूत पदार्थों से सम्पन्न, सब में पुष्टिकारक पदार्थों के प्रदाता रस-सागर मेघ को (वेद) भली प्रकार जानता हूं जो (बहु धान्यं चकार) बड़ी भारी धान्य उत्पन्न करता है । (यः) जो (देवः) देव (सम्भृत्वा नाम) सब स्थानों से रस को संग्रह करने हारा है । और (यः-यः) जो २ (अयज्वनः) यज्ञ न करने हारे, अदानशील पुरुष के घर में भी बराबर संग्रह करता है (तं वयं हवामहे) उसकी हम स्तुति करते हैं, उसका हम यथार्थ वर्णन करते हैं ।

इमा याः पञ्च प्रदिशो मानवीः पञ्च कृष्टयः ।
वृष्टे शापं नदीरिवेह स्फातिं समावहान् ॥ ३ ॥

भा०—(इमाः याः) ये जो (पञ्च प्र-दिशः) पांच उत्तम रीति से ज्ञान का उपदेश करने और उन्नति पथ को दिखाने हारे पञ्च गुरु या पांचों दिशाओं के वासी (पञ्च मानवीः कृष्टयः) पांच मननशील ऐसी प्रजाएं हैं जो कृषि करके अपना अन्न उत्पन्न करती हैं वे (इह) इस लोक में (वृष्टेः नदी शापम् इव) वृष्टि से जल गिरने पर जैसे नदियां प्रभूत जल-पूर लाती हैं उसी प्रकार अन्नों से ये पांचों प्रजाएं भी (स्फातिम्) प्रतिष्ठा और समृद्धि को (सम्-आवहान्) प्राप्त करें ।

२—(प्र०) 'अहं वेद यथा पयः' (तृ०) 'यो वेदस्तं यजामहे सर्वस्य यश्च नो गृहे' इति पैप्प० सं० ।

३—(द्वि०) 'मानवैः पञ्च गृष्टयः' (तृ० च०) 'सर्वाः शम्भूर्मयोभुवो वृषे शापं नदीरिव' इति पैप्प० सं० ।

उद्रुत्सं शतधारं सहस्रधारमक्षितम् ।
एवास्माकेदं धान्यं सहस्रधारमक्षितम् ॥ ४ ॥

भा०—जिस प्रकार (उत्सम्) जल का स्रोत (शत-धारम्) सैकड़ों धाराओं और (सहस्र-धारम्) हजारों धाराओं वाला (अक्षितम्) अक्षय होता है, (एवा) इसी प्रकार (अस्माकम् इदं) हमारी यह (धान्यं) धान्य की फसल भी (सहस्रधारम्) सहस्रों धाराओं से युक्त होकर (अक्षितम्) अक्षय खजाना बना रहे ।

शतहस्त समाहर सहस्रहस्त सं किर ।
कृतस्य कार्यस्य चेह स्फातिं समावह ॥ ५ ॥

भा०—हे (शत-हस्त) सैकड़ों हाथों—श्रमीजनों को स्वामिन् ! और हे (सहस्र-हस्त) हजारों हाथों—श्रमीजनों के स्वामिन् ! (सं किर) खेत में एक ही समय सर्वत्र बीज बखेर दो । और (कृतस्य) अपने किये (कार्यस्य) कृषि कार्य की (इह) इस उपजाऊ क्षेत्र में (स्फातिं) भारी फसल को (सम् आवह) प्राप्त करो ।

तिस्रो मात्रा गन्धर्वाणां चतस्रो गृहपत्न्याः ।
तासां या स्फातिमत्तमा तया त्वाभि मृशामसि ॥ ६ ॥

भा०—फसल को तैयार करने के लिये (गन्धर्वाणां) गौ पृथिवी को धारण करने वाले ज़मींदार कृषकों और जल वायु और सूर्य इनकी (तिस्रः मात्राः) तीन मात्राएं हैं, तीन अंश हैं । (गृह-पत्न्याः) गृह की

४–' यथा रूपः शतधारः सहस्रधारो अक्षितः । एवा मे अस्तु धान्यं सहस्रधारमक्षतम् ' इति पैप्प० सं० ।

५–(द्वि० तृ०) 'सहस्रैव संगिरः यथेयं स्फातिरायसि' इति पैप्प० सं० ।

६–(च०) ' मर्शामसि ' इति पैप्प० सं० ।

पत्नी पृथिवी और घर की मालकिन की भी (चतस्रः मात्रा) चार मात्राएं हैं। चार अंश हैं। (तासां) उन सब विधियों में से जो (स्फातिमत्-तमा) सब से अधिक अन्न को समृद्ध करने वाली है (तया) उस शैली से (त्वा अभि मृशामसि) तुझे बढ़ावें और उन्नत करें। वायु, जल और सूर्य इन तीन गन्धर्वों की तीन मात्राएं हैं, रस-दान, प्राणानुप्राणन, और तेजो भाग का देना। पृथिवी उनकी गृहपत्नी है इसलिये उसके चार अंश हैं। पार्थिव अंश से आश्रय देना, मूलारोपण, स्थापन, अभिवर्धन और बीजोद्गमन। इसी प्रकार अन्न को प्राप्त करने में कृषाण पुरुषों का कार्य है हल-कर्षण, बीजवपन और सेवन, स्त्रियों के कार्य हैं धान्य रक्षा, काटना झाड़ना पिछोरना और संग्रह करना। इत्यादि।

उपोहश्च समूहश्च क्षत्तारौ ते प्रजापते।
ताविहा वहतां स्फातिं बहुं भूमानमक्षितम् ॥ ७ ॥

भा०—हे प्रजापते! प्रजा के स्वामिन्! (उपोहः च) उपोह और (समूहः च) समूह ये दोनों (ते क्षत्तारौ) तेरे क्षत्ता=मन्त्री हैं (ते) वे दोनों (इह) इस लोक में (बहुम्) संख्या में अधिक और (भूमानम्) परिमाण में भी अधिक (अक्षितं) अक्षय (स्फातिम्) अन्न समृद्धि को (वहतां) प्राप्त करावें। धान्य फसल को खेत में प्राप्त कराने और पुनः उसका उत्तम रीतिसे संग्रह करने वाली शक्तियां व उपोह और समूह, दो शब्दों से बतलाई गई हैं। राजा के पास दो शक्तियां हैं (१) धान्य को फटक २ कर साफ करना (२) सब खेतों से उसको एकत्र संग्रह करना।

७-(तृ०) 'वहतम्' इति क्वचित्।

[२५] काम-शास्त्र और स्वयंवर का उपदेश ।

जयकामो भृगुर्ऋषिः । मैत्रावरुणौ कामेषुश्च देवता । १—६ अनुष्टुभः । षड्टचं सूक्तम् ॥

उ॒त्तु॒दस्त्वोत् तु॑दतु॒ मा धृ॑था॒: शय॑ने॒ स्वे ।
इषु॒: काम॑स्य॒ या भी॒मा तया॑ विध्यामि त्वा हृ॒दि ॥ १ ॥

भा०—वास्तविक काम शक्ति के रहस्य का उपदेश करते हैं—हे स्त्री और पुरुषो ! (उत्-तुदः) जब उत्तम रूप से व्यथा देने या प्रेरणा करने वाला उत्तेजक काम (त्वा उत्-तुदतु) तुझे भली प्रकार व्यथा देता है तब (शयने स्वे) अपने सेज पर भी अपने सुख चैन से तुम (मा धृथाः) नहीं सो सकते । (कामस्य) पुत्रोत्पादन करने, आभ्यन्तर पुत्रेषणा रूप काम को (या भीमा इषुः) जो भयंकर कामना है (तया त्वा हृदि) उससे मैं पुरुष तुझ स्त्री के और स्त्री पुरुष के हृदय में (विध्यामि) मारता हूं ।

आ॒धीप॑र्णां का॒मश॑ल्या॒मिषुं॑ सङ्क॒ल्पकु॑ल्मलाम् ।
तां सुसंन्न॑तां कृ॒त्वा कामो॑ विध्यतु त्वा हृ॒दि ॥ २ ॥

भा०—काम बाण से होने वाली पीड़ा का वर्णन करते हैं । इस दशा में स्त्री-पुरुष की मानसिक दशा को अलंकार से दर्शाते हैं । हे मेरे प्रियतम ! और हे मेरी प्रियतमे ! (कामः) कामदेव (त्वा हृदि) तेरे हृदय में (तां इषुम्) उस बाण को (आधीपर्णां) व्यथा रूप परों से सजाकर (कामशल्याम्) काम=परस्पर अभिलाषा या दृढ़ रूप से एक दूसरे के प्रति चाह का शल्य=फला लगा कर उनको (संकल्पकुल्मलाम्) नाना संकल्प विकल्पों की लेप से चिपका कर और (तां सुसन्नतां कृत्वा) उसको खूब

[२५] १–(द्वि०) 'मा दृथाः' इति सायणसम्मतः पाठः ।
२–(तृ०) 'ता सुप्र०.' इति क्वचित ।

उत्तम रीति से झुकाकर (कामः) स्मर देव (त्वा हृदि) तेरे हृदय में (विध्यतु) ताड़े कि तू मुझे ही एक मात्र चाहे।

या प्लीहानं शोषयति कामस्येषुः सुसंनता।
प्राचीनपक्षा व्योषा तया विध्यामि त्वा हृदि ॥ ३ ॥

भा०—(या) जो (कामस्य) कामदेव का (इषुः) इच्छा रूप बाण (सु-संनता) मानो खूब कमान झुकाकर छोड़ा जाता है अर्थात् जिसमें प्रेमी के प्रति हृदय अति प्रवण हो जाता है, प्रबल रूप से हृदय में लगजाता है वह (प्लीहानं) प्लीहा=पिलही तक को (शोषयति) सुखा डालता है। वही (प्राचीनपक्षा) सरल पक्षों से युक्त होकर भी (व्योषा) नाना प्रकार से हृदय को तड़पाता है। उस काम के हृदय में पीड़ा पहुंचाने वाले संकल्प-मय बाण से हे प्रियतम ! प्रेम पात्र व्यक्ति मैं (त्वा हृदि विध्यामि) तेरे हृदय में प्रहार करूं।

शुचा विद्धा व्योषया शुष्कास्याभि सर्प मा।
मृदुर्निमन्युः केवली प्रियवादिन्यनुव्रता ॥ ४ ॥

भा०—इस प्रकार परस्पर प्रेम भाव बंध जाने पर प्रथम वर अपनी पतिंवरा कन्या के प्रति यह भाव प्रकट करे कि हे प्रियतमे ! तू (व्योषया) नाना प्रकार से या विशेष रूप से दहन करने या तपाने वाले (शुचा) शोक से (विद्धा) संतापित, पीड़ित होकर (शुष्क-आस्या) विरह वेदना में अन्न और जल छोड़ देने के कारण सूखे कण्ठ वाली होकर भी (केवली) एक मात्र तू ही (प्रिय-वादिनी) प्रिय वचनों को बोलती हुई सुमधुर-भाषिणी और (अनुव्रता) मेरे मनोनुकूल सब गृह कार्य और गृहस्थव्रतों का पालन करती हुई (मृदुः) अति कोमल शरीर वाली, मृद्वङ्गी, शिरीष-कुसुम-कोमलाङ्गी (नि-मन्युः) हार्दिक क्रोध को परित्याग करके (मा अभि सर्प) मेरे समक्ष, मुझे वरने के लिये सभा में उपस्थित हो।

आजामि त्वाजन्या परि मातुरथो पितुः ।
यथा मम क्रतावसो मम चित्तमुपायसि ॥ ५ ॥

उत्तरार्ध अथर्व० ६ । ९ । २ ॥ १ । ३४ । २ ॥

भा०—(अजन्या त्वा) कुमारी स्वरूप तुझ अपनी प्रियतमा के संग मैं (मातुः परि आ) तुम्हारी माता के समक्ष (अथो पितुः आजामि) और पिता के समक्ष विवाहित होने के निमित्त आऊं (यथा) जिससे तू (मम क्रतौ असः) मेरे संकल्प और गृहस्थ कार्य में सहायक हो और मेरे संकल्प के अनुसार रहे और (मम चितम् उपायसि) मेरे चित्त को प्राप्त हो ।

व्य/स्यै मित्रावरुणौ हृदश्चित्तान्यस्यतम् ।
अथैनामक्रतुं कृत्वा ममैव कृणुतं वशे ॥ ६ ॥

भा०—कन्या के माता पिता से वर की प्रार्थना । हे (मित्रावरुणौ) मित्र और वरुण ! शोड्ष वर्ष तक संतान के प्राप्त हो जाने पर पुत्र के प्रति मित्र भाव से रहने वाले कन्या के पिता ! और हे सब में श्रेष्ठ रूप माता ! (अस्यै) इस कन्या के (हृदः) हृदय में से (चित्तानि) औरों के चित्तों को (वि अस्यतम्) विशेष रूप से दूर कर दो । अर्थात् अन्य सब प्रस्तुत वरों के प्रति उठे इसके विविध विचारों को दूर कर दो । और (एनाम्) इसको (अक्रतुम्) अन्य सब संकल्पों से रहित, निश्चिन्त (कृत्वा) करके (मम एव वशे) मेरे ही वश में (कृणुतम्) कर दो ।

इति पञ्चमोऽनुवाकः ।

[तत्र सूक्तानि पञ्च, ऋचश्च पञ्चत्रिंशत् ।]

[२६] प्रबल शक्तिधारी देव के छः रूप ।

अथर्वा ऋषिः । रुद्रः अग्न्यादयोवा बहवो देवताः । १–६ पञ्चपदा विपरीतपादलक्ष्मा त्रिष्टुप, १ त्रिष्टुप्, २, ५, ६ जगती, ३, ४ भुरिग् । षडृचं सूक्तम् ॥

ये॑ऽस्यां स्थ प्राच्यां॑ दि॒शि हे॒तयो॒ नाम॑ दे॒वास्तेषां॑ वो अ॒ग्निरिष॑वः । ते नो॑ मृडत॒ ते नोऽधि॑ ब्रूत॒ तेभ्यो॑ वो॒ नम॒स्तेभ्यो॑ वः॒ स्वाहा॑ ॥१॥

भा०—इस सूक्त में ६ प्रकार के प्रबल शक्तिधारी देवों का प्रतिपादन करते हैं । हे (देवाः) विद्वान् लोगो ! आप लोगों में से (ये) जो (अस्यां) इस (प्राच्यां) सन्मुख वाली मुख्य दिशा में आप (हेतयः नाम स्थ) उपद्रवकारी लोगों को शान्त करने हारे होने के कारण 'हेति' नाम वाले हो (तेषां वः) उनमें से आप लोगों का (अग्निः इषवः) अग्नि के समान ज्ञान नाशक एवं पापी पुरुषों को भस्म कर देने हारा ज्ञान मय इषु अस्त्र है (ते) वे आप लोग (नः मृडत) हमें सुखी रखें । (ते नः अधि ब्रूत) वे आप हम लोगों को उपदेश करें । (तेभ्यो वः नमः) उन आपके लिये हमारा सदा सादर नमस्कार है । (तेभ्यो वः स्वाहा) आप के लिये हमारी सदा शुभागमन की शुभवाणियां हैं ।

ये॑ऽस्यां स्थ दक्षि॑णायां दि॒श्य॑वि॒ष्यवो॒ नाम॑ दे॒वास्तेषां॑ वः॒ काम॒ इष॑वः । ते नो॑० ॥ २ ॥

भा०—(ये देवाः) जो देव विद्वान्गण (अस्याम् दक्षिणायाम् दिशि) इस दक्षिण=बलसाध्य कार्य की दिशा में आप लोग हैं वे (अविष्यवः) समस्त संसार की रक्षा करने की इच्छा वाले हैं । इस लिये आपका नाम

---

[२६] १–(प्र०) 'रक्षः पेऽस्यां' इति प्रतिस्नम् इति पैप्प० सं० ।
२–(द्वि०) 'अवस्यवो' इति सायणः ।

'अविष्यु' या 'अवस्यु' है (तेषां वः काम इषवः) उन आप लोगों का (कामः) प्रबल संकल्प ही इषु=बाण है । (तेनो अवन्तु०) वे आप हमें सुखी करें, हमें उपदेश करें, आपको हमारा सादर नमस्कार और स्वागत है ।

ये३स्यां स्थ प्रतीच्यां दिशि वैराजा नाम देवास्तेषां व आप इषवः । ते नो० ॥ ३ ॥

भा०—(अस्याम् प्रतीच्याम्) इस पश्चिम या अपने से पीठ पीछे की दिशा में (ये देवाः) जो देव हैं वे (वैराजाः नाम) 'वैराज' विशेष प्रकार से प्रकाशमान, विद्वान् हैं (तेषां वः आपः इषवः) उन आपकी (आपः) व्यापक प्रजाएं या ये जल, रस ही (इषवः) आघातकारी साधन हैं । वे आप हमें सुखी करें और हमें उपदेश करें, आप को हमारा सादर नमस्कार है और आपका स्वागत है ।

ये३स्यां स्थोदीच्यां दिशि प्रविध्यन्तो नाम देवास्तेषां वो वात इषवः । ते नो० ॥ ४ ॥

भा०—और (ये देवाः) जो देव (अस्याम् उदीच्याम् दिशि) इस उत्तर दिशा में बायीं ओर हैं वे (प्रविध्यन्तः नाम) प्रबलता से ताड़ने वाले हैं (तेषां वः) उन आपका (वातः इषवः) वात, प्रचण्ड वायु के झकोरें और प्राण ही बाण हैं । वे आप हमें सुखी करें और हमें उपदेश करें आपका हम आदर करते और स्वागत करते हैं ।

ये३स्यां स्थ ध्रुवायां दिशि निलिम्पा नाम देवास्तेषां व ओषधीरिषवः । ते नो० ॥ ५ ॥

३–(द्वि०) 'विराजाः' इति पैप्प० सं० ।

५–'निलिम्पा' इति पैप्प० सं० ।

भा०—और (ये देवाः) जो देव गण (अस्यां ध्रुवायां दिशि) इस ध्रुवा, अविचल पृथिवी की ओर नीचे की तरफ (देवा) देव गण हैं वे (ते निलिम्पा नाम) निलिम्प=चिपटने हारे हैं। वे अपने मूल छोड़ कर पृथिवी के साथ चिपट जाते हैं, (तेषां वः ओषधी इषवः) उन आप लोगों के (ओषधिगण) ही इषु हैं, आप उनसे रोगादि दूर करके हमें सुखी करें, हमें उपदेश करें और आप को हम नमस्कार करते और स्वागत करते हैं।

येऽ३स्यां स्थोर्ध्वायां दिश्यवस्वन्तो नाम देवास्तेषां वो बृहस्पतिरिषवः।
ते नो मृडत ते नोऽधि ब्रूत तेभ्यो वो नमस्तेभ्यो वः स्वाहा ॥ ६ ॥

भा०—हे (देवाः) देव गण ! (ये देवाः) तुम जो देवगण (अस्यां ऊर्ध्वायां स्थ) इस ऊर्ध्व दिशा में हो वे (अवस्वन्तः) बडे भारी पालक हो। आप लोगों के (इषवः) प्रहार साधन भी (बृहस्पतिः) महान ब्रह्माण्ड का पालक है। वे आप हमारी रक्षा करें। हमें उपदेश करें और हमारा आप को नमस्कार है और आप का हम स्वागत करते हैं। इस सूक्त का रहस्य अगले सूक्त में स्पष्ट करेंगे।

[२७] शक्तिधारी देव के छः रूप।

अथर्वा ऋषिः । रुद्र अग्न्यादयश्च बहवो देवताः । १—६ पञ्चपदा ककुम्मतीगर्भा अष्टिः । २ अत्यष्टिः, ५ भुरिक् । षडृचं सूक्तम् ॥

प्राची दिगग्निरधिपतिरसितो रक्षितादित्या इषवः।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु।
योऽ३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ १ ॥

६—अन्ते 'इति रक्षामन्त्राः' इति पैप्प० सं०।

[२७] १—'ऋषिभ्यो नम एभ्यो' अन्ते 'तमु प्राणो जहातु' इति पैप्प० सं०।

भा०—(प्राची दिक्) प्राची दिशा, उस में (अग्निः अधिपतिः) अग्नि अधिपति है । (असितः रक्षिता) असित, रक्षा करने हारा है और उसके (आदित्याः इषवः) आदित्य इषु=बाणों के समान है । (तेभ्यः अधिपतिभ्यः नमः) उन इस और अगले मन्त्र में कहे गये अधिपतियों को नमस्कार हो (रक्षितृभ्योः नमः) उन रक्षा करने वालों को नमस्कार हो (इषुभ्यः नमः) आदित्य आदि बाणों को नमस्कार हो (एभ्योः नमः अस्तु) इन सब को नमस्कार हो । (यः अस्मान् द्वेष्टि) जो हमें द्वेष करता है (यं वयं द्विष्मः) जिसको हम द्वेष करते है (तं वः जम्भे दध्मः) उसको हम आप लोगों के वश में रखते हैं ।

दक्षिणा दिगिन्द्रोऽधिपतिस्तिरश्चिराजी रक्षिता पितर इषवः ।
तेभ्यो० । ० ॥ २ ॥

भा०—(दक्षिणा दिक्) दक्षिण दिशा का (इन्द्रः अधिपतिः) इन्द्र अधिपति और (तिरश्चिराजी रक्षिता) समस्त तिर्यक्जन्तुओं में विराजमान प्रभु रक्षक है । (पितरः) पालक पितृ गण उसके इषु=बाण रूप हैं । (तेभ्यो नमः इत्यादि पूर्व मन्त्र में देखो)

प्रतीची दिग् वरुणोऽधिपतिः पृदाकू रक्षितान्नमिषवः ।
तेभ्यो० । ० ॥ ३ ॥

भा०—(प्रतीची दिक्) प्रतीची, पश्चिम दिशा में (वरुणः अधिपतिः) सब पापों से रक्षक, सर्व श्रेष्ठ अधिपति=पालक है (पृदाकू रक्षिता) पृत्= समस्त मनुष्यों में वाणी का संञ्चार करने वाला प्रभु रक्षिता है और (अन्नम् इषवः) अन्न उसके बाण है । तेभ्यो नमः इत्यादि पूर्ववत् ॥

२—'तिरश्चीनराजी रक्षिता' इति मै० सं० । 'वसव इषवः' इति पैप्प० सं० ।
३—'सोमोऽधिपति' इति तै० सं०, मै० सं० ।

उदीची दिक् सोमोऽधिपतिः स्वजो रक्षिताशनिरिषवः ।
तेभ्यो० । ० ॥ ४ ॥

भा०—(उदीची दिक्) उदीची=उत्तर की दिशा में (सोमोऽधिपतिः) सोम सब का प्रेरक और (उत्पादक) प्रभु अधिपति है (स्वजः) स्वतः उत्पन्न, स्वयंभू, परमात्मा (रक्षिता) रक्षक है और (अशनिः इषवः) अशनि वज्र ही उसके बाण हैं (तेभ्यो नमः०) इत्यादि पूर्ववत् ॥

ध्रुवा दिग् विष्णुरधिपतिः कल्माषग्रीवो रक्षिता वीरुध इषवः ।
तेभ्यो० । ० ॥ ५ ॥

भा०—(ध्रुवा दिक्) ध्रुवा, नीचे की, पृथ्वीतल की दिशा में (विष्णु) अधिपतिः) व्यापक प्रभु अधिपति है और (कल्माशग्रीवः) हरे लाल नाना रंगों से सुशोभित वृक्ष लता आदि से चित्रित वनस्पति संसार जिस के ग्रीवा के समान हैं ऐसा प्रभु रक्षक है और (वीरुधः इषवः) लताएं उस के बाण हैं (तेभ्यो नमः०) इत्यादि पूर्ववत् ।

ऊर्ध्वा दिग् बृहस्पतिरधिपतिः श्वित्रो रक्षिता वर्षमिषवः ।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु ।
यो३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ ६ ॥

भा०—(ऊर्ध्वा दिक्) ऊर्ध्व, ऊपर, द्यौ लोक की दिशा में (बृहस्पतिः अधिपतिः) बृहत्-ब्रह्माण्ड एवं वेदवाणि का स्वामी अधिपति-स्वामी है

४—'वरुणोऽधिपतिः', तै० सं०, मै० सं० ।

५—'कुल्माषग्रीवो' इति पैप्प० सं० । 'यमोऽधिपतिः' इति तै० सं० ।

६—'अशनिरिषवः' इति पैप्प० सं० । 'चित्रो रक्षिता' इति क्वचित् । 'बृहती-दिक्' इति तै० सं० ।

(श्वित्रः रक्षिता) प्रकाशस्वरूप प्रभु, रक्षक है और (वर्षम् इषवः) वर्षाएं उसके बाण हैं । तेभ्यो नमः० इत्यादि पूर्ववत् ।

दिशा	देव	अधिपति	रक्षिता	इषु
प्राची	हेतयः	अग्निः	असितः	अग्निः, आदित्याः
दक्षिणा	अविष्यवः	इन्द्रः	तिरश्चिराजी	कामः, पितरः
प्रतीची	वैराजाः	वरुणः	पृदाकूः	आपः, अन्नम्
उदीची	विध्यन्तः	सोमः	स्वजः	वातः, अशनिः
ध्रुवा	निलिम्पाः	विष्णुः	कल्माषग्रीवाः	ओषधीः, वीरुधः
ऊर्ध्वा	अवस्वन्तः	बृहस्पतिः	श्वित्रः	बृहस्पतिः, वर्षम्

इस नक्शे पर विचार करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि प्रथम और द्वितीय दोनों सूक्तों की तुलना से प्रथम सूक्त के इषु दूसरे सूक्त के अधिपति हैं । और दूसरे सूक्त के इषुओं के गुण और कर्म प्रथम सूक्त के 'देव' हैं । 'रक्षिता' अधिपति का स्वरूप है । जैसे (१) प्राची दिशा का अधिपति अग्नि=सूर्य है उसका स्वरूप असित=बन्धन रहित है, उसके किरणों की गति कहीं सीमित नहीं है । इसके बाण अर्थात् वह शक्ति जिससे वह सब का स्वामी है 'आदित्य' अर्थात् स्वतः किरणों का पुञ्ज सूर्य और उसकी किरण हैं । वे किरण ही उस प्रभु की इषु=वह शक्ति है जिससे वह जीवन के विघातक रोग और अन्धकार का नाशक है । उन इषुओं का गुणवाचक

और क्रियाप्रदर्शक नाम 'हेति' हैं। अर्थात् रोगजन्तु के नाशक और दूरगामी हैं। वे सूर्य से मानो फेंके जाते हैं। (२) दूसरी दिशा दक्षिण में 'पितर' इषु हैं। जीवों के पिता माता जीवों को उनके घातकों से बचाते हैं उनकी पुत्रैषणा='काम' है। उसका दूसरा रूप 'इन्द्र' है। समस्त कामनाओं का एकमात्र आश्रय आत्मा है। सब तिर्यग् जन्तुओं में रक्षक रूप होकर, सर्वत्र माता पिता बन कर वह सब जीव जन्तुओं की रक्षा कर रहा है। उनका कर्म है 'अविष्यु' अर्थात् बचा लेने की इच्छा ही उनका विशेष गुण है। (३) तीसरी दिशा प्रतीची के इषु=अर्थात् जीवों को मृत्यु से बचाने वाले साधन 'अन्न' और 'आपः' हैं। अन्नों का अधिपति मूलपालक वरुण है जो स्वतः जल है। 'वैराजाः' अर्थात् अन्न से उत्पन्न प्राण उस दिशा के देव हैं। समस्त प्राणी उसकी पुकार करते हैं 'अन्न, अन्न' इसलिये अन्नदाता 'पृदाकू' है। (४) उत्तर दिशा में 'अशनि'=विद्युत् ही इषु हैं। सोम=प्रेरक या उसका उत्पादक सोम= वात अधिपति है। क्योंकि वायु की रगड़ से या देह में प्राणबल (Metobolism) से विद्युत् शक्ति या (Personal Magnatism) उत्पन्न होता है। उसका गुण है प्रवेध-प्रबल आघात करना। उसका स्वरूप है 'स्वजः' स्वयं गति करना और आप से आप बहना या उत्पन्न होना। (५) 'ध्रुवा' नीची पृथ्वी की दिशा में ओषधियां, लताएं ही जीव को मृत्यु से बचाती हैं, वे इषु हैं। वे पृथ्वी में सर्वत्र व्यापक होने से विष्णु उनका अधिपति है, नाना वर्ण के पुष्प पत्रादि होने से 'कल्माषग्रीव' उनका रक्षक है, उनके लेपन आदि करने से भूतलवासी सर्प आदि विषैले जन्तुओं का नाश होता है अतः उसके देव वैद्य 'निलिम्प' हैं, या यह गुण स्वतः देव हैं। (६) ऊर्ध्वा दिशा में वहां से आने वाले वर्षा-जल मृत्यु से बचाने वाले इषु हैं। बृहस्पति=मेघ अधिपति है। श्वित्र=सूर्य रक्षक है। जीवों के प्राणों की रक्षा करना ये दिव्य गुण हैं। इत्यादि विचारों की योजना करना उचित है इति दिक्।

[२८] 'यमिनी' राजसभा और गृहणी के कर्तव्यों का उपदेश ।

पशुपोषणकामो ब्रह्मा ऋषिः । यमिनी देवता । १ अतिशाक्वरगर्भा चतुष्पदा अतिजगती, ४ यवमध्या विराट्-ककुप्, ५ त्रिष्टुप्, ६ विराड्गर्भाप्रस्तारपंक्तिः । २, ३ अनुष्टुभौ । षडृचं सूक्तम् ॥

एकैकयैषा सृष्ट्या सं बभूव यत्र गा असृजन्त भूतकृतो विश्वरूपाः ।
यत्र विजायते यमिन्यपर्तुः सा पशून् क्षिणाति रिफती रुशती ॥१॥

भा०—(एकैकया) एक एक ही (सृष्ट्या) सृष्टि=सर्जन व्यवस्था रचना के नियम (Organisation) से (एषा) यह जगत् की रचना (सं बभूव) एकत्र होकर बनी है । यत्र जिसमें (भूतकृतः) प्राणियों को उत्पन्न करने वाली (विश्वरूपाः) नाना प्रकार की (गाः) गतियां, आश्रयरूप भूमियां, शक्तियां (असृजन्त) बनी हैं । (यत्र) और जहां (यमिनीः) वह नियमकारिणी अथवा नियामक परमेश्वरी शक्ति, तत्स्थानीय राजशक्ति (अपर्तुः) विना नियत ऋतु अर्थात् उचित काल के (विजायते) विपरीत, एक दूसरे की विरोधी रूप में होने लगती हैं (सा) वह अव्यवस्था (पशून्) पशुओं को, जीवों को (रिफती) विनाश करती हुई, (रुशती) और मारती हुई, कष्ट देती हुई (क्षिणाति) उनका विध्वंस कर देती है । अथवा जिस प्रकार विना ऋतु के, बेमौसम (यमिनी) जोड़ा जनने वाली गाय विपरीत नियम से जोड़े बच्चे पैदा करती है वह पशुओं के विनाशसूचक होती है उसी प्रकार एक ही व्यवस्था जीवों को सुख देती, विरुद्ध=विपरीत अनवसर-व्यवस्था जीवों का नाश करती है ।

अथवा—एक परमात्मा से संगत एक प्रकृतिरूप (सृष्टि) सर्जन

[२८] १–' रुपतो ', ' रुष्यती ' इति ह्विटनिकामितः पाठः । (प्र०) ' एकैकयेषां ', ' सृष्ट्वा ' इति क्वचित् ।

शक्ति='प्रधान' जब (सं बभूव) उचित रीति से व्यक्त रूप में प्रकट हुई तब (विश्वरूपाः) नानारूप धारण करने वाली (भूतकृतः) पञ्च भूतों को पैदा करने वाली (गाः असृजन्त) नाना विकृतियां (असृजन्त) बनीं (यत्र) जब (यमिनी) प्रकृति (अपर्तुः) ऋतु=सत्य ज्ञानस्वरूप ब्रह्म के ज्ञान या सत्यमय स्वभाव से शून्य होकर (विजायते) विपरीत—रजः तमःरूप में विकृत होती है तब (सा) वह (रिफती रुशती) राजस और तामस भावों से गर्भस्थ बालकों का नाश करती हुई (पशून् क्षिणोति) जीवों के विनाश का कारण होती है ।

अथवा—(एकाऽएकया एषा सृष्ट्या सं बभूव) यह समस्त लोक प्रजा वर्ग एक पुरुष, एक नर, इस प्रकार एक के साथ एक सृष्टि=सर्जन शक्ति के संयोग से उत्पन्न हुआ-हुआ । (यत्र) जिस लोक में (विश्वरूपा भूतकृताः गाः असृजन्त) नाना प्रकार की गौएं, भूमियां, योनियां, माताएं, स्त्रियें, जीव गर्भ-धारक क्षेत्र बनाये गये हैं । (सा यमिनी) यदि जोड़ा बनी अपने नरशक्ति से संगत मादा प्रकृति नारी, वह (अपर्तुः) ऋतुकाल के बिना ही (यमिनी) दूसरी उत्पादक नरशक्ति पुरुष से संगत होकर (विजायते) विरुद्ध प्रजा उत्पन्न करे तो (सा) वह स्त्री (रिफती रुशती) हिंसाशील, क्रोधपरायण होकर (पशून क्षिणात्) उन बीजरूप जीवों का नाश करती है ।

एषा पशून्त्सं क्षिणाति क्रव्याद् भूत्वा व्यद्वरी ।
उतैनां ब्रह्मणे दद्यात् तथा स्योना शिवा स्यात् ॥ २ ॥

भा०—(एषा) वह अव्यवस्थापिका सभा, विपरीत जाने हारी शासन-समिति (व्यद्वरी[1]) एक दूसरे को खा जाने वाली होने के कारण (क्रव्याद्) एक दूसरे के शरीर के मांस की लोलुपा (भूत्वा) होकर (पशून्)

१. 'वि-अद्वरी' इति पदपाठः । 'व्यध्वरी' इति सायणः ।

पशुओं का, मूर्ख अनभिज्ञ साधारण प्रजाजनों का (सम् क्षिणोति) खूब परस्पर नाश कराती है। तब क्या उपाय करे (उत) तो फिर (एनां) इस दुर्व्यवस्था की बागडोर (ब्रह्मणे दद्यात्) ब्रह्म=वेद के जानने हारे परम विद्वान् पुरुष, जज्ज, व्यवस्थापक के हाथ में देदे (तथा) तभी वह (स्योना) सुखकारिणी और (शिवा) मंगलजनक (स्यात्) हो जाती है। अथवा—वह तामसी और राजसी प्रकृति एक दूसरे की विनाशिका होने से मनुष्य के शरीर की विनाशक हो जाती है और जीवों को नष्ट करती है इसलिये जीवों को चाहिये कि उस प्रकृति को ब्रह्म—अर्थात् सत्व के अधीन कर दे, जिससे वह भी सुख और कल्याणकारी हो जाय।

अथवा—यदि वह नारी केवल (व्यद्वरी) भोगप्रिया होकर (क्रव्याद्) कच्चे जीवों का नाशक होकर और बीजभूत जीवों का विनाश करे तो भी उसको (ब्रह्मणे) विद्वान् वैद्य के पास ले जाय जिससे पुनः गृहस्थसुख को देने वाली हो जाय।

शिवा भव पुरुषेभ्यो गोभ्यो अश्वेभ्यः शिवा।
शिवास्मै सर्वस्मै क्षेत्राय शिवा न इहैधि ॥ ३ ॥

भा०—हे यमिनि=राजव्यवस्थापिके ! (पुरुषेभ्यः शिवा भव) तू राष्ट्र के पुरुषों के लिये कल्याणकारी हो और (गोभ्यः अश्वेभ्यः शिवा) गौओं और अश्व आदि पशुओं के लिये भी कल्याणकारी हो। (अस्मै सर्वस्मै क्षेत्राय शिवा भव) इस समस्त क्षेत्र=राष्ट्र के लिये कल्याण, सुखकारी हो और (नः) हमें (शिवा इह) कल्याण=सुख की देने हारी होकर यहां (एधि) विराजमान रह।

नारी के पक्ष में भी स्पष्ट है कि वह ऋतुकाल से अतिरिक्त भोग न करके यमिनी=गृहस्थ व्यवस्था में अपने पति से संगत रह कर, गृह के

पुरुषों और पशुओं के लिये सुखकर हो, अपने क्षेत्र के लिये भी सुखदायिनी हो कर घर में रहे।

इह पुष्टिरिह रस इह सहस्रसातमा भव ।
पशून् यमिनि पोषय ॥ ४ ॥

भा०—हे (यमिनि) विवाहिता नारि! अथवा हे व्यवस्थापिकासभे! (इह) इस गृह और क्षेत्र में (पुष्टिः) पोषदायक पदार्थों से परिपोषण हो, (इह रसः) यहां जल और रसदायक पदार्थों की वृद्धि हो और तू (इह सहस्रसातमा भव) यहां सहस्रों प्रकार के पदार्थों को देने वाली हो। (पशून् पोषय) तू राष्ट्र-पशुओं और अनभिज्ञ प्रजाजनों को पुष्ट कर इसी प्रकार गृहिणी पशुओं को और बालक जीवों को पुष्ट करे।

यत्रा सुहार्दः सुकृतो मदन्ति विहाय रोगं तन्वः स्वायाः ।
तं लोकं यमिन्यभिसंबभूव सा नो मा हिंसीत् पुरुषान् पशूंश्च ॥५॥

पूर्वार्धः अथर्व० ६ । १२० । ३ ॥

भा०—हे (यमिनि) विवाहित नारी अथवा नियमव्यवस्था या ब्रह्मचर्य व्रत की पालिके! (यत्र) जहां (सुहार्दः) उत्तम हृदय वाले (सुकृतः) पुण्यात्मा सदाचारी लोग (स्वायाः तन्वः) अपने शरीर के (रोगं) रोग को (विहाय) परित्याग करके सदा नीरोग होकर (मदन्ति) आनन्द प्रसन्न रहते हैं हे (यमिनि) ब्रह्मचारिणि! (तं लोकं) तू उस लोक= देश में जाकर (अभि संबभूव) अपना गृहस्थ बनाकर रह। वह (नः) हमारे (पुरुषान् पशून् च) पुरुषों और पशुओं को (मा हिंसीत्) विनाश न करे। अर्थात् वह दुराचारिणी होकर कलह का कारण न हो।

व्यवस्थापिका सभा के पक्ष में—जहां उत्तम चित्तवाले, पुण्यात्मा, नीरोग शरीर से प्रसन्न रहते हैं वहां वह समिति अपनी उत्तम व्यवस्था करती है। वहां वह पुरुषों और पशुओं को नाश नहीं होने देती।

यत्रा॑ सुहार्दां॑ सुकृता॑मग्निहोत्रहुतां॒ यत्र॑ लो॒कः ।
तं लो॒कं य॒मिन्य॑भि॒संब॑भूव॒ सा नो॒ मा हिंसीत् पुरु॑षान् प॒शूँश्च॑ ॥६॥

भा०—हे (यमिनि) ब्रह्मचारिणि ! (यत्र) जिस देश में (सुहार्दां) उत्तम चित्त वाले (सुकृतां) पुण्याचारी, सदाचारी, (अग्निहोत्रहुतां) नित्य यज्ञ हवन का सम्पादन करने वाले पुरुषों का (लोकः) निवास है। (तं लोकं) उस लोक में (अभि संबभूव) तू जाकर विवाहित हो जिससे बुरे लोकों की संगति में पड़कर तू (नः) हमारे (पुरुषान् पशून् च मा-हिंसीत्) पुरुषों और पशुओं को कलह और लोभ के कारण नाश न करे पूर्वोक्त प्रकार से व्यवस्थापिका राजसभा के पक्ष में भी लगा लेना।

[२९] राजसभा के सदस्यों के कर्तव्य ।

उद्दालक ऋषिः । शितिपादोऽविर्देवता । ७ कामो देवता । ८ भूमिर्देवता । १, ३ पथ्यापंक्तिः, ७ त्र्यवसाना षट्पदा उपरिष्टाद्दैवीबृहती ककुम्मतीगर्भा विराड् जगती, ८ उपरिष्टाद् बृहती । २, ४, ६ अनुष्टुभः । अष्टर्चं सूक्तम् ॥

यद् राजा॑नो वि॒भज॑न्त इष्टापू॒र्तस्य॑ षोड॒शं य॒मस्या॒मी स॑भा॒सदः॑ ।
अवि॒स्तस्मा॒त् प्र मु॑ञ्चति द॒त्तः शि॑ति॒पात् स्व॒धा ॥ १ ॥

भा०—राजसभा के सभासदों के कर्तव्यों का उपदेश करते हैं— (यमस्य) सब राष्ट्र के नियामक राजा के (अमी) ये (सभासदः) सभा में विराजमान शिष्टों के परिपालन और दुष्टों के दमन में नियुक्त (राजानः) राजा लोग (इष्टापूर्तस्य) परस्पर की संगति से होने वाले नाना शिल्पकार्यों, देवोपासनाओं और यज्ञों के आपूर्त=कूप, आराम,

[२९] १–(द्वि०) 'मुञ्चतु' इति सायणः ।

तडाग, सेतु आदि लोकोपकारक कार्यों के फल के (षोडश) सोलहवें हिस्से को (यद्) जब (विभजन्तः) विभाग करके स्वयं ले लेते हैं। (तस्मात्) इस कारण से (अविः) राजा, सूर्य के समान (शितिपात्) श्वेतचरण, श्वेताश्व या शुक्लस्वरूप, उज्ज्वल रूप तीक्ष्णप्रकृति सेना का पालक होकर (स्वधा) स्वयं राष्ट्र का पालन करता हुआ (दत्तः) उचित रूप से करादि प्राप्त करके (प्रमुञ्चति) राष्ट्र को अन्य बन्धनों से मुक्त कर देता है।

अध्यात्म पक्ष में—यम के सभासद् इस तपस्वी शरीर के भीतर व्यापक प्राण इस शरीर के इष्टापूर्त की सोलहों कला का विभाग किये बैठे हैं। जो इस शरीर का आत्मा वह (दत्तः) स्वयं इनका बल प्राप्त कर के उज्ज्वल ज्ञानी होकर स्वयं सब का धारण करने वाला (प्र मुञ्चति) मुक्त हो जाता है।

१६ कलाएं देखो प्रश्नोपनिषद् में—

"इहैवान्तः शरीरे सोम्य स पुरुषो यस्मिन्नेताः षोडश कलाः प्रभवन्ति॥ स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियं। मनोऽन्नाद् वीर्यं तपो मन्त्राः कर्म लोका लोकेषु नाम च ॥ एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडशकलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तंगच्छन्ति। भिद्येते तासां नामरूपे पुरुष इत्येवं प्रोच्यते। स एषोऽकलोऽमृतो भवति। तदेष श्लोकः। अरा इव रथनाभौ कलाः यस्मिन् प्रतिष्ठिताः । तं वेद्यं पुरुषं वेद यथा मा वो मृत्युः परिव्यथाः।" इति (प्रश्न उप० प्र० ६)

इसी शरीर में सोलह कलाएं हैं—प्राण, श्रद्धा, खं, वायु, ज्योति, आपः, पृथिवी, इन्द्रिय, मन, अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म, लोक और नाम, ये सब उस परिद्रष्टा आत्मा की सोलह कलाएं उसके आश्रय पर हैं। उसी में लीन हो जाती हैं वह मुक्त हो जाता है और बाद को मृत्यु नहीं सताती।

सर्वान् कामान् पूरयत्याभवन् प्रभवन् भवन् ।
आकूतिप्रोविर्दत्तः शितिपान्नोप दस्यति ॥ २ ॥

भा०—राजपक्ष में—(शितिपाद्) तीक्ष्ण सेना का पालन करने वाला राजा, (अविः) राष्ट्र का पालक (दत्तः) करादि प्राप्त करके (सर्वान् कामान् पूरयति) राष्ट्र की सब अभिलाषाओं, आवश्यकताओं को पूर्ण कर देता है (आभवन्) सब प्रकार से सामर्थ्यवान् (प्रभवन्) प्रभुता सम्पन्न (भवन्) हो कर भी (आकूतिप्रः) प्रजा के समस्त शुभ संकल्पों को पूर्ण करने वाला होकर (न उपदस्यति) राष्ट्र का विनाश नहीं करता ।

अध्यात्म पक्ष में—अवि यह आत्मा शितिपाद् ज्ञान या प्रकाश का पालक होकर (दत्तः) ब्रह्म में अर्पित होकर, सर्वाप्तकाम, सर्वसामर्थ्य होकर सर्वकामनाओं को पूर्ण करके फिर विनाश को प्राप्त नहीं होता । इह चेद-वदीदथ सत्यमस्ति न चेहावेदीन् महती विनष्टिः । उपनि० ।

यो ददाति शितिपादमविं लोकेन संमितम् ।
स नाकमभ्यारोहति यत्र शुल्को न क्रियते अबलेन बलीयसे ॥३॥

भा०—(यः) जो (शितिपादं) ज्ञान स्वरूप (लोकेन संमितं) इहलोक और परलोक या लोक—योनिरूप में समान रूप से जाने गये (अविं) आत्मा को (ददाति) परब्रह्म में अर्पित कर देता है (स नाकम् अभि-आरोहति) वह उस मोक्षाख्य स्वर्ग—सुखमय लोक को प्राप्त होता है (यत्र) जहां (अबलेन) निर्बल, बलहीन पुरुष (बलीयसे) बलवान् पुरुष को (शुल्को न क्रियते) शुल्क, कर नहीं देता । राजपक्ष में जो शितिपाद्–तीक्ष्ण सेना पालक राष्ट्र के समान माननीय राजा को समस्त राष्ट्रभार सौंप देता है वह प्रजाजन स्वर्ग के समान राज्यसुख का भोग करता है जिस से बलवान् निर्बलों पर अन्यायपूर्वक कोई कर नहीं ले सकते ।

दुःखेन यन्न संभिन्नं नच ग्रस्तमनन्तरम् ।
अभिलाषोपनीतं च सुखं स्वर्गपदास्पदम् । स्फुटम् ॥

दुःख से मिला न हो और बाद में भी कष्ट न हो और इच्छानुसार सुख हो, वही स्वर्ग है ।

पञ्चापूपं शितिपादमविं लोकेन संमितम् ।
प्रदातोप जीवति पितृणां लोकेक्षितम् ॥ ४ ॥

भा०—(पञ्च अपूपम्) पांच अपूप, मालपूओं पांच विषय भोगों से युक्त, भोक्ता (शितिपादम्) ज्ञानस्वरूप चेतन (अविं) अपने अंगों के रक्षक, लोक से लोकान्तर में गति करने वाले, (लोकसंमितम्) लोक के समान जाने गये उस आत्मा को (प्रदाता) परब्रह्म में समर्पित करने हारा (पितृणाम् लोके) पितरों के प्राजापत्य लोक, दक्षिणायन मार्ग में भी (अक्षितम्) अक्षय (जीवति) जीवन का भोग करता है ।

राजपक्ष में जो प्रजाजन ऐसे राष्ट्रपति को राष्ट्र की रक्षा के लिये नियुक्त कर देता है वह अन्य शासकों के रहते हुए भी नहीं होता ।

पञ्चापूपं शितिपादमविं लोकेन संमितम् ।
प्रदातोप जीवति सूर्यामासयोरक्षितम् ॥ ५ ॥

भा०—(लोकेन संमितम्) 'लोक' के समान जाना गया (शितिपादम् अविं) ज्ञानवान्, चेतनावान् (पञ्च-अपूपम्) पांचों ज्ञानों के कर्त्ता आत्मा को जो परमेश्वर में (प्रदाता) समर्पित करता है वह (सूर्या मासयोः) सूर्य और चन्द्रमा दोनों लोकों में (अक्षितम् जीवति) अक्षय जीवन प्राप्त करता है।

इरेव नोप दस्यति समुद्रइव पयो महत् ।
देवौ सवासिनाविव शितिपान्नोप दस्यति ॥ ६ ॥

५–(च०) ' सूर्यमासयोरिति ' प्रामादिकः पाठः ।

भा०—(इरा इव न उपदस्यति) जिस प्रकार अन्न समस्त प्राणियों से भोग किया जाकर भी नहीं समाप्त होता उसी प्रकार वह आत्मा भी नष्ट या समाप्त नहीं हो (समुद्र इव महत् पयः) और जिस प्रकार समुद्र अथाह होता है और उस में बड़ा भारी जल का भण्डार है उसी प्रकार वह आत्मा भी समुद्र के समान सब वृत्तियों का आश्रय और ज्ञानरस का भण्डार हो जाता है। (सवासिनौ) समान रूप से आत्मा के साथ सदा वर्त्तमान (देवौ इव) दोनों देव सूर्य चन्द्र के समान या द्यौ पृथिवी के समान प्राण और अपान जैसे कभी नष्ट नहीं होते उसी प्रकार यह (शितिपाद्) चेतन आत्मा भी (न उपदस्यति) कभी विनाश को प्राप्त नहीं होता।

क इ॒दं कस्मा॑ अदा॒त् काम॒: कामा॑यादात् ।
कामो॑ दा॒ता काम॑: प्रतिग्रही॒ता काम॑: समुद्रमा वि॑वेश ।
कामे॑न त्वा॒ प्रति॑ गृह्णामि॒ कामै॒तत् ते॑ ॥ ७ ॥

यजु० ७ । ४८ ॥

भा०—पूर्व मन्त्रों में 'शितिपाद्' का वर्णन किया है। इसमें इस का निर्णय करते हैं कौन किस को क्या देता है। (कः इदं कस्मै अदात्) कौन इस 'अवि' आत्मा को किस के प्रति समर्पित करता है। पूर्वोक्त मन्त्रों में इसका निर्णय नहीं किया उसका रहस्य भी बतलाते हैं। (कामः अदात्) काम—कामना करने हारे जीव ने अपने आत्मा को (कामाय अदात्) सब के अभिलाषा करने योग्य, कमनीय पर ब्रह्म के प्रति अर्पित किया। (कामः दाता कामः प्रति-गृहीता) काम ही दान करता है—काम ही प्रतिग्रह स्वीकार करने वाला है। अर्थात् (कामः) काम=कमना करने

७–'काम समुद्रमाविश' इति तै० आ० । को अदात् कस्मा अदात् । कामोदात् कामायादात् । 'कामो दाता कामः प्रतिगृहीता कामैतत्ते' इति यजु० ।

वाला जीव स्वयं (समुद्रं) उस महान् रस के सागर में (आविवेश) प्रवेश करता है । इसलिये हे जीव ! (त्वा) तुझ को मैं परमात्मा (कामेन) तेरे काम-अभिलाषा से ही तुझको (प्रति गृह्णामि) स्वयं अपने में आश्रय देता हूं (एतत् ते काम) हे काम ! यह तेरा स्वरूप काम=कामनामय ही है । अर्थात् जिस कामना में जीव रहता है वही लोक उसे प्राप्त होता है । इसलिये आत्मा को कामनावश ही (लोकेन संमितः) लोक के समान कहा है ।

इसी परस्पर-अभिलाषा में मग्न स्त्री पुरुष भी परस्पर एक दूसरे को समर्पण करते हुए कहते हैं ।

प्र०—(कः इदं कस्मै अदात्) किसने यह किसको सौंपा ?

उत्तर—(कामः कामाय अदात्) काम=परस्पर की अभिलाषा ने उस अभिलाषा के निमित्त एक दूसरे को सौंप दिया । अर्थात् (कामो दाता कामः प्रतिग्रहीता) सौंपने वाला भी अभिलाषुक है और लेने वाला भी उसी प्रकार का इच्छुक है । लेने वाला मैं पति (कामेन त्वा-प्रतिगृह्णामि) अभिलाषा से प्रेरित होकर ही तुझ को स्वीकार करता हूं हे (काम) हे काम ! अभिलाषुक (ते एतत्) यही तेरी अभिलाषा पूर्ण हो ।

भूमिष्ट्वा प्रति गृह्णात्वन्तरिक्षमिदं महत् ।
माहं प्राणेन मात्मना मा प्रजया प्रतिगृह्य वि राधिषि ॥ ८ ॥

भा०—दान ग्रहण करने वाला ग्रहण करते हुये सदा विचार करे कि (त्वा भूमिः प्रतिगृह्णातु) हे समर्पित द्रव्य ! तुझे यह भूमि स्वीकार करे और (इदं महत् अन्तरिक्षं) यह बड़ा भारी अन्तरिक्ष भी आश्रय दे । (अहं) मैं समर्पक (प्राणेन मा) प्राण से कोई अपराध न करूं (मा आत्मना) आत्मा, चित्त और देह से कोई अपराध न करूं और (प्रति-गृह्य) स्वीकार करके (प्रजया) अपनी प्रजा से भी (मा विराधिषि) कभी अपराध न करूं ।

[३०] परस्पर मिलकर एक चित्त होकर रहने का उपदेश ।

अथर्वा ऋषिः । चन्द्रमाः साम्मनस्यञ्च देवता । १–४ अनुष्टुभः । ५ विराड्जगती, ६ प्रस्तार पंक्तिः, ७ त्रिष्टुप् । सप्तर्च सूक्तम् ॥

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः ।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥ १ ॥

भा०—मिल कर एकचित्त होकर परस्पर प्रेम से रहने का उपदेश करते हैं । मैं न्यायाधीश प्रभु (वः) तुम सब प्रजाओं को जो आपस में विवाद करती हैं (सहृदयं) समान हृदय और (सांमनस्यं) समान रूप से उत्तम चित्त वाला (अविद्वेषं) विना द्वेषभाव के रहने का (कृणोमि) उपदेश करता हूं । हे प्रजागण ! (जातं वत्सं अघ्न्या इव) जिस प्रकार उत्पन्न हुए बच्छे के प्रति प्रेम से खिंचकर गाय दौड़ी हुई आती है उस प्रकार (अन्यः अन्यम् अभि हर्यत) एक दूसरे के पास मिलने के लिये प्रेम से खिंचकर जाओ ।

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः ।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शान्तिवाम् ॥ २ ॥

भा०—(पुत्रः) पुत्र (पितुः) पिता का (अनुव्रतः) आज्ञाकारी हो और (मात्रा) माता के साथ (सं-मनाः) अनुकूल और सद्-हृदय वाला (भवतु) रहे । और (जाया) स्त्री अपने (पत्ये) पति के लिये सदा (मधु-मतीम्) मधुर (शन्तिवाम् वाचम्) शान्तियुक्त, सुखप्रद, कल्याण वाणी को (वदतु) बोले ।

---

[३०] १–' सांमनुष्य '-मिति सायणाः (च०). ' अघ्न्याः ' इति सायणः ।
२–(द्वि०) ' माता भवतु ' इति सायणः ।

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा ।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ॥ ३ ॥

भा०—(भ्राता भ्रातरं मा द्विक्षत्) भाई भाई से द्वेष न करे (उत) और (स्वसा स्वसारम् मा) वहिन अपनी वहिन से द्वेष न करे । हे प्रजाजनो ! सब (सम्यञ्चः) एकत्र होकर (स व्रताः) एक दूसरे के अनुकूल एकचित्त और एक ही उद्देश्य में होकर (भद्रया) कल्याण और सुखप्रद वाणी से (वाचं वदत) एक दूसरे की वाणी का उत्तर दो ।

येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः ।
तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः ॥ ४ ॥

भा०—(येन) जिस वेद-ज्ञान को प्राप्त करके (देवाः) देवगण, विद्वान् लोग (न वि-यन्ति) एक दूसरे का विरोध नहीं करते और (मिथः नो च विद्वेषते) परस्पर भी द्वेष नहीं करते (पुरुषेभ्यः) समस्त पुरुषों को (सं-ज्ञानं) उत्तम ज्ञान प्राप्त कराने वाले (तत्) उस (ब्रह्म) ब्रह्म=वेदविज्ञान के उपदेश को (वः गृहे) आप लोगों के घर में (कृण्मः) करते हैं ।

ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः ।
अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान् वः संमनसस्कृणोमि ॥ ५ ॥

भा०—हे मनुष्यो ! आप लोग (ज्यायस्वन्तः) एक दूसरे से बड़े, और श्रेष्ठ गुण सम्पन्न होकर भी (चित्तिनः) समानचित्त होकर (संराधयन्तः) समान कार्य का साधन करते हुए (सधुराः) एक ही प्रकार से

३—भ्रातरं द्विष्यात् (च०) 'वदतु' इति सायणाः ।

५—(द्वि०) 'सुधीराध-' इति पैप्प० सं० । (च०) 'समग्रास्थ सभ-' पैप्प० सं० । (तृ०) 'एत' इति सायणः ।

भार उठाते हुए अथवा समान रूप से एक ही धुरा=केन्द्र में बद्ध होकर विचरण करते हुए (मा वियौष्ट) कभी एक दूसरे से जुदा मत होओ। और (अन्यः अन्यस्मै) एक दूसरे के प्रति (वल्गु वदन्तः) मनोहर वचनों का प्रयोग करते हुए (एत) एक दूसरे से मिलो और आओ (सध्रीचीनः) समान रूप से एक ही स्थान पर एकत्र हुए (वः) तुम लोगों को मैं (संमनसः) एक ही चित्त और मन वाला (कृणोमि) बनाता हूं। अर्थात् वैसा होने का उपदेश करता हूं।

समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः ॥ ६ ॥

भा०—हे मनुष्यो! (समानी प्रपा[1]) आप लोगों की एक ही पानीयशाला हो जहां से सब समान रूप से जल पी सकें। (वः सह अन्न-भागः[2]) तुम लोगों का परस्पर प्रेम से एक साथ ही अन्न का भोजन हो इसी कारण (वः) तुम लोगों को मैं (समाने योक्त्रे) एक ही बन्धन में (युनज्मि) बांधता हूं, जोड़ता हूं। और (सम्यञ्चः) उत्तम रीति से एक फल को प्राप्त करने की अभिलाषा से एकत्र होकर ही (नाभिम् इव अभितः अरा) नाभि के चारों ओर अरों के समान (अग्निं) ज्ञान स्वरूप परमेश्वर और विद्वान् गुरु और यज्ञाग्नि होम की (सपर्यत) उपासना करो।

सध्रीचीनान् वः संमनसस्कृणोम्येकश्नुष्टीन्त्संवननेन सर्वान्।
देवा इवामृतं रक्षमाणाः सायंप्रातः सौमनसो वो अस्तु ॥ ७ ॥

भा०—(सध्रीचीनान्) एक कार्य में उद्योग करने वाले एवं एक

१. समानी एका प्रपा पानीयशाला, इति सायणः।

२. परम्परानुरागवशेन एकत्रावस्थितमन्नपानादिकं युष्माभिरुपभुज्यतामित्यर्थः। इति सायणः।

७–' सध्रीचो वः ' इति लैन्मनूकामितः पाठः।

स्थान पर एकत्र होने वाले (वः सर्वान्) आप सब लोगों को (संवननेन) एक दूसरे के प्रति प्रेम उत्पन्न करके और आप लोगों को समान द्रव्यभाग देकर (एकश्नुष्टीन्) एक जैसे भोजन करने और (संमनसः) समान चित्त वाला होने का (कृणोमि) उपदेश करता हूं। आप सब लोग (अमृतं) अमृत=सत्य आत्मा की (रक्षमाणाः) रक्षा करते हुए (देवा-इव) इन इन्द्रिय गणों के समान रहो और (वः) आप लोगों का (सायं-प्रातः) सायंकाल और प्रातःकाल दोनों समय (सौमनसः) उत्तमहृदय परस्पर आदर प्रेम युक्त चित्त (अस्तु) रहे।

[३१] पाप से मुक्त होने का उपाय।

ब्रह्मा ऋषिः । पाप्महा देवता । १-३, ६-११ अनुष्टुभः, ४ भुरिग् , ५ विराट् प्रस्तार पंक्तिः । एकादशर्चं सूक्तम् ॥

वि देवा जरसावृतन् वि त्वमग्ने अरात्या ।
व्यहं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ १ ॥

भा०—हे (देवाः) इन्द्रियगणो ! और विद्वान् पुरुषो ! (जरसा वि अवृतन्) शरीर की आयु का नाश करने वाले बुढ़ापे से दूर रहो, हे (अग्ने) विद्वन् या परमेश्वर ! (त्वम्) तू (अरात्या) कंजूस शत्रु से (वि) हमें दूर रख, (अहम्) और मैं (सर्वेण पाप्मना) सब प्रकार के पाप=मानसिक बुराइयों से (वि...) स्वयं दूर हूं और हे शिष्य तुझे भी दूर रखूं। (यक्ष्मेण वि) रोग से भी तुझे दूर रखूं और स्वयं भी दूर रहूं। और (आयुषा सम्) तुझे आयु से संयुक्त करूं, तेरी आयुवृद्धि करूं और स्वयं भी आयु से सम्पन्न होऊं।

[३१] १-' जरसावृतन् ' इति प्रामादिकः क्वचित्।

व्यार्त्या पवमानो वि शक्रः पापकृत्यया ।
व्य१हं० ॥ २ ॥

भा०—(पवमानः) सब को पवित्र करने वाला सूर्य और उसके समान परमात्मा और वायु (आर्त्या वि) सब प्रकार की पीड़ा से दूर रखे। और (शक्रः) शक्तिमान् परमात्मा (पापकृत्यया वि) सब पापकर्म, बुरे आचरणों से (वि) परे रखे । (अहं सर्वेण पाप्मना वि०) इत्यादि पूर्ववत् ।

वि ग्राम्याः पशव आरण्यैर्व्या/पस्तृष्णयासरन् ।
व्य१हं० ॥ ३ ॥

भा०—(ग्राम्याः पशवः) ग्राम में रहने वाले गौ भैंस आदि पशु जिस प्रकार (आरण्यैः) जंगल के निवासी व्याघ्र सिंह आदि से भयभीत होकर (वि असरन्) परे भागते हैं और जिस प्रकार (तृष्णया) प्यास से (आपः) जल परे रहते हैं । उसी प्रकार (अहं) मैं (सर्वेण पाप्मना वि) सब पापों से परे रहूं । (यक्ष्मणा वि) और मैं सब रोगों से मुक्त और (आयुषा सम्) आयु से सम्पन्न रहूं ।

वी३मे द्यावापृथिवी इतो वि पन्थानो दिशंदिशम् ।
व्य१हं ॥ ४ ॥

भा०—जिस प्रकार (इमे द्यावापृथिवी वि इतः) ये दोनों आकाश और पृथिवी पृथक् २ हुए हुए हैं, और जिस प्रकार (पन्थानः) बहुत से मार्ग (दिशं-दिशम् वि यन्ति) भिन्न २ दिशाओं में चले जाते हैं उस प्रकार (अहं सर्वेण पाप्मना वि) मैं स्वयं सब पापों से परे रहूं और (यक्ष्मा वि) सब रोगों से मुक्त और (आयुषा सम्) आयु से सम्पन्न रहूं और हे शिष्य तुझे भी ऐसा ही करूं ।

त्वष्टा दुहित्रे वहतुं युनक्तीतीदं विश्वं भुवनं वि याति ।
व्य१हं० ॥ ५ ॥

भा०—जिस प्रकार (त्वष्टा) पिता (दुहित्रे) अपनी कन्या के लिये (वहतुं) विदाई के अवसर पर उसको जामाता के घर भेजने के लिये रथ को (युनक्ति) जोड़ता और उस पर बैठा कर दूर भेज देता है और जिस प्रकार (इदं विश्वं भुवनं) यह समस्त ब्रह्माण्ड (वि याति) एक एक से अलग २ रहता है उसी प्रकार इच्छापूर्वक (अहं सर्वेण पाप्मना, वि यक्ष्मेण वि, आयुषा सम्) मैं स्वयं अपने आपको सब पापों से दूर रखूं, सब रोगों से दूर रखूं और सम्पन्न रहूं ।

अग्निः प्राणान्त्सं दधाति चन्द्रः प्राणेन संहितः ।
व्य१हं० ॥ ६ ॥

भा०—जिस प्रकार (अग्निः) जाठर अग्नि—अन्न का खाने वाला (प्राणान्) सब शरीर के प्राणों को (सं दधाति) उत्तम रूप से पालन पोषण करता है और (चन्द्रः) अन्न स्वयं (प्राणेन संहितः) प्राण के साथ या मन के साथ मिल कर शरीर को पुष्ट करता है उसी प्रकार (अहं सर्वेण पाप्मना वि, यक्ष्मेण वि, आयुषा सं) सब पापों और रोगों से मुक्त रह कर आयु से सम्पन्न होऊं ।

प्राणेन विश्वतोवीर्यं देवाः सूर्यं समैरयन् ।
व्य१हं० ॥ ७ ॥

भा०—(देवाः) विद्वान् लोग जिस प्रकार (विश्वतः-वीर्यम्) सब प्रकार के वीर्य=सामर्थ्य से युक्त सूर्य को (प्राणेन) प्राणों के साथ (समैरयन्) संगत करते हैं और जिस प्रकार देव=इन्द्रियगण अपने प्राण के साथ सर्व शक्तिमान सब के प्रेरक आत्मा को संगत करके रखते हैं उसी प्रकार हे पुरुषो ! तुम भी अपने प्राण के साथ उस सर्व शक्तिमान् प्रभु को मिलाये

रखो। और मैं भी (अहं सर्वेण पाप्मना वि, यक्ष्मेण वि, आयुषा सं) सब पापो और रोगों से परे रह कर आयु से सम्पन्न होऊं।

आयुष्मतामायुष्कृतां प्राणेन जीव मा मृथाः।
व्यहं० ॥ ८ ॥

भा०—हे जीव ! (आयुष्मताम्) दीर्घ आयु वाले और (आयुष्कृताम्) दीर्घ आयु को बनाने वाले देवों विद्वानों और दिव्य गुण वाले पदार्थों के (प्राणेन) ज्ञान रूप और शक्ति रूप सामर्थ्य से तू (मा मृथाः) मृत्यु का ग्रास मत बन। (वि अहं०) इत्यादि पूर्ववत्।

प्राणेन प्राणतां प्राणेहैव भव मा मृथाः।
व्यहं० ॥ ९ ॥

भा०—हे जीव ! हे प्राण ! (प्राणतां) प्राण लेने वाले प्राणियों के (प्राणेन) प्राण धारण करने के सामर्थ्य से ही तू भी (प्राण) यहां प्राण ले और (इह एव भव) यहां ही विद्यमान रह और (मा मृथाः) देह त्याग करके मृत्यु का ग्रास मत बन। जिस प्रकार और प्राणी प्राण लेते और रहते हैं उसी प्रकार तू भी जी और उद्योग कर (अहं सर्वेण०) इत्यादि पूर्ववत्।

उदायुषा समायुषोदोषधीनां रसेन।
व्यहं० ॥ १० ॥

भा०—(आयुषा) दीर्घ आयु से हम (उत् अस्थाम) उन्नत दशा को प्राप्त कर मृत्यु से दूर रहें। (आयुषा सम्) आयु से सम्पन्न होकर इस लोक में विराजमान रहें और यदि रोग आवे तो (ओषधीनां रसेन) ओषधियों के रसों से (उद्) मृत्यु को दबा कर हम बने रहें। (वि अहं सर्वेण पाप्मना०) इत्यादि पूर्ववत्।

१०—'स्वायुषो दो.' इति तै० सं०।

आ पर्जन्यस्य वृष्ट्योदस्थामामृता वयम् ।
व्यहं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ ११ ॥

भा०—(वयम्) हम (पर्जन्यस्य वृष्ट्या) मेघ की वर्षा से (आ उद् अस्थाम) सब प्रकार से उन्नति को प्राप्त करें और (अमृताः) अमर हो जांय, मृत्यु को प्राप्त न हों (वि अहं० इत्यादि पूर्ववत्).

इति षष्ठोऽनुवाकः ।

[तत्र सूक्तानि षट्, चतुश्चात्वारिंशद् ऋचः ।]

इति तृतीयं काण्डं समाप्तम् ।

तत्रानुवाकाः षट् चैकत्रिंशत् सूक्तान्यथो ऋचाम् ।
त्रिंशत् शतद्वयञ्चैतत् तृतीयं काण्डमिष्यते ॥

रामवस्वङ्कचन्द्राब्दे चैत्रशुक्लचतुर्दशे ।
शनावथर्वणः काण्डं तृतीयमपि पूर्यते ॥

इति प्रतिष्ठितविद्यालंकार-मीमांसातीर्थविरुदोपशोभितश्रीमज्जयदेवशर्मणा विरचितेऽथर्वणो ब्रह्मवेदस्यालोकभाष्ये तृतीयं काण्डं समाप्तम् ।

११–(प्र०) 'उत्पर्जन्यस्य' इति बहुत्र ।–'शुष्मेणोदस्था' इति तै० सं० । 'पर्जन्यस्य धामभिः' इति यजु० । 'उदस्थाममृतानन्तु' इति बहुत्र ॥

* ओ३म् *

अथ चतुर्थ काण्डम् ।

[१] परमेश्वर की उत्पादक और धारक शक्ति का वर्णन ।

वेन ऋषिः । बृहस्पतिरुत आदित्यो देवता । १, ३, ४, ६, ७ त्रिष्टुभः । २, ५ भुरिजौ । सप्तर्चं सूक्तम् ॥

ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्ताद् वि सीमतः सुरुचो वेन आवः ।
स बुध्न्या उपमा अस्य विष्ठाः सतश्च योनिमसतश्च वि वः ॥ १ ॥

यजु० १३ । ३ ॥ साम० १ । ६२१ ॥ अथर्व० ५ । ६ । १ ॥

भा०—(प्रथमं) सब से श्रेष्ठ (ब्रह्म) परमात्मा की महान् शक्ति (पुरस्तात्) सब से पूर्व (जज्ञानं) उत्पन्न हुई कि (वेनः) प्रकाशमान तेजस्वरूप उस महान् परमेश्वर ने (सीमतः) इन समस्त लोकों के बीच में व्यापक होकर (सुरुचः) सब प्रकाशमान लोकों को (आवः) इस प्रकार प्रकाशित किया जिस प्रकार सूर्य ग्रह मण्डल में रह कर उनको प्रकाशित करता है । और (सः) उस परमेश्वर ने (अस्य) इस संसार के (बुध्न्याः) आधार भूत आकाश में उत्पन्न होने वाली (विष्ठाः) सब लोकों के विशेष रूप से स्थिति देने वाली (उपमाः) सबकी रचना की कारण भूत प्रकृति से उत्पन्न विकृति रूप महत्तत्व सूक्ष्म और स्थूल भूत आदि उन सामग्रियों को भी (वि वः) विशेष रूप से उत्पन्न किया और साथ ही उस परमेश्वर ने (सतः च) इस सत् व्यक्त जगत् के मूल कारण

[१] १–‘ अवत्सारऋषिर्यजुर्वेदे ’ ।

और (असतः च योनिम्) असत्=अव्यक्त, प्रादुर्भूत जगत् के मूल कारण को भी (वि वः) प्रकट किया ।

इयं पित्र्या राष्ट्र्ये॒त्वग्रे॑ प्रथ॒माय॑ ज॒नुषे॑ भुवने॒ष्ठाः ।
तस्मा॑ ए॒तं सु॒रुचं॑ ह्वा॒रम॑ह्यं घ॒र्मं श्री॑णन्तु प्रथ॒माय॑ धा॒स्यवे॑ ॥२॥

भा०—प्रवर्ग्येष्टि के दृष्टान्त से जगत् की उत्पत्ति के रहस्य प्रकट करते हैं । (इयं) यह (पित्र्या) सब के परिपालक प्रभु से प्रकट हुई (राष्ट्री) सब की प्रकाशक पूर्वोक्त ज्ञानशक्ति से (भुवनेष्ठाः) समस्त भुवन=ब्रह्माण्ड में व्यापक होकर (प्रथमाय जनुषे) सब से प्रथम सृष्टि को उत्पन्न करने के लिये (अग्रे) सब से पूर्व (एतु) होनी आवश्यक है । (तस्मा) उसी परम शक्ति से (प्रथमाय) प्रथम उत्पन्न सृष्टि के (धास्यवे) धारण पोषण करने की उचित सामग्री अन्न और पृथिवी आदि को उत्पन्न करने के लिये (एतम्) इस (सुरुचम्) अति दीप्तिमान् (ह्वारम्) गोल या क्रान्ति वृत में घूमने वाले (अह्यं) दिनों के बनाने वाले, (घर्मं) प्रकाशमान सूर्य को (श्रीणन्तु) पूर्वोक्त उत्पादक सामग्री ये उसी प्रकार तपाती हैं जिस प्रकार प्रवर्ग्येष्टि में यज्ञकर्ता घर्म रस को तपाते हैं ।

प्र यो ज॒ज्ञे वि॒द्वान॑स्य॒ बन्धु॒र्विश्वा॑ दे॒वानां॒ जनि॑मा विवक्ति ।
ब्रह्म॒ ब्रह्म॑ण॒ उज्ज॑भार॒ मध्या॑न्नी॒चैरु॒च्चैः स्व॒धा अ॒भि प्र त॑स्थौ ॥ ३ ॥

२-(प्र०) 'पित्रे राष्ट्र्येति' गो० ब्रा० । 'इयं वैपि' इति ऐ० ब्रा० । (द्वि०) 'भुमनेष्ठाः' इति आ० श्रौ० सू० । 'भूमिनष्टौ' इति पैप्प० सं० । (च०) 'श्रीणन्ति प्रथमस्य धासेः' आ० श्रौ० सू० । 'प्रथमस्त्रधास्युः' इति पैप्प० सं० ।

३-(प्र०, द्वि०) 'अस्यबन्धुं विश्वानि देवो जनमा' (च०) 'नीचादुच्चा स्वधयाभि' इति तै० सं० । (प्र० द्वि०) 'बन्धुं विश्वाम् देवा जन', (च०) 'नीचादुच्चास्त्रधयाति' इति पैप्प० सं० । 'प्रयो यज्ञे' इति च बहुत्र ।

भा०—(यः) जो (अस्य) इस संसार का या आदित्य का (बन्धुः) बांधने, स्थिर करने हारा इसका प्रतिष्ठापक है वह (विद्वान् प्रजज्ञे) समस्त संसार के तत्वों को उत्पन्न करता और जानता है। वही (देवानां) समस्त देवों के प्रकृति के विकारभूत महत् आदि २२ देवों के (जनिम्) उत्पत्ति के प्रकारों को (आ विवक्ति) वेद द्वारा उपदेश करता है। अथवा (जनिमा विवक्ति) उत्पत्ति रहस्यों का उपदेश करता है। इसीलिये (ब्रह्मणः) उस महान् जगदुत्पादक पर ब्रह्म से (ब्रह्म) यह सत्य ज्ञानमय वेद (उत् जभार) उत्पन्न होता है। अथवा उस महान् सच्चिदानन्द ब्रह्म से यह ब्रह्माण्ड मय त्रिविध ब्रह्म उत्पन्न हुआ और इसी कारण (स्वधाः) वह स्वयं ही अपने को धारण किये हुए (नीचैः उच्चैः) नीचे और ऊंचे (अभि प्र तस्थौ) सर्वत्र स्थित है।

स हि दिवः स पृथिव्या ऋतस्था मही क्षेमं रोदसी अस्कभायत्।
महान् मही अस्कभायद् वि जातो द्यां सद्म पार्थिवं च रजः ॥४॥

भा०—(हि) निश्चय से (सः) वह (दिवः) द्यौ लोक, समस्त प्रकाशमान आदित्य के (ऋतस्थाः) सत् कारण में आधार भूत से बैठा है। और वही (पृथिव्याः) पृथिवी के भी (ऋतस्थाः) सत्य कारण रूप है। वही (मही रोदसी) इन दोनों बड़ी भारी द्यौः और पृथिवी को (क्षेमं) इनकी रक्षा और कुशल बनाये रखते हुए सुखपूर्वक (अस्कभायत्) थामे हुए है। वह स्वयं (महान्) सब से बड़ा है इसलिये उसने (मही) इन दोनों विशाल पदार्थों को भी (अस्कभायत्) थाम लिया है और स्वयं ही (वि-जातः) नाना शक्तियों से प्रादुर्भूत है। इस कारण (पार्थिवं) सब प्राणियों के आश्रय इस पार्थिव लोक को और (रजः) उन प्रकाशमान सूर्य

४-(द्वि० तृ०) 'अस्तभायत्', (च०) 'द्यां पिता सद्म' इति तै० सं०।

लोकों और (द्यां) द्यौ लोक को भी (सद्म) स्तम्भ जिस प्रकार मकान को थामे रहते हैं उस प्रकार इस ब्रह्माण्ड को थामता है।

स बुध्न्यादांष्ट्र जनुषोभ्यग्रं बृहस्पतिर्देवता तस्यं सम्राट् ।
अहर्यच्छुक्रं ज्योतिषो जनिष्टाथं द्युमन्तो वि वंसन्तु विप्राः ॥५॥

भा०—(सः) वह परमेश्वर ही (देवता) सब का प्रकाशक और प्रकाश स्वरूप (तस्य) उस जगत का (सम्राट्) स्वतः प्रकाशक, सब से बड़ा अधिष्ठता, महाराज है। वही (जनुषः) उत्पन्न होने हारे इस सृष्टि के (बुध्न्याद्) मूल से लेकर (अभि अग्रम्) चोटी तक (आष्ट्र) व्यापक है। देखो, (यत्) जब (ज्योतिषः) प्रकाशमान सूर्य के प्रकाश से (अहः) दिन भी (शुक्रं) प्रकाशमान (जनिष्ट) उत्पन्न हुआ (अथ) तभी विप्राः) मेधावी बुद्धिमान लोग और ये इन्द्रिय और समस्त लोक भी (द्युमन्तः) प्रकाश युक्त, चेतना युक्त और ज्ञानवान होकर (वि वसन्तु) रह रहे हैं। अगर उसका प्रकाश न होता तो सब अन्धकारमय हो जाता।

नूनं तदस्य काव्यो हिनोति महो देवस्य पूर्व्यस्य धाम ।
एष जज्ञे बहुभिः साकमित्था पूर्वे अर्धे विषिते ससन् नु ॥ ६ ॥

भा०—(काव्यः) उस क्रान्तदर्शी सर्वज्ञ प्रभु का बनाया यह काव्य= वेदमय ज्ञानसागर और उसका प्राकृत रूप यह संसार (नूनं) निश्चय

५-(प्र०) 'सबुध्नादाष्ट जनुषाभ्यग्रम्' इति क्वचित्। (द्वि०) 'देवता यस्य' इति पैप्प० सं०। (प्र०) 'बुध्नाद्' इति बहुत्र। 'आष्ट' इति सायणाभिमतः।

६-(च०) 'पूर्वादरादविदूरश्च सहुः' इति पैप्प० सं०। (द्वि०) 'पूर्वस्य' (च०) 'ससम् नु' इति सायणाभिमतः। 'ससन्न उ' इति ह्विटनिकामितः। 'ससन् नु' इति पदपाठः।

से (अस्य) इस (पूर्व्यस्य) सब से पूर्व विद्यमान, कारण रूप (देवस्य) देव के (महः धाम) बड़े भारी यश का (हिनोति) वर्णन करता है। (एषः) यह सूर्य या ब्रह्माण्ड भी (बहुभिः) बहुत से और सूर्यों और *ब्रह्माण्डों के (साकं) साथ (जज्ञे) उत्पन्न हुआ है।* और यह (पूर्वे) पहले (विषिते अर्धे) अप्रबद्ध रूप में (नु) ही (ससन्) था।

अर्थात् यह सूर्य और ब्रह्माण्ड पहले भी अपने 'विषित रूप' अर्थात् उस रूप में थे जिसमें यह पृथक् २ पिण्ड और लोकों में नहीं बंटे थे। उस समय उसका ' केयास ' (Chaos) का रूप था। उसी को वेद ने ' विषित अर्ध ' कहा है।

योथर्वाणं पितरं देवबन्धुं बृहस्पतिं नमसाव च गच्छात्।
त्वं विश्वेषां जनिता यथासः कविर्देवो न दभायत् स्वधावान्॥७॥

भा०—(यः) जो (अथर्वाणम्) अथर्वा, अहिंसक सब के परिपालक (पितरम्) सब के उत्पादक, पालक, (देवबन्धुम्) समस्त दिव्य लोकों को बांधन हारे (बृहस्पतिम्) बड़े २ लोकों के स्वामी, प्रभु को (नमसा) आदर भक्ति से या सब के अन्न, आश्रय भूत प्राणों के प्राण रूप से (अव गच्छात्) जान लेता है और समझ लेता है कि (त्वं) तू ही हे प्रभो ! (विश्वेषां) सब लोकों का (जनिता) उत्पादक (असः) है, वही स्वधा, अमृत को प्राप्त कर (स्वधावान्) स्वयं सब को पोषण करने हारा (कविः) सर्वज्ञ सब के हृदय का जानने वाला, (देवः) स्वयं विद्वान् होकर आप कभी (न दभायत्) विनष्ट नहीं होता। परम सुख को प्राप्त होता है।

७–(च०) ' दभाय ' इति ह्विटनिकामितः। (द्वि०) ' बृहस्पतिर्नमसा ' इति सायणाभिमतः। 'यथावाथर्वा पितरं विश्वदेवं बृहस्पतिर्मनसावोदतस्व' इति पैप्प० सं०।

[२] ईश्वर की महिमा।

वेन ऋषिः। आत्मा देवता। १-५ त्रिष्टुभः, १ पुरोऽनुष्टुप्, ८ उपरिष्टाज्ज्योतिः। अष्टर्चं सूक्तम्॥

य आत्मदा बलदा यस्य विश्वं उपासते प्रशिषं यस्य देवाः।
योऽस्येशे द्विपदो यश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ १॥

पूर्वार्धः ऋ० १०।१२१।२॥
उत्तरार्धः १०।१२१।३॥ यजु० २५।१३।११॥

भा०—उसी प्रभु का वर्णन करते हैं—(यः) जो (आत्मदा) सब शरीरों में जीवों को प्राण देने वाला (बलदा) और बल का देने वाला है, (यस्य) जिसके (प्रशिषम्) सर्वोच्च शासन आज्ञा की (विश्वे) समस्त लोग (उपासते) उपासना करते हैं और जिसके शासन को (देवाः) देव, प्रकाशमान सूर्य आदि ३३ देव भी पालन करते हैं (यः) जो (अस्य द्विपदः) इस दो चरण वाले मनुष्य संसार और (यः) जो इस (चतुष्पदः) पशु संसार का भी (ईशे) प्रभु है, उस (कस्मै) सुख स्वरूप प्रजापति, (देवाय) परम देव के लिये हम (हविषा) नित्य की प्रार्थना उपासना से (विधेम) पूजा अर्चना करें। अथवा (कस्मै) सब के प्रश्न द्वारा ज्ञान करने योग्य 'सं-प्रश्न' स्वरूप परमेश्वर की हम उपासना करें।

यः प्राणतो निमिषतो महित्वैको राजा जगतो बभूव।
यस्य च्छायामृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ २॥

पूर्वार्धः १०।१२१।३॥ उत्तरार्धः १०।१२१।२॥
यजुषि च ऋग्वेदवत् पाठः। यजु० अ० २५।११।१३॥

---

[२] १—'य ईशेऽस्य द्विपदश्चतुष्पदः' इति पाठभेदः ऋ०, यजु०।

२—'यः प्राणतो निमिषतश्च राजापति विश्वस्य जगतो बभूव' इति मै० सं०।

'यः प्राणतो निमिषतो विधर्त्ता पति विश्वस्य जगतो बभूव' इति पैप्प० सं०।

भा०—(यः) जो (प्राणतः) प्राण लेने वाले चेतन और (निमिपतः) चक्षु आदि इन्द्रियों को मूंदने वाले अचेतन-स्थावर, अथवा इन्द्रियों के व्यापार से शून्य केवल प्राण लेने वाले स्थावर और इन्द्रियों का व्यापार=निमेष उन्मेप करने वाले पर दोनों प्रकार के (जगतः) जगत् का (महित्वा) अपनी महिमा, बड़े भारी शक्ति और ऐश्वर्य के कारण ही (राजा बभूव) एक मात्र अधिपति, राजा है। (यस्य) जिसकी (छाया) आश्रय ग्रहण करना ही (अमृतं) मोक्ष है और (यस्य) जिससे परे होना (मृत्यु) मृत्यु, विनाश है (कस्मै देवाय हविषा विधेम) उस सुख स्वरूप आनन्दघन प्रजापति को हम भक्ति भाव से स्मरण करके उपासना करें।

यं क्रन्दसी अवतश्चस्कभाने भियसाने रोदसी अह्वयेथाम्।
यस्यासौ पन्था रजसो विमानः कस्मै० ॥ ३ ॥

पूर्वार्धः यजु० ३२ । ६ । ऋ० १० । १२१ । ६ ॥

उत्तरार्धः यजु० ३२ । ६ । ऋ० १० । १२१ । २ ॥

भा०—(यं) जिसको आश्रय पाकर उसके (अवतः) रक्षणसामर्थ्य से (क्रन्दसी) समस्त प्राणियों के सुख दुःख के कारणभूत द्यौ और पृथिवी (चस्कभाने) एक दूसरे का आश्रय लिये खड़ी हैं और (यं) जिसको (रोदसी) समस्त द्यौ और पृथिवी=जहान (भियसाने) भय से कम्पमान होकर (अह्वयेथाम्) अपनी रक्षा के लिये पुकारते हैं। और (यस्य) जिसके आश्रय पर (असौ) वह परम दूर (पन्थाः) आकाशमार्ग है।

३—' यं क्रन्दसी अवतस्तस्तभाने अभ्यैक्षतं मनसारेजमाने ' इति ऋ०, यजु० । ' अन्तरिक्षेरजसो विमानः ' इति ऋ०, यजु० । (च०) ' अह्वयेताम् ' इति ह्विटनिकामितः, (प्र० द्वि०) ' य इमे द्यावा पृथिवीतस्तभाना अथा यद् रोदसीरेजमाने । यस्मिन्नधि विततएति सूरः ' इति पैप्प० सं० ।

और जो (रजसः) समस्त नक्षत्र आदि लोकों का (विमानः) विशेष रूप से उत्पादक है उस (कस्मै) सुखरूप प्रजापति (देवाय हविषा विधेम) देव की हम भक्ति से उपासना करें।

यस्य द्यौरुर्वी पृथिवी च मही यस्याद उर्व१न्तरिक्षम्।
यस्यासौ सूरो विततो महित्वा कस्मै० ॥ ४ ॥

पूर्वार्धः ऋ० १० । १२१ । ५ ॥ यजु० ३२ । ६ ॥

उत्तरार्धः ऋ० १० । १२१ । ६ । यजु० ३२ । ७ ॥

भा०—(यस्य महित्वा) जिस प्रभु की महिमा, विशाल शक्ति से (उर्वी द्यौः) विशाल द्यौ लोक, आकाश और (मही पृथिवी) बड़ी भारी यह पृथिवी, और (यस्य) जिसकी विशाल शक्ति से (उरु अन्तरिक्षम्) यह विशाल अन्तरिक्ष, द्यौ और पृथिवी का मध्य भाग, आकाश, पोल (विततः) विस्तृतरूप में फैला हुआ, स्थिर है और (यस्य महित्वा) जिस की विशाल शक्ति से (असौ सूरः विततः) वह सूर्य भी विशेष रूप से व्यवस्थित है (कस्मै देवाय हविषा विधेम) उस परमानन्द रूप, प्रजापति परमदेव की हम भक्ति से उपासना करें।

यस्य विश्वे हिमवन्तो महित्वा समुद्रे यस्य रसामिदाहुः।
इमाश्च प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ५ ॥

ऋ० १० । १२१ । ४ ॥ यजु० २५ । १२ ॥

४–' येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा येन स्वःस्तभितं येन नाकः ' इति ऋ०, यजु० । (तृ०) 'यस्याधि सूर उदितो विभाति' इति ऋ०. यजु० ।

५–' यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहा हुः । यस्येमाः प्रदिशो यस्य बाहू ' इति ऋ०, यजु० । ' इमेविश्वे गिरयो महि ' इति मै० सं० ।

भा०—(यस्य महित्वा) जिसकी विशाल महिमा=शक्ति से (विश्वे) समस्त (हिमवन्तः) हिमावृत पर्वत स्थिर खड़े हैं और विद्वान् लोग (यस्य) जिसकी महिमा से (समुद्रे) विशाल समुद्र में (रसाम्) नदी को जाता बतलाते हैं अथवा जिसकी शक्ति से (समुद्रे) समुद्र में या आकाश में घिरी (रसाम्) जलमय पृथिवी को स्थित हुआ बतलाते हैं। और (इमाः च प्रदिशः) ये लम्बी चौड़ी दिशाएं और उप दिशाएं (यस्य बाहू) जिसकी भुजाओं के समान सर्वत्र व्यापक हैं और सब को थामे खड़ी हैं (कस्मै० इत्यादि) उस प्रभु की हम उपासना भक्ति से करें।

आपो॒ अग्रे॒ विश्व॑मावन् गर्भं॒ दधा॑ना अ॒मृता॑ ऋत॒ज्ञाः ।
यासु॑ दे॒वीष्वधि॑ दे॒व आसी॒त् कस्मै॑० ॥ ६ ॥

पूर्वार्धः ऋ० १० । १२१ । ८ ॥ यजु० २७ । २५ ॥

उत्तरार्धः ऋ० १० । १२१ । ८ ॥ यजु० २७ । २६ ॥

भा०—(अमृताः आपः) जीवन स्वरूप 'आपः' जो (ऋतज्ञाः) इस ऋत=समस्त विश्व चराचर के उत्पत्तिस्थान हैं वे ही (गर्भं दधानाः) समस्त जीवन के बीजों को अपने भीतर धारण करते हुए (अग्रे) सृष्टि के पूर्व में अर्थात् प्रलय काल में भी (विश्वम्) इस समस्त चराचर संसार को (आवन्) अपने भीतर सुरक्षित रखते हैं। और (यासु देवीषु) जिन 'आपः' रूप दिव्य शक्ति या प्रकृति के सात्विक विकृतियों पर भी (देवः) वह परम प्रभु देव ही (अधि आसीत्) अधिष्ठाता रूप से विराजमान था (कस्मै०) इत्यादि पूर्ववत्।

६—'आपो ह यद् बृहती विश्वमायन् गर्भं दधाना: जनयन्तीरग्निम्।' 'यो देवे ष्वधिदेवएक आसीत् कस्मै०' इति यजु०, ऋ०। 'आपो यस्य विश्वमायुर्दधाना गर्भं जनयन्त मातरा। तत्र देवानामधिदेव आस्थ एकस्थूणे विमते दृढे अग्रे' इति पैप्प० सं०।

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीमुत द्यां कस्मै० ॥ ७ ॥

ऋ० १०।१२१।१॥ यजु० २५।१०॥ अथर्व २३।१॥

भा०—(हिरण्यगर्भः) सब गतिमान एवं प्रकाशमान स्वर्ण के समान जाज्वल्यमान सूर्यों और आत्माओं को अपने भीतर आश्रय देने वाला (भूतस्य) इस उत्पन्न विश्व के (अग्रे) आगे (सम् अवर्तत) विद्यमान रहा। वही उसका (एकः पतिः) एक मात्र परिपालक, स्वामी (जातः) था (आसीत्) रहा और रहेगा। और (सः) वही (पृथिवीम्) इस पृथिवी को (उत) और (द्यां दाधार) द्यौ लोक को भी धारण करता है (कस्मै०) उस सुख रूप, परमानन्द प्रभु की भक्ति से हम उपासना करें।

आपो वत्सं जनयन्तीर्गर्भमग्रे समैरयन्।
तस्योत जायमानस्योल्व आसीद्धिरण्ययः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ८ ॥ ऋ० १०।१२७।७॥ यजु० २७।२५॥

भा०—ये पूर्वोक्त (आपः) जगत् की परम मूल भूत तेजोमय 'आपः' व्यापक धूम के समान विरल प्रकृति के विकार (वत्सं) हिरण्यगर्भ रूप, महान् तेजोमय अण्ड को (जनयन्तीः) उत्पादन करती, बनाती हुई (अग्रे) इस व्यवस्थित सृष्टि के प्रकट होने के पूर्व (गर्भं) उस महान हिरण्यगर्भ जिसमें समस्त प्रकृति के विकार गृहीत थे उसको (सम् ऐरयन्) उत्तम रीति से गति देने लगीं अर्थात् उनमें विक्षोभ उत्पन्न हुआ। (उत) और (तस्य जायमानस्य) जब वह हिरण्यगर्भ बन रहा था तब ही उसका

७—'आपो हयद् बृहती विश्वमायन् गर्भं दधानाः जनयन्तीरग्निम्। ततो देवानां समवर्तता सुरेकः कस्मै देवायहविषा विधेम।' इति यजु०, ऋ०, ॥
(प्र०) 'आपो गर्भं जनयन्तीर्वत्समग्रे समीरयन्' इति पैप्प० सं०।

(उल्वः) बाहरी आवरण, उसका घेरनेवाला पदार्थ भी (हिरण्ययः) तेजोमय पदार्थ का ही था । यह सब उस प्रभु की महिमा है । (कस्मै०) उस आनन्दघन परम प्रभु की हम भक्ति से उपासना करें ।

---

[३] हिंसक जन्तुओं से बचने और उनको वश करने का उपाय ।

अथर्वा ऋषिः । रुद्र उत व्याघ्रो देवता । १ पथ्यापंक्ति, २, ४–६ अनुष्टुभः, ३ गायत्री, ७ ककुम्मतीगर्भोपरिष्टाद् बृहती । सप्तर्चं सूक्तम् ॥

उदितस्त्रयो अक्रमन् व्याघ्रः पुरुषो वृकः ।
हिरुग्घि यन्ति सिन्धवो हिरुग् देवो वनस्पतिर्हिरुङ् नमन्तु शत्रवः ॥१

भा०—व्याघ्र, चोर, सर्प और गोह आदि हिंसक पुरुषों और पशु और जानवरों से बचने और उनको वश करने का उपदेश करते हैं । (इतः) हमारे निवासस्थान और मार्ग से (त्रयः) ये तीनों (व्याघ्रः) व्याघ्र सिंह आदि हिंसक मांस भक्षी जीव, (पुरुषः) हिंसक, चोर पुरुष और (वृकः) भेड़िया के समान छुप कर आक्रमण करने वाला हिंसक जन्तु ये तीनों (उत् अक्रमन्) परे भाग जांय । (सिन्धवः) नदियें जो ग्रामों को वहा ले जाती हैं वे भी (हिरुक् हि यन्ति) शान्त रूप में प्रवाहित हों, वे उमड़ कर घरों मकानों और खेतों को न तोड़ें, (देवः) दिव्य गुण वाला (वनस्पतिः) पीपल आदि का वृक्ष (हिरुक्) भी भूमि के नीचे ही अपनी जड़ें छोड़ें, वह घर, मन्दिर आदि को विनाश न करे । (शत्रवः हिरुक् नमन्तु) और शत्रु गण भी हम से छुपकर, दबकर शान्त स्वभाव से रहें ।

---

[३] १–‘ उद्रित्यक्रमंस्त्रयो व्याघ्रः ’ (तृ० च०) ‘ हुग्देवः सूर्य हुग्देवो ’ इति पैप्प० सं० ।

परेणैतु पथा वृकः परमेणोत तस्करः ।
परेण दत्वती रज्जुः परेणाघायुरर्षतु ॥ २ ॥

उतरार्धः अथर्व० १९ । ४७ । ८ । प्र० द्वि० ॥

भा०—(वृकः परेण पथा एतु) छुपकर घात करने वाला, भेड़िया होसके तो, परले दूर के मार्ग से चला जाय । और (तस्करः) चोर आदमी (परमेण एतु) उससे भी परे के मार्ग से जावे । (दत्वती रज्जुः परेण) दांतों वाला रस्सी के समान जीव सर्प भी परे ही से जावे और (अघायुः) पापी पुरुष जो हम पर अपना पाप कार्य करना चाहता है ऐसा नृशंस डाकू भी (परेण पथा अर्षतु) दूर के दूसरे मार्ग से ही जावे । अर्थात् इन से वचने का उपाय ही है कि ये अपने मार्ग से न जाएं उनका मार्ग दूसरा ही रहे ।

अक्ष्यौ च ते मुखं च ते व्याघ्र जम्भयामसि ।
आत् सर्वान् विंशतिं नखान् ॥ ३ ॥

भा०—व्याघ्र मुकाबले पर ही आजाय तो उसको कैसे नाश करें । हे (व्याघ्र) व्याघ्र ! (ते च अक्ष्यौ) तेरी आखों को और (ते च मुखम्) तेरे मुखको (जम्भयासि) विनाश करें और (आत्) उसके अनन्तर (सर्वान् विंशतिम् नखान्) सब वीसों नखों को भी विनाश करें । अर्थात् पहले व्याघ्र की आंख पर वाण मार कर नाश करे, फिर मुंह काबू करे और इसके बाद उस के नखों को काट डालें । या उस के आंखों पर और मुंह पर चमड़े का खोपा लगा कर उसके नखों को भी बांध रखे या काट दें । इस प्रकार व्याघ्र वश में रह सकता है ।

२—'परमेण पथावृकः परेणस्तेनोरशंतुर । ततो व्याघ्रः परमा' इति पैप्प० सं० ।
३—(प्र०) 'अक्षौ' इति बहुत्र ।

व्याघ्रं दत्वतां वयं प्रथमं जम्भयामसि ।
आदु ष्टेनमथो अहिं यातुधानमथो वृकम् ॥ ४ ॥

भा०—(दत्वतां प्रथमं) दांतों के हथियारों से युक्त पशुओं में सब से प्रथम=प्रबल (व्याघ्रं) सिंह या वाघ को (जम्भयामसि) हम वश करें (आत्) और उसके वाद फिर उससे उतर कर (यातुधानम्) पीड़ा-दायक (अहिं) सर्प को (अथो) और (वृकम्) भेड़ियों को भी वश करें ।

यो अद्य स्तेन आयति स संपिष्टो अपायति ।
पथामपध्वंसेनैत्विन्द्रो वज्रेण हन्तु तम् ॥ ५ ॥

प्रथमार्धः अथर्व० १९ । ४९ । ९ । प्र० १० । च० ॥

भा०—(अद्य) आज (यः) जो (स्तेनः) चोर रूप से (आयति) आता है (सः) वह (सं पिष्टः) खूब दण्डित कर दिया जाय तो (अप आयति) वह अपने बुरे मार्ग से हट जाता है । अर्थात् जब कोई चोर पकड़ा जाय तो उसे खूब कड़ा दण्ड देना चाहिये । यदि वह (पथाम्) मार्गों में जो (अपध्वंसेन) बुरे पुराने टूटे खण्डहर होते हैं उनमें (एतु[1]) जाये तो वहां भी (इन्द्रः) राजा (तम्) उस चोर को पकड २ कर (हन्तु) विनाश करे । पदपाठ में ' अपध्वंसेन ' एक पद होने पर भी ध्वंसेन अप 'एतु', ऐसा छेद किया है सो असंगत है ।

मूर्णा मृगस्य दन्ता अपिशीर्णा उ पृष्टयः ।
निम्रुक् ते गोधा भवतु नीचा यच्छशयुर्मृगः ॥ ६ ॥

भा०—(मृगस्य) हिंसक जीव के (दन्ताः) दांत (मूर्णाः भवन्तु) तोड़ डाले जांय, या मुंह पर पट्टी बांध कर कस दिये जांय और (पृष्टयः) पसलियां भी (अपि शीर्णाः) खूब कच्ची कर डालनी चाहियें या हे पुरुष

१. सम्भावनायां लोट् ।

तेरे आगे (गोधा) गोह भी (निम्रुक्) नीचे ही नीचे २ (भवतु) सरके और (शशयुः) शशकों को पकड़ने वाले, या सोते हुए (मृगः) मृग को (नीचा यच्छ) नीचे ही बांध लो, दमन करो ।

यत् सं॒यमो॒ न वि य॑मो॒ वि य॑मो यन्न सं॒यमः॑ ।

इ॒न्द्र॒जाः सो॑म॒जा आ॑थ॒र्व॒णम॑सि व्याघ्र॒जम्भ॑नम् ॥ ७ ॥

भा०—(यत् संयमः) जिसको एक वार अच्छी प्रकार वांध लिया जाय तो (न वियमः) फिर उसे छोड़ा न जाय और (यत् वियमः) यदि वह छूट गया तो (न संयमः) तो फिर उसको वांधा ही क्या ! यह संयम तथा वांधने का प्रकार दो प्रकार का है एक तो (इन्द्रजाः) इन्द्र से उत्पन्न अर्थात् शक्ति पूर्वक किसी को वश कर लेना और दूसरा (सोमजा) सोम=अन्न के आधार पर उसको वश करलेना । इनमें से (व्याघ्रजम्भनम्) व्याघ्र को वश करने का यह प्रकार ऐसा है कि (आथर्वणम् असि) इस में जीव का घात नहीं किया जाता है, प्रत्युत उस के वल को तोड़ा जाता है ।

---

[४] नपुंसकता को दूर करने के लिये वृष्य ओषधि का प्रयोग ।

अथर्वा ऋषिः । वनस्पतिर्देवता । १-३, ८ अनुष्टुभः, ४ परोष्णिक्, ६, ७ भुरिजौ । अष्टर्चं सूक्तम् ॥

यां त्वा॑ ग॒न्ध॒र्वो अखि॑नद्‌ वरु॑णाय मृ॒तभ्र॑जे ।

तां त्वा॑ व॒यं ख॑नाम॒स्योष॑धिं शेप॒हर्ष॑णीम् ॥ १ ॥

भा०—वृष्य ओषधि के प्रयोग का उपदेश करते हैं । हे ओषधे ! (यां त्वा) जिस तुझ ओषधि को (गन्धर्वः) विद्यावान्, वाचस्पति, कविराज, वैद्य (मृतभ्रजे) नष्टवीर्य, नष्टतेजस (वरुणाय) श्रेष्ठ पुरुष के लिये

(अखनद्) खोद कर प्राप्त करता है (तां त्वा) उस तुझ (शेपहर्षणीं) प्रजनन इन्द्रिय में पुष्टि उत्पन्न करने वाली (ओषधिम्) ओषधि को (वयम्) हम (खनामसि) खोद कर प्राप्त करें । अध्यात्म में-शेप=ज्ञानवान आत्मा । वरुण=आत्मा । गन्धर्वः=ब्रह्मवित् ।

उदुषा उदु सूर्य उदिदं मामकं वचः ।
उदेजतु प्रजापतिर्वृषा शुष्मेण वाजिना ॥ २ ॥

भा०—(उषाः) प्रातकाल (उद् एजतु) शरीर के अंगों में उत्तेजना उत्पन्न करता है । (सूर्य उत्) सूर्य भी शरीर में वीर्य की वृद्धि करता है (इदं) यह (मामकं वचः) मेरा बल पूर्वक कहा गया वचन भी शरीर में उत्तेजना उत्पन्न करता है, (प्रजापतिः) प्रजा की पालन करने वाली (वृषा) वीर्य सेवन में समर्थ, ओषधि विशेष (वाजिना) बलकारक (शुष्मेण) अपने रस से (उद् एजतु) शरीर में वीर्य की उत्तेजना को उत्पन्न करे । 'वृषा' शब्द से वृषमेधा, मुस्ता, ऋषभ, एन्द्री, दधिपुष्पी, वासा, मूसा कानी या आखुपर्णी, धान्यमाष, विदारिका, बलिका, तामलकी आदि ओषधियां ली जाती हैं । ये सब वृष्य वीर्योत्पादक ओषधियां हैं ।

यथा स्म ते विरोहतोऽभितप्तमिवानति ।
ततस्ते शुष्मवत्तरमियं कृणोत्वोषधिः ॥ ३ ॥

भा०—(विरोहतः ते) विशेष प्रकार से पुष्ट शरीर होने वाले तेरे

[४] २–(द्वि०) 'उच्छुष्मा ओषधीनाम्', (च०) 'वाजिनाम्' इति पैप्प० सं० । 'वृष्णस्ते खनतारो वृषा त्वा पश्योषधे वृषासि वृष्ण्यावति वृषणे त्वा खनामसि' इति पैप्प० सं० अधिक पाठः ।

३–'विरोहित' इति सायणसम्मतः पाठः । 'ऊर्ध्वं स्नाणीमिदं कृधि यथा' इति पूर्वमधिकः पाठः पैप्प० सं० ।

शरीर में (यथा) जिस प्रकार (अभितप्तम् इव) काम प्रवृत्ति से अभितप्त के समान (अनतिस्स) चेष्टा करने लग जाय (ततः) तभी (इयं ओषधिः) यह ओषधि (ते) तेरे शरीर को (शुष्मवत्-तरम्) और भी अधिक बल युक्त करेगी । अर्थात् प्रथम औषधि सेवन से शरीर केवल वीर्य के उत्पन्न हो जाने पर उसे नष्ट न करें प्रत्युत और अधिक ओषधि सेवन से और अधिक पुष्ट करें ।

उच्छुष्मौषधीनां सार ऋषभाणांम् ।
सं पुंसामिन्द्र वृष्ण्यमस्मिन् धेहि तनूवशिन् ॥ ४ ॥

भा०—(ऋषभाणाम्) ऋषभ आदि वृष्यगण की (ओषधीनां) औषधियों में से यह (शुष्मा) बलकारी औषध बला, (सारा) सब से अधिक सार वाली एवं बलप्रदा है । हे इन्द्र ! वैद्य ! अथवा हे (तनू-वशिन्) शरीर को अपने वश करने हारे आत्मन् ! (अस्मिन्) इस निर्वीर्य पुरुषों में भी (पुसां वृष्ण्यम्) पुमान्, वीर्यवान पुरुषों का सा बल (सं धेहि) धारण करा ।

अर्थात् औषध की चिकित्सा के साथ २ आत्मिक बल को भी प्राप्त करना आवश्यक है, नहीं तो प्राप्त हुआ बल सब व्यर्थ नष्ट हो जाता है ।

अपां रसः प्रथमजोऽथो वनस्पतीनाम् ।
उत सोमस्य भ्रातास्युतार्शमसि वृष्ण्यम् ॥ ५ ॥

४–(तृ०) 'सं पूनामिन्द्र', (च०) 'तनूवशम्' इति सायणसम्मतौ पाठौ । 'उच्छुष्मा ओषधीनां उत सारा ऋषभाणाम्' इति पैप्प० सं० ।

५–'आर्षमसि' इति सायणसम्मतः पाठः । (प्र०) 'अपां रसौषधीनां' (च०) 'आरिष्यमसि' इति पैप्प० सं० । 'आर्ष्यन्' इति लैन्मन-शोधितस्तत्कामितः पाठः ।

भा०—हे ओषधे ! तू (अपां) जलों का, "अपः" नामक तेजस्वी मूल कारण भूत व्यापक तत्वों का (प्रथमजः रसः) सब से श्रेष्ठ रस है (अथो) और तू (वनस्पतीनां) वनस्पतियों का सार है। (उत) और (सोमस्य) शरीर में उत्पन्न होने वाले वीर्य का (भ्राता) पोषक है (उत) और (आर्शम्) शूरता के उत्पादक और (वृष्ण्यम्) बलकारी वीर्य सेचन के सामर्थ्य का उत्पादक है।

अ॒द्याग्ने॑ अ॒द्य स॑वितर॒द्य दे॑वि सरस्वति ।
अ॒द्यास्य ब्र॑ह्मणस्पते॒ धनु॑रि॒वा ता॑नया॒ पस॑: ॥ ६ ॥

अथर्व का० ६ । १०१ । ३ ॥

भा०—हे अग्ने ! हे (सवितः) सूर्य ! हे (सरस्वति देवि) विद्ये ! हे (ब्रह्मणस्पते) वेद के विद्वान् पुरुष या परमात्मन् ! (अद्य) आज, अब (अस्य) इस निर्वीय पुरुष के नाना प्रकार के औषध उपचार करने पर (पसः) प्रजननाङ्ग को (धनुः इव) दृढ़ लक्ष्यभेदकारी धनुष के समान शारीरिक बल के द्वारा (आ तनय) तान दो जिस से यह भी पुत्रपौत्र आदि प्राप्त करने में समर्थ हो।

आ॒हं त॑नोमि ते॒ पसो॒ अधि॒ ज्यामि॑व॒ धन्व॑नि ।
क्रम॒स्वर्श॑ इव रो॒हित॒मन॑वग्लायता॒ सदा॑ ॥ ७ ॥

भा०—(अहं) मैं, सद्वैद्य (ते पसम्) तेरे प्रजनन अङ्ग को उचित औषधि के उपचार से (धन्वनि अधि ज्याम्-इव) धनुष पर तनी

६–(तृ०) 'अद्य मे ब्रह्म' इति पैप्प० सं० ।

७–'क्रम, स्वर्षः, इव' इति पदपाठश्चिन्त्यः । 'क्रमस्व ऋष्यः इव' इति लैन्मनकामितः पदपाठः । 'क्रमस्व, ऋषः, इव' इति सायणः । (च०) 'अनुवल्गूयता' इति सायणसम्मतः पाठः ।

डोरी के समान (आ तनोमि) प्रबल, कार्य करने, एवं वीर्य सेचन में समर्थ करता हूं (अशः-इव) जिस प्रकार धनुर्धर हिंसक, शिकारी, निःशंक होकर (रोहितम्) रोहित नामक मृग पर प्रसन्न होकर वेग से शिकार के लिये जा पड़ता है उसी प्रकार हे वीर्यसम्पन्न पुरुष ! तू भी (सदा) निरन्तर (अनवग्लायता) ग्लानि रहित, प्रसन्नचित्त शरीर से (क्रमस्व) अपने गृहस्थ में सन्तानोत्पत्ति, गर्भ-धारण आदि कार्य में लग जा ।

अश्वस्याश्वतरस्याजस्य पेत्वस्य च ।
अथ ऋषभस्य ये वाजास्तानस्मिन् धेहि तनूवशिन् ॥ ८ ॥

भा०—हे (तनू-वशिन्) शरीर को वश करने में समर्थ ! सद्वैद्य ! (अश्वस्य) अश्व के (अश्वतरस्य) खच्चर के, (अजस्य) बकरे के, (पेत्वस्य च) और मेढ़े के (अथ ऋषभस्य) और बैल के (ये) जो (वाजा) वीर्य हैं (तान्) उनको (अस्मिन्) इस निर्वीर्य पुरुष में (धेहि) धारण कराओ । अथवा अश्व, अश्वतर, अज, पेत्व=मेष, ऋषभ आदि ओषधियों का बल इस में प्रवेश कराओ ।

[५] निद्रा विज्ञान ।

ब्रह्मा ऋषिः । स्वपनः ऋषभो वा देवता । १, ३—६ अनुष्टुभः, २ भुरिक्, ७ पुरस्ताज्ज्योतिस्त्रिष्टुप् । सप्तर्चं सूक्तम् ॥

सहस्रशृङ्गो वृषभो यः समुद्रादुदाचरत् ।
तेना सहस्ये/ना वयं नि जनांत्स्वापयामसि ॥ १ ॥

ऋ० ७ । ५५ । ७ ॥

८—(च०) 'वाजास्तस्मिन' इति ह्विटनिकामितः पाठः । (च०) 'तनूवशम्' इति सायणाभिमतः पाठः ।

[५] १—'हिरण्यशृङ्ग' इति पैप्प० सं० ।

भा०—आत्मा और इन्द्रियों के परस्पर सम्बन्ध और सोने जागने के रहस्य को लौकिक दृष्टान्तों से स्पष्ट करते हैं । (यः) जो (सहस्र-शृङ्गः) सहस्रों, अनन्त किरणों वाला (वृषभः) जीवन शक्ति का, या वर्षा का हेतु सूर्य (समुद्राद्) समुद्र से, समुद्र तल से (उद् आचरत्) ऊपर को उठता हुआ प्रतीत होता है वह उसी प्रकार पुनः समुद्र में ही अस्त होता प्रतीत होता है । (तेन) उस (सहस्येन) शक्तिमय पिण्ड के दृष्टान्त से हम भी (जनान्) मनुष्यों को (नि स्वापयामसि) ठीक उसी प्रकार से जागता और सोता पाते हैं । अर्थात् जिस प्रकार प्रति-दिन प्रातः सूर्य उगता है सायंकाल अस्त होता है उसी प्रकार मनुष्य प्रातः उठते हैं रात्रि को सो जाते हैं और जिस प्रकार प्रातः सूर्य में से किरणें सर्वत्र फैलती प्रतीत होती हैं और सायं समय अस्त होते हुए सूर्य के बिम्ब में ही सब किरणें लीन हो जाती हैं उसी प्रकार आत्मा में से ये इन्द्रियगण प्रादुर्भूत होती हैं और सोते समय पुनः उस में ही लीन हो जाती और सो जाती हैं । इसका स्पष्टीकरण देखो छान्दोग्य उपनिषद् में 'प्राण-प्रकरण' ।

न भूमिं वातो अति वाति नाति पश्यति कश्चन ।
स्त्रियंश्च सर्वाः स्वापय शुनश्चेन्द्रसखा चरन् ॥ २ ॥

भा०—सोने के लिये अनुकूल स्थिति का उपदेश करते हैं । (वातः भूमिं न अति वाति) प्रचण्ड वायु भूमि पर प्रबल वेग से बह कर घर में वेग से प्रवेश न करे और (कः चन) कोई पुरुष (न अति पश्यति) खिड़कियों से न झांके । ऐसे स्थान पर हे इन्द्र ! गृह के और राष्ट्र के स्वा-

२–(द्वि०) 'पश्यति सूर्यः' इति पैप्प० सं० । (तृ०) 'स्वापयः' इति बहुत्र ।

मिन् राजन् (सर्वाः स्त्रियः) सब स्त्रियों को (स्वापय) सुलाओ और (शुनः च) कुत्तों को भी बाहर सुला दो जिस से घर की रक्षा हो और (इन्द्रसखा) राजा का मित्र बराबर (चरन्) पहरा देता हुआ विचरण करे।

अध्यात्म पक्ष में—इन्द्रसखा=आत्मा का मित्र प्राण (चरन्) बराबर विचरण करता रहता है और सब (स्त्रियः) ज्ञानेन्द्रियों और (शुनः) सब कर्मेन्द्रियों को सुला देता है। (वातः) वह प्राण भी (भूमिं) सुषुप्ति दशा को नहीं तोड़ता और कोई भी इन्द्रिय उस समय देख नहीं सकती।

प्रोष्ठेशयास्तल्पेशया नारी या वह्यशीवरीः ।
स्त्रियो याः पुण्यगन्धयस्ताः सर्वाः स्वापयामसि ॥ ३ ॥

ऋ० ७ । ५५ । ८ ॥

भा०—शयन काल में हम अपनी इन्द्रियों कैसे सुला देते हैं। जो स्त्रियां (प्रोष्ठे-शयाः) झूले में सोने की अभ्यासी हैं, जो (तल्पेशयाः) सेज पर सोने वाली है, और (याः नारीः) जो स्त्रियां (वह्य-शेवरीः) वहन, दूर गमन के साधन रथ आदि में सोने वाली है और (याः स्त्रियः) जो स्त्रियां (पुण्य-गन्धयः) पुण्य, पवित्र गन्ध वाली हैं (ताः सर्वाः) उन सब को (स्वापयामसि) रात्रि के काल में सुला दे।

अध्यात्म पक्ष में—इन्द्रियों के ही ४ प्रकार के भेद किये हैं। १ प्रोष्ठेशया, नाड़ी अर्थात् मुख भाग में रहने वाली वाणी, २ तलपेशया नाड़ी, जो सोते समय विस्तर से सट जाती हैं जैसे त्वचा पीठ आदि, ३ वह्यशेवरी, जो पैरों में विद्यमान चरणेन्द्रिय है, ४ पुण्यगन्धि=ज्ञानेन्द्रियें ये सब उस आत्मा के बल पर उसी में आश्रित होकर सो जाती हैं। अथवा नारी=नाड़ियां हैं।

३–' प्रोष्ठेशयाः=पुष्टिशयाः नारीर्या तल्पशीवरीः ' (तृ०) ' पुण्यगन्धास्ता ' इति ऋ०, पैप्प० सं०।

एजदेजदजग्रभं चक्षुः प्राणमजग्रभम् ।
अङ्गान्यजग्रभं सर्वा रात्रीणामतिशर्वरे ॥ ४ ॥

भा०—स्वापकाल में आत्मा क्या करता है ? (रात्रीणाम्) रात्रियों के (अतिशर्वरे) शर्वर=पूर्व भाग के गुजर जाने पर इन्द्र रूप आत्मा मैं-स्वयं (एजत्-एजत्) इस शरीर में जो जो भाग भी गतिमान है उस सब को (अजग्रभम्) ग्रस लेता हूं अर्थात् मैं उसकी शक्ति को अपने में लीन करके सुला देता हूं । (चक्षुः) चक्षु इन्द्रिय को और (प्राणम्) प्राण को भी मैं (अजग्रभम्) अपने वश किये रहता हूं । कहने का तात्पर्य यह है कि (सर्वा अंगानि) समस्त अंगों को ही मैं (अजग्रभम्) ग्रहण किये रहता हूं ।

य आस्ते यश्चरति यश्च तिष्ठन् विपश्यति ।
तेषां सं दध्मो अक्षीणि यथेदं हर्म्यं तथा ॥ ५ ॥

ऋ० ७ । ५५ । ६ ॥

भा०—सोने के समय इस शरीर की दशा एक महल के समान होती है । (यथा इदं) जिस प्रकार यह शरीर है (तथा हर्म्यं) उसी प्रकार हर्म्य= महल होता है । अर्थात् (य आस्ते) जो बैठा है (यः चरति) जो चलता है (यः च तिष्ठन्) और जो खड़ा है या (वि-पश्यति) नाना ओर से देखता है (तेषां अक्षीणि) उन सब की आंखों को (सं दध्मः) सोने के समय हम लगा हुआ पाते हैं अर्थात् वे सब सो ही रहे होते हैं उसी प्रकार इस शरीर में जो बैठा है जैसे कान, जो चलता है जैसे मन, हाथ पैर, जो खड़ा है, जसे जिह्वा, नाक आदि जो देखता है जैसे आंख, उन सब की (अक्षीणि) ज्ञान, क्रिया शक्तियों (सं दध्मः) एक प्राण में ही एकत्र धारण करते हैं ।

४-(च०) 'रात्रीणामुतशर्वरे' इति पैप्प० सं० ।

५-'यश्च चरति यश्च पश्यति नो जनः । तेषां सहन्मो अक्षाणि' इति ऋ० ।

स्वप्तु॑ मा॒ता स्वप्तु॑ पि॒ता स्वप्तु॒ श्वा स्वप्तु॑ वि॒श्पतिः॑ ।
स्वप॑न्त्वस्यै ज्ञा॒तय॒: स्वप्त्व॒यम॒भितो॒ जनः॑ ॥ ६ ॥

ऋ० ७ । ५५ । ५ ॥

भा०—चिति शक्ति, चेतना या चितिकला की इस देह में क्या दशा होती है सो बतलाते हैं। जिस प्रकार गृहिणी के चेतन रहने पर भी उसकी माता, पिता, घर का कुत्ता, गृहपति और अन्य सम्बन्धी और अड़ोस पड़ोस के सभी सो जाते हैं और वह अपने पति सेवा में रत रह कर भी जागती है उसी प्रकार यह चेतना भी जागती रहती है इसकी (माता) ज्ञान करने के साधन इन्द्रियगण (स्वप्तु) सो जांय, (पिता) इस का पालक भी (स्वप्तु) सो जाय, (श्वा स्वप्तु) इसका कुत्ता कर्मेन्द्रिय मन भी (स्वप्तु) सो जय और (विश्पतिः) सब प्रजाओं का स्वामी मुख्य आत्मा भी (स्वप्तु) आनन्द दशा में मग्न होजाय। (अस्यै ज्ञातयः) इस के ज्ञाति=जानने हारे, अपनाने हारे भीतरी प्राण भी (स्वपन्तु) नि-श्चेष्ट होकर सो जांय और (अभितः जनः स्वप्तु) इसके अड़ोस पड़ोस के शेष अंग भी सो जांय तो भी यह मुख्य चेतना=श्वास प्रश्वास करती हुई चेती रहती है।

स्व॒प्नं स्व॑प्नाभि॒कर॑णेन॒ सर्वं॒ नि ष्वा॑पया॒ जन॑म् ।
ओ॒त्सू॒र्यम॒न्यान्त्स्वा॒पया॑व्यु॒षं जा॑गृता॒दह॒मिन्द्र॑ इ॒वारि॑ष्टो॒ अक्षि॑तः ॥७॥

६–'सस्तु माता सस्तु पिता सस्तु श्वा सस्तु विश्पतिः ससन्तु सर्वे ज्ञातयः स स्त्वयमभितो जनः ।' इति पाठभेदः ऋ० ।

७–(प्र०) 'स्वप्नः स्वप्न' इति बहुत्र । 'स्वप्नस्वप्नाधिकरणेन' इति सायणाभिमतः, पैप्प० सं० च । (प्र०) 'स्वप्नः स्वप्नाधिकरणे सर्वं' (तृ०) 'आसूर्यं' (च०) 'व्युषं जागृयादहम्' इति ऋ० ८ । ५५ । इत्यत्रखिलेषु ।

भा०—कब तक सोवें ? हे (स्वप्न) हे निद्रावृत्ते ! (स्वप्नाभिकरणेन) निद्रा वृत्ति को अभिमुख करके (सर्वं जनम्) समस्त अन्य उत्पन्न होने वाले जनों या इन्द्रिय वृत्तियों को (नि स्वापय) सर्वथा सुला दो । और (स्वापय) तब तक सुलाओ (आत् उ सूर्यम्) जब तक सूर्य उदित न होजाय और (आ वि-उषम्) और जब तक उषाकाल फट न जाय और तब (अहं) मैं आत्मा (इन्द्रः इव) इन्द्र=ऐश्वर्य शील राजा के समान (अक्षितः) अविनाशी (अरिष्टः) किसी से भी पीडित न हो कर (जागृताद) जागूं ।

इति प्रथमोऽनुवाकः ।

[तत्र सूक्तानि पञ्च, ऋचश्च सप्तत्रिंशत् ।]

[६] विष चिकित्सा ।

गरुत्मान् ऋषिः । तक्षको देवता । १—८ अनुष्टुभः । अष्टर्चं सूक्तम् ॥

ब्राह्मणो जज्ञे प्रथमो दशशीर्षो दशास्यः ।
स सोमं प्रथमः पपौ स चकारारसं विषम् ॥ १ ॥

भा०—विषचिकित्सा का उपदेश करते हैं । (ब्राह्मणः) 'ब्राह्मण' नामक ओषधि (प्रथमः) सब ओषधियों में सब से श्रेष्ठ (जज्ञे) प्रकट हुआ जो (दश-शीर्षः) दश प्रकार के रोगों का नाशक (दश-आस्यः) दश अंगों की पीडा को बाहर फैंक देने वाला है । क्योंकि (सः) वह (प्रथमः) सब से श्रेष्ठ होने के कारण (सोमं) सोम रस, अमृत की रक्षा करता है (सः) वह (विषं) विष को भी (अरसं) अरस, वीर्यरहित (चकार) कर देता है ।

ब्राह्मण कन्द 'गृष्टि' नामक ओषधि है जिसका गुण 'विषपित्त-कफापहा' लिखा है। इसके ही विश्वक्सेना, वाराही, कौमारी, ब्रह्मपत्री, त्रिनेत्रा अमृत, आदि नाम हैं। इसके गुण हैं—

वाराही तिक्तकटुका विषपित्तकफापहा।
कुष्ठमेहकृमिहरा वृष्या बल्यारसायनी ॥ राजनिघण्टु ॥

इसके अतिरिक्त सोम नाम से कही जाने वाली सोमवल्ली, वाकुची ब्राह्मी, गुडूची, रीठाकरञ्ज, सौम्या, शढ़ी, भार्गी, आदि ओषधियां भी नाना प्रकार के विषनाशक हैं जिनमें रीठाकरञ्ज और वाकुची विशेष रूप से त्वग्दोष, विष, कण्डू और खर्जू का नाशक है।

यावती द्यावापृथिवी वरिम्णा यावत् सप्त सिन्धवो वितष्ठिरे।
वाचं विषस्य दूषणीं तामितो निरवादिषम् ॥ २ ॥

प्रथमार्धः यजु० ३८ । २६ । प्र० द्वि० ॥

भा०—वाणी द्वारा विष के प्रभाव को दूर करने का उपदेश (द्यावा-पृथिवी) द्यौ और पृथिवी, आकाश और जमीन (वरिम्णा) अपने विस्तार से (यावती) जितनी बडी हैं और (सप्त सिन्धवः) सातों समुद्र (यावत्) जितनी दूर तक (वि-तस्थिरे) फैले हैं उतने विस्तार तक (विषस्य दूषणीम्) विष के विनाश करने वाली, प्रवल (तां वाचं) उस वाणी को (इतः) इस मुख से (निर् अवादिषम्) मैं बोलूं।

[६] २–(च०) 'तावतीं निरवादिषम्' इति लैन्मनकामितः पाठः। (प्र०) 'यावती द्यावापृथिवी यावत् च' इति यजु०। 'यावती द्यावापृथिवी महित्वा यावत् च' इति तै० सं०। (द्वि०) 'तस्थिरे' इति यजु०। 'तस्थुः' इति तै० सं०।

सुपर्णस्त्वा गरुत्मान् विषं प्रथममावयत् ।
नामीमदो नारूरुप उतास्मा अभवः पितुः ॥ ३ ॥

भा०—(गरुत्मान्) पक्षी (सुपर्णः) सुपर्ण=गरुड़ (त्वा) तुझको हे विष ! (प्रथमम्) सब से पूर्व (आवयत्) खा लेता है । हे विष ! (न अमीमदः) तू उसको नशा और मूर्छा भी उत्पन्न नहीं करता (न अरूरुपः) और न उसकी चेतना को लोप करता है (उत) बल्कि (अस्मा) इसके लिये (पितुः) अन्न ही (अभवः) हो जाता है । इसी प्रकार जो पुरुष प्रथम से विषको अपना अन्न का भाग बना लेते हैं उन पर बाद विष का असर नहीं होता, प्रत्युत विष ही उनका पोषक होजाता है ।

यस्त आस्यत् पञ्चाङ्गुरिर्वक्राच्चिदधि धन्वनः ।
अपस्कम्भस्य शल्यान्निरवोचमहं विषम् ॥ ४ ॥

भा०—विष से बुझे शस्त्र के घाव की चिकित्सा का उपदेश करते हैं । हे पुरुष यदि (पञ्चांगुरिः) पांचों अंगुलियां जोड कर मारने वाले किसी शिकारी या बधिक ने भी (वक्रात् धन्वनः) खूब तान कर गोल किये धनुष से भी (ते) शरीर में (विषम्) विष को (आस्यत्) प्रवेश करा दिया है तोभी (अपस्कम्भस्य शल्यात्) 'अपस्कभ्भ' नामक ओषधि वर्ग 'क्रमुक' नामक ओषधि के (शल्यात्) पत्र से उस विष को (अहं) मैं (निर अवोचम्) सर्वथा निर्बल करने का उपदेश करता हूं ।

३–(द्वि०) 'विषः' इति बहुत्र । 'प्रथममादयत्' (तृ० च०) 'नरोपयो नमादयो तस्माभवन् पितुः' इति पैप्प० सं० ।

४–(तृ०) 'अपस्कम्भस्य बाह्वोः' इति पैप्प० सं० । 'अपस्कन्धस्यं बाह्वोर्निर' इति ह्विटनिकामितः पाठः । 'अपस्तम्बे' इति कचित् । (प्र०) 'पञ्चाङ्गुलि' इति पैप्प० सं० ।

'अपस्कम्भ' ओषधि को क्रमुक या लोध्र कहा जाता है। इसको भिल्ल-तरु, शाम्बर, लोध्र रोध्र, आदि नाम हैं इसके गुण—

लोध्रः शीतः कषायश्च हन्ति तृष्णामरोचकम् ।
विषविध्वंसनः प्रोक्तो रूक्षो ग्राही कफापहः ॥ (ध० रा०)

इसी का एक भेद 'क्रमुक' है वह भी गुणों में "चक्षुष्यं विषहृत्" कहा गया है ।

शल्याद् विषं निरवोचं प्राञ्जनादुत पर्णधेः ।
अपाष्ठाच्छृङ्गात् कुल्मलान्निरवोचमहं विषम् ॥ ५ ॥

भा०—विष के दूर करने के उपाय दर्शाते हैं—(शल्याद्) शल्य=पत्र से या सेहे के कांटेसे ही मैं (विषं निरवोचम्) विष को दूर कर देता हूं। और या (पर्णधेः) पर्णधि नामक वृक्ष=लोध्र के ही (प्र-अञ्जनात्) प्रलेप से (उत) भी विष को दूर कर सकता हूं। या (अपाष्ठात् शृंगात्) दूर देश से लाये 'शृंग' अजशृंगी नामक, ओषधि से या (कुल्मलात्) 'कुल्मल' नामक पत्र ओषधि से (अहं) मैं (विषम्) विष को (निर्-अवोचम्) दूर करता हूं।

अथवा—(शल्यात्) बाण से या (अपष्ठात् शृंगात्) टूटे हुए सींग से या (कुल्मलात्) प्राणी के मल से उत्पन्न (पर्णधेः) विषैले सर कण्डे से और (प्राजनात्) या विषैले लेप से उत्पन्न हुए विष को भी मैं दूर करता हूं। यह सायण सम्मत अर्थ है।

अरसस्त इषो शल्योथो ते अरसं विषम् ।
उतारसस्य वृक्षस्य धनुष्टे अरसारसम् ॥ ६ ॥

५—'निर्वोचं', आञ्जनात् पर्णधे रुत' इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे (इषो) बाण ! (ते शल्यः) तेरा बाण (अरसः) विष रहित हो और (ते विषम्) तेरा विष भी (अरसम्) विष रहित रहे (उत) और हे (अरस) निर्विष पदार्थ ! (अरसस्य) निर्विष वृक्ष का (ते धनुः) तेरा धनुष भी (अरसम्) निर्विष ही होना उचित है।

मनुष्यों को चाहिये अपने बाणों के फले और धनुष निर्विष वृक्ष के बनावें।

ये अपीषन् ये अदिहन् य आस्यन् ये अवासृजन्।
सर्वे ते वध्रयः कृता वध्रिर्विषगिरिः कृतः ॥ ७ ॥

भा०—(ये) जो (अपीषन्) विष के पदार्थों को पीसें (ये अदिहन्) जो संग्रह करे (य आस्यन्) जो विषमय पदार्थ फेंके (ये अवासृजन्) जो विषैले पदार्थ उत्पन्न करें। (सर्वे ते) वे सब (वध्रयः कृताः) राजशासन द्वारा दण्ड के योग्य हों और (विषगिरिः) विष की खानें, संखियां की खाने भी (वध्रिः) राजशासन में प्रबद्ध रूप से (रिजर्वड) (कृतः) किया जाय। इन सब कार्यों को राजा अपने प्रबन्ध में रखे और स्वतन्त्र किसी को न करने दे।

वध्रयस्ते खनितारो वध्रिस्त्वमस्योषधे।
वध्रिः स पर्वतो गिरिर्यतो जातमिदं विषम् ॥ ८ ॥

भा०—(ते खनितारः वध्रयः) वे विषैले पदार्थों को खोदने वाले पुरुष भी विना राजाज्ञा के दण्ड के योग्य हों और हे (ओषधे) त्वम् वध्रिः असि) विष की ओषधियों तुम भी बन्द सुरक्षित स्थान पर रहो। (सः पर्वतः) वह पहाड़ का भाग (यतः) जिससे (इदं विषं) यह विष (जातम्) उत्पन्न होता है वह भी (वध्रिः) राज्य की कड़ी निगरानी, या पहरे में रहे।

[७] विष-चिकित्सा का उपदेश ।

गरुत्मान् ऋषिः । वनस्पतिर्देवता । १–३, ५–७ अनुष्टुभः, ४ स्वराट् । सप्तर्चं सूक्तम् ॥

वारिदं वारयातै वरणावत्यामधि ।
तत्रामृतस्यासिक्तं तेना ते वारये विषम् ॥ १ ॥

भा०—इस सूक्त में भी विष चिकित्सा का उपदेश करते हैं । (वरणावत्याम् अधि) वरणा नामवाली ओषधि से युक्त धारा में बहने वाला (इदं वाः) यह जल है । (तत्र) इस में (अमृतस्य) अमृत, विष के विनाशक बल का रस (आसिक्तं) खिंचा हुआ है । (तेन) उस से (ते विषम् वारयामि) तेरे विष को दूर करता हूं ।

वरणा नामक ओषधि ध० राजनिघण्टु के अनुसार 'वरा' औषधि है इस नाम वाली पाठा, वन्ध्या कर्कोटकी, विडङ्ग, हरिद्रा, काकमाची और उसके दोनों भेद काकजंघा और चूड़ामणि, और अरणी ये ओषधियां 'वरा' कहाती हैं । ये सब विष नाशक बतलायी गयी हैं । इनके अंश से युक्त जल से विष का नाश करना चाहिये । इसके अतिरिक्त पृथिवी 'वरा' कहाती है मिट्टी के प्रलेप से भी सर्प, वृश्चिक, ततैया आदि के विष दूर करने का प्रकार प्रसिद्ध है ।

अरसं प्राच्यं/विषमरसं यदुदीच्य/म् ।
अथेदमधराच्यं करम्भेण वि कल्पते ॥ २ ॥

---

[७] १–(द्वि०) 'वरणादाभृतम्' (च०) 'चकारारसं विषम्' इति पैप्प० सं० ।

२–(प्र०) 'विषमरसं प्राच्यं' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(प्राच्यं विषम्) प्राची दिशा के देशों के जन्तु और ओषधियों के नाना प्रकार के विष और (यद् उदीच्यं) जो उत्तर दिशा के विष हैं वे भी (अरसं) निर्बल हो जाते हैं (अथ) और (इदम्) यह (अधराच्यम्) नीचे भूमि में सरकने वाले कीट पतंगों का विष भी (अरसं) निर्बल हो जाता है परन्तु यह सब (करम्भेण विकल्पते) उस विष को शान्त करने के लिये जो ओषधि का लेप, और मिश्रण और पान करने योग्य द्रव्य बनाया जाता है उसकी मात्रा और बलाबल के भेद से भिन्न २ बल का विष शान्त होता है ऐसा समझना चाहिये। अर्थात् भिन्न २ विष की मात्रा के लिये ओषधि की मात्रा भिन्न २ समझना उचित है। अथवा शरीर में आड़े फैलने वाला विष जो उसी स्थान पर सूजन कर दे 'प्राच्य' है और ऊपर सिर की ओर फैलने वाला विष 'उदीच्य' और पैरों की ओर नीचे जाने वाला विष 'अधराच्य' है। अथवा 'प्राच्य' बहुत तीव्र 'उदीच्य' मध्यम 'और' अधराच्य न्यून बल है अथवा वातोल्वण विष 'प्राच्य' और पित्तोल्वण 'उदीच्य' और कफोल्वण 'अधराच्य' है।

क॒र॒म्भं कृ॒त्वा ति॒र्यं/पीवस्फाकमु॒दारा॒थिम् ।
क्षु॒धा किल॑ त्वा दुष्टनो जक्षि॒वान्त्स न रू॒रुपः ॥ २ ॥

२–(च०) 'जक्षिवांसं' इति ह्विटनिकामितः । 'मारूरुपः' इति ह्विटनिकामितः । 'नु रूरुपः' इति पैप्प० सं० । 'रुरुपः' इति प्रातिशाख्यम् । (प्र०) 'तिर्यं तिल्य' मिति ह्विटनिः, 'तिरोभव' मिति सायणः । 'तुरीयं' इति पैप्प० सं० । 'तिरियं' मासत्रयेणपच्यमानोधान्यविशेषः । 'तिर्यम्=अतिरियम्' इति ग्रिलः । (द्वि०) 'पीवस्फाकम्' इति क्वचित्, प्रातिशाख्ये च । 'उदाहृतम्' इति पैप्प० सं० । 'पिवत्साकम्' इति पैप्प० सं० । वर्णाकृतिलेखसाम्यात् 'तिर्प' इति पैप्प० सं०, इति लैन्मनः ।

भा०—हे (दुःतनो) बुरी तरह से शरीर में फैलने वाले या शरीर को दुःख देने वाले विष ! यदि (पीवः पाकम्) मेद तक को पका डालने वाले और (उद्-आरथिम्) शरीर को सुजा डालने वाले या बहुत अधिक पीड़ा के जनक (त्वा) तुझ विष को कोई पुरुष (क्षुधा) भूख से प्रेरित होकर, पेट भर कर भी खा जाय तो भी (तिर्यं) धान या चावलों का (करम्भम्) मिश्रण (कृत्वा) करके (जक्षिवान्) खाले तो (सः न रूरुपः) वह मूर्छित न हो।

' करम्भ ओषधे भव पीवोवृक्क उदारथिः। वातापे पीव इद्भव ' इति ऋग्वेदे।

अथवा पैप्पलादशाखा के पाठ के अनुसार—" करम्भं कृत्वा निर्यं पीवस्पाकमुदाहृतम्।" ' निरप ' नामक धान्य का चावल बना हुआ ' पीवस्पाक ' मेद बढ़ाने वाला पुष्टिकर कहा है। (दुष्टनो क्षुधा किल त्वा जक्षिवान्) हे दुस्तनो धान्य ! तुझको जो भूख से खालेता है (सः न रूरुपः) वह विष से दूषित नहीं होता। ' निरप ' नामक शालि के गुण ' निरपो मधुरः स्निग्धः शीतलो दाहपित्तजित्। त्रिदोपशमनो रुच्यः पथ्यः सर्वामयापनुत्।

वि ते मदं मदावति शरमिव पातयामसि।
प्र त्वां चरुमिव येषन्तं वचसा स्थापयामसि ॥ ४ ॥

भा०—मदकारिणी ओषधियों के विषों का उपचार बतलाते हैं। हे (मदावति) मदकारी ओषधे ! (ते मदम्) तेरे मद को (शरम् इव) बाण के समान (पातयामः) दूर फेंक देते हैं और हे विष ! (चरुम् इव) दूत

४–' शरुमिव ' (तृ०) ' जेषन्तं ' इति सायणाभिमतः। (तृ०) ' परित्वावर्मि वेशन्तं ' इति पैप्प० सं०।

गुप्तचर के समान (येपन्तम्) अङ्ग २ में फैलने वाले (त्वा) तुझको (वचसा) वाणी से (प्र स्थापयामः) दूर भेज देते हैं। अर्थात् जैसे डोरी की टनकार से बाण दूर चला जाता है और जिस प्रकार स्वामी की आज्ञा सुनकर गुप्त-चर दूर देश में चला जाता है उसी प्रकार हमारी वाणी के प्रयोग से मद उतर जाय। अथवा—(येपन्तं चरुम् इव) जिस प्रकार उबलती हुई हण्डिया को शीतल पानी में डाल कर या आग से उतार कर रख देने से वह उबलना बन्द कर देती है उसी प्रकार शरीर में तीव्रता से उफनते हुए विष को हम अपने तीव्र वचन प्रयोग से (प्र स्थापयामसि) थाम लें।

परि ग्राममिवाचितं वचसा स्थापयामसि ।
तिष्ठा वृक्ष इव स्थाम्न्यभ्रिखाते न रूरुपः ॥ ५ ॥

भा०—(ग्रामम् परि) ग्राम भर में (आचितं) फैले हुए अराज-कता या दंगे को जिस प्रकार राजा अपने हुकुम से एक ही वार रोक देता है उसी प्रकार हम विषवैद्य तुझ विष को (वचसा स्थापयामसि) अपनी प्रभावजनक वाणी द्वारा स्थिर कर दें, शरीर में फैले हुए विष को घातक प्रभाव करने से रोकें। हे पुरुष ! तू (अभ्रि-खाते) कुद्दाले से खोदे हुए (स्थाम्नि) थांव ले या गढ़े में (वृक्ष इव) दरख्त के समान (तिष्ठ) गड़ कर खड़ा हो जा, (न रूरुपः) इससे तू मूर्छित न होगा। शब्द का प्रभाव विष उतारने, उसको रोकने आदि में प्रायः देखा गया है पृथिवी में गढ़ा खोद कर उसमें गले तक गाड़ देने से भी पृथिवी विष चूस जाती है। देखो डा० जुस्ट की मिट्टी चिकित्सा।

पवस्तैस्त्वा पर्यक्रीणन् दूर्शेभिरजिनैरुत ।
प्रक्रीरसि त्वमोषधेऽभ्रिखाते न रूरुपः ॥ ६ ॥

भा०—हे (अभ्रिखाते) कुदाल से खोदी गई ओषधी (त्वा) तुझ को (पवस्तैः) वस्त्रों या छाजों और (दूर्शेभिः) ऋक्ष या व्याघ्रचर्मालाओं

(उत) और (अजिनैः) मृगच्छालाओं के बदले में (पर्यक्रीणन्) परस्पर बेचते खरीदते हैं। इसलिये तेरा नाम (प्रक्रीः) भी है। तेरे प्रयोग से भी (न रूरुपः) विषार्त रोगी मूर्छा को प्राप्त नहीं होता।

'प्रक्री' ओषधि धन्वन्तरि राजनिघण्टु में प्रकीर्य नाम से आया है। जिसके पांच भेद हैं करञ्ज, उदकीर्य, अंगारवल्ली, गुच्छकरंज, रीठाकरंज। ये भी विषनाशक एवं कुष्ठ, कण्डू और स्फोट त्वचादोष के नाशक बतलाये गये हैं।

अनाप्ता ये वः प्रथमा यानि कर्माणि चक्रिरे।
वीरान् नो अत्र मा दभन् तद् व एतत् पुरो दधे॥ ७॥

अथर्व० ५।६।२॥

भा०—हे मनुष्यो! (ये) जो (वः) तुम लोगों में से (अनाप्ताः[1]) अनाप्त अर्थात् आप्त या विद्या-पारंगत नहीं हैं वे (यानि) जो (प्रथमा) प्रथम २ (कर्माणि) कर्म (चक्रिरे) करते हैं वे (अत्र) इस कार्य में (नः) हमारे (वीरान्) वीरों, पुत्रों को (मा दभन्) कष्ट न पहुंचावें।

[८] राज्याभिषेक योग्य राजा का वर्णन।

अथर्वाङ्गिराः ऋषिः। राज्याभिषेकम्। चन्द्रमाः आपो वा देवताः। १, ८ भुरिक्-त्रिष्टुप्, ३ त्रिष्टुप्, ५ विराट् प्रस्तारपंक्तिः, २, ४, ६ अनुष्टुभः। सप्तर्चं सूक्तम्॥

७-(प्र०) 'अनाप्ता' इति बहुत्र।

१. 'अनाप्ता अननुकूला शत्रवः' इति सायणः। 'न उत्तमा येभ्यः' इति क्षेमकरणः, तदुभयं चिन्त्यम्।

भूतो भूतेषु पय आ दधाति स भूतानामधिपतिर्बभूव ।
तस्य मृत्युश्चरति राजसूयं स राजा राज्यमनु मन्यतामिदम् ॥१॥

भा०—राजसूय यज्ञ द्वारा राज्य को शासन करने का उपदेश करते हैं । (भूतः) स्वयं सामर्थ्यवान् होकर पुरुष (भूतेषु) अन्य समृद्ध-समर्थ पुरुषों पर भी (पयः) अपना वीर्य, पराक्रम (आ दधाति) स्थापन करता है (सः) वह ही (भूतानाम्) प्राणियों का (अधिपतिः) स्वामी (बभूव) हो जाता है । (तस्य) उसके (राज-सूयं) राजसूय, राजाओं पर जमने वाले शासन, यज्ञ या प्रभुत्व को (मृत्युः) मृत्यु दण्ड देने का सामर्थ्य ही स्वयं (चरति) सम्पन्न करता है (सः) वह (राजा) राजा सब के मनों का अनुरंजक होकर (इदम् राज्यम्) इस राज्य को (अनु मन्यताम्) स्वीकार करे ।

अभि प्रेहि माप वेन उग्रश्चेत्ता सपत्नहा ।
आ तिष्ठ मित्रवर्धन तुभ्यं देवा अधि ब्रुवन् ॥ २ ॥

अथर्व० २ । ७ । १६ ॥

भा०—हे राजन् ! (अभि प्रेहि) तू सब के समक्ष अग्रासन पर आ । (मा अप वेनः) कभी अपने को तुच्छता में रख कर अपनी शोभा कम मत कर, अपनी शान मत बिगाड़ । तू स्वयं (उग्रः) सदा उद्यत दण्ड होकर (चेत्ता) राष्ट्र कार्यों के समस्त विभागों को जानने हारा, विद्वान् बन कर (सपत्न-हा) अपने शत्रुओं को जीतकर, हे (मित्र-वर्धन) अपने मित्र राजाओं को ऊंचे पदों पर वृद्धि देने हारे राजन् ! (आ तिष्ठ) सिंहासन

[८] १–(प्र०) भूतो भूतेषु चरति प्रविष्टः (तृ०) 'तस्य मृत्यौ' इति तै० ब्रा० । 'स ते मृत्युं' इति पैप्प० सं० ।
२–(प्र०) 'अभि प्रे वी उपस्व' इति पैप्प० सं० ॥

पर विराजमान हो। (तुभ्यं) तेरे लिये (देवाः) विद्वान् लोग (अधि ब्रुवन्) उत्तम राजनैतिक उपदेश करें, उत्तम मन्त्रणा दें।

आ तिष्ठन्तं परि विश्वे अभूषञ् छ्रियं वसानश्चरति स्वरोचिः ।
महत् तद् वृष्णो असुरस्य नामा विश्वरूपो अमृतानि तस्थौ ॥३॥

ऋ० ३ । ३८ । ४ ॥ यजु० ३३ । २२ ॥

भा०—हे राजन् ! (आ-तिष्ठन्तं) राज्य सिंहासन पर बैठे हुए तुझ को (विश्वे) समस्त विद्वान् प्रजागण (परि अभूषन्) चारों ओर से घेर कर सभा में विराजमान हों और तू (स्व-रोचिः) स्वयंप्रकाश सूर्य के समान (श्रियं वसानः) राजलक्ष्मी को धारण करता हुआ (चरति) सर्वत्र विचरण कर या राज्य का भोग कर। (वृष्णः) प्रजा पर नाना सुखों के वर्षक और (असुरस्य) शत्रुओं के नाशक राजा का ही (तत् महत् नाम) वह बड़ा भारी यश है कि (विश्व-रूपः) राष्ट्र के समग्र अधिकारियों में नानारूप होकर वह (अमृतानि) अमर नामों, पदों और यशों को (तस्थौ) प्राप्त करता है।

व्याघ्रो अधि वैयाघ्रे वि क्रमस्व दिशो महीः ।
विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्त्वापो दिव्याः पयस्वतीः ॥ ४ ॥

भा०—हे राजन् ! (वैयाघ्रे) व्याघ्र के स्वभाव वाले पुरुष पर (व्याघ्रः) वाघ बन कर तू (वि-क्रमस्व) उस पर चढ़ाई कर और इसी प्रकार (महीः दिशः) विशाल दिशाओं में अपना चतुर्दिगन्त (वि क्रमस्व) विजय कर। (त्वा) तुझे (सर्वाः विशः) समस्त प्रजाएं जो नगर में आकर बसी हैं

३–(द्वि०) 'श्रियो वसानः' इति ऋ० ।
४–व्याघ्रो वैयाघ्रेऽधि श्रयस्व (च०) 'मा त्वद्राष्ट्रमधिभ्रशत्' इति तै० ब्रा० (तृ०) 'सर्वायन्त्वापः' इति पैप्प० सं० ।

(पयस्वतीः) अन्न और पशु, दुग्ध और अमृत को प्राप्त करने वाली, हृष्ट पुष्ट (दिव्याः आपः) और द्यौलोक से आने वाली वर्षा के समान उपकारी आप्त प्रजाएं भी तुझे ही अपना राजा स्वीकार करें अर्थात् मेघ तेरे राज्य में वृष्टि करे अकाल, दुर्भिक्ष न हों, प्रजाएं हृष्ट पुष्ट हों ।

या आपो॑ दि॒व्याः पय॑सा॒ मद॑न्त्य॒न्तरि॑क्ष उ॒त वा॑ पृथि॒व्याम् ।
तासा॑ त्वा॒ सर्वा॑साम॒पाम॒भि षि॑ञ्चामि॒ वर्च॑सा ॥ ५ ॥

भा०—(याः) जो (दिव्याः) दिव्यगुण वाली (आपः) जलधाराएं या आप्त प्रजाएं (पयसा) अपने पुष्टि-आरोग्यकारक जल और बल से (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष (उत वा) अथवा (पृथिव्याम्) पृथिवी पर (मदन्ति) प्राणियों को हृष्ट पुष्ट करते और स्वयं प्रसन्न रहते हैं (तासां सर्वासां) उन सब के (वर्चसा) तेज से (त्वा) तुझे (अभि पिञ्चामि) राज्य सिंहासन पर अभिषेक करता हूं । सब तीर्थों के और सब प्रकार के जलों से राज्याभिषेक के अवसर पर राजा को स्नान कराया जाता है ।

अ॒भि त्वा॒ वर्च॑सासिच॒न्नापो॑ दि॒व्याः पय॑स्वतीः ।
यथासो॑ मि॒त्रव॑र्धन॒स्तथा॑ त्वा सवि॒ता क॑रत् ॥ ६ ॥

भा०—हे राजन् ! (त्वा) तुझे (पयस्वतीः) पुष्टिदायक सार पदार्थ से युक्त (दिव्याः आपः) दिव्य-गुणसम्पन्न (आपः) जलों और आप्तजनों ने (वर्चसा) अपने तेज से जो (अभि असिचन्) सब प्रकार से या सब के समक्ष स्नान कराया है इसका तात्पर्य यही है कि तू (यथा) जिस प्रकार से हो सके (मित्रवर्धनः असः) अपने स्नेह करने वाले राजा और प्रजा,

---

५–(प्र० द्वि०) 'या दिव्या आपः पयसा सम्बभूवुः या अन्तरिक्षे उत पार्थिवीर्याः' इति तै० ब्रा० ।

६–(प्र०) ' वर्चसाऽसृजन् ' इति पैप्प० सं०, सायणाभिमतश्च ।

सामन्तों और अधिकारियों की वृद्धि कर और (सविता) सर्वप्रेरक, सर्वोत्पादक पिता परमात्मा (तथा) उस प्रकार का (त्वा करत्) तुझे बनावे।

एना व्याघ्रं परिषस्वजानाः सिंहं हिन्वन्ति महते सौभगाय ।
समुद्रं न सुभुवस्तस्थिवांसं मर्मृज्यन्ते द्वीपिनमप्स्वन्तः ॥७॥

भा०—(एनाः) ये समस्त प्रजाएं जिनकी प्रतिनिधि-भूत ये समस्त दिव्य जल-धाराएं या 'आपः' हैं वे (व्याघ्रम्) बाघ के समान पराक्रमी और (सिंहम्) सिंह के समान शूरवीर राजा को (परि-सस्वजानाः) आश्रय करती हुई (महते सौभगाय) बड़े भारी सौभाग्य, राज्य सिंहासन पर बैठ कर शासन कार्य के लिये (हिन्वन्ति) प्रेरित करती या उसको कर प्रदान करके परिपुष्ट करती हैं । जिस प्रकार (तस्थिवांसम्) स्थिर गम्भीर (समुद्रम्) समुद्र को समस्त नदी आदि जल से पूर्ण करते हैं उसी प्रकार (सु-भुवः) उत्तम भूमियां (द्वीपिनं) शार्दूल के समान पराक्रमी और (अप्सु अन्तः तस्थिवांसं) जलों के समान उत्तम प्रजाओं के बीच खड़े हुए राजा को (मर्मृज्यन्ते) अङ्ग प्रत्यङ्ग में स्नान कराती हैं और छत्र चामर आदि से सुशोभित करती हैं।

[९] अञ्जन के दृष्टान्त से ज्ञान का वर्णन ।

भृगुर्ऋषिः । त्रैककुदमञ्जनं देवता । १, ४–१० अनुष्टुभः, कुम्मती, ३ पथ्यापंक्तिः । दशर्चं सूक्तम् ॥

एहि जीवं त्रायमाणं पर्वतस्यास्यक्ष्यम् ।
विश्वेभिर्देवैर्दत्तं परिधिर्जीवनाय कम् ॥ १ ॥

७–(द्वि०) ' सिंहं मृजन्ति महते धनाय ' (तृ०) ' महिषं नः सुभ्वम् इति मै० सं० ' महिषं न सुभवः ' इति पैप्प० सं० । ' समुद्रे न सुभ्वम् ' इति ह्विटनिकामितः पाठः ।

[९] १–(द्वि०) ' अक्ष्यम् ' ' अक्षरं ' वा इति ग्रिफकामितः ।

भा०—अञ्जन के दृष्टान्त से ज्ञान का वर्णन करते हैं। जिस प्रकार अञ्जन (अस्य पर्वतस्य) इस पर्वत का विकार होकर (अक्ष्यम्) चक्षुओं के लिये हितकारक है और जीवन की रक्षा में सहायक है उसी प्रकार हे सद् विवेकरूप ज्ञानाञ्जन तू (जीवं त्रायमाणं) इस जीव की, आत्मा की या प्राणियों की रक्षा करता हुआ (अस्य) इस (पर्वतस्य) परम पूर्ण सब के परिपालक परमात्मा से प्राप्त होकर जीव के लिये (अक्ष्यम् असि) इस अन्धकार मय संसार में चक्षु के लिये प्रकाश के समान हितकर है। और (विश्वेभिः) समस्त (देवैः) विद्वानों ने (दत्तं) तेरा जीवों के लिये उपदेश किया है और वस्तुतः (जीवनाय) जविन भर के लिये (परिधिः) परकोट के समान प्राण-रक्षक है।

परिपाणं पुरुषाणां परिपाणं गवामसि ।
अश्वानामर्वतां परिपाणाय तस्थिषे ॥ २ ॥

भा०—हे ज्ञानरूप अञ्जन ! सब पदार्थों के प्रकाशक ! तू (पुरुषाणां) मनुष्यों का रक्षक और (गवाम्) गौओं, पशुओं, ज्ञान-इन्द्रियों का भी (परिपाणम्) सब प्रकार से रक्षक (असि) है। और (अर्वतां) इधर उधर चलने फिरने हारे अश्वों और उनके सदृश प्राणेन्द्रियों के भी (परिपाणाय) सब प्रकार से रक्षा करने के लिये तू सदा (तस्थिषे) उद्यत रहता है।

उतासि परिपाणं यातुजम्भनमाञ्जन ।
उतामृतस्य त्वं वेत्था थो असि जीवभोजनमथो हरितभेषजम् ॥३॥

भा०—हे (आञ्जन) अञ्जन के समान चक्षु को अज्ञान रूप तामस रोग से विनिवृत्त करने हारे सर्व-प्रकाशक ज्ञानाञ्जन ! (उत) और भी

३–(प्र०) 'उतेवासि', (तृ० च०) 'उतामृतत्वस्येशिषा उतासः पितृ भोजनम्' इति पैप्प० सं० ।

अधिक यह कि (यातु-जम्भनम्) समस्त मानस और शरीर पीड़ाओं को रोक कर उन से (परिपाणम्) रक्षा करने हारा (असि) है । (उत) और (त्वं) तू (अमृतस्य वेत्ता असि) मोक्ष सुख का ज्ञापक, ज्ञाता वा प्राप्त कराने वाला है । और सत्य बात तो यह है कि (जवि-भोजनम्) जीवों के लिये भोजन के समान पुष्टिकारक, प्राणाधार और आत्मा का आभ्यन्तर मानस-भोजन समस्त भोगप्रद (अथो) भी (असि) है । (अथो) और तूही (हरित-भेषजम्) नये २ लाये ताजे रस वाले ओषधि के समान वल्ली, ज्ञानलता होकर उसके सब भवरोगों की चिकित्सा कर देता है ।

यस्याञ्जन प्रसर्पस्यङ्गमङ्गं परुष्परुः ।
ततो यक्ष्मं वि बांधस उग्रो मध्यमशीरिव ॥ ४ ॥

ऋ० १० । ९७ । १२ ॥ यजु० १२ । ८६ ॥

भा०—अज्ञान-नाशक ज्ञानाञ्जन ! स्वयं-प्रकाश ! (यस्य) जिसके (अङ्गम् अङ्गम्) अंग २ में और (परुः-परुः) पोरू २ में तू (प्र-सर्पसि) व्याप जाता है वहां २ से (यक्ष्मं वि बाधसे) पीड़ाजनक रोग को नष्ट कर देता है । तू सचमुच (मध्यमशीः-इव) अन्तरिक्ष में व्यापक वायु एवं शरीर में व्यापक प्राण के समान अथवा मध्यम राजा के समान (उग्रः) बड़ा ही बलवान् है । इसी कारण जीवन के प्रत्येक भाग में से भव-बन्धनों को काट डालता है और सब प्रकार से सुखी कर देता है ।

नैनं प्राप्नोति शपथो न कृत्या नाभिशोचनम् ।
नैनं विष्कन्धमश्नुते यस्त्वा बिभर्त्याञ्जन ॥ ५ ॥

४–'यस्यौषधी प्रसर्पथ' इति ऋ० । (तृ०) 'विबाधध्वे' इति ऋ० । 'बाधते' इति सायणाभिमतः । 'तस्माद् यक्ष्म' इति पैप्प० सं० ।
५–(प्र०) 'तं प्राप्नोति' (तृ०) 'नैनं निष्कन्वं' इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे ज्ञानाञ्जन ! प्रकाशस्वरूप ! (यः त्वा बिभर्त्ति) जो तुझे धारण करता है (एनं शपथो न प्राप्नोति) उसको किसी का दुर्वचन भी नहीं लगता (न कृत्या) उसको किसी की बुरी चाल भी नहीं सताती । (न अभि-शोचनम्) उसको किसी का कोसना भी नहीं लगता । (एनं वि-स्कन्धं न अश्नुते) उसको किसी का षड्यन्त्र या सेनाबल भी पीड़ा नहीं देता ।

असन्मन्त्राद् दुष्वप्न्याद् दुष्कृताच्छमलादुत ।
दुर्हार्दश्चक्षुषो घोरात् तस्मान्नः पाह्याञ्जन ॥ ६ ॥

भा०—हे ज्ञानाञ्जन ! तू (नः) हमें (असत्-मन्त्रात्) दुष्ट पुरुषों की दुष्ट सलाहों और कुचोदनाओं एवं दुर्विचारों और दुर्मन्त्रणाओं से (दुः-स्वप्न्याद्) बुरे २ विचारों से उत्पन्न होने वाले बुरे २ स्वप्नों से (दुष्कृतात्) दुर्विचारों से उत्पन्न होने वाले दुराचारों से (उत) और (शमलाद्) पाप कर्म से और (दुर्हार्दः) दुष्ट हृदय वाले पुरुष की (घोरात्) पापमय, भयंकर (चक्षुषः) आँखों से भी (पाहि) बचा, हमारी रक्षा कर ।

इदं विद्वानाञ्जन सत्यं वक्ष्यामि नानृतम् ।
सनेयमश्वं गामहमात्मानं तव पूरुष ॥ ७ ॥

उत्तरार्धः ऋ० १० । ९७ । ४ (प्र० द्वि०) ॥
यजु० १२ । ९८ प्र० द्वि० ॥

भा०—हे (आ-अञ्जन) अञ्जन के समान भीतरी आंख खोल देने वाले प्रकाशस्वरूप ज्ञान ! (इदं विद्वान्) इस सब बात को जानता हुआ मैं

६–(द्वि०) 'क्षेत्रियाच्छपथादुत' इति पैप्प० सं० ।
७–'पूरुषः' इति सायणसम्मतः पाठः । (च०) 'गांवासः' इति यजु० । 'गां वास आञ्जन तव पौरुषः' इति पैप्प० सं० ।

(सत्यं वच्यामि) सत्य ही बोलूं , (न अनृतम्) झूठ न बोलूं । हे (पूरुष) ज्ञानमय आत्मन् (तव) तेरे लिये (अश्वं गाम्) अश्व और गौ और (आत्मानं) अपने को भी (अहं) मैं (सनेयम्) दान कर दूं , त्याग कर दूं , पर तेरी अवश्य रक्षा करूं ।

त्रयो दासा आञ्जनस्य तक्मा बलास आदहिः ।
वर्षिष्ठः पर्वतानां त्रिककुन्नाम ते पिता ॥ ८ ॥

भा०—(आ-अञ्जनस्य) इस ज्ञानरूप अञ्जन के (त्रयः दासाः) तीन दास अर्थात् विनाश करने योग्य पदार्थ हैं प्रथम (तक्मा) कृच्छ्र जीवन और दुःखमय जीवन, (बलासः) आत्मा का बलनाशक निराशावाद, और (आत् अहिः) उससे उतर कर सर्प के समान तप और यशः शरीर पर आघात करने वाला, विषय-वासनामय काम इन तीनों का ज्ञानरूप वज्र विनाशक है । लोक में अञ्जन के बल पर ज्वर, अतीसार और विष-विकार नष्ट होते हैं । हे ज्ञानरूप अञ्जन ! (ते पिता) तेरा पिता पालक (पर्वतानां) पर्वतों में से, पालना करने में समर्थों में से वह (वर्षिष्ठः) ज्ञान जल का वर्षाने वाला, सब से अधिक वृद्ध और सब से अधिक समर्थ परमेश्वर है जिसका (नाम) रूप और महिमा (त्रि-ककुद्) त्रिककुत् , तीनों लोकों में श्रेष्ठ, वेदत्रयी रूप, त्रिनेत्र, त्रि-अम्बक और 'भूः भुवः स्वः' स्वरूप प्रभु है । वेदत्रयी त्रिनेत्राणि त्रिगुणं त्रिपुरं वपुः । शि० पु० ।

यदाञ्जनं त्रैककुदं जातं हिमवतस्परि ।
यातूंश्च सर्वाञ् जम्भयत्सर्वाश्च यातुधान्यः ॥ ९ ॥

भा०—जिस प्रकार हिमावृत पर्वतों से परे त्रिककुद् नामक विशाल पर्वतों से अञ्जन उत्पन्न होकर सब शरीर की पीड़ाओं और सब पीड़ाकारी विघ्न बाधाओं को दूर करता है उसी प्रकार यह ज्ञानरूप अञ्जन भी (हिमवतः परि) हिम के समान शुक्लकर्मा, शुद्धाचारी मुक्त पुरुष से ऊपर

(त्रैककुदं) वेदत्रय रूप परब्रह्म से (जातं) उत्पन्न (यद्) जो (आञ्जनं) ज्ञानमय अञ्जन है वह (सर्वान्) सब (यातून्) पीड़ादायक विषयों और (सर्वाश्च यातुधान्यः) सब योग-विघ्न कारिणी दुर्वृत्तियों को (जम्भयाति) विनाश कर देता है ।

यदि वासि त्रैककुदं यदि यामुनमुच्यसे ।
उभे ते भद्रे नाम्नी ताभ्यां नः पाह्याञ्जन ॥ १० ॥

भा०—हे ज्ञानाञ्जन ! (यदि वा त्रैककुदम् असि) चाहे तेरा नाम 'त्रैककुद' तीनों वेदों के भण्डार परमेश्वर से उत्पन्न वेदत्रय ज्ञान है । (यदि वा यामुनम् उच्यसे) और चाहे तू 'यामुन' यम नियम साधना से योगजरूप में उत्पन्न होकर 'यामुन' कहाता है (ते) तेरे (ते) वे दोनों (भद्रे) कल्याण और सुखकर उत्तम (नाम्नी) स्वरूप हैं (ताभ्यां) उन दोनों से (नः) हमें (पाहि) पालन कर । यहां लोक में प्रसिद्ध दो प्रकार के अन्जनों की सत्ता का भी उपदेश कर दिया ।

[१०] शंख के दृष्टान्त से आत्मा का वर्णन ।

अथर्वा ऋषिः । शंखमणिशुक्तयो देवताः । १-५ अनुष्टुभः, ६ पथ्यापंक्तिः, ७ पञ्चपदा परानुष्टुप् शक्वरी । सप्तर्चं सूक्तम् ॥

वाताज्जातो अन्तरिक्षाद् विद्युतो ज्योतिषस्परि ।
स नो हिरण्यजाः शङ्खः कृशनः पात्वंहसः ॥ १ ॥

भा०—शंख के दृष्टान्त से आत्मा का वर्णन करते हैं । (वातात् जातः) प्राणवायु से शरीर में प्रकट हुआ (अन्तरिक्षात् जातः) अन्तरिक्ष=हृदया

[१०] १-(तृ०) 'हिरण्यदाः' इति पैप्प० सं० ।

काश में प्रकट, (विद्युतः ज्योतिषः परि) विद्युत् की ज्योति के स्वरूप में योगाभ्यास द्वारा साक्षात् किया गया, वह (कृशनः) मुक्ता के समान अति सूक्ष्म, उज्ज्वल, सब दुखों का विनाशक, (हिरण्यजाः) अभिरम्य, सब से रमण करने योग्य अपने आत्मा रूप में प्रकट हुआ (शंखः) कल्याण मार्ग को स्वयं खोजने और प्राप्त करने वाला हमारा आत्मा ही (नः) हमें (अंहसः) पापों से (पातु) बचावे ।

यो अ॑ग्र॒तो रो॑च॒नानां॑ समु॒द्राद॑धि॑ ज॒ज्ञिषे॑ ।
श॒ङ्खेन॑ ह॒त्वा रक्षां॑स्य॒त्रिणो॒ वि षं॑हामहे ॥ २ ॥

भा०—जिस प्रकार समुद्र से शंख उत्पन्न होता है और उसका नाद बजा कर योद्धा राक्षसों और चोरों को विजय करता है उसी प्रकार (यः) जो (रोचनानां) सब कान्तिमान इन्द्रियों के (अग्रतः) पूर्व, सर्व-श्रेष्ठ (समुद्रात्) सब आनन्द रसों के सागर सर्वशक्तिमान् ब्रह्म परमात्मा से ही (अधि जज्ञिषे) ज्ञान प्राप्त करता है उस (शंखेन) आत्मा रूप शंख से (रक्षांसि) विघ्नों को या व्युत्थानकारी मानस विक्षोभों को और (अत्रिणः) आत्मा की विभूतियों के विनाशक विषयों को या विषयभोगी इन्द्रियों को (वि सहामहे) नाना प्रकार से वश करते हैं । आत्मा के ज्ञानमय अनाहत शंखनाद से विषय वासना नष्ट होती और अन्तर्वृत्ति होकर इन्द्रियां वश में होती हैं ।

श॒ङ्खेना॑मी॒वाममतिं श॒ङ्खेनो॒त स॒दान्वाः॑ ।
श॒ङ्खो नो॑ वि॒श्वभे॑षजः॒ कृश॑नः॒ पात्वंह॑सः ॥ ३ ॥

भा०—(शंखेन) शंख=सुख के अभिलाषी या आनन्दमय और कल्याणस्वरूप उस आत्मा के स्वरूप ज्ञान से हम (अमीवाम्) सब

३–(प्र०) 'वामवधम्' इति पैप्प० सं० ।

रोगों को और (अमतिं) अज्ञान को और उसी (शंखेन) कल्याण मय सुख रूप आत्मा से (सदान्वाः) सदा का कष्टदायिनी दुष्ट पीड़ाओं को भी वश कर लेते हैं। वही (शंखः) शंख, आत्मा (नः) हमारा (विश्व-भेषजः) सब रोग पीड़ाओं की एकमात्र ओषधि है। वह (कृशनः) सब दुखों का नाशक सूक्ष्मतम आत्मा (नः) हमें (अंहसा) पापों से (पातु) बचावे।

दिवि जातः समुद्रजः सिन्धुतस्पर्याभृतः ।
स नो हिरण्यजाः शङ्ख आयुष्प्रतरणो मणिः ॥ ४ ॥

भा०—वह आत्मा (समुद्र-जः) उस परब्रह्म रूप आनन्दसागर से अपना आनन्दांश लेने वाला (सिन्धुतः परि आ-भृतः) उस दया, आनन्द, चेतना और ज्ञान के सिन्धु से सब प्रकार से पालित पोषित (हिरण्य-जाः) अभिराम उस परम सीमा के आश्रय पर जीवित वह (शंखः) कल्याण रूप आत्मा (मणिः) ज्ञानवान् होकर मणि के समान स्वयं-प्रकाश होकर (आयुः-प्रतरणः) इस आयु या जीवन में पार उतार देता है, भव सागर से तरा देता है।

समुद्राज्जातो मणिर्वृत्राज्जातो दिवाकरः ।
सो अस्मान्त्सर्वतः पातु हेत्या देवासुरेभ्यः ॥ ५ ॥

भा०—वह शंख रूप आत्मा (मणिः) प्रकाशस्वरूप होकर भी (समुद्रात्) समुद्र से उत्पन्न मणि के समान उस ज्ञान और ज्योति के परम सागर से (जातः) ज्ञान और ज्योति को प्राप्त करता है। और (वृत्रात् जातः दिवाकरः) जिस प्रकार मेघ के आवरण से मुक्त होकर सूर्य अपने तापकारी किरणों से चमकने लगता है उसी प्रकार अज्ञान के आव-

४–(प्र०) समुद्रतः, (तृ०) 'हिरण्यदाः' इति पैप्प० सं० ।

रण से मुक्त होकर आदित्य रूप होकर वह आत्मा चमकने लगता है। वह आदित्य रूप ज्ञानवान् आत्मा (देवासुरेभ्यः) देवों ज्ञान-इन्द्रियगण और असुर=प्राणेन्द्रियों से हमें अपने (हेत्या) विषय वासनाओं को मार गिराने वाले ज्ञानवज्र से (नः) हमारी (पातु) रक्षा करे।

हिरण्यानामेकोऽसि सोमात् त्वमधि जज्ञिषे ।
रथे त्वमसि दर्शत इषुधौ रोचनस्त्वं प्र ण आयूंषि तारिषत् ॥६॥

भा०—हे (दर्शत) दर्शनीय ! योग समाधिद्वारा प्रत्यक्ष करने योग्य एकमात्र दर्शनीय रूप आत्मन् ! तू (हिरण्यानाम्) अभिराम, रमणीय, एवं कान्तिमान या चेतनावान् इन्द्रियगणों में, ताराओं में सूर्य के समान उनका भी प्रकाशक (एकः, असि) एक ही है। और (सोमात्) सब के उत्पादक एवं प्रेरक ज्ञानमय, चेतनामय और आनन्दमय परब्रह्म से (अधि जज्ञिषे) आनन्द प्राप्त करके आनन्दमय हो जाता है। (रथे) इस देह मय रथ में विराजमान होकर (दर्शतः त्वम् असि) तू और भी दर्शनीय है और (इषु-धौ) इषु=मनः कामनाओं के धारण करने हारे मन पर भी वश करके (रोचनः) उससे अधिक कान्तिमान होकर (त्वं) तू (नः आयूंषि) हमारे आयुओं, जीवनों को (तारिषत्) तरा देता है, सफल कर देता है।

देवानामस्थि कृशनं बभूव तदात्मन्वच्चरत्यप्स्वन्तः ।
तत् ते बध्नाम्यायुषे वर्चसे बलाय दीर्घायुत्वाय ।
शतशारदाय कार्शनस्त्वाभि रक्षतु ॥ ७ ॥

६–(द्वि०) 'सहोपादधि', (तृ०) 'रथेषु दर्शतं' इति पैप्प० सं० ।
७–(च०) 'बलाय च कार्शिणस्त्वाभिरक्षतु' इति पैप्प० सं० । 'कर्श-नस्त्वा' इति बहुत्र ।

भा०—हे शिष्य ! वह आत्मा (कृशनं) अति सूक्ष्म होकर भी (देवानाम् अस्थि) देव—इन्द्रियगणों का प्रेरक (बभूव) है। (तत्) वही आत्मा (आत्मन्वति) अपने अधीन इस देह में और (अन्तः, अप्सु) सर्व विचारों में और क्रियाओं में (चरति) विचरा करता है। उस आत्म-रूप मणि को मैं आचार्य हे शिष्य (ते) तेरे (आयुषे) दीर्घ जीवन, (वर्चसे) ब्रह्मचर्य और (बलाय) बल सम्पादन के लिये और (शतशारदाय दीर्घायुत्वाय) सौ वर्ष के दीर्घ जीवन के लिये (बध्नामि) बांधता हूं। उपनयन के समय उसका तुझे उपदेश करता हूं। वह (कर्शनः) सूक्ष्माति सूक्ष्म सब कष्टों का विनाशक आत्मा (त्वा अभिरक्षतु) तेरी सब प्रकार से रक्षा करे।

आत्म-रूप से परमात्मा का भी साथ २ वर्णन हो गया है। जैसे आत्मा का यह देह वैसे ही ब्रह्म का ब्रह्माण्ड देह है इस देह के देव इन्द्रिय गण और उसके लोक लोकान्तर इत्यादि विराट् रूपक जानना चाहिये। आत्म-ज्ञान के साथ २ परमात्मा का दर्शन भी होता है अतः मर्मज्ञ ऋषियों की वाणी में आत्मा परमात्मा का समान वर्णन होता है।

इति द्वितीयोऽनुवाकः ।

[तत्र पञ्चसूक्तानि, एकोनचत्वारिंशदृचः ।]

[११] जगदाधार परमेश्वर का वर्णन ।

भृग्वंगिराः ऋषिः । अनड्वान् देवता । १, ४ जगत्यौ, २ भुरिग्, ७ त्र्यवसाना षट्पदानुष्टुब्गर्भो परिष्टाज्जागता निचृच्छक्करी, ८–१२ अनुष्टुभः ।

द्वादशर्चं सूक्तम् ।

अनड्वान् दाधार पृथिवीमुत द्यामनड्वान् दाधारोर्वन्तरिक्षम् ।
अनड्वान् दाधार प्रदिशः षडुर्वीरनड्वान् विश्वं भुवनमा विवेश ॥१॥

भा०—विश्व के धारक परमेश्वर का वर्णन करते हैं। (अनड्वान्) अनः—ब्रह्माण्डरूप यज्ञ को धारण करने वाला या विश्वमय शकट को उठाने वाला वह परमेश्वर (पृथिवीम्) इस पृथिवी को (उत) और (द्याम्) द्यौलोक को (दाधार) धारण करता है और वही (अनड्वान्) ब्रह्माण्ड रूप शकट को धारण करने वाला (उरु) महान्, विशाल (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्षम् को भी (दाधार) धारण कर रहा है। (अनड्वान्) वह सर्व शक्तिमान्, ब्रह्माण्ड का स्वामी (षट्) छहों (उर्वीः) विशाल (प्र-दिशः) पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर, नीचे और ऊपर की प्रधान दिशाओं को भी (दाधार) धारण कर रहा है। कहने का तात्पर्य यह है कि (अनड्वान्) वही विश्वधारक प्रभु (विश्वम्) समस्त (भुवनम्) इस उत्पन्न जगत् में (आ विवेश) व्यापक है।

अनड्वानिन्द्रः स पशुभ्यो वि चष्टे त्रयाञ्छक्रो वि मिमीते अध्वनः ।
भूतं भविष्यद् भुवना दुहानः सर्वा देवानां चरति व्रतानि ॥ २ ॥

भा०—पूर्वोक्त 'अनड्वान्' को इन्द्र रूप से वर्णन करते हैं। वह (अनड्वान्) विश्व के धारण करने हारा (इन्द्रः) सकल ऐश्वर्यसम्पन्न होकर सूर्य और स्वयंप्रकाश होकर (पशुभ्यः) समस्त जीवों के हित के लिये (विचष्टे) प्रकाशित होता है। वही (शक्रः) सर्व शक्तिमान् होकर (त्रयान् अध्वनः[1]) तीनों लोकों को अविच्छिन्न रूप से जीवों के कर्म फल

[११] १–(प्र०) 'पृथिवीं द्यामुतेमां' इति पैप्प० सं०।
२–'विचष्टे स्तियांञ्छक्रो' इति सायणसम्मतः पाठः।
१. अदेर्धच (उणादिः १ । ११६) (प्र०) 'अनड्वान् इन्द्रस्य', (तृ०) 'सम्भूतं भुवनं' इति पैप्प० सं०।

भोगने के सात्विक तामस और राजस मार्गों को (वि मिमीते) निर्माण करता है । और वही (भूतं) भूत काल और (भविष्यत्) भविष्यद् काल में उत्पन्न होने वाले (भुवना) समस्त लोकों को (दुहानः) पूर्ण करता हुआ (देवानां) देवों के (सर्वा व्रतानि) समस्त कार्यों को स्वयं ही सम्पादित कर रहा है ।

इन्द्रो जातो मनुष्येष्वन्तर्घर्मस्तप्तश्चरति शोशुचानः ।
सुप्रजाः सन्त्स उदारे न सर्षद् यो नाश्नीयादनडुहो विजानन् ॥३॥

भा०—(इन्द्रः) परमात्मा (मनुष्येषु अन्तः) मननशील, ज्ञानी पुरुषों के भीतर, हृदय में (जातः) प्रकट होता है और वही (तप्तः) संतप्त (घर्मः) प्रकाशमान सूर्य के समान (शोशुचानः) निरन्तर देदीप्यमान होकर (चरति) सर्वत्र व्यापक है । (यः) जो पुरुष (अनडुहः) विश्वधारक परमात्मा का ही यह सब कुछ है (वि-जानन्) ऐसा जानता हुआ इस विश्व में रह कर (न अश्नीयात्) विषयों का भोग नहीं करता वह (सुप्रजाः सन्) उत्तम प्रजा से युक्त होकर (उद्-आरे[1]) देहत्याग के अनन्तर (न) नहीं (सर्षत्) भटकता ।

अनड्वान् दुहे सुकृतस्य लोक ऐनं प्याययति पवमानः पुरस्तात् ।
पर्जन्यो धारा मरुत ऊधो अस्य यज्ञः पयो दक्षिणा दोहो अस्य ॥४॥

भा०—(सु-कृतस्य लोके) पुण्य के लोक में (अनड्वान् दुहे) वह विश्वधारक प्रभु ही सब कामनाएं पूर्ण करता है । वही प्रभु (पवमानः)

१. 'उदऽआरे' इति पद पाठः । सायणस्तु ' आरे न उत्सर्पेत ' इति योजयति तच्चिन्त्यम् । (प्र०) ' इन्द्र एष ' (द्वि०) ' चरति संशिशानः ' ' उदारे नः ' इति सायणसम्मतः पाठः ।

४-(द्वि०) ' प्याययेत् ' इति पैप्प० सं० ।

सर्वव्यापक, सब का परमपालक (पुरस्तात्) सब से प्रथम (एनं) इस जीव को अपने आनन्द रस से (प्याययति) परिपुष्ट करता है। उस प्रभु की लीला देखो कि वह कैसे इस जीव लोक को पालन पोषण करता है कि (अस्य) उस प्रभु की (पर्जन्यः) मेघ ही साक्षात् (धारा) पोषणकारी, रस बहाने वाली धारा है। (मरुतः) ये वायु जो मेघों को उड़ा कर लाते हैं वह (ऊधः) दूध को उठाने वाले गाय के 'थान' के समान जल को ऊपर उठाये रहते हैं। उस का (पयः) बरसा हुआ जल ही (यज्ञः) लोकोपकार के लिये किया गया कार्य या प्रभु का दान है और (अस्य) इसकी (दक्षिणा) यज्ञ के निमित्त दान दी गई दक्षिणा या अन्न ही (दोहः) साक्षात् दोहन से प्राप्त पुष्टिकारक पदार्थ है। यहां वृष्टि के जल की आहुति का पृथिवी रूप अग्नि में पड़ना यह यज्ञ है और पुनः जीवों के लिये अन्न=दक्षिणा उत्पन्न होना दक्षिणा प्राप्त होना है। "पृथिवी वावगोतमाग्निः..........तस्मिन्नग्नौ देवाः वर्षं जुह्वति। तस्या आहुतेरन्नं सम्भवति" (छान्दोग्य उप० ५ । ६)।

यस्य॒ नेशे॑ य॒ज्ञप॑ति॒र्न य॒ज्ञो नास्य॑ दा॒तेशे॒ न प्र॑तिग्र॒ही॒ता ।
यो वि॑श्व॒जिद् वि॑श्व॒भृद् वि॒श्वक॑र्मा घ॒र्मं नो॑ ब्रूत य॒त॒मश्च॑तु॒ष्पात् ॥५॥

भा०—(यस्य) जिस परमेश्वर पर (यज्ञ-पतिः) यज्ञों का पालक कोई यजमान भी (न ईशे) अपना वश नहीं करता और जिस पर (यज्ञः न ईशे) यज्ञ भी कोई वश नहीं कर सकता, (अस्य) इस पर (दाता न ईशे) कोई दानी महा पुरुष भी प्रभुता नहीं करता, (न प्रति-ग्रहीता) और दान लेने वाला कोई योग्य ब्राह्मण भी उस पर वश नहीं कर सकता। (यः) जो प्रभु स्वयं (विश्व-जित्) सब विश्व को विजय करने वाला, (विश्व-भृद्) समस्त विश्व का पालक पोषक, (विश्वकर्मा) सब विश्व का रच-

५-(तृ०) 'यो विश्वदृग् विश्वकृः विश्व' इति पैप्प० सं०।

यिता है । हे विद्वान् पुरुषो उस सब रसों के बरसाने वाले और तेजःस्वरूप प्रभु का (नः ब्रूत) हमें उपदेश करो । (यतमः) जो (चतुष्पाद्) चार पाद वाला है । ब्रह्म के चतुष्पादों का वर्णन देखो ' छ्.न्दोग्य उपनिषद् ' उपकोसल का जाबाल सत्यकाम को उपदेश ।

येन॑ दे॒वाः स्व॑/रारुरु॒हुर्हि॒त्वा शरी॑रम॒मृत॑स्य॒ नाभि॑म् ।
तेन॑ गेष्म सु॒कृत॑स्य लो॒कं घ॒र्मस्य॑ व्र॒तेन॒ तप॑सा यश॒स्यवः॑ ॥ ६ ॥

भा०—(येन) जिस परम प्रभु की उपासना से (देवाः) विद्वान् गण (अमृतस्य) अमृत स्वरूप, आत्मा को (नाभिम्) बांधने वाले (शरीरम्) इस शरीर को (हित्वा) परित्याग करके (स्वः) सुखमय मोक्ष लोक को (आ रुरुहुः) प्राप्त होते हैं । हम भी (तपसा) तप से (यशस्यवः) यशः=यशःस्वरूप परब्रह्म की प्राप्ति की इच्छा करने हारे होकर (घर्मस्य) तेजोमय आदित्य के (व्रतेन) व्रत को धारण करके (तेन) उस प्रभु के द्वारा ही (सुकृतस्य लोकं) पुण्य के लोक, मोक्ष को (गेष्म) प्राप्त करें ।

इन्द्रो॑ रू॒पेणा॒ग्निर्वहे॑न प्र॒जाप॑तिः परमे॒ष्ठी वि॒राट् ।
विश्वान॑रे अक्रमत वैश्वान॒रे अ॑क्रमतान॒डुह्य॑क्रमत ।
सो॑/दृंहयत॒ सो॑/धारयत ॥ ७ ॥

भा०—वह विश्वधारक अनड्वान् प्रभु (रूपेण) उज्ज्वल रूप में, स्वयं (इन्द्रः) साक्षात् इन्द्र स्वरूप, समस्त ऐश्वर्यसम्पन्न है और (वहेन)

६–(तृ०) ' तेन जेष्म ' इति सायणसम्मतः पाठः । (द्वि०) ' अमृतस्य धाम ' इति पैप्प० सं० ।

७–' इन्द्रो बलेनास्यपरमेष्ठी व्रतेनैन गौस्तेन वैश्वदेवाः । योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः तस्य प्राणानसवहे तस्य प्राणान् विवहः ' इति पैप्प० सं० ।

सब पदार्थों को धारण करने और स्थान से स्थानान्तर में भेजने, गति कराने की शक्ति से (अग्निः) अग्नि है। वही विश्व का प्रभु स्वयं (प्रजापतिः) समस्त स्थावर जंगम प्रजा का पालक (परमेष्ठी) परम मोक्षधाम, सत्य लोक, आनन्दमय रूप में विराजमान (विराट्) सब से अधिक एवं विविध प्रकार से प्रकाशमान, एवं स्थूलप्रपञ्च का कर्त्ता है। वही परमात्मा (विश्वानरे अक्रमत) समस्त नर, आत्माओं में प्रविष्ट है। वही (वैश्वानरे) सब शरीरों में विद्यमान जाठर अग्नि और भौतिक अग्नि के भीतर भी विद्यमान है और वही (अनुडुहि अक्रमत) समस्त संसार रूप अनस्=महान यत्न के धारक रूप में भी व्यापक है। (सः) वही परमेश्वर (अदृंहयत) इस संसार को स्थूलरूप देकर विराट्, तेजो-वाष्पमय रूप से इस दृढ़ रूप में बनाता है और फिर भी इस गुरु, भारवान् पृथिवी आदि पिण्डों से भरे हुए संसार को (सः अधारयत) वही धारण करता है उनको टकराने और गिरने न देकर थाम रहा है। पांच कार्य हैं (१) रूप=तेजोमय प्रकाश, (२) वहन= गति देना, (३) प्रजापालन, (४) परम आनन्दस्वरूपता, (५) विशालता, इन पांच कार्यों से उसके पांच नाम हैं—इन्द्र, अग्नि, प्रजापति, परमेष्ठी, विराट्। इन पांच रूपों से वह पांच विशाल सर्गों में प्रविष्ट है। वह विश्वानर जीवात्मा में इन्द्र, वैश्वानर में अग्नि, अनुडुह् रूप में प्रजापति, दृंहण रूप में परमेष्ठी और धारण रूप में विराट् है।

मध्यमेतदनडुहो यत्रैष वह आहितः।
एतावदस्य प्राचीनं यावान् प्रत्यङ् समाहितः॥ ८॥

भा०—समस्त विश्व को धारण करने हारे (अनुडुहः) अनडुह् रूप प्रभु का (एतत्) यह (मध्यम्) मध्य भाग है (यत्र) जहां (एषः) यह (वहः) 'वह' रूप विश्वभार (आहितः) स्थापित है। (एतावत्) इतना ही (अस्य) इसका (प्राचीनम्) अगला भाग है (यावान्) जितना (प्रत्यङ्) कि पिछला भाग (समाहितः) है। अर्थात् जिस प्रकार बैल के

पीठ पर भर रक्खा जाता है तब पीठ का जितना अगला भाग है उतना ही पीठ का पिछला भाग भी है उसी प्रकार इस विश्व का भार परमात्मा के वहन करने हारी शक्ति पर है । उसका अगला विश्व की उत्पत्ति शक्ति का जितना भाग है उतना ही उसकी संहार शक्ति का भाग भी है । जितना उसका भूत है उतना भविष्यत् भी है ।

यो वेदा॑न॒डुहो॒ दोहा॑न् स॒प्तानु॑पदस्वतः ।
प्र॒जां च॑ लो॒कं चा॑प्नोति॒ तथा॑ सप्तऋ॒षयो॑ विदुः ॥ ६ ॥

भा०—(यः) जो विद्वान् पुरुष (अनुडुहः) उस विश्वधारक ईश्वर के दिये (अनुपदस्वतः) कभी विनाश को प्राप्त न होने हारे (सप्त) सात (दोहान्) शरीर और उदर पूर्त्ति करने हारे अन्नों को वेद जानता है अथवा (सप्त) सर्पण स्वभाव वाले गतिमान् (दोहान्) अन्नप्रदाता जीवन के पूरक सूर्य, पर्जन्य, पृथिवी, अन्न, वायु आदि को जानता है वह (प्रजाम् च) उत्तम प्रजा को और (लोकं च) उत्तम लोक को (प्राप्नोति) प्राप्त करता है (सप्त ऋषयः) सातों ऋषि गण भी (तथा) उसी प्रकार उस अनुडुह् रूप विश्वधारक आत्मा को (विदुः) जानते हैं ।

विश्वामित्र, जमदग्नि, भरद्वाज, गोतम, अत्रि, वसिष्ठ और कश्यप ये सात ऋषि हैं । ये सातों ऋषि अध्यात्म में शिरोभाग में विद्यमान हैं दो कान दोनों भरद्वाज हैं, दोनों आंखें विश्वामित्र और जमदग्नि हैं, दोनों नासिकाएं वसिष्ठ और कश्यप हैं वाक् अत्रि है । (बृहदारण्यक उप० अ० २ । २) । सात अन्न निम्नलिखित हैं—१ अन्न, हुत और प्रहुत, दुग्ध. मन वाणी और प्राण । 'अन्न' साधारण है, 'हुत' 'प्रहुत' दोनों देवों के लिये और 'दुग्ध' पशु और मनुष्यों के लिये, 'मन' 'वाणी' और 'प्राण' ये तीनों आ-

९–'सप्तानपदस्वतः' इति पैप्प० सं० ।

रक्षा के लिये हैं (बृहदा० उप० अ १ । ब्रा० ५) । अथवा उक्त सातों द्वारों के ग्राह्य विषय सात अन्न समझने चाहियें ।

पुद्भिः सेदिमंवुक्रामुन्निरां जङ्घाभिरुत्खिदन् ।
श्रमेणानुड्वान् कीलालं कीनाशश्चाभि गच्छतः ॥ १० ॥

भा०—वह प्रजापतिरूप अनड्वान्—परमात्मा भी एक चतुष्पाद् बैल के समान है । वह (पद्भिः) अपने चरणों से (सेदिं) क्षेत्र, भूमि को (अवक्रामत्) पार करता हुआ और (जंघाभिः) अपनी जंघाओं से (इरां) अन्न को (उत्खिदन्) उत्पन्न करता हुआ (श्रमेण) श्रम से (कीलालं) अन्न को उत्पन्न करता हुआ वह (अनड्वान्) विश्वक शकट का वाहक जगदाधार और (कीनाशः च) कीनाश=यह जीवात्मा अपने कर्म फलों का काटने हारा दोनों (अभि गच्छतः) एक दूसरे के पीछे २ चलते हैं ।

'सेदि' यह लोक है । 'इरा' वह अमृतमय मोक्ष है । 'कीलाल' ब्रह्मानन्द रस है, 'कीनाश' जीव है ।

द्वादश वा एता रात्रीर्व्रत्यां आहुः प्रजापतेः ।
तत्रोप ब्रह्म यो वेद तद् वा अनुडुहों व्रतम् ॥ ११ ॥

भा०—(प्रजापतेः) प्रजापति की (एताः) ये (द्वादश) बारह (व्रत्याः रात्रीः आहुः) व्रत करने योग्य, उत्तम कर्म करने योग्य रात्रियां कही गई हैं । (तत्र) उन में (यः) जो (ब्रह्म) प्रजापति रूप ब्रह्म और वेद का (वेद) ज्ञान कर लेता है (तद् वा अनडुहो व्रतम्) वही उस (अनडुह्) विश्व-धारक प्रभु का व्रत है । द्वादश रात्रि, द्वादशाह कर्म है

१०–' इरान् । जङ्घाभिः ' इति पदपाठो बहुत्र ।

११–(तृ०) ' तद् वापि ब्रह्म ' इति पैप्प० सं० ।

जो १२ मास और १२ वर्ष का प्रतिनिधि है । उस १२ वर्ष में एक वेद का स्वाध्याय करे । १२ वर्ष ब्रह्मचर्य करे, एक वर्ष तक प्रजापति-व्रत करे ।

दुहे सायं दुहे प्रातर्दुहे मध्यन्दिनं परि ।
दोहा ये अस्य संयन्ति तान् विद्मानुपदस्वतः ॥ १२ ॥

भा०—उक्त प्रजापतिरूप वृषभ की उपासना का फल बतलाते हैं । मैं (सायं दुहे) सायंकाल में उसका आनन्द रस प्राप्त करता हूं । (प्रातः दुहें) प्रातकाल भी उसी का आनन्दरस योग-समाधि द्वारा प्राप्त करता हूं और (मध्यंदिनं परि दुहे) मध्य दिवस, मध्याह्न काल में भी उस ही का ध्यान करता हूं । (ये) जो पुरुष (अस्य) इस प्रभु के (दोहा) इन रसों को (सं यन्ति) फलरूप से प्राप्त करते हैं हम (तान्) उनको (अनुपदस्वतः) अविनाशी अमर हुआ (विद्म) जानते हैं । तीन सवन होते हैं प्रातः सवन, माध्यंदिन सवन और सायं सवन । जीवन में भी तीन भाग हैं ब्रह्मचर्य काल, २४ वर्ष तक, ४४ वर्ष तक और ४८ वर्ष तक । जो तीनों का पालन करते हैं वे अमृत को प्राप्त करते हैं । देखो छान्दोग्य उपनिषद् (अ० ३ । ६) देखो सत्यार्थप्रकाश (समु० ३) ।

इस अलंकारिक अनड्वान् को देख कर मुसलमानों की यह कल्पना है कि बैल के सींग पर पृथ्वी खड़ी है । इसी प्रजापति व्रत के उपलक्ष्य में उस का प्रतिनिधि बड़ा सांड छोड़ा जाता है । इसी अनड्वान का वर्णन अध्यात्म-प्रकरण में लगता है ।

१२–' दुहे वा नड्वान् सायं दुहे प्रातर्दुहे दिवाः ' (च०) ' अनपदस्यतः ' इति पैप्प० सं० ।

[१२] कटे फटे अंगों की चिकित्सा ।

ऋभुर्ऋषिः । वनस्पतिर्देवता । १ त्रिपदा गायत्री, ६ त्रिपदा यवमध्या भुरिग्गायत्री, ७ भुरिक्, २, ५ अनुष्टुभः । सप्तर्चं सूक्तम् ॥

रोहण्यसि रोहण्यस्थ्नश्छिन्नस्य रोहणी ।
रोहयेदमरुन्धति ॥ १ ॥

भा०—कटे फटे और टूटे फूटे अंगों की चिकित्सा का उपदेश करते हैं। हे (रोहणि) रोहणी नामक ओषधे ! तू (अस्नः) हड्डी की भी (रोहणी असि) रोप देने वाली है और (छिन्नस्य) कटे क्षत घाव को भी (रोहणी) पूर देने, चंगा कर देने वाली है। हे (अरुन्धति) अरुष्=घाव को पूरने वाली ओषधे ! तू (इदम्) इस घाव को (रोहय) भरदे, पूरदे, अच्छा करदे ।

यत् ते रिष्टं यत् ते द्युत्तमस्ति पेष्ट्रं त आत्मनि ।
धाता तद् भद्रया पुनः सं दधत् परुषा परुः ॥ २ ॥

भा०—हे चोट खाये हुए पुरुष ! (यत्) जो तेरा अंग (रिष्टम्) चोट खाये हुए है, (यत् ते द्युत्तम् अस्ति) और जो तेरा अंग जल गया हो और (ते आत्मनि) तेरे देह में जो भाग (पेष्ट्रं) पिस गया हो (धाता) पोषक वैद्य (तत्) उस अंग को (भद्रया) अति कल्याणकारी

[१२] १–प्रायः 'रोहिणी' इति पैप्प० सं० । 'रोहण्यसि रोहिणी' इति ह्विटनिकामितः पाठः । रोहिण्यसि रोहिण्यस्थ्नःशीर्णस्य रोहिणी । रोहिण्यामहं आतासि रोहिण्यास्योषधे ' इति पैप्प० सं० । (प्र०) 'रोहिण्यस्थ्नश्छिन्नस्य' इति सायणाभिमतः पाठः ।

२–(प्र०) 'यत् ते शीर्णं' (द्वि०) 'तात्मनः' (तृ० च०) 'तत्सर्वं कल्पयात् संदधत्' इति पैप्प० सं० ।

सुखकारी रीति से (परुषा परुः) पोरु से पोरु मिला कर (सं दधत्) जोड़ दे ।

सं ते॑ म॒ज्जा म॒ज्ज्ञा भ॑वतु॒ समु॑ ते॒ परु॑षा॒ परुः॑ ।
सं ते॑ मां॒सस्य॒ विस्र॑स्तं॒ सम॒स्थ्यपि॑ रोहतु ॥ ३ ॥

भा०—हे पुरुष ! (ते मज्जा) तेरी मज्जा की धातु (मज्ज्ञा) मज्जा के साथ मिल कर (सं रोहतु) वृद्धि को प्राप्त हो, (परुषा परुः सं रोहतु) पोरु से पोरु मिलकर अच्छा हो जाय । (मांसस्य) और मांस का (विस्रस्तं) विनाश को प्राप्त हुआ भाग भी (सं रोहतु) उचित रीति से रुप कर ठीक हो जाय और (अस्थि अपि) हड्डी भी टूटी हुई हो तो वह भी (सं रोहतु) ठीक २ मिलकर जुड़ जावे ।

म॒ज्जा म॒ज्ज्ञा सं धी॑यतां॒ चर्म॑णा॒ चर्म॑ रोहतु ।
असृ॑क् ते॒ अस्थि॑ रोहतु मां॒सं मां॒सेन॑ रोहतु ॥ ४ ॥

भा०—(मज्ज्ञा मज्जा) मज्जा धातु के साथ मज्जा को (सं धीयताम्) मिला दिया जाय । और (चर्मणा चर्म) चर्म से चर्म को मिला दिया जाय तब घाव शीघ्र ही (रोहतु) भर आना सम्भव है । इसी प्रकार (असृक्) रुधिर भी रुधिर की नाड़ियों से जोड़ कर मिला देने से जुड़ जाती है और (अस्थि) हड्डी को हड्डी से मिला दें तो वह भी (रोहतु) जुड़ कर ठीक

३–(प्र०) 'सं मज्जा' (च०) 'सस्रावमसु पर्वते' इति पैप्प० सं० । (तृ०) 'विश्रस्तं' इति क्वचित् । सर्वत्र 'शं' इति सायणाभिमतः ।

४–(तृ०) 'अस्थ्ना ते अस्थि' अथवा 'असृक् ते अस्ना' इति ह्विटनिकामितः पाठः । (द्वि० च०) 'अस्नाऽस्थि विरोहतु स्नावाते सं दध्मः स्नाम्ना चर्मणा चर्म रोहतु' इति पैप्प० सं० ।

हो जाती है । इसी प्रकार (मांसं मांसेन रोहतु) मांस को मांस के साथ मिला देने से वह भी मिल कर एक होकर पुष्ट हो ।

लोम लोम्ना सं कल्पया त्वचा सं कल्पया त्वचम् ।
असृक् ते अस्थि रोहतु छिन्नं सं धेह्योषधे ॥ ५ ॥

भा०—हे वैद्य ! (लोम लोम्ना) लोमों को लोमों से (सं कल्पय) ठीक प्रकार से जोड़कर मिला दो और (त्वचा त्वचम्) त्वचा, खाल से खाल को (सं कल्पय) मिला कर रखदो, इसी प्रकार हे रोगिन् ! (अस्थि) हड्डी और (ते असृक्) तेरा रुधिर (रोहतु) वृद्धि को प्राप्त हो । हे ओषधे ! तू इस प्रकार लोम, त्वचा, मांस आदि के ठीक ठीक बैठा देने पर ऊपर लग कर (छिन्नं) कटे फटे स्थान को (सं धेहि) मिला कर एक करदे ।

स उत् तिष्ठ प्रेहि प्र द्रव रथः सुचक्रः सुपविः सुनाभिः ।
प्रति तिष्ठोर्ध्वः ॥ ६ ॥

भा०—इस प्रकार रोगी का घाव अच्छा हो जाने पर वैद्य उसको आज्ञा दे कि (सः) वह तू (उत्-तिष्ठ) उठ खड़ा हो, (प्रेहि) चल, आजा (प्र द्रव) फिर अच्छी प्रकार भाग, अब तेरा शरीर (सुचक्रः) उत्तम चक्रों से युक्त (सुपविः) उत्तम हाल, लोह-पट्टी से जड़ा हुआ (सुनाभिः) सुन्दर उत्तम धुरा वाले (रथः) रथ के समान ठीक हो गया है (प्रति तिष्ठ ऊर्ध्वः) ऊपर उठ खड़े हो और जाओ रोगीशाला को छोड़ कर अपने काम में लग जाओ ।

५–(प्र०) 'लोम लोम्ना संधीयताम्' इति पैप्प० सं० ।

६–'उत्तिष्ठ प्रेहि समुधाहि ते परुः । सं ते धाता दधातु तन्वोविरिष्टं रथस्य-चक्रप्युपत्रर्थैर्यथैति सुखस्य नाभिः प्रतितिष्ठ एवम्' इति पैप्प० सं० ।

यदि कर्तं पतित्वा संशश्रे यदि वाश्मा प्रहृतो जघान ।
ऋभू रथस्येवाङ्गानि सं दधत् परुषा परुः ॥ ७ ॥

भा०—उपसंहार में इस क्षतचिकित्सा का गुण दिखाते हैं । (यदि) यदि शरीर पर (कर्तम्) काटने वाला गंडासा या तलवार भी (पतित्वा) गिर कर (संशश्रे) शरीर में घाव कर जाय (यदि वा) या (अश्मा) शिला (प्रहृतः) फेंका हुआ आकर (जघान) शरीर पर आघात करे तोभी वैद्य (परुषः परुः) पोरु से पोरु मिला कर इस प्रकार (सं दधत्) जोड़ दे कि जैसे (ऋभू[1]) विद्वान् शिल्पी (रथस्य) रथ के (अङ्गानि इव) टुकड़ों २ को जोड़कर खड़ा कर देता है ।

[१३] पतितोद्धार, शुद्धि और रोगनाशन ।

शंतातिर्ऋषिः । चन्द्रमा उत विश्वेदेवा देवताः । १—७ अनुष्टुभः । सप्तर्चं सूक्तम् ॥

उत देवा अवहितं देवा उन्नयथा पुनः ।
उतागश्चक्रुषं देवा देवा जीवयथा पुनः ॥ १ ॥

ऋ० १० । १३७ । १ ॥

भा०—(उत) और हे (देवाः) विद्वान्, दिव्यगुणयुक्त पुरुषो ! इस पुरुष को या बालक को (अवहितं) सावधान, प्रमादरहित करो ।

७—(प्र०) ' यदि कर्तु ' इति बहुत्र । ' यदि वज्रो विसृष्टा स्थारकजातु पतित्रा यदि वा च रिष्टम् । वृक्षाद्वा यदि वा विध्यसि शीर्षं ऋभुरिति स एवं संधामि ते परुः ।' इति पैप्प० सं० ।

१. ऋभूः मेधाविनाम (निघं० ३ । १५) उरुभाति, भवति वा ।

[१३] १—(द्वि०) ' उद्धरता पुनः ' (तृ०, च०) ' ततो मनुष्यं तं देवा देवाः कृणुत जीवसे ' इति पैप्प० सं० ।

और हे (देवाः) विद्वान् पुरुषो ! (पुनः) पुनः २ अपराध करने एवं नीच भावों में जा पड़ने पर भी उसे उत्तम उपदेशों और सद्व्रतों के आचरणों द्वारा (उत् नयथा) बार २ उन्नत करो। (उत) और (आगःचक्रुषं) पापाचरण करने पर भी इस पुरुष या बालक को (देवाः पुनः उन्नयथाः) बार २ उन्नत करो। हे (देवाः) देव समान सदाचार युक्त पुरुषो ! यदि इस का आत्मा पापाचरण द्वारा सर्वथा मर भी चुका हो और उसे पाप पुण्य और भले बुरे का ज्ञान भी न रह गया हो तो भी (पुनः) बार बार (जीवयथाः) उसे जीवित करो, उसके आत्मा की चेतना को पुनः जगाओ जिससे वह पाप को पाप और धर्म को धर्म समझे।

द्वाविमौ वातौ वात आ सिन्धोरा परावतः।
दक्षं ते अन्य आवातु व्य१न्यो वातु यद् रपः॥ २॥

ऋ० १० । १३७ । २ ॥

भा०—जिस प्रकार पृथ्वी पर ये दो वायुएं बहती हैं जो सिन्धु से चल कर दूर दूर तक के स्थानों तक पहुंच जाती हैं, उन में एक तो जल बरसा कर प्रजा के लिये अन्न उत्पन्न करती है और दूसरी हानिकारक रोग और ग्राम के मलिन वस्तुओं को आंधी बन कर उड़ा ले जाती है, इसी प्रकार हे पुरुष तेरे शरीर में भी (इमौ) ये (द्वौ वातौ) दो वायु हैं प्राण और अपान, ये दोनों (आ सिन्धोः) सिन्धु देश रुधिर के एकत्र होने का हृदय और फुप्फुसों का वह प्रदेश जहां से नाड़ियों द्वारा रक्त बह कर सारे शरीर में फैलता और सारे शरीर से नीला मलिन रक्त बह कर हृदय में पुनः आ जाता है उस सिन्धु रूप हृदय और फुप्फुस प्रदेश से (आ परावतः) शरीर के दूर से दूर स्थान तक (वातः) गति करते हैं, पहुंचते हैं।

२–(च०) 'परान्यो' इति ऋ०।

(अन्यः) इन में से एक (ते) तेरे लिये (दक्षं) बल को (आ वातु) प्राप्त कराने में समर्थ है और (अन्यः) दूसरा (यद् रपः) जो मलिन अंश है उसको (वि वातु) बाहर करे । शरीर में दो ही प्राण की गति हैं भीतर से वायु को बाहर फेंकना और बाहर से भीतर लेना । शरीर में भी दो क्रिया हैं । एक रक्त का शुद्ध स्वच्छ वायु पाकर शुद्ध हो जाना और शरीर का पुनः हरा भरा हो जाना दूसरा मलिन अंश का रक्त से पृथक् होकर मूत्र और प्रस्वेद के मार्ग से बाहर हो जाना । प्राण और अपान में प्राण रक्त को स्वच्छ करता और अपान रक्त के मलिन अंश को प्रस्वेद और मल मूत्र द्वारा शरीर से बाहर कर देता है । उसी का उपदेश किया है ।

आ वा॑त वाहि भेष॒जं वि वा॑त वाहि॒ यद् रपः॑ ।
त्वं हि वि॒श्वभे॑षज दे॒वानां॑ दू॒त ईय॑से ॥ ३ ॥

ऋ० १० । १३७ । ३ ॥

भा०—हे (वात) प्राणवायो ! (भेषजं) रोगविनाशक रस को (आवाहि) समस्त शरीर में, चारों ओर फैला । हे (वात) अपान वायो ! (यद् रपः) जो मलिन, व्याधिजनक कष्टदायी, पापयुक्त अंश है उसको (वि वाहि) दूर कर । हे (विश्वभेषज) समस्त प्राणियों के समस्त रोगों को एकमात्र चिकित्सा करने हारे ! (त्वं) तू (हि) निश्चय से (देवानां) देव=विद्वानों के एवं इन्द्रियों के लिये (दूतः) दूत के समान निरन्तर सर्वत्र गति करने वाले या उनको उपताप देकर नीरोग करने वाला होकर (ईयसे[१]) उन में विचरण करता है ।

३–(तृ०) 'विश्वभेषजो' इति ऋ०, पैप्प० सं० ।

१. 'ईङ् गतौ (दिवादिः)' ।

त्रायन्तामिमं देवास्त्रायन्तां मरुतां गणाः ।
त्रायन्तां विश्वा भूतानि यथायमरपा असत् ॥ ४ ॥
ऋ० १० । १३७ । ५ ॥

भा०—(इमं) इस पुरुष को (देवाः) देव, विद्वान्गण और दिव्य-गुण युक्त पदार्थ (त्रायन्ताम्) बचावें और (मरुतां गणाः) वायुओं के नाना रूप, नाना प्रकार की वायुएं, शरीर के नाना प्राण और प्रजागण (त्रायन्ताम्) इसकी रक्षा करें। (विश्वा भूतानि) समस्त प्राणिगण और पांचों महाभूत भी (त्रायन्तां) इसकी रक्षा करें (यथा) जिससे (अयम्) यह (अरपाः) पाप और रोगों से रहित (असत्) हो जाय ।

आ त्वागमं शन्तातिभिरथो अरिष्टतातिभिः ।
दक्षं त उग्रमाभारिषं परा यक्ष्मं सुवामि ते ॥ ५ ॥

भा०—मैं आचार्य और वैद्य, विद्वान् व्यक्ति (शन्तातिभिः) कल्याण और शान्ति के देने वाले (अथो) और (अरिष्टतातिभिः) आरोग्यकारी ज्ञान और कर्म और उपायों से (त्वा) तेरे समीप मैं (आ गमम्) आया हूं। (ते) तेरे शरीर में (उग्रं) उग्र, अधिक बल युक्त (दक्षं) बल और अन्न को (आभारिषं) लाया हूं। और उससे (ते) तेरे (यक्ष्मं) रोगजनक कारण को (परा सुवामि) दूर करता हूं ।

अयं मे हस्तो भगवानयं मे भगवत्तरः ।
अयं मे विश्वभेषजोयं शिवाभिमर्शनः ॥ ६ ॥
ऋ० १० । ६० । १२ ॥

४-(प्र०) 'त्रायन्तामिह' (द्वि०) 'त्रायतां गणः' इति ऋ० । 'मरुतो गणैः' (च०) 'अगदो सति' इति पैप्प० सं० ।

५-(तृ०) 'दक्षं ते भद्रमाभार्षं' इति ऋ० । (तृ० च०) 'दक्षं ते भद्रमारिषं परासुवाम्यानुयत्' इति पैप्प० सं० ।

भा०—अमृतपाणि वैद्य की भावना। हे रोगी! तू उचित रूप से यह जान ले कि (अयं मे हस्तः) यह मेरा हाथ (भगवान्) बड़े भारी ऐश्वर्य से युक्त है। और (अयं मे भगवत्-तरः) यह दूसरा हाथ उससे भी अधिक विभूतिमान एवं चमत्कार करने वाला है। इन में विशेष गुण यह है कि (अयं मे) यह मेरा हाथ (विश्व-भेषजः) सब प्रकार के रोगों की चिकित्सा करता है। (अयम्) और इसका (शिव-अभिमर्शनः) स्पर्श करना भी शान्ति और आनन्ददायक एवं हितकारी है।

हस्ताभ्यां दशशाखाभ्यां जिह्वा वाचः पुरोगवी।
अनामयित्नुभ्यां हस्ताभ्यां ताभ्यां त्वाभि मृशामसि ॥ ७ ॥

भा०—मानस और स्पर्श-चिकित्सा का उपदेश करते हैं। (दशशाखाभ्यां) दश अंगुली रूप शाखाओं से युक्त इन (हस्ताभ्यां) हाथों के साथ (जिह्वा) यह जीभ (वाचः) वाणी को (पुरोगवी) प्रथम उच्चारण करने हारी होती है। (अनामयित्नुभ्यां) आमय=रोग से रहित इन (हस्ताभ्यां) हाथों से (त्वा) तुझे, तेरे शरीर को हम वैद्य लोग और बालक के आचार्य लोग (अभि मृशामसि) स्पर्श करते हैं। नीरोग, रोगजन्तुओं से रहित स्वच्छ हाथों से वैद्य रोगी के शरीर का स्पर्श करे और मानस बल द्वारा चिकित्सा करने के लिये हाथों की अंगुलीयों को फैला कर वाणी के शब्दोच्चारण सहित उसकी चिकित्सा कर दिया करे।

[१४] 'अज' प्रजापति का स्वरूपवर्णन।

भृगुर्ऋषिः। आज्यमग्निर्वा देवता। १, ५, ६ त्रिष्टुभः, २, ४ अनुष्टुभौ, ३ प्रस्तार पंक्तिः, ७, ९ जगत्यौ, ८ पञ्चपदा अति शक्वरी। नवर्चं सूक्तम् ॥

७-(तृ० च०) 'अनामयित्नुभ्यां त्वा ताभ्यां त्वोपस्पृशामसि' इति ऋ०।

अजो ह्य१ग्नेरजनिष्ट शोकात् सो अपश्यज्जनितारमग्रे।
तेन देवा देवतामग्र आयन् तेन रोहान् रुरुहुर्मेध्यासः ॥ १ ॥

यजु० १३। ५१ ॥

भा०—'अजौदन सव' के दृष्टान्त से अध्यात्म योगमार्ग का उपदेश करते हैं। (अजः) यह न उत्पन्न होने वाला आत्मा, जीव (अग्नेः) सब के प्रकाशक, सब के नेता ज्ञानस्वरूप परमात्मा के (शोकात्) ज्ञानमय तेज से (अजनिष्ट) ज्ञानसम्पन्न, स्वतः भूतिमान् हुआ। और (सः) वह आत्मा (अग्रे) सब से पूर्व (जनितारम्) उत्पादक प्रभु को (अपश्यत्) देखता है। (तेन) उस आत्मा के द्वारा ही (देवाः) देवयान से गति करने वाले विद्वान् अध्यात्म में इन्द्रिय गण (अग्रे) पहले (देवताम्) देवभाव को (आयन्) प्राप्त होते और (तेन) उससे ही (मेध्यासः) अत्यन्त मेध्य, मेधायुक्त, पवित्र, ज्ञानसम्पन्न, मेधावी होकर (रोहान्) उच्च लोकों को, उच्च पदों को (रुरुहुः) प्राप्त होते हैं।

क्रमध्वमग्निना नाकमुख्यान् हस्तेषु बिभ्रतः।
दिवस्पृष्ठं स्व१र्गत्वा मिश्रा देवेभिराध्वम् ॥ २ ॥

यजु० १७। ६५ ॥

भा०—हे विद्वान् पुरुषो ! आप लोग (अग्निना) ज्ञानस्वरूप आत्मा वा परम-आत्मा के प्रदर्शित प्रकाश से युक्त होकर (हस्तेषु) अपने हाथों में (उख्यान्) उखा—आत्मा के हितकारी ज्ञानेन्द्रिय और प्राणेन्द्रिय

[१४] १–(तृ० च०) 'देवतामग्रमायन् स तेन रोहमायन्नुपमेध्यासः' इति तै० सं०, मै० सं०।

२–(द्वि०) 'उख्यम्' इति यजु०। (प्र०) 'अग्निभिः' 'नाकमेक्षाम्' इति पैप्प० सं०।

साधनों को (बिभ्रतः) धारण करते हुए, उनको अपने वश करते हुए (दिवस्पृष्ठम्) प्रकाशस्वरूप, ज्ञान के परम उन्नत भाग मोक्षपद, (स्वः) उस परम ज्योति को (गत्वा) पहुंच कर (देवेभिः) मुक्त जीवों के सहित (मिश्राः) मिल कर (आध्वम्) आनन्दमग्न होकर रहो।

पृष्ठात् पृ॑थि॒व्या अ॒हम॒न्तरि॑क्ष॒मारु॑ह॒म॒न्तरि॑क्षा॒द् दिव॒मारु॑हम्।
दि॒वो नाक॑स्य पृ॒ष्ठात् स्व॒र्ज्योति॑रगाम॒हम् ॥ ३ ॥

यजु० १७ । ६७ ॥

भा०—(पृथिव्याः पृष्ठात्) पृथिवी की पीठ से (अहम्) मैं (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष लोक को (आरुहम्) चढ़ जाऊं और (अन्तरिक्षाद्) दिवम् अन्तरिक्ष लोक से (दिवम्) द्यौलोक को (आरुहम्) चढ़ जाऊं (दिवः) प्रकाशस्वरूप (नाकस्य) उस सुखमय लोक के (पृष्ठात्) पृष्ठ से (अहम्) मैं (स्वः ज्योतिः) सुख, प्रकाश, आनन्दमय उस ज्योति= परम प्रकाश को (अगाम्) प्राप्त हो जाऊं।

पृथिवी, अन्तरिक्ष, दिव और स्वः ये चार योग की उत्तरोत्तर उत्कृष्ट भूमियां हैं। विक्षिप्त चित्त भूमि पृथिवी है, सम्प्रज्ञात, अन्तरिक्ष, असम्प्रज्ञात दिव् और कैवल्यपद स्वः है।

स्व॒र्यन्तो॒ नापे॑क्षन्त॒ आ द्यां रो॑हन्ति॒ रोद॑सी।
य॒ज्ञं ये वि॒श्वतो॑धारं॒ सुवि॑द्वांसो वितेनि॒रे ॥ ४ ॥

यजु० १७ । ६८ ॥

भा०—(स्वः यन्तः) 'स्वः' सुख धाम मोक्ष को जाते हुए मुक्त जन, (न अपेक्षन्त) इस लोक के सुख की कुछ भी परवाह नहीं करते (रोदसी) इन द्यौ और पृथिवी दोनों लोकों को पार करके (आ द्यां) जब तक वह प्रकाश-

३–' पृथिव्या अहमुदन्त ' इति यजु० ।

४–(द्वि०) ' रोहन्तु राधसः ' इति पैप्प० सं० ।

मय लोक के प्राप्त न होजाय तब तक (रोहन्ति) बराबर चढ़ते ही जाते, उन्नति ही करते जाते हैं । (ये) जो मुमुक्षुजन (सु-विद्वांसः) विद्वान् होकर (विश्वतः-धारं) सब प्रकार से धारण करने में समर्थ एवं सब प्रकार से आनन्द धारा का वर्षण करने वाले (यज्ञं) यज्ञ=आत्मा और परमात्मा के स्वरूप को (वितेनिरे) प्राप्त हो जाते हैं, उस का ज्ञान करलेते हैं ।

अग्ने प्रेहि प्रथमो देवतानां चक्षुर्देवानामुत मानुषाणाम् ।
इयक्षमाणा भृगुभिः सजोषाः स्व/र्यन्तु यजमानाः स्वस्ति ॥ ५ ॥

यजु० १७ । ६९ ॥

भा०—हे अग्ने ! परमात्मन् ! आप (देवतानां) समस्त दिव्य गुण वाले महत् आदि विशाल वैकारिक पदार्थों और समस्त विद्वानों से (प्रथमः) पूर्व विद्यमान, सब से श्रेष्ठ हैं । आप (प्रेहि) हमारे हृदय में प्रकट होइये । आप (देवनाम्) देवों और विद्वानों के (उत) और (मानुषाणाम्) मनुष्यों के (चक्षुः) यथार्थ प्रकाशक हैं । (यजमानाः) यज्ञ करने हारे पुण्यात्मा लोग (भृगुभिः) पापों को भून डालने वाले या परिपक्व ज्ञान सम्पन्न, वेद के विद्वानों के साथ (इयक्षमाणाः) यज्ञों का सम्पादन करते हुए (सजोषाः) परस्पर सामान भाव से प्रीति पूर्वक रहते हुए (स्वस्ति) अपने कल्याण के लिये (स्वः यन्तु) स्वर्ग लोक में जांय और सुख का भोग करें ।

अजमनज्मि पयसा घृतेन दिव्यं सुपर्णं पयसं बृहन्तम् ।
तेन गेष्म सुकृतस्य लोकं स्व/रारोहन्तो अभि नाकमुत्तमम् ॥६॥

५–(द्वि०) 'उत मर्त्यानाम्' (प्र०) 'देवयताम्' इति यजु०, पैप्प० सं० ।
६–' अग्निं युनज्मि शवसा घृतेन दिव्यं सुपर्णं वयसा बृहन्तं । तेन वयं पतेम ब्रध्नस्य विष्टपं स्वरुहाणा अधि नाक उत्तमे इति तै० सं० । तत्रैव (द्वि०) ' दिव्यं समुद्रं ' इति पैप्प० सं० । ' वयसां बृहन्तं ' इति मै० सं० । (च०) ' ससहन्तोधि ' इति पैप्प० सं० ।

भा०—मैं (दिव्यं) दिव्य (सुपर्णं) उत्तम पालन, और प्रज्ञानों से युक्त (बृहन्तम्) महान् (पयसं) सब के परिपोषक (अजं) उस अज-आत्मा, परम प्रभु को (पयसा) ज्ञान और (घृतेन) दिव्य तेज से (अनज्मि) साक्षात् करता हूं । (तेन) उसी के बल से हम (उत्तमम् नाकम्) उत्तम सुखमय (स्वः) स्वर्गधाम को (आ-रोहन्तः) जाते हुए (सुकृतस्य) पुण्य के (लोकं) लोक को भी (गेष्म) प्राप्त हों ।

पञ्चौदनं पञ्चभिरङ्गुलिभिर्दर्व्योद्धर पञ्चधैतमोदनम् ।
प्राच्यां दिशि शिरो अजस्य धेहि दक्षिणायां दिशि दक्षिणं धेहि पार्श्वम् ॥ ७ ॥

भा०—यज्ञ क्रिया के दृष्टान्त से आध्यात्मिक यज्ञ का रहस्य खोलते हैं । हे योग, तप द्वारा आत्मा को परितप्त करने हारे तपस्विन् ! योगयाजिन् ! तू (पञ्चौदनं) पांच ओदन=भात, पञ्चज्ञान विषयों या पंच भूतों को वश करने हारे इस महान् आत्मा को (पञ्चभिः) पांचों (अंगुलिभिः) अंग में लगी इन्द्रियों से, या पांच महाशक्तियों से (दर्व्या) विषयों के पहुंचाने हारी विवेक शक्ति से (एतम्) इस (ओदनं) अत्ता, भोक्ता को (पंचधा) पांच भागों में (उद्धर) उठा २ कर रख, बांट दे । अर्थात् इस महान् आत्मा को विभक्त कर । विभाग का प्रकार दर्शाते हैं । (प्राच्यां दिशि) प्राची दिशा में (अस्य शिरः) इस अज आत्मा के शिर भाग को (धेहि) रख और (दक्षिणायां दिशि) दक्षिण दिशा में (दक्षिणं पार्श्वं) दायां पार्श्व (धेहि) रख ।

प्रतीच्यां दिशि भसदमस्य धेह्युत्तरस्यां दिश्युत्तरं धेहि पार्श्वम् ।
ऊर्ध्वायां दिश्य१जस्यानूकं धेहि दिशि ध्रुवायां धेहि पाजस्यमन्तरिक्षे मध्यतो मध्यमस्य ॥ ८ ॥

भा०—(प्रतीच्यां दिशि) पश्चिम दिशा में (अस्य) इसके (भसदं) गुह्य भाग को (धेहि) स्थापन कर और (उत्तरस्यां दिशि) उत्तर की दिशा में (उत्तरं पार्श्वं धेहि) इसका उत्तर अर्थात् वांया भाग रख। (ऊर्ध्वायां दिशि) ऊपर की दिशा में (अजस्य) इस अज आत्मा के (अनूकं) पीठ के भाग को (धेहि) रख, (ध्रुवायां दिशि) नीचे पृथिवी की ओर इस आत्मा का (पाजस्यं धेहि) पाजस्य=चरण भाग को (धेहि) स्थापित कर और (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष में (अस्य) इस अज आत्मा के (मध्यतः मध्यम्) बीच के भाग, धड़ के मध्य भाग को (धेहि) स्थापित कर इस प्रकार प्रजापति रूप अज परमात्मा के विराट्रूप का ध्यान कर।

इस प्रजापति रूप 'अज' का अंग विभाग बृहदारण्यक में बतलाये प्रजापति रूप अश्व के समान ही जानना उचित है। वहां मेध्य यज्ञ के अश्व का आलंकारिक रूप इस प्रकार वर्णन किया है।

उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरः सूर्यश्चक्षुर्वातः प्राणो व्यात्तमग्निर्वैश्वानरः संवत्सर आत्मा वाश्वस्य मेध्यस्य। द्यौः पृष्ठमन्तरिक्षमुदरं पृथिवी पाजस्यम्। दिशः पार्श्वे, अवान्तरदिशः पर्शवः ऋतवोङ्गानि, मासाश्चार्धमासाश्च पर्वाणि, अहोरात्राणि प्रतिष्ठा, नक्षत्राणि अस्थीनि, नभो मांसानि, ऊवध्यं सिकताः, सिन्धवो गुदाः, यकृच्च क्लोमानश्च पर्वताः, ओषधयश्च वनस्पतयश्च लोमानि, उद्यन् पूर्वार्धो निम्लोचन् जघनार्धः, तद्विजृम्भते यद् विद्योतते, यद्विधूनते तत्स्तनयति, यन्मेहति तद्वर्षति, वागेवास्य वाक्। (बृहदारण्यक उप० १। १)

उस अश्वरूप प्रजापति के उषा शिर है, सूर्य चक्षु, वायु प्राण, वैश्वानर अग्नि मुख, संवत्सर आत्मा, द्यौः पीठ, अन्तरिक्ष पेट है, पृथिवी पैर हैं। दिशाएं पार्श्व भाग हैं इत्यादि। भेद केवल इतना है कि वहां अश्व नाम से प्रजापति के शरीर की कल्पना है यहां अज नाम से है, अलंकार उभयत्र समान है। 'यथापिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' का सूत्र लगा कर आत्मा परमात्मा दोनों पर यह अलंकार घट जाता है।

शृतमजं शृतया प्रोर्णुहि त्वचा सर्वैरङ्गैः सम्भृतं विश्वरूपम् ।
स उत् तिष्ठेतो अभि नाकमुत्तमं पद्भिश्चतुर्भिः प्रति तिष्ठ दिक्षु ॥६॥

भा०—(शृतं) इस प्रकार परिपक्व, अर्थात् पुनः योगाभ्यास और ध्यानाभ्यास से दृढ़ीकृत (अजं) इस महान् आत्मा को (शृतया) उसी प्रकार की दृढीकृत (त्वचा) त्वचा=संवरण करने वाली शक्ति से (प्र-ऊर्णुहि) आच्छादित कर । वह महान् आत्मा पूर्वोक्त प्रकार से (सर्वैः अंगैः) समस्त अंगों द्वारा (विश्वरूपम्) विश्व, ब्रह्माण्ड के विराट् रूप में (सं भृतम्) एकत्र विराजमान है । (सः उत) वह ही तू अर्थात् उसी रूप का तू यह आत्मा भी (इतः) इस लोक से (उत्तमं) उस ऊर्ध्वतम, सर्वश्रेष्ठ (नाकम्) सुखमय आनन्दमय मोक्षधाम को (अभि उत् तिष्ठ) लक्ष्य करके उठ खड़ा हो और (चतुर्भिः) चारों (पदैः) पदों, रूपों से (दिक्षु) दिशाओं में (प्रति तिष्ठ) प्रतिष्ठा को प्राप्त हो ।

उस महान् आत्मा के पृथिवी अन्तरिक्ष और द्यौ ये तीन और चतुर्थ तुरीय पद है । इस आत्मा के चार आश्रम चार पद हैं । सायण ने यह सूक्त अज-बलिपरक यज्ञ में लगाया है सो असंगत है ।

[१५] वृष्टि की प्रार्थना ।

अथर्वा ऋषिः । मरुतः पर्जन्यश्च देवताः । १, २, ५ विराड् जगत्यः, ४ विराट् पुरस्ताद् बृहती, ७, ८, १३, १४ अनुष्टुभः, ९ पथ्यापंक्तिः, १० भुरिजः, १२ पञ्चपदा अनुष्टुब् गर्भा भुरिक्, १५ शङ्कुमती अनुष्टुप्, ३, ६, ११, १६ त्रिष्टुभः । षोडशर्चं सूक्तम् ॥

६-(प्र०) 'श्रथया' इति सायणाभिमतः ।

समुत्पतन्तु प्रदिशो नभस्वतीः समभ्राणि वातजूतानि यन्तु ।
महऋषभस्य नदतो नभस्वतो वाश्रा आपः पृथिवीं तर्पयन्तु ॥१॥

भा०—वर्षा के रहस्य का उपदेश करते हैं । (नभस्वतीः[1]) मेघों से घिरीं (प्रदिशः) महादिशाएं (सम्-उत्-पतन्तु) उमड़ आवें, चारों दिशाओं में मेघ ही मेघ घिर जावें और (वातजूतानि) वायु से प्रेरित (अभ्राणि) सजल जलद (सं यन्तु) खूब आवें, तब (महा ऋषभस्य) महान् जल-वर्षक (नदतः) गर्जना करते हुए (नभस्वतः) वायु से प्रेरित मेघ की (वाश्राः) छम छम करती हुई (आपः) जलधाराएं (पृथिवीम् तर्पयन्तु) इस पृथिवी को परितृप्त करें ।

अध्यात्मवादी लोग इस वर्षण सुख को तब लेते हैं जब अपनी ऋतंभरा प्रज्ञा के उदय हो जाने पर धर्ममेघ समाधि में अपने हृदयाकाश में अन्तरात्मा की चमकती हुई ज्योतियों की विद्युत् लताओं से घिरे महान् आत्मारूप पर्ज्जन्य से बरसती आनन्द-धाराओं को चित्त भूमि में बरसता पाते हैं । इति दिक् ।

समीक्षयन्तु तविषाः सुदानवोपां रसा ओषधीभिः सचन्ताम् ।
वर्षस्य सर्गा महयन्तु भूमिं पृथग् जायन्तामोषधयो विश्वरूपाः ॥२॥

भा०—(तविषाः) महान् (सुदानवः) उत्तम जलों का दान करने वाले मेघ (समीक्षयन्तु) हमें उत्तम रीति से जल धाराओं के दर्शन करावें या बरस कर दिखावें । और (अपां रसाः) जलों की धराएं (ओष-

---

[१५] १—' वाश्रापः ' इति पैप्प० सं० ।

१. 'नभो मांसानी'ति बृहदारण्यकवचनव्याख्याने भगवत्पादः श्रीमच्छंकराचार्यः । 'नभः नभस्था मेघाः । नभस्वता वायुना युक्ताः ' इति सायणः ।

२—' समुक्षयन्तु ' इति ह्विटनिकामितः ।

धीभिः) अन्नादि ओषधियों को (सचन्ताम्) प्राप्त हों । (वर्षस्य सर्गाः) वर्षाकाल की नाना वनस्पति और जीवसृष्टियां या जल-धाराएं (भूमिं) इस भूमि को (महयन्तु) सुशोभित करें । और (विश्वरूपाः) नाना प्रकार की (ओषधयः) ओषधियां (पृथक्) नाना स्थानों पर नाना जातियों में (जायन्ताम्) उत्पन्न हों ।

समी॑क्षयस्व गाय॑तो नभां॑स्य॒पां वेगा॑सः पृथ॒गुद् वि॑जन्ताम् ।
व॒र्षस्य॒ सर्गा॑ महयन्तु भूमि॒ पृथ॑ग् जायन्तां वी॒रुधो॑ वि॒श्वरू॑पाः ॥३॥

भा०—हे मरुद्गण ! आप लोग (गायतः) आनन्द में गान करते हुए प्रजा जनों को (नभांसि) मेघों का (समीक्षयस्व) दर्शन कराओ । (अपां वेगासः) जलों के वेगवान् प्रवाह (पृथक्) नाना स्थानों पर (उद् विजन्ताम्) उत्तरंग हो २ कर उमड़ आवें । (वर्षस्य सर्गाः) वर्षा की नाना सृष्टियां या जलधाराएं (भूमिं महयन्तु) भूमि को सुशोभित करें । (विश्वरूपाः वीरुधः) नाना प्रकार की लताएं (पृथक् जायन्तां) नाना स्थानों पर उत्पन्न हों ।

ग॒णास्त्वोप॑ गायन्तु मारु॑ताः पर्जन्य घो॒षिणः॒ पृथ॑क् ।
सर्गा॑ व॒र्षस्य॒ वर्ष॑तो॒ वर्ष॑न्तु पृथि॒वीमनु॑ ॥ ४ ॥

भा०—हे (पर्जन्य) रसों के प्रदाता पर्जन्य देव ! (घोषिणः) वेद का घोष करने हारे विद्वान् पुरुषों के समान (मारुताः गणाः) वायुएं (त्वा उपगायन्तु) तेरी स्तुति करें । (वर्षतः) वर्षते हुए (वर्षस्य) मेघ की (सर्गाः) धाराएं (पृथिवीम् अनु) पृथिवी पर (वर्षन्तु) वर्षा करें ।

३–(प्र०) ' समिक्षाद् विश्वग् वातो नपांस्यापां वेगासः पृथगुत्पतन्तु ' इति पैप्प० सं० ।

४–(च०) ' सृजन्तु पृ० ' इति पैप्प० सं० ।

उदीरयत मरुतः समुद्रतस्त्वेषो अर्को नभ उत् पातयाथ ।
महऋषभस्य नदतो नभस्वतो वाश्रा आपः पृथिवीं तर्पयन्तु ॥५॥

भा०—हे (मरुतः) वायुओ ! (समुद्रतः) समुद्र के मध्य से (उद्-ईरयत) ऊपर उठ २ कर आओ और मेघों को उड़ा लाओ (अथ) और (त्वेषः) विद्युत् की कान्ति (अर्कः) सूर्य या जल और (नभः) मेघ को (उत्-पातय) ऊपर उठा लाओ । (नदतः) गर्जते हुए (नभस्वतः) वायु से प्रेरित (महा ऋषभस्य) बड़े वर्षक, मेघ के (वाश्राः) छम छम करतीं (आपः) जलधाराएं (पृथिवीम् तर्पयन्तु) वर्ष २ कर पृथिवी को तृप्त कर दें ।

अभि क्रन्द स्तनयार्दयोदधिं भूमिं पर्जन्य पयसा समङ्ग्धि ।
त्वया सृष्टं बहुलमैतु वर्षमाशारैषी कृशगुरेत्वस्तम् ॥ ६ ॥

भा०—हे (पर्जन्य) मेघ ! (अभिक्रन्द) गर्जना कर, (स्तनय) बिजली कड़का, (उदधिं) जल को धरने वाले अपने स्वरूप को (अर्दय) पीड़ित कर, जिससे खूब जल वर्षे और (पयसा) अपने जल से (भूमिं समङ्ग्धि) भूमि को सींच डाल । (त्वया सृष्टं वर्षं) तेरे से बरसाया गया जल (बहुलं) बहुत सारा (एतु) नीचे आवे । (आशारैषी) आशार=चारों तरफ़ से जल प्रपात की इच्छा करने वाला (कृशगुः) कृश—दुबले बैलों वाला, अथवा गौ=भूमि को कर्षण=हल वाहने वाला किसान अपनी भूमि को हल बाह कर (अस्तं एतु) अपने घर पर आ जाय । सायण—(आशारैषी कृशगुः) धारा संपात चाहने वाला सदा अस्त रहे, कभी न दीखे । यह अर्थ असंगत है, क्योंकि सूर्य में धारा-संपात की इच्छा होना असम्भव है ।

५–(तृ० च०) 'प्रतिवर्षयन्ति तमिषासुदानवोऽपां राशीरोषधीः सचन्ताम्' इति पैप्प० सं० ।

सं वो॑ऽवन्तु सु॒दान॑व॒ उत्सा॑ अजग॒रा उ॒त ।
म॒रुद्भिः॒ प्रच्यु॑ता मे॒घा वर्ष॑न्तु पृथि॒वीमनु॑ ॥ ७ ॥

भा०—हे मनुष्यो ! (वः) आप लोगों को (सुदानवः) कल्याण-तम जल का प्रदान करने वाले (उत अजगराः) और अजगर के समान स्थूल अथवा अज—सूर्य को निगल जाने वाले (उत्साः) जल के महा स्रोत जल-धाराएं (वः) आप लोगों की (अवन्तु) रक्षा करें । और (मरुद्भिः) वायुओं द्वारा (प्र-च्युताः) प्रेरित (मेघाः) मेघगण (पृथिवीम् अनु) पृथिवी पर (वर्षन्तु) वर्षा करें ।

आशा॑माशां॒ वि द्यो॑तता॒ं वाता॑ वान्तु दि॒शोदि॑शः ।
म॒रुद्भिः॒ प्रच्यु॑ता मे॒घाः सं य॑न्तु पृथि॒वीमनु॑ ॥ ८ ॥

भा०—(आशाम्-आशाम्) प्रत्येक दिशा में (विद्योततां) बिजुलियां चमकें, (दिशः-दिशः) दिशा दिशा में (वाताः वान्तु) वायुएं बहें । (मरुद्भिः) वायुओं से (प्र-च्युताः) प्रेरित (मेघाः) मेघ गण (पृथिवीम् अनु) पृथिवी की ओर (सं यन्तु) उत्तम रीति से जावें ।

आपो॑ वि॒द्युद॒भ्रं व॒र्षं सं वो॑ऽवन्तु सु॒दान॑व॒ उत्सा॑ अजग॒रा उ॒त ।
म॒रुद्भिः॒ प्रच्यु॑ता मे॒घाः प्राव॑न्तु पृथि॒वीमनु॑ ॥ ९ ॥

भा०—(आपः) जल, (विद्युत्) बिजुली, (वर्ष) वर्षा और (अजगराः) अजगर के समान स्थूल आकार में लोटने वाले (उत्साः) जलों

७–'समवन्तु सदानवोत्सा जगरा उत' 'वातावर्षस्य वर्षतुः प्रवहन्तु पृथिवीमनु' इति पैप्प० सं० ।

९–(प्र०) 'वातोविद्यु–' (तृ० च०) 'प्र प्यायस्व प्र पितृस्व सं स-भूमिं पयसासृज' इति पैप्प० सं० ।

के सोते (उत) भी (वः) तुम प्रजाओं की (सं अवन्तु) उत्तम रीति से रक्षा करें । (मरुद्भिः प्रच्युताः मेघाः पृथिवीम् अनु प्र-अवन्तु) वायुओं से प्रेरित मेघ पृथिवी की ओर खूब जोर से उमड़ कर आवें ।

अपामग्निस्तनूभिः संविदानो य ओषधीनामधिपा बभूव ।
स नो वर्षं वनुतां जातवेदाः प्राणं प्रजाभ्यो अमृतं दिवस्परि ॥१०॥

भा०—(अपाम्) मेघ में स्थित जलों की (अग्निः) प्रकाशस्वरूप विद्युत् (तनूभिः) जलों के शरीरभूत मेघों से (सं विदानः) एकत्र मिल कर रहती हैं । (यः) जो (ओषधीनां) वनस्पतियों का (अधिपा) स्वामी, पालक (बभूव) होता है । (स जातवेदाः) वह समस्त पदार्थों में व्यापक अग्नि (नः) हमारे लिये (वर्षं) वृष्टि को और (दिवः परि) आकाश से (अमृतं) बरसते अमृत रूप जल को (प्रजाभ्यः प्राणं) प्रजाओं के लिये प्राणरूप (वनुतां) बना दे । वायु के संघर्ष से मेघों में बिजली उत्पन्न होती है वह ऋण और धन या पोज़िटिव और नेगिटिव रूप में प्रकट हो कर पुनः परस्पर मिलती है और कड़कती है । उससे जलों में विशेष प्राण-शक्ति और मेघ के जलों की वृद्धि भी होती है । ओषधियां अधिक जल पातीं और प्रजाएं सुखी होती हैं ।

प्रजापतिः सलिलादा समुद्रादाप ईरयन्नुदधिमर्दयाति ।
प्र प्यायतां वृष्णो अश्वस्य रेतोर्वाङेतेन स्तनयित्नुनेहि ॥ ११ ॥

उत्तरार्धः ५ । ८३ । ६ । द्वि० तृ० ॥

भा०—(प्रजापतिः) प्रजाओं का पालक परमेश्वर सूर्य द्वारा (सलिलात् समुद्रात्) जलमय समुद्र से (आपः) व्यापनशील वाष्परूप जलों

११–' दिवो नो वृष्टिं मरुतो ररीध्वं प्रपिन्वत वृष्णो अश्वस्य धाराः । अर्वाङ्-एतेन स्तनयित्नुनेह्यपो निषिञ्चन्नसुरः पिता नः ।' इति ऋ० । (तृ०) ' प्राप्यायतां ' इति पैप्प० सं० ।

को (आ ईरयन्) सर्वत्र वातावरण में फैलाता हुआ (उदधिः) ऊपर उठने वाले जल को धारण करने वाले वातावरण को (अर्दयति) पुनः अपनी किरणों से पीड़ित करता है, विक्षुब्ध करता है। इससे क्या होता है? कि (वृष्णः) वर्षा करने वाले (अश्वस्य) व्यापक मेघ का (रेतः) नीचे आने वाला जल (प्रप्यायताम्) खूब अधिक बढ़ जाता है और (एतेन) इस (स्तनयित्नुना) ध्वनि करने वाले विद्युत् के साथ ही हे पर्जन्य ! तू (अर्वाङ्) नीचे की ओर भी आजाता है।

अपो निषिञ्चन्नसुरः पिता नः श्वसन्तु गर्गरा अपां वरुणाव-
नीचीरपः सृज । वदन्तु पृश्निबाहवो मण्डूका इरिणानु ॥ १२ ॥

भा०—(असुरः) सब जन्तुओं को प्राण देने हारा सूर्य (अपः) जलों को (निषिञ्चन्) निरन्तर सींचा करता है वास्तव में इसलिये वही (नः) हम समस्त जीवों का (पिता) पालक है। हे वरुण ! सर्वश्रेष्ठ ! परमात्मन् ! (अपां गर्गराः) जलों के निगल जाने वाले, अजगर के समान पृथिवी पर लोटने वाले, या गड़ २ शब्द करने वाले मेघ अथवा भूमि के बरसाती नाले (श्वसन्तु) पुनः श्वास लें या भर २ कर बहें या जल के आधार पर जीने वाले अजगर वर्षा से पुनः प्रसन्न होकर लम्बे २ सांस खींचें। हे प्रभो ! (अपः) जलों को (नीचीः) नीचे की ओर (अवसृज) प्रवाहित कर, मेघों को बरसा, जिससे (पृश्निबाहवः) पीले चितकबरे रंग की बाहुओं वाले (इरिणा अनु) बिना घास की भूमियों में आकर (वदन्तु) खूब बोलें।

संवत्सरं शशयाना ब्राह्मणा व्रतचारिणः ।
वाचं पर्जन्यजिन्वितां प्र मण्डूका अवादिषुः ॥ १३ ॥

ऋ० ६ । १०३ । १ ॥

१३–(तृ०) 'वातं पर्जन्य' इति क्वचित्। (च०) 'माण्डूकाः' इति पैप्प० सं०।

भा०—वर्षा काल का वर्णन करते हुए विद्वान् ब्राह्मणों की उपमा से मण्डूकों का भी वर्णन करते हैं—(व्रतचारिणः) व्रत का आचरण करने वाले (ब्राह्मणाः) विद्वान वेदज्ञ ब्राह्मण लोग जिस प्रकार वेद का पाठ करते और ऋतु को मनोहर बनाते हैं उसी प्रकार (संवत्सरं) एक वर्ष तक (शशयानाः) बिलों में सोते हुए (मण्डूकाः) मेंडक (पर्जन्यजिन्वितां) मानों मेघ स्तुति करने वाली (वाचं) वाणी को (प्र अवादिषुः) उत्तम रीति से बोलते हैं ।

दादुरध्वनि चंहु ओर सुहाई । वेद पढ़त जिमि बटु समुदाई ॥—तुलसी० ।

इसके अतिरिक्त ब्राह्मणों के पक्ष में—(मण्डूका) ब्रह्मानन्द रस में मग्न होने वाले (व्रतचारिणः) ब्रह्मचर्य के पालक (ब्राह्मणाः) वेद के विद्वान् (संवत्सरं) एक वर्ष को (शशयानाः) बिता कर (प्रजन्यजिन्वितां) उस आनन्द-रस-प्रदाता प्रभु को प्रसन्न करने वाली (वाचं) वेदवाणी का (अवादिषुः) उच्चारण करते हैं ।

उप॒प्र॒वंद॑ मण्डूकि व॒र्षमा वंद॑ तादुरि ।
मध्ये॑ ह्र॒दस्य॑ प्लवस्व वि॒गृह्य॑ च॒तुर॑: प॒द॑: ॥ १४ ॥

भा०—हे (मण्डूकि) मेंढकी ! हे (तादुरि !) तदुर=मेंढक की बच्ची ! तू (वर्षम् उप प्र-वद आ वद) वर्षा को देख कर खूब बोल और सब तरफ बोल और (चतुरः पदः) चारों पैर (विगृह्य) फैला कर (ह्रदस्य मध्ये) तालाब के बीच में (प्लवस्व) तैर ।

अध्यात्म में—उस आनन्दघन 'धर्ममेघ' के वर्षण को लक्ष्य कर के उसका वर्णन करते हैं । हे (मण्डूकि) आनन्दरस में निमग्न चित्तवृत्ते ! (तादुरि) तद्-उर=उस परब्रह्म की तरफ जाने वाले, उस में लीन आत्मा

१४–(प्र०) 'माण्डूकि' (द्वि०) 'तांधुरि' इति पैप्प० सं० ।

की पुत्री स्वरूप तू (आ वद) उसी का सर्वत्र गान कर और (चतुरः पदः) अन्तःकरण चतुष्टय रूप चारों चरणों को फैला कर (हृदस्य) उस आह्लाद जनक हृदयरूप मानस-सरोवर में (प्लवस्व) आनन्द से तर, सब दुःखों को पार करजा ।

खण्वखा३इ खैमखा३इ मध्ये तदुरि ।
वर्षं वनुध्वं पितरो मरुतां मन इच्छत ॥ १५ ॥

भा०—हे (खण्वखे) खण्वखा और हे (खैमखे) खेमखा और हे (तदुरि) तदुरी नामक तीनों प्रकार के मण्डूक जातियो ! आप (मध्ये) *तालाब के बीच में (वर्षं) वर्षा का (वनुध्वं) आनन्द प्राप्त करो* । हे (पितरः) पालन करने हारे प्रजा पालको जनो ! आप लोग (मरुतां) बहने वाले वायुओं का (मनः) वास्तविक मनन करने योग्य ज्ञान (इच्छत) प्राप्त करने का यत्न करो ।

अध्यात्म में—हे (खण्वखे) इडा नाडि ! हे (खैमखे[1]) पिङ्गला नाडि ! और हे (तदुरि) ब्रह्म तक पहुंचने वाली (मध्ये) मध्य में वर्तमान सुषुम्ना नाडि ! तुम तीनों (वर्षं वनुध्वं) आनन्द रस के प्रवाह का भोग करो और हे (पितरः) इन्द्रियगणो तुम लोग (मरुतां) इन भीतरी प्राणों के (मनः) मानस बल को (इच्छत) प्राप्त करने का यत्न करो । अर्थात् उस समय ये इन्द्रिय प्राणों सहित मन में विलीन हो जाती हैं ।

यदा पंचावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम् ॥

१५–(द्वि०) 'मध्ये प्लवस्व तादुरि' अथवा 'मध्ये हृदस्य तादुरि' इति ह्विट्निकामितः पाठः ।

१. 'पैमखाई' इति सायणसम्मतः पाठः ।

'खण्वखा'—कण्वं-आत्मानं खनति इति कण्वखाः छान्दसः खकारः । आत्मा को खोद लेने वाली, अथवा-खण्वे छिद्रे खञ्जति गच्छतिसा खण्वखा ब्रह्मरन्ध्रगामिनी ।

'खैमखा'—खैस्थैर्ये, खदने (भ्वादिः) हिंसायांचेति शब्द कल्पद्रुमः । ततो मन् प्रत्ययः । खैम स्थैर्यं खनाति पुनः २ स्थिरी करोति इति खैमखा पिङ्गला 'तदुरि'—तत् ब्रह्म इयर्ति इति तदुरि सुषुम्ना सा च मध्ये इडापिङ्गलयोर्वर्त्त-माना भवति ।

म॒हान्तं॒ कोश॒मुद॑च्चा॒भि षि॑ञ्च सविद्यु॒तं भ॑वतु वा॒तु वातः॑ ।
तन्व॒तां य॒ज्ञं ब॑हु॒धा विसृ॑ष्टा आन॒न्दिनी॒रोष॑धयो भवन्तु ॥१६॥

भा०—हे परमात्मन् ! (महान्तं) बड़े भारी (कोशं) जल के खजाने रूप मेघ को (उद् अच) ऊपर उठा और (अभिषिञ्च) समस्त संसार में जल का सेचन कराओ और वह (सविद्युतं) विद्युत् के साथ भी (भवतु) हो और (वातः) पवन (वातु) बहे । (यज्ञं तन्वतां) हे पुरुषो ! तुम लोग पुण्य कार्य यज्ञ को करो और (बहुधा विसृष्टाः) नाना प्रकार से विविध रूपों में वर्षी हुई धाराएं (यज्ञं) इस महान् जीवन यज्ञ को (तन्वतां) सम्पादन करें और (आनन्दिनीः) आनन्ददायक (ओषधयः) ओषधियां (भवन्तु) उत्पन्न हों, अथवा ओषधियां आनन्ददायक हों ।

इति तृतीयोऽनुवाकः ।

[तत्र सूक्तानि पञ्च, ऋचश्चैकपञ्चाशत् ।]

१६–(प्र०) 'महन्तं' (तृ०) 'विसृष्टं' इति पैप्प० सं० ।

[१६] राजा और ईश्वर का शासन ।

ब्रह्मा ऋषिः । सत्यानृतान्वीक्षणसूक्तम् । वरुणो देवता । १ अनुष्टुप्, ५ भुरिक्, ७ जगती, ८ त्रिपदामहाबृहती, ९ विराट् नाम त्रिपाद् गायत्री, २, ४, ६ त्रिष्टुभः । नवर्चं सूक्तम् ॥

बृहन्नेषामधिष्ठाता अन्तिकादिव पश्यति ।
य स्तायन्मन्यते चरन्त्सर्वं देवा इदं विदुः ॥ १ ॥

भा०—राजा के गुप्तचर विभाग का वर्णन करते हुए परमेश्वर के राज्य का उपदेश करते हैं । (एषां) इन देवों का (अधिष्ठाता) अधिपति शासक स्वयं (बृहन्) बहुत बड़ा है, जो सब को (अन्तिकात् इव) ऐसे देख रहा मानों उनके पास ही खड़ा है । (यः) जो पुरुष (स्तायत्) अपने को गुप्त रूप से छुपकर (चरन्) विचारता हुआ, (मन्यते) जानता है । (इदं) यह सब बात (देवाः) देव राष्ट्र के अधिकारीगण जिस प्रकार अपने राजा के इस सामर्थ्य को जानते हैं उसी प्रकार समस्त विद्वान्‌गण एवं दिव्य लोक भी (इदं सर्वं) इस सब सत्य को (विदुः) जानते हैं ।

यस्तिष्ठति चरति यश्च वञ्चति यो निलायं चरति यः प्रतङ्कम् ।
द्वौ संनिषद्य यन्मन्त्रयेते राजा तद् वेद वरुणस्तृतीयः ॥ २ ॥

भा०—वरुण राजा की गुप्त विज्ञता और सर्व व्यापकता को दर्शाते हैं । (यः) जो (तिष्ठति) खड़ा है (यः च चरति) और जो चलता है (यः च वञ्चति) और जो दूसरे को ठगता है (यः निलायं चरति) जो छुप २

[१६] २–(प्र०) 'यस्तिष्ठति मनसा यश्च', (द्वि०) 'यः प्रलायम्' (तृ०) 'द्वौ यद्वदतः संनिपद्य' इति पैप्प० सं० ।

कर कहीं जाता है (यः प्रतङ्कं चरति) जो दूसरे को भारी पीड़ा देने आदि अत्याचारों को करता है और (यत्) जो कुछ (द्वौ) दो पुरुष भी (संनिपद्य) एक साथ मिल कर, बैठ कर (मन्त्रयेते) गुप्त विचार करते हैं (राजा वरुण) सब का शासक वरुण भी (तृतीयः) उन दोनों के साथ तीसरा होकर (वेद) उनकी गुप्त बातों को जानता है। राजा भी अपने गुप्त चर विभाग को ऐसा ही स्थापित करे कि प्रजा और शत्रु के कार्यों को भलीभांति जाने।

उतेयं भूमिर्वरुणस्य राज्ञ उतासौ द्यौर्बृहती दूरेअन्ता ।
उतो समुद्रौ वरुणस्य कुक्षी उतास्मिन्नल्प उदके निलीनः ॥ ३ ॥

भा०—(उत) और तो और, (इयं भूमिः) यह भूमि (राज्ञः वरुणस्य) राजा वरुण, सब के परिपालक, रक्षक, उस प्रभु की है (उत) और (दूरे-अन्ता) दूर और समीप, सर्वत्र व्यापक, (बृहती) इतना विशाल (द्यौः) द्यौः=आकाश उसी प्रभु के वश में है। (उत उ) और भी यह कि (समुद्रौ) पूर्व और पश्चिम समुद्र अथवा जलसमुद्र और आकाश समुद्र दोनों (अस्य) इस राजा वरुण की (कुक्षी) दो कोखें हैं। (उत) और सब से आश्चर्य यह कि, वही वरुण (अस्मिन् अल्पे उदके) इस छोटे से पानी के बूंद में भी (नि-लीनः) गुप्त रूप से व्यापक है। इसी प्रकार राजा को अपने और पराये राष्ट्र का तिल तिल भी जानना चाहिये।

उत यो द्यामतिसर्पात् परस्तान्न स मुच्यातै वरुणस्य राज्ञः ।
दिव स्पशः प्र चरन्तीदमस्य सहस्राक्षा अति पश्यन्ति भूमिम् ॥४॥

३–(प्र०, द्वि०) 'उतेममस्यपृथिवी समीची द्यौर्बृहतीरन्तरिक्षम्' (प्र०)
१. 'उदकेन मक्तः' इति पैप्प० सं०।

४–(तृ०) 'इह स्पशः प्र चरन्तीमस्य' इति पैप्प० सं०।

भा०—राजा वरुण का दुष्टदमन करने का सामर्थ्य बतलाते हैं। (यः उत) जो भी कोई जीव (द्याम् अति) द्यौ लोक, महान् आकाश को भी पार करके (परस्तात् सर्पात्) और भी दूर चला जाय (सः) वह भी (वरुणस्य राज्ञः) राजा वरुण, परमात्मा के शासन से (न मुच्याते) मुक्त नहीं हो सकता। क्योंकि (दिवः) प्रकाशमान (अस्य) उस वरुण के (स्पशः) गुप्तचर, स्पाई (Spy) लोग (इदं) इस संसार में (प्रचरन्ति) खूब घूम रहे हैं जो (सहस्र-अक्षाः) हजारों आखों वाले चौकन्ना होकर (भूमिम्) इस भूमि को (अति पश्यन्ति) खूब देखते हैं। राजा को अपने गुप्त चर सिपाही भी इसी प्रकार के नियुक्त करने चाहियें। उनकी हज़ारों आंखों से ही वह भी सहस्राक्ष है। इसी प्रकार सभा में कार्याकार्य-विवेचन के लिये रखे आलोचक सभासद् भी राजा की ही आंखों के समान है उन से भी वह 'सहस्राक्ष' इन्द्र के समान ही है। मन्त्राधिकार में कौटल्य ने अर्थशास्त्र में कहा है—

"इन्द्रस्य हि मन्त्रिपरिषद् ऋषीणां सहस्रम्।
तच्चक्षुः। तस्मादिमं द्व्यक्षमपि सहस्राक्षमाहुः॥"

इन्द्र की मन्त्रिसभा में हज़ार ऋषि थे। वे उसकी आंख थे। इसलिये उसकी दो आंख होते हुए भी उसको सहस्राक्ष कहा जाता है।

सर्वं तद् राजा वरु॑णो वि च॑ष्टे यद॑न्त॒रा रोद॑सी॒ यत् प॒रस्ता॑त्।
सं॒ख्या॑ता अस्य नि॒मिषो॒ जना॑नाम॒क्षानि॑व श्व॒घ्नी नि मि॑नोति॒ तानि॑॥५॥

भा०—राजा वरुण की सर्वदर्शिता को बतलाते हैं। (राजा वरुणः) राजा, सब का शासक परमात्मा (तत् सर्वम्) वह सब (यत् रोदसी अन्तरा)

५—'संख्याता। अस्य' इति पदच्छेदः सायणसम्मतः। 'स्वघ्नी' इति सायण-सम्मतः। 'श्वघ्नीति' निरुक्तकारः (च०) 'अक्षान् न श्वघ्नी भुवना मिमीते' इति पैप्प० सं०।

जो इन दोनों लोकों के बीच में और (यत् परस्तात्) जो इन से परे भी है वह सब कुछ (विचष्टे) नाना प्रकार और विशेष रूप से देखता है । (अस्य) इसने (जनानां) मनुष्यों और प्राणियों के (निमिषः) पलकों की झपकों तक को (सं-ख्याताः) गिन रखा है । क्योंकि (श्वघ्नी) जुआरी जिस प्रकार अपने (अक्षान्) पासों को (निमिनोति) खूब नाप जोख कर रखता है उसी प्रकार वह भी इन सब लोकों को नाप २ कर रखता और जोखता और रचता रहता है ।

ये ते पाशा॑ वरुण स॒प्तस॑प्त त्रे॒धा तिष्ठ॑न्ति॒ विषि॑ता॒ रुश॑न्तः ।

छि॒नन्तु॒ सर्वे॒ अनृ॑तं॒ वद॑न्तं॒ यः स॑त्यवा॒द्यति॒ तं सृ॑जन्तु ॥ ६ ॥

भा०—वरुण के पाश दर्शाते हैं । हे वरुण ! परमात्मन् ! (ये ते) आपके (ये) जो (पाशाः) पाश (सप्त सप्त त्रेधा) सात २ कर के तीन प्रकार से (विषिताः) बंधे हैं । वे पाश (सर्वे) सब (अनृतं वदन्तं) झूठ बोलनेवाले पुरुष को (रुशन्तः) मारते, पीड़ा देते हुए, (छिनन्तु) काट २ डालें और (यः) जो (सत्यवादी) सत्यवादी है (तं) उसको (अति सृजन्तु) मुक्त कर दें । राजा भी इसी प्रकार दण्ड-व्यवस्थाएं और जेल आदि का प्रबन्ध करे जिससे असत्यवादी पकड़े जायँ और सत्यवादी उनसे मुक्त रहें ।

श॒तेन॒ पाशै॑र॒भि धे॑हि वरुणैनं॒ मा ते॑ मो॒च्यनृ॑त॒वाङ् नृ॑चक्षः ।

आस्तां॑ जा॒ल्म उ॒दरं॑ श्रंश॒यित्वा॒ कोश॑ इवाब॒न्धः प॑रिकृ॒त्यमा॑नः ॥ ७ ॥

६—' रुपन्तः ' इति सायणसम्मतः पाठः । (तृ०) 'सिनन्तु' इति ह्विटनिकामितः पाठः । ' शिनन्तु ' इति क्वचित् । (प्र०) 'सप्तसप्ती' (द्वि०) ' रुषतारुषन्तः ' (तृ०) ' छिनव ', (च०) ' सत्यवागति तं सृजामि ' इति पैप्प० सं० ।

७—(प्र०) ' शतेन पाशैर्वरुणाभि ', (द्वि०) ' अनृतवाग् नृ- ' इति पैप्प० सं० । (च०) ' इवाबन्धः ' इति बहुत्र ।

भा०—व्यवस्थापक लोग असत्यवादी के लिये उचित दण्ड की व्यवस्था करते हैं । हे वरुण राजन् ! हे (नृचक्षः) सब मनुष्यों को व्यवहार-चक्षु से देखने वाले ! (अनृतवाक) जो असत्य बोलता है वह (मा ते मोचि) तेरी दण्ड-व्यवस्था से छूट न जाय । (एनं) इसको तो (शतेन पाशैः) सौ पाशों से (अभि-धेहि) सब के सन्मुख बांध । और (जाल्मः) ज़ालिम, अत्याचारी, आततायी पुरुष (उदरं) अपने पेट, मध्य भाग को (अंशयित्वा) भूमि पर गिरा कर (अबन्धः) विना बंधे (कोश इव) मियान या फूल के समान (परिकृत्यमानः आस्तां) टुकड़े २ काटा या तड़पाया जाता रहे ।

यः सं॑मा॒म्यो॒३॒ वरु॑णो॒ यो व्या॒म्यो॒३॒ यः सं॑दे॒श्यो॒३॒ वरु॑णो॒ यो वि॑दे॒श्यः॑ ।
यो दै॒वो वरु॑णो॒ यश्च॒ मानु॑षः ॥ ८ ॥

भा०—(वरुणः) वह वरुण है (यः) जो (समाम्यः) सब के प्रति समान भाव से रहता है । (वरुणः) वरुण ही ऐसा है (यः व्याम्यः) जो प्रत्येक के प्रति विशेष रूप से भी रहता है । वह वरुण ही है (यः संदेश्यः) सब देश में सर्वत्र समान भाव से रहता है और (यः विदेश्यः) जो सब देश में विशेष रूप से भी रहता है । (वरुणः) वह वरुण ही है (यः दैवः) जो देव, विद्वानों में और (यः च मानुषः) जो मनुष्यों में भी समान रूप से रहता है । अर्थात् वरुण-राजा का और प्रभु का सब से समान रूप से और विशेष रूप से भी सम्बन्ध रहता है ।

तैस्त्वा॒ सर्वै॑र॒भि ष्या॑मि॒ पाशै॑रसावामुष्याय॒णामु॒ष्याः पुत्र ।
तानु॑ ते॒ सर्वा॑ननु॒संदि॑शामि ॥ ९ ॥

८—त्रिधा पठितोयं 'वरुणः' शब्दोऽत्र उपसृष्टः । तं विहाय गायत्रीयम् । (प्र०) 'यः समान्यो' (द्वि०) 'यश्च्यं [?] देश्यो' (तृ०) 'यो दैव्यो वरुणो यश्चमानुषस्स त्वांस्त्वेतानि प्रतिमुञ्चाम्यत्र' इति पैप्प० सं० ॥

भा०—राजा दण्ड देने के समय अपराधी का नाम, माता और पिता के नाम सहित लिख कर दण्ड दे और दण्ड की आज्ञा इस प्रकार दे—हे (अमुष्याः पुत्र) अमुक माता के पुत्र ! और हे (आमुष्यायण) अमुक गोत्र और वंश के उत्पन्न पुरुष ! (त्वां) तुझ को तेरे अपराध के निमित्त (तैः) उन २ (सर्वैः) सब (पाशैः) दण्डों, बन्धन-व्यवस्थाओं अर्थात् धाराओं से (अभि-ष्यामि) सब के समक्ष दण्डित करता हूं और (तान्) उन (सर्वान्) सब अधिकारियों या दण्डधरों को (अनु सं-दिशामि) तदनुकूल दण्ड देने की मैं आज्ञा देता हूं ।

अर्थात् अपराधी की दण्डाज्ञा पर अपराधी के माता पिता का नाम, बाप दादों की वंश या गोत्र का नाम और दण्ड धाराओं का उल्लेख हो और जिन अफसरों को वह दण्डार्थ सौंपा जाय उनका भी उल्लेख होना उचित है ।

[१७] अपामार्ग और अपामार्ग-विधान का वर्णन ।

शुक्र ऋषिः । अपामार्गो वनस्पतिर्देवता । १–८ अनुष्टुभः । अष्टर्चं सूक्तम् ॥

ईशानां त्वा भेषजानामुज्जेष आ रभामहे ।
चक्रे सहस्रवीर्यं सर्वस्मा ओषधे त्वा ॥ १ ॥

भा०—ओषधि को सहस्रगुण वीर्यवान् करने का उपदेश करते हैं । हे ओषधे ! (त्वा) तुझ को (सर्वस्मै) सब प्रकार रोगों के लिये मैं (सहस्र-वीर्यं) सहस्रगुणा शक्तिवाला करता हूं । और (भेषजानाम्) सब रोगहारक

[१७] १–(द्वि०) 'निजेपागृणीमहे' इति पैप्प० सं० । (तृ०) 'सहस्रवीर्यम्' इति बहुत्र ।

औषधों में से (इशानां) सब से अधिक सामर्थ्य वाली (त्वा) तुझ को (उत्-जेषे) रोग पीड़ाओं पर विजय और वश करने के लिये (आरभामहे) हम तुझे प्राप्त करते हैं । ओषधि के सहस्रगुण करने के लिये उस वनस्पति को 'ओषधि' बना लेना चाहिये । ओष-धि=टिंक्चर, उसके सहस्रवीर्य करने का उपाय 'होमियोपैथी' चिकित्सा में बतलाया जाता है ।

सत्यजितं शपथयावनीं सहमानां पुनःसराम् ।
सर्वाः समह्वयोषधीरितो नः पारयादिति ॥ २ ॥

भा०—मैं (सत्यजितं) अपने यथार्थ बल से रोग पर वश करने वाली (शपथयावनीम्[1]) शपथ=[अं]शपथ=अंशों के सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम इस प्रकार की पथ सूक्ष्मगति या प्रक्षेप द्वारा शरीर में प्रवेश कर मिलने अथवा रोगी के आक्रोश, कष्ट, चीत्कारों को दूर करने, (सहमानाम्) और रोग का अधिकाधिक नाश करने वाली, (पुनः सराम्) बार २ रोगी के मल मूत्र को अधिक मात्र में बाहर करने वाली अर्थात् विरेचक या बार २ शरीर में प्रवेश करने वाली, मात्रा में कईवार दी जाने योग्य को मैं प्रयोग करूं । और इसी प्रकार (सर्वाः ओषधीः) सब ओषधियों को मैं (समह्वि) एकत्र करूं, जिससे वे (इतः) इन रोगों से (नः) हमें (पारयात्) मुक्त करें ।

२–(द्वि०) 'पुनश्चराम्' (च०) 'अतो नः पारयानिति' इति पैप्प० सं० ।

१. 'शपथयोपनीं', 'समभ्योषधीरितो' इति च सायणाभिमतौ पाठौ । 'शपथयावनीं' इत्यत्रपूर्ववर्णलोपश्छान्दसः । 'अंशानां पथैः प्रक्षेपैः गतिविशेषैर्वा यावयति मिश्रयति हिनस्ति रोगान् साशा [अं] शपथयावनी । अथवा सत्यप्रभावेण रोगिणां शपथान् आक्रोशवचनान् आर्त्तिचीत्कारान् यावयति दूरीकरोति इति शपथयावनी ।

या शशाप शपनेन याघं सूरमादधे ।
या रसस्य हरणाय जातमारेभे तोकमत्तु सा ॥ ३ ॥

अथर्व० १ । २८ । ३ ॥

भा०—विषम व्याधि का स्वरूप बतलाते हैं। (या) जो व्याधि (शपनेन) कुवचनों से (शशाप) रोगी को अधिक कुवचन कहलाती है और (या) जो (मूरं) मूर्छाकारी (अघं) न दबने वाले विकार को (आदधे) धारण करती है। (या) जो (रसस्य हरणाय) शरीर का बल नाश करने के लिये (जातम् आरेभे) उत्पन्न बालक को पकड़ लेती है, सम्भव है (सा) वह (तोकम्) तोक=बच्चे को (अत्तु) खा जाय।

यां ते चक्रुरामे पात्रे यां चक्रुर्नीललोहिते ।
आमे मांसे कृत्यां यां चक्रुस्तया कृत्याकृतो जहि ॥ ४ ॥

अथर्व० ५ । ३१ । १ ॥

भा०—रसवती ओषधि के घातक-प्रयोग करने का दण्ड बतलाते हैं—हे राजन्! (यां) जिस विषम औषध-प्रयोग को (ते) वे औषध तैयार करने वाले लोग (आमे पात्रे) कच्चे मिट्टी के बर्तन में (चक्रुः) तैयार करते हैं और (यां) या जिसको (नीललोहिते) नीले और लाल अर्थात् अधपके पात्र में बनाते हैं और (यां कृत्यां) जिस घातक-प्रयोग को वे (आमे मांसे) कच्चे मांस अर्थात् ओषधि के गुद्द में या रोगी के उस कच्चे मांस में जिसमें ओषधि का वीर्य सहन करने की सामर्थ्य न हो उसमें (चक्रुः) प्रयोग करते हैं। हे राजन्! (तया) उस रीति से (तू) उन (कृत्याकृतः) विघातक ओषधि प्रयोग करने वालों को (जहि[1]) मार, उनको दण्ड दे। पारद

३–(तृ० च०) 'यावा रथस्य प्रसारे ह्रुतोवमत्वसः' इति पैप्प० सं०।

४–(द्वि०) 'या सूत्रे नीललोहिते' इति पैप्प० सं०।

१. शक्यार्थे लोट्।

आदि रस भस्मों के तैयार करने के लिये कच्चा, अधकच्चा पात्र नहीं चाहिये पक्का पात्र होना उचित है नहीं तो पुट आदि देने के समय उसका टूट फूट कर हानि पहुंचाना सम्भव है । इसी प्रकार ओषधि तैयार करने के लिये ओषधि का परिपक्व भाग लेना चाहिय । मांस, शब्द से गूदा कहा गया है । कच्चा ओषधि का गूदा ओषधि का नीरस एवं पूर्णवीर्य न होने से अनर्थकारी हो सकता है । या रोगी का वह मांस जो ओषधि का बल न सहसके उस में पिचकारी द्वारा प्रवेश कराने से रोगी की मृत्यु होना सम्भव है ।

दौष्वप्न्यं दौर्जीवित्यं रक्षो अभ्व/मराय्य/: ।
दुर्णाम्नीः सर्वा दुर्वाचस्ता अस्मन्नाशयामसि ॥ ५ ॥

अथर्व० ७ । २३ । १ ॥

भा०—उक्त प्रकार से रस ओषधि तैयार करने से निम्न लिखित प्रकार की व्याधियां दूर हो सकती हैं । हे पुरुष ! (दौः ष्वप्न्यम्) बुरे स्वप्नों के आने (दौर्जीवित्यम्) दुःख से जीने, फेंफड़ों में सांस लेने के समय पीड़ा होने आदि रोग को (रक्षः) विघ्नकारी (अभ्वम्) निर्बलताकारी (अराय्यः) देह की कान्ति के विनाशक (दुर्नाम्नीः) बुरे रूप, रंग वाली व्याधियों को और (दुर्वाचः) बदनाम करने वाली पाप व्याधियों को (अस्मत्) हम (नाशयामसि) दूर करें ।

क्षुधामारं तृष्णामारमगोतामनपत्यताम् ।
अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदपमृज्महे ॥ ६ ॥

५–(प्र०) 'दुःस्वप्नंदुर्जीवितं' (तृ० च०) 'दुर्वाचः सर्वं दुर्गतमितो नाशयामसि, इति पैप्प० सं० । (द्वि०) 'अभूमराय्य' इति क्वचित् । 'दौर्जीवत्यम्' (च०) 'अस्मिन्' इति सायणाभिमतः ।

६–(द्वि०) 'अनपद्यताम्' इति ह्विटनिकामितः । 'अनप-त्यताम्' इति पदच्छेदश्चिन्त्यः ।

भा०—उक्त प्रकार की महाव्याधिनाशक ओषधियों के गुणों को दर्शाते हैं—(क्षुधामारम्) भूख के कारण मारने वाला मृत्यु=भस्मकरोग को (तृष्णा-मारम्) तृष्णा के कारण मारने वाले रोग पित्तदाह को (अगोताम्) गौ=इन्द्रियों के भीतर शिथिलता प्राप्त कराने वाले और (अनपत्यताम्) बालक आदि का जन्म न होने देने वाले वन्ध्यात्व, नपुंसकत्व आदि (सर्वं तद्) समस्त रोगों को हे (अपामार्ग) रोग विनाशक ओषधे ! (त्वया) तेरे बल से (वयं अपमृज्महे) हम दूर करते हैं । नाना रोगहारी ओषधियों का 'अपामार्ग' यह पारिभाषिक नाम प्रतीत होता है । 'अपमृज्यते रोगो येन सोऽपामार्गः, अथवा अपमार्जयति इति अपामार्गः ।"

तृष्णामारं क्षुधामारमथो अक्षपराजयम् ।
अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदप मृज्महे ॥ ७ ॥

भा०—उसी बात को पुनः दृढ़ करते हैं—हे (अपामार्ग) रोगों को दूर करने वाली ओषधे ! (त्वया) तेरे बल से (वयं) हम (तृष्णा-मारं) पियास के रोग को (क्षुधा-मारं) भूख के रोग को और (अक्ष-पराजयम्) इन्द्रिय नाशक रोग को तथा (तत् सर्वं) उसी प्रकार अन्य सब रोगों को (अप मृज्महे) विनाश करते हैं ।

अपामार्ग ओषधीनां सर्वासामेक इद् वशी ।
तेन ते मृज्म आस्थितमथ त्वमगदश्चर ॥ ८ ॥

भा०—अपामार्गः रोगनिवारक ओषधि (सर्वासां ओषधीनाम्) सब ओषधियों में से (एक इत्) एक ही सब से अधिक (वशी) रोगों पर वश करने हारी है (तेन) उससे हे रोगिन् ! (ते) तेरे (आस्थितं)

८-(द्वि०) 'विश्वासामेक इत्पतिः' (तृ०) 'मृज्मास्थित' (च०) 'चरः' इति पैप्प० सं० ।

शरीर में बैठे रोग को (मृज्मः) दूर करें और (त्वम् अगदः चर) तू नीरोग होकर विचर, जीवन यापन कर ।

[१८] 'अपामार्ग' विधान का वर्णन ।

शुक्र ऋषिः । अपामार्गो वनस्पतिर्देवता । १-५, ७, ८ अनुष्टुभः, ६ बृहतीगर्भा अनुष्टुप् । अष्टर्चं सूक्तम् ॥

समं ज्योतिः सूर्येणाह्ना रात्री समावती ।
कृणोमि सत्यमूतयेऽरसाः सन्तु कृत्वरीः ॥ १ ॥

भा०—आयुर्वेद दिन रात के समान एक सत्य विद्या है । (सूर्येण समं ज्योतिः) ज्योति, प्रकाश सूर्य के साथ रहता है । और (रात्रिः) रात्रि भी (अह्ना) दिन के (सम्-वती) साथ ही ज्योतिष्मती रहती है । जिस प्रकार यह सत्य है उसी प्रकार के (सत्यं) सत्य को मैं (ऊतये) प्राणियों की रक्षा के लिये (कृणोमि) किया करता हूं जिससे (कृत्वरीः) सब विनाशकारी विधियां (अरसाः सन्तु) विषैली, घातक न हों, वे निर्बल हो जायँ । सूर्य के प्रकाश की सत्य के साथ उपमा प्रसिद्ध है ।

यो देवाः कृत्यां कृत्वा हरादविदुषो गृहम् ।
वत्सो धारुरिव मातरं तं प्रत्यगुप पद्यताम् ॥ २ ॥

भा०—वैद्यों के लिये राज नियम का उपदेश करते हैं । हे (देवाः) विद्वान् पुरुषो ! (यः) जो पुरुष (कृत्या कृत्वा) अपने ओषधि के विषम प्रयोग करके (अविदुषः) अनजान पुरुष के (गृहम्) घर, देह को (हरात्) हर

[१८] १-(प्र०) 'समाभूमिः सूर्येण' (तृ०) 'कृणोमि सभ्यमृतये'
२-(द्वि०) 'कृत्वा आराद् अविदुषो' इति सायणाभिमतः ।

ले, विनाश कर दे तो जिस प्रकार (धारुः वत्सः) दूध पीने वाला बालक (मातरम् इव) अपनी माता के पास पहुंच जाता है उसी प्रकार उस विषम ओषधि का प्रयोग भी (प्रत्यक्) फिर से लौट कर (तं उपपद्यताम्) उसको ही प्राप्त हो। अर्थात् जो भोले लोगों की जान विषैली ओषधियें धोखे से दे देकर लेले उसको राजा उसी तरह के विष खिलाकर मरवावे।

अमा कृत्वा पाप्मानं यस्तेनान्यं जिघांसति ।
अश्मानस्तस्यां दग्धायां बहुलाः फट् करिक्रति ॥ ३ ॥

भा०—(यः) जो कोई पुरुष (पाप्मानं कृत्वा) पाप, घातक या विस्फोटक प्रयोग (अमा) किसी के साथ करके, या कच्चे पात्र में करके (तेन) उस से ही (अन्यं) दूसरे पुरुष को (जिघांसति) मार देना चाहता है (तस्यां) उस घातक प्रयोग के (दग्धायां) नष्ट या ज्वलित हो जाने पर (बहुलाः अश्मानः) बहुत से (फट् करिक्रति) पत्थर फट कर उसका स्वयं विनाश करते हैं। अर्थात् पाप कर्मों दूसरों की जान लेने वालों को पत्थरों से मार मार कर प्राण दण्ड हो। अथवा (बहुलाः अश्मानः) बहुत से शिला के समान कठोर जल्लाद उसको बराबर (फट् करिक्रति) ताड़ना किया करें। वेद में 'संगसार' करने का दण्ड अपने पाप कर्म से अन्यों के हिंसा करने वालों के लिये विधान किया गया है।

पं०' ग्रिल ' के मत में—(अमा कृत्वा पाप्मानं) कच्चे मट्टी के बर्तन में 'पाप्मा' विस्फोटक पदार्थ रखकर (यः तेन अन्यं जिघांसति) जो उससे अन्य को मारना चाहता है (तस्यां दग्धायां अश्मानः बहुला. फट्करिक्रति) उसके जलाने पर बहुत से पत्थर के टुकड़े 'फट्' आवाज़ करके फूटते हैं। इस प्रकार विस्फोटक 'बाम्ब' या डिनामाइट् रचने की विधि प्रतीत होती है।

३–(प्र०) ' अमायाम् ' इति ग्रिल्कामितः ।

वास्तव में यह प्रति दृष्टान्त है । अर्थात् जिस प्रकार कोई कच्चे वर्त्तन में बारूद रखकर दूसरे पर चलाना चाहे तो वह बारूद आग लगते ही स्वयं फट कर उसको लगती है उसी प्रकार विना दृढ़ यत्न किये दूसरे के ऊपर घातक प्रयोग करने वाले को उसका पाप स्वयं फूटकर उस पर दण्ड-कारी होता है ।

सहस्रधामन् विशिखान् विग्रीवाञ् छायया त्वम् ।
प्रति स्म चक्रुषे कृत्यां प्रियां प्रियावते हर ॥ ४ ॥

भा०—हे (सहस्र-धामन्) सहस्रों अनन्त कीर्त्ते । राजन्! (त्वं) तू (वि-शिखान्) विषम-प्रयोगों को करने वाले पुरुषों को (वि-ग्रीवान्) ग्रीवा रहित करके (शायय) सुला दे, शान्त कर दे । और (कृत्यां) जो विषम प्रयोग को (प्रति चक्रुषे) बदला लेने के भाव से करे (प्रियावते प्रिया इमिव) प्रियतम जैसे प्रियतमा के पास पहुंच जाय । उसी प्रकार उसकी वह अनर्थकारी हरकत उस के पास ही (हर) पहुंचा । उसी से उस को दण्डित कर ।

अनयाहमोषध्या सर्वाः कृत्या अदूदुषम् ।
यां क्षेत्रे चक्रुर्यां गोषु यां वा ते पुरुषेषु ॥ ५ ॥

भा०—(अनया) इस प्रकार की इस (ओषध्या) दुष्टों की दुष्टता को जलाने वाली रीति से मैं (सर्वाः कृत्याः) सब प्रकार की उन अनर्थ-कारी घातक क्रियाओं को (अदूदुषम्) विनाश करूं । (यां) जिनको लोग (क्षेत्रे) खेतों में (गोषु) गौओं में (यां वा ते) या जिन को तेरे (पुरुषेषु) पुरुषों में (चक्रुः) दुष्ट लोग प्रयोग करते हैं ।

४-(प्र०) 'विशिखाम्' (द्वि०) 'क्षामय' इति पैप्प० सं० ।
५-(तृ० च०) 'गोभ्यः' 'पुरुषेभ्यः' इति पैप्प० सं० । 'यां, वाते' इति सायणाभिमतः ।

यश्चकार न शशाक कर्तुं शश्रे पादमङ्गुरिम् ।
चकार भद्रमस्मभ्यमात्मने तपनं तु सः ॥ ६ ॥

अथर्व० ५ । ३१ । ११ ॥

भा०—(यः चकार) जो बुरा काम करने का यत्न करता है परन्तु (न कर्तुं शशाक) कर न सके (अंगुरिम्, पादं) अपने ही अंगुलियों या हाथ पैर को (शश्रे) तोड़ लेता है । इस प्रकार वह (अस्मभ्यं) हमारे लिये तो (भद्रं चकार) ठीक ही करता है कि कर न सका पर तो भी (सः) वह (आत्मने) अपने लिये (तपनं चकार) पीड़ा प्राप्त करने का या पछताने का ही कार्य करता है ।

अपामार्गोऽप माष्टुं क्षेत्रियं शपथश्च यः ।
अपाह यातुधानीरप सर्वा अराय्यः ॥ ७ ॥

भा०—(यः) जो (क्षेत्रियं) माता पिता के देह से उत्पन्न या राष्ट्र में उत्पन्न होने वाली व्याधि और चोर भय को और (यः च) जो (शपथः) परस्पर निन्दा कलह को (अपमार्ष्टु) दूर कर दे वही उपाय (अपामार्गः) 'अपामार्ग' नाम से कहा जाता है क्योंकि वह (सर्वाः) सब प्रकार के (यातुधानीः) पीड़ाकारिणी और (अराय्यः) राष्ट्र की लक्ष्मी की नाशक चालों, प्रगतियों (Movements) को (अपाह) दूर कर देता है ।

अपमृज्य यातुधानानप सर्वा अराय्यः ।
अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदप मृज्महे ॥ ८ ॥

६–(प्र० द्वि०) 'यश्चकार न शशाख शशिरे पादमङ्गुलिम्' (तृ०) 'यांचकार' इति पैप्प० सं० ।

७–(तृ०) 'यातुधान्यः' इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे (अपामार्ग) राष्ट्र के संकटदायक, कण्टकस्वरूप, विघ्नकारियों को दूर करने हारे अपामार्ग नामक विभाग ! (त्वया) तुझ से (वयं) हम (सर्वं तद्) वह सब कुछ (अप मृज्महे) दूर करते हैं। और (यातुधानान्) पीड़ाकारी पुरुषों को (अपमृज्य) दूर करें और (सर्वाः अराय्यः) सब प्रकार की अलक्ष्मी या दुःखतों, बलाओं, राष्ट्र के साथ विपदी कलङ्क रीतियों को (अप) अपामार्ग विधि से दूर करें।

वेद का यह अपामार्ग विधान अर्थशास्त्र के 'कण्टकशोधन' प्रकरण के समान समझना चाहिये।

---

[१९] अपामार्ग-विधान का वर्णन।

शुक्र ऋषिः। अपामार्गो वनस्पतिर्देवता। २ पथ्यापंक्तिः, १, ३—८ अनुष्टुभः। अष्टर्चं सूक्तम्॥

उतो अस्यबन्धुकृदुतो असि नु जामिकृत्।
उतो कृत्याकृतः प्रजां नडमिवा छिन्धि वार्षिकम्॥ १॥

भा०—अपामार्ग विधान को और भी स्पष्ट करते हैं। हे अपामार्ग ! राष्ट्र के अपकारियों के नाशकारी विधान ! (उत) चाहे तू (अबन्धु-कृत्) उन दुष्ट पुरुषों को राजा का अबन्धु=शत्रु बनाने वाला है और (उतो नु जामि-कृत् असि) चाहे उनको राजा का मित्र बना देता है अथवा (उतो अबन्धु-कृत् असि) हे अपामार्ग विधान ! तू शत्रुओं का नाशक है और (उतो नु जामि-कृत् असि) तू सहज शत्रुओं का भी विनाशक है। (उतो) और तो भी (कृत्या-कृतः) गुप्त पर घात करने हारे पुरुषों की

---

[१९] १—'उतेतास्य' इति पैप्प० सं०।

(प्र-जाम्) आगे आने वाली सन्तति को (वार्षिकम् नडम्-इव) वर्षा-कालमें पैदा हुए नड=तृण के समान (आ च्छिन्धि) काट ही डालता है। कण्टक शोधन के विधान करने पर बहुत से राजा के शत्रु हो जाते हैं और बहुत से मित्र हो जाते हैं तो भी उसके प्रयोग से और अधिक अनर्थकारी लोगों के षड्यन्त्र होने बन्द हो जाते हैं।

ब्राह्मणेन पर्युक्तासि कण्वेन नार्षदेन ।
सेनेवैषि त्विषीमती न तत्र भयमस्ति यत्र प्राप्नोष्योषधे ॥२॥

भा०—अपामार्ग विधान की उत्पत्ति को स्पष्ट करते हैं। हे अपामार्ग विधानस्वरूप ओषधे ! अनर्थकारियों के संतापकारक उपाय ! (नार्षदेन= नार-सदेन) नर नेता लोगों की परिषद् में बैठने वाले (कण्वेन) विद्वान् मेधावी (ब्राह्मणेन) ब्रह्मवेत्ता पुरुष ने (परि-उक्ता[1] असि) तेरा सब प्रकारों से विवेचन करके परिवचन या प्रयोग किया है। इसलिये तू (त्विषि-मती) बलवती, कान्तिमती, चमचमाती उत्तम रूप वाली (सेना-इव) सेना के समान (एषि) राष्ट्र में आती है। और (यत्र प्र-आप्नोषि) जहां प्राप्त हो जाती है (तत्र भयम् न अस्ति) वहां भय नहीं रहता।

यह वह शस्त्र हथियार-बन्द पुलिस का विभाग है जो दंगों को, बलवैयों और लुटेरों-चोरों-डाकुओं को नाश करने के लिये नियत किया जाता है। उस विधान को राजसभा के विद्वान् लोग सब प्रकार के पहलुओं से विचार करके प्रयोग और व्यवस्था करें। वनस्पति के पक्ष में अपमार्ग का प्रयोग, ब्राह्मण, यष्टि, कण्व और नार्षद नामक औषध के साथ मिला कर प्रयोग करने से गुणकारी होता है।

२–(प्र०) 'परियुक्तोऽसि' इति पैप्प० सं० । (तृ०) 'त्विषी । मते' इति सायणाभिमतः पदपाठः ।

१. 'प्रयुक्ता' इति ह्विटनिकामितानुमितः ।

अग्रमेष्योषधीनां ज्योतिषेवाभिदीपयन् ।
उत त्रातासि पाकस्याथो हन्तासि रक्षसः ॥ ३ ॥

भा०—हे अपामार्ग नामक विधान ! (ज्योतिषा) तेज से (अभिदीपयन्) प्रकाशमान सूर्य जिस प्रकार सब तेजस्वी पिण्डों में सबसे अधिक तेजस्वी है उसी प्रकार यह विधान भी तेजस्वी, प्रकट होने से सब (ओषधीनां) तापदायक, उपायों में (अग्रम्) सब से प्रथम, श्रेष्ठ (एषि) होता है। (उत) और (पाकस्य [१] त्रातासि) पाक-परिपक्व करने योग्य निर्बलों की रक्षा करने और (रक्षसः) विघ्न करने वाले का (हन्ता असि) विनाश करने वाला है। ओषधि पक्ष में—ओषधि जठर में अपक्व अन्न को पचाता और पाचन अग्नि की रक्षा करता और बलनाशक रोगों का नाशक है।

यद्दो देवा असुरांस्त्वयाग्रे निरकुर्वत ।
ततस्त्वमध्योषध्यपामार्गो अजायथाः ॥ ४ ॥

भा०—(यत्) क्योंकि (अदः) उस उत्तम राष्ट्र में (देवाः) विद्वान् पुरुष (अग्रे) पूर्वकाल में (त्वया) हे अपामार्ग विधान ! तेरे बल से ही (असुरान्) असुर लोगों को (निः-अकुर्वत) पराजित कर सके (ततः) इस कारण ही हे ओषधे ! हे तापकारिन् (त्वम्) तू (अपामार्गः) 'अपामार्ग' नाम से (अधि अजायथाः) प्रसिद्ध है।

विभिन्दती शतशाखा विभिन्दन् नाम ते पिता ।
प्रत्यग् वि भिन्धि त्वं तं यो अस्माँ अभिदासति ॥ ५ ॥

३—'उतपाकस्य त्रातासि'।

१. पक्तव्यप्रशस्य दुर्बलस्येति सायणः।

४—(द्वि०) 'निर कृण्वत' (तृ०) 'तस्माद्धित्वमोषधे अपा' इति पैप्प० सं०।

५—'प्रत्यग् भिन्धा' इति सायणाभिमतः।

भा०—शत्रु के नाश के लिये 'अपामार्ग-विधान' में 'भेद' उपाय का निरूपण करते हैं—हे अपामार्ग नाम विधान! तू (शतशाखा) सैकड़ों शाखा वाला होकर (विभिन्दती) शत्रुओं में फोड़ डाला करता है इसलिये (ते पिता) तेरा परिपालक राजा स्वयं (विभिन्दन्) शत्रु पक्ष में फूट डालने हारा होने से 'भेद'कारी है। अतः (त्वं) तू भी (ते) उसको (यः) जो (अस्मान्) हमको (अभिदासति) दास बनाना या प्रत्यक्ष रूप से या विरोध से विनाश करना चाहता है उसको (प्रत्यक्) प्रबलता से (विभिन्धि) नाना प्रकार से फोड़ डाल।

अस॒द् भूम्याः॒ सम॑भव॒त् तद्द्यामे॑ति म॒हद्॒ व्य॒च॑: ।
तद् वै त॒तो वि॑धूपा॒यत् प्र॒त्यक् क॒र्तार॑मृच्छतु ॥ ६ ॥

भा०—(असत्) दुष्ट कार्य (भूम्याः समभवत्) भूमि से भी (समभवत्) उत्पन्न हो (महद् व्यचः) और वह बड़े भारी रूप में फैल कर (तद् द्याम् एति) चाहे आकाश तक ऊंचा हो जाये (तत् वै) तो भी वह निश्चय से (ततः) वहां से (कर्त्तारम् विधूपायत्) करने वाले कर्त्ता को ही नाना प्रकार से संताप देता हुआ (प्रत्यक् ऋच्छतु) फिर उसी पर आ पड़ता है। अर्थात् कोई बुरा काम कहीं से उठे वह एक न एक समय पुनः राज-दण्ड या ईश्वरीय दण्ड द्वारा पुनः उसी पर दण्ड के रूप में आता है।

अधर्मेणैधते तावत् ततो भद्राणि पश्यति ।
ततः सपत्नान् जयति समूलस्तु विनश्यति ॥ मनु० ॥

प्र॒त्यङ् हि सं॑ब॒भूवि॑थ प्र॒तीची॑नफलस्त्वम् ।
सर्वा॑न् मच्छ॒पथाँ॒ अधि॒ वरी॑यो यावया व॒धम् ॥ ७ ॥

अथर्व० ७ । ६५ । १ ॥

६–'तत्। याम्' इति पदपाठश्चिन्त्यः। 'तत्। द्याम्' इति साधुः।
७–(तृ० च०) 'प्रतिष्क्रया अमूं कृत्या कृतं जहि' इति पैप्प० सं०।

भा०—'अपामार्ग-विधान' की 'अपामार्ग' ओषधि से तुलना करते हैं। जिस प्रकार अपामार्ग के फल उसकी दण्डी पर उलटे लगे रहते हैं उसी प्रकार हे अपामार्ग विधान! (त्वं प्रतीचीनफलः) तू प्रतीचीन=उलटे फलों वाला है अर्थात् प्रथमः दुःख-कर और फिर फल में सुख-कर ही होता है। अतः क्योंकि तू (प्रत्यङ् सम्बभूविथ) जिन पर अपामार्ग विधान का प्रयोग किया जाता है उनके प्रति प्रत्यङ्=प्रतिकूल होकर प्रयुक्त होता है इस कारण (सर्वान्) सब (मत् शपथान्) मेरे प्रति उठने वाले निन्दात्मक वचनों को (यवय) विनाश कर और (वरीयः) अधिक से अधिक उठने वाले (वधम्) हथियारों को भी (अधि यवय) दबा कर नष्ट करदे। अपामार्ग-विधान से राजा अपने निन्दकों और हत्याकारी प्राण विरोधियों को भी दबावे। बल्कि प्रथम विरोध और निन्दा उठने पर भी सत्फलों को देख कर लोग पुनः राजा का गुणानुवाद ही करते हैं।

शतेन॑ मा॒ परि॑ पाहि स॒हस्रे॑णा॒भि र॑क्ष मा।
इन्द्र॑स्ते वीरुधां पत उ॒ग्र ओ॒ज्मान॒मा द॑धत् ॥ ८ ॥

भा०—हे (वीरुधां पते) नाना प्रकार से शत्रुओं को रोकने वाली सेनाओं और दण्डधाराओं के परिपालक पूर्वोक्त 'अपामार्ग' कण्टक शोधन करने में समर्थ दण्ड-विधान तू (उग्रः) उग्रस्वभाव होकर (ते) तेरे (ओज्मानम्) ओजः, तेज, रोब, प्रजाओं पर विशेष दबदबे को (इन्द्रः) राजा (आदधत्) धारण करे और तू (मां) मुझ राष्ट्र को (शतेन) सौ प्रकार से, सैकड़ों प्रकारों से (परि पाहि) परिपालन कर और (सहस्रेण) सहस्रों उपायों से (मा अभिरक्ष) मुझे सुरक्षित रख। प्रजा के भीतरी प्रमाद और और निर्बलताओं से और बाहर के आक्रमणों और दुर्घटनाओं से राजा अपने कानूनी बल से समर्थ होकर राष्ट्र की रक्षा करे।

८-(च०) 'भद्रोज्मानमादधुः' इति पैप्प० सं०।

[२०] दर्शन शक्ति का वर्णन ।

मातृनामा ऋषिः । मातृनामा देवता । १ स्वराट्, २–८ अनुष्टुभः, ९ भुरिक् । नवर्चं सूक्तम् ॥

आ प॑श्यति॒ प्रति॑ पश्यति॒ परा॑ पश्यति॒ पश्य॑ति ।
दिव॑म॒न्तरि॑क्ष॒माद् भूमि॒ सर्वं॒ तद् दे॑वि॒ पश्यति ॥ १ ॥

भा०—दृक् शक्ति का वर्णन करते हैं । हे देवि ! हे दृक् शक्ते ! तेरे सामर्थ्य से (आ पश्यति) यह पुरुष सब ओर देखता है (प्रति पश्यति) और प्रत्येक पदार्थ को देखता है (परा पश्यति) दूर के पदार्थों को भी देखता है । (दिवम्) द्यौः, सूर्य (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष, वायुस्थान, और (आत्) और उससे उतर कर (भूमिम्) इस भूमि, स्थूल पदार्थ (तत् सर्वं) उस सब को (पश्यति) दर्शन करता है । अध्यात्म ज्ञानी दृक् शक्ति के द्वारा सब ओर, समीप और दूर के सब पदार्थों को देख कर प्रथम तृण से लेके पृथिवी, वायु, आकाश और पांचों तत्वों को जान कर पुनः ब्रह्म का भी ज्ञान कर लेता है ।

इस दृक्शक्ति रूप आत्मा का वर्णन देखो योग-दर्शन अ० २ । सू० २७ ।

ति॒स्रो दिव॑स्ति॒स्रः पृ॑थि॒वीः षट् चे॒माः प्र॒दिशः॒ पृथ॑क् ।
त्वया॒हं सर्वा॑ भू॒तानि॒ पश्या॑नि देव्योषधे ॥ २ ॥

भा०—(तिस्रः दिवः) तीन द्यौः, प्रकाशमय ऊर्ध्वगति रूप दिव्य लोकों को, और (तिस्रः पृथिवीः) तीन पृथिवियों को—भूमियों को और

[२०] १–' पश्यसि ' इति सर्वत्र, पैप्प० सं० ।

२–' प्रदिशो महीः ' (तृ० च०) ' तथाहं सर्वा पातृणा पश्यामि देव्योषधे ' इति पैप्प० सं० ।

(षट् च) छः (इमाः प्र-दिशः) इन प्रदिशाओं को और (सर्वा भूतानि) समस्त प्राणियों को हे देवि ! हे ओषधे ! तेज को धारण करने हारी तेजस्विनि ! (त्वया) तेरे सामर्थ्य से (अहं) मैं (पश्यानि) देखूं ।

दिव्यस्य सुपर्णस्य तस्य हासि कनीनिका ।
सा भूमिमा रुरोहिथ वह्यं श्रान्ता वधूरिव ॥ ३ ॥

भा०—दृक्शक्ति की इस शरीर और अन्तःकरण में स्थिति का उपदेश करते हैं । हे देवि ! दृक्शक्ते ! आत्मन् चिते ! (दिव्यस्य सु-पर्णस्य कनीनिका) आकाशगामी बाज की पुतली या आंख जिस प्रकार दूर से भूमि पर ही पड़ती है उसी प्रकार (तस्य) उस (दिव्यस्य) प्रकाशस्वरूप, दिव्य गुणों से युक्त ज्ञानी (सुपर्णस्य) उत्तम पालन, एवं ज्ञानों से युक्त आत्मा की (कनीनिका) कन्या, छोटी पुत्री के समान उसी की स्वल्प आकृति तू (ह असि) निश्चय से है (सा) वह दृक्शक्ति ही तू (भूमिम्) उस अन्तःकरण की विक्षिप्त आदि अवस्था-भूमि पर (रुरोहिथ) इस प्रकार चढ़ती या आरोहण करती है जिस प्रकार (वधूः-इव) नववधू (श्रान्ता) थक कर (वह्यं) यान करने के साधन रथ पर चढ़ बैठती है । आत्मपक्ष में वह्य=चित्त ।

तां मे सहस्राक्षो देवो दक्षिणे हस्त आ दधत् ।
तयाहं सर्वं पश्यामि यश्च शूद्र उतार्यः ॥ ४ ॥

भा०—(सहस्र-अक्षः) सहस्र चक्षुओं वाले (देवः) परमात्मा, सर्वज्ञ सर्वप्रकाशक, सर्वद्रष्टा ने (तां) उस दृक्-शक्ति चेतना को (मे) मेरे (दक्षिणे हस्ते) दायें हाथ में (आदधत्) स्थापन किया है । (तया) उस के सामर्थ्य से (अहं) मैं (सर्वं) सब को (पश्यामि) देखता हूं (यः च)

४–(तृ० च०) 'ततोहं सर्वं पश्याम्यद्भुतं यच्च भव्यम्' इति पैप्प० सं० ।

चाहे जो (शूद्रः) शूद्र हो (उत आर्यः) और चाहे जो आर्य, श्रेष्ठ पुरुष हो । यह वह विवेक शक्ति है, जो प्रत्येक पुरुष में दक्षिण हाथ=अर्थात् सत्पक्ष में रहती है जिससे वह आर्य और शूद्र का उत्तम, मध्यम पुण्य और पाप का विवेक करता है ।

आविष्कृणुष्व रूपाणि मात्मानमप गूहथाः ।
अथो सहस्रचक्षो त्वं प्रति पश्याः किमीदिनः ॥ ५ ॥

भा०—हे देवि ! दृक्-शक्ते ! चेतने ! तू (रूपाणि) नाना प्रकार के रूपों को, (आविष्कृणुष्व) प्रकट कर (आत्मानम्) अपने को (मा अप-गूहथाः) हम से मत छिपा । (अथो) और हे (सहस्रचक्षो !) सहस्र शक्ति-रूप नयनों से युक्त (त्वं) तू (किमीदिनः) अब क्या, अब क्या इस प्रकार भूखी प्यासी विषय लोलुप इन्द्रियों और मन, वासनाओं को भी (प्रति पश्याः) देखती है ।

दर्शय मा यातुधानान् दर्शय यातुधान्यः ।
पिशाचान्त्सर्वान् दर्शयेति त्वा रभ ओषधे ॥ ६ ॥

भा०—हे देवि ! दृक्-शक्ते ! ओषधे ! (मा) मुझ को (यातु-धानान् दर्शय) अन्तरात्मा में पीड़ा पहुंचाने वाले क्रोध, काम, लोभ आदि दुष्ट भावों का दर्शन करा । और (यातु-धान्यः) पीड़ादायक मानस दुःप्रवृत्तियों का भी (दर्शय) साक्षात् करा । और (सर्वान् पिशाचान्) सब मांस=विषय, भोग्य पदार्थों को प्राप्त करने वाले विषय लोलुप इन्द्रियों का साक्षात् (दर्शय) दर्शन करा (इति) इसी प्रयोजन से हे (ओषधे) दुःख, पापों के दाह

५–(तृ०) 'एवा सहस्र' (च०) 'पश्याम्यायत' इति पैप्प० सं० ।
६–(तृ० च०) 'अपस्पृगेव तिष्ठन्तं दर्शय मां किमीदिनम्' इति पैप्प० सं० ।

करने वाले ज्ञान को धारण करने वाली विवेक-ख्याते ! (त्वा) तेरी (रभे) में उपासना करके तुझे ही साक्षात् प्राप्त करता हूं ।

कश्यपस्य चक्षुरसि शुन्याश्च चतुरक्षयाः ।
वीध्रे सूर्यमिव सर्पन्तं मा पिशाचं तिरस्करः ॥ ७ ॥

भा०—हे देवि ! दृक् शक्ते ! (कश्यपस्य) कश्य—ज्ञान का पान करने हारे तत्वद्रष्टा ज्ञानी योगी की तू (चक्षुः असि) आंख है । (च , और (चतुः-अक्षयाः) चार आंख वाली-प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान शब्द इन चार प्रमाणों या चार वेदों से दर्शन करने वाली (शुन्याः) शुनी, प्रमा या वेद वाणी या चित्तिशक्ति की भी तू आंख है । (वीध्रे) आकाश में (सर्पन्तं) गति करते हुए (सूर्यम्-इव) सूर्य को जिस प्रकार कोई नहीं छिपा सकता उसी प्रकार (वीध्रे [1] सर्पन्तं) स्वभावतः शुद्ध अपने रूप में या ब्रह्म में गति करने हारे (पिशाचं) भोग्य विषयों के भोगने वाले या देह को प्राप्त, रूप में छिपे इस आत्मा को (मा तिरः करः) मत छिपने दे । अज्ञान से आवृत मत होने दे ।

उदग्रभं परिपाणाद् यातुधानं किमीदिनम् ।
तेनाहं सर्वं पश्याम्युत शूद्रमुतार्यम् ॥ ८ ॥

भा०—(किमीदिनं) अब क्या भोग करूं, अब क्या भोग करूं इस प्रकार विषयलोलुप (यातुधानं) परिणाम में विषम फल, कष्ट पीड़ा उत्पन्न करने हारे विषयाभिलाषी चित्त को मैं (परि-पानात्) चारों ओर की रक्षा से अथवा चारों ओर के विषय रसों के ग्रहण करने से (उद्-अग्रभम्)

७-(प्र० द्वि०) 'कश्यपस्य चतुरक्षः श्यन्त्याश्चतुरक्षा' ।

१. वा विन्धेरित्यौणादिकोरक् (उणा० २ । २६) विशेषेणेन्धते दीप्यते तद्वीध्रम् । स्वभावशुद्धः । इति दयानन्दः औणादिव्याख्यायाम् । विविधम् इन्धते ।

८-(प्र० द्वि०) 'परिपाणं यातुधानात् किमीदिनः' इति पैप्प० सं० ।

ऊपर ही थामलूं, उसको विषयों में जाने से रोक लूं। तब (तेन) उस संयत, विषयों से निरुद्ध, एकाग्र चित्त से (सर्वं) समस्त (आर्यं) श्रेष्ठ, स्वामि गुणों से युक्त सब के स्वामी, आत्मा (उत) और (शूद्रम्) उसके सेवा करने वाले इन्द्रिय गण को (पश्यामि) साक्षात् करूं। विषयों से हटाकर, चित्त को एकाग्र करके इन्द्रिय और स्वामी आत्मा का पृथक् २ ज्ञान कर लेना चाहिये।

यो अन्तरिक्षेण पतति दिवं यश्चातिसर्पति ।
भूमिं यो मन्यते नाथं तं पिशाचं प्रदर्शय ॥ ६ ॥

भा०—(यः) जो (अन्तरिक्षेण) मध्य आकाश में वायु रूप से और शरीर के मध्य में प्राणरूप से (पतति) गति करता है और (यः च) जो (दिवम्) द्यौः=नक्षत्रादि परिभ्रमण करने के स्थान, बृहत् आकाश में और शरीर में मूर्धा भाग में (अति-सर्पति) समस्त लोकों और इन्द्रियों को पार कर के विराजमान है और (यः) जो (भूमिं) इस पृथिवी का और शरीर में चित्त और देह-भूमि का अपने आपको (नाथं) स्वामी (मन्यते) मानता है (तं) उस (पिशाचं) पिश-भोग्य पदार्थ, दृश्य संसार को अपने भीतर लेने, उसमें व्याप्त होने वाले परमात्मा और इस देहरूप मांसपिण्ड में व्यापक एवं भोग्य पदार्थों के भोक्ता जीव का (प्रदर्शय) हे देवि दृक्-शक्ते ! तू हमें दर्शन करा। " द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः।" योगसूत्र २ । २० । " तदर्थ एव दृश्यस्य आत्मा " । यो० सू० २ । २१ । इन पर व्यासभाष्य देखने से यह विषय स्पष्ट हो जाता है।

इति चतुर्थोऽनुवाकः ।

[तत्र पञ्च सूक्तानि, ऋचश्च द्वाचत्वारिंशत् ।]

६–' यश्चाधिसर्पति ' इति सायणसम्मतः । (द्वि०) ' भोमिश्चोपसर्पति ' (तृ०) ' दिवं यो ' इति पैप्प० सं० ।

[२१] गो-कीर्त्तन ।

ब्रह्मा ऋषिः । गौर्देवता । २–४ जगत्यः; १; ५–७ त्रिष्टुभः । सप्तर्चं सूक्तम् ।

आ गावो॑ अग्मन्नुत भ॒द्रम॑क्रन्त्सीद॑न्तु गो॒ष्ठे र॒णय॑न्त्व॒स्मे ।
प्र॒जाव॑तीः पुरु॒रूपा॑ इ॒ह स्यु॒रिन्द्रा॑य पू॒र्वीरु॒षसो॒ दुहा॑नाः ॥ १ ॥

ऋ० ७ । २८ । १ ॥

भा०—गौओं और इन्द्र के दृष्टान्त से आत्मा इन्द्रियों के रहस्य का उपदेश करते हैं। (गावः) गौएं जिस प्रकार आती हैं, सुख देती हैं, गोशाला में रहती हैं, प्रजाएं उत्पन्न करती हैं और स्वामी के लिये प्रति दिन प्रातःकाल दूध देती हैं उसी प्रकार (गावः) ये ज्ञान करने हारी इन्द्रियां (अग्मन्) ज्ञान योग्य विषयों के प्रति जाकर पुनः आत्मा के प्रति लौट आवें (उत) और (भद्रम्) सुख को (अक्रन्) उत्पन्न करें । वे (गोष्ठे) गोशाला के समान इन्द्रियों के निवासस्थान इस देह में (सीदन्तु) विराजमान हों और (अस्मे) हमें (रणयन्तु) आनन्दित करें । जिस प्रकार (प्रजा-वतीः) बछड़ों आदि प्रजाओं से सहित (पुरुरूपाः) नाना प्रकार की गौएं गोशाला में वृद्धि पाती हैं उसी प्रकार ये (पुरु-रूपाः) और ज्ञान को पालन पूरण करने वाली इन्द्रियां (प्रजावतीः) प्रकृष्ट ज्ञान युक्त होकर अथवा उत्तम ज्ञानोत्पादक होकर (इह) इस देह में (पूर्वीः उषस) पूर्व २ उषा कालों में तो (इन्द्राय) इस स्वामि रूप समृद्ध ऐश्वर्यशील आत्मा के लिये (दुहानाः) ज्ञान रस का दोहन करने वाली (स्युः) रहें ।

इन्द्रो॒ यज्व॑ने गृण॒ते च॒ शिक्ष॑त॒ उपेद्द॑दाति॒ न स्वं मु॑षायति ।
भूयो॑भूयो र॒यिमिद॑स्य व॒र्धय॒न्नभि॑न्ने खि॒ल्ये नि द॑धाति देव॒युम् ॥२॥

ऋ० ६ । २८ । २ ॥

[२१] १–ऋग्वेदे भारद्वाजो बार्हस्पत्य ऋषिः । गावो देवताः ।
२–(प्र०) 'पृणते च शिक्षति'

भा०—(इन्द्रः) वह ऐश्वर्यशील परमात्मा (यज्वने) यज्ञ याग करने एवं देवार्चना करने और (गृणते) देव की यथार्थ स्तुति करने और ज्ञानोपदेश करने वाले पुरुष को (शिक्षते) उत्तम २ ज्ञानों का उपदेश करता है । और (उप ददाति इत्) उस के समीप आकर बहुत कुछ दान करता है (स्वं) और उस के निज 'स्व' धन या स्वरूप को भी (न मुषायति) नहीं अपहरण करता । प्रत्युत (अस्य) इस आत्मा के (रयिम्) वीर्य, बल सामर्थ्य को (भूयः-भूयः) बराबर अधिकाधिक (वर्धयन् इत्) बढ़ाता हुआ ही उस (देव-युम्) देव परमेश्वर की कामना करने हारे, ईश्वर भक्त, मग्न पुरुष के (अभिन्ने) अपने से अभिन्न (खिल्ये) रूप, आनन्द रस जहां काम क्रोध से आत्मा को पीड़ा न पहुंच सके ऐसे अभय रूप में (नि दधाति) उसे सुरक्षित रखता है । "तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्" (यो० सू० १ । ३)

न ता नंशन्ति न दंभाति तस्करो नासामामित्रो व्यथिरा दंधर्षति ।
देवांश्च याभिर्यजंते ददाति च ज्योगित् ताभिः सचते गोपतिः सह ॥३॥
ऋ० ७ । २८ । ३ ॥

भा०—योगी के दीर्घ जीवन का उपदेश करते हैं । (ताः) उस योगी की गोरूप इन्द्रियां (न नशन्ति) नहीं नष्ट होतीं, (तस्करः) अपहरण करने वाला चोर मृत्यु भी (न दभाति) उन योगज बल से युक्त गौ=इन्द्रिय सामर्थ्यों को पीड़ित नहीं करता । (आसाम् अमित्रः) इनको पीड़ा देने वाला शत्रु रूप (व्यथिः) व्यथादायी रोग भी (न आदधर्षति) उन पर अपना ज़ोर नहीं दिखाता । (याभिः) जिन इन्द्रियों के सामर्थ्यों से (देवान्) देवों इन इन्द्रियों के दिव्य सामर्थ्यों की (यजते) साधना करता या

३—'नैना अमित्रो' इति तै० ब्रा० । (प्र०) 'न ता नशन् ता न दभाति' इति ह्विटनिकामितः पाठः ।

संगति करता और (ददाति च) सत्पात्र में दान करता है वह (गोपतिः) गो=इन्द्रियों का परिपालक जितेन्द्रिय पुरुष (ताभिः सह) उनके साथ ही (सचते) सदा बना रहता है । अर्थात् जिन इन्द्रियों से योगी साधना करता है वे मोक्ष में बराबर बनी रहती हैं उन का नाश नहीं होता वहां जरा, मृत्यु भी नहीं और न रोग है ।

स्वर्गे लोके न भयं किंचनास्ति न तत्र त्वं न जरया बिभेति ।
उभे तीर्त्वा अशनाया पिपासे शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥
(क० उप० १ । १२)

न ता अर्वा रेणुककाटो अश्नुते न संस्कृतत्रमुप यन्ति ता अभि ।
उरुगायमभयं तस्य ता अनु गावो मर्तस्य वि चरन्ति यज्वनः ॥४॥
ऋ० ७ । २८ । ४ ॥

भा०—जिस प्रकार (ताः) उन गौवों को (अर्वा) हिंसक (रेणुककाटः) पैरों से धूल उछालने वाला, हिंसक जीव लकड़बग्धा या कसाई (न अश्नुते) खा नहीं सकता और (ताः अभि) वे (संस्कृतत्रम् न उप अभियन्ति) मांस पाचक पुरुष के पास भी नहीं पहुंचती । प्रत्युत (यज्वनः मर्तस्य) यज्ञशील मनुष्य के (उरुगायम्) विशाल (अभयम् अनु निचरन्ति) निर्भय शरण में विचरती हैं । उसी प्रकार (यज्वनः मर्तस्य तस्य) प्राणापानमय यज्ञ करने हारे साधक पुरुष के (ताः) उन शक्तियों पर (रेणुककाटः) समस्त संसार को तोड़ फोड़ कर रजो रूप में बदल देने वाला प्रलयकारी यम भी (न अश्नुत) उन तक नहीं पहुंचता, उसका विनाश नहीं करता । और (ताः) वे शक्तियाँ (संस्कृतत्रम् उप) इस रचना संस्कार को प्राप्त, संसार को पालन करने वाले या सब संसार को परिपाक करने वाले दण्डधर यम

४-(प्र०) 'रेणुककाटो अश्नुते' इति ऋ० । 'अश्नुते' (तृ०) 'मर्त्यस्य' इति च क्वचित् ।

के समीप भी (न उपयन्ति) नहीं जाती, प्रत्युत (तस्य) उस परम परमेश्वर के (उरु गायम्) समस्त, विश्वव्यापी. महान् (अभयम् अनु) निर्भय शरण में प्राप्त होकर (वि चरन्ति) कामनानुसार विचरण करती हैं। यह जीवनमुक्त दशा का वर्णन है।

गावो भगो गाव इन्द्रो म इच्छाद् गावः सोमस्य प्रथमस्य भक्षः।
इमा या गावः स जनास इन्द्र इच्छामि हृदा मनसा चिदिन्द्रम्॥५॥

ऋ० ७।५८।५॥

भा०—गौओं के दृष्टान्त से आत्मा का वर्णन करते हैं। जिस प्रकार लोक में गौएं ही ऐश्वर्य हैं उसी प्रकार (गावः) ये विषयों तक पहुंचने वाली इन्द्रियां ही (भगः) उस आत्मा की ऐश्वर्य हैं (इन्द्रः) उस ऐश्वर्यशील प्रभु परमात्मा ने (मे) मेरे लिये भी (इच्छाद्) देने योग्य पदार्थ देना चाहा। वह (गावः) ये गौवों के गोरस जिस प्रकार सोम में मिलाने लायक द्रव्य हैं उसी प्रकार ये इन्द्रियों के रस ही (प्रथमस्य सोमस्य) श्रेष्ठ सोम=शमदम आदि गुणसम्पन्न आत्मा के (भक्षः) भोग्य पदार्थ हैं। हे (जनासः) मनुष्यो ! (इमाः याः गावः) ये जो गौएं हैं, ये जो इन्द्रियों के सामर्थ्य रूप हैं (सः इन्द्रः) वही इन्द्र=आत्मा है। (हृदा) हृदय से और (मनसा) मननशील बुद्धि से भी उसी (इन्द्रम् चित्) पूज्य इन्द्र=आत्मा को मैं (इच्छामि) प्राप्त करना चाहता हूं।

यूयं गावो मेदयथा कृशं चिदश्रीरं चित् कृणुथा सुप्रतीकम्।
भद्रं गृहं कृणुथ भद्रवाचो बृहद् वो वय उच्यते सभासु॥६॥

भा०—गौओं के दूध के गुणों का उपदेश करते हैं। हे (गावः) गौओ (यूयं) तुम (कृशं) कृश निर्बल, दुबले पतले आदमी को (मेदयथा)

५–(द्वि०) ' इन्द्रो मे अच्छान ' ' इच्छामीहृदा ' इति ऋ०।
६–(द्वि०) ' कृशं चिदश्रीलम् ' इति तै० सा०।

मोटा कर देती हो । और (अश्रीरं चित्) कुरूप, शोभा रहित पुरुष को (सुप्रतीकं) सुन्दर, दर्शनीय (कृणुथाः) कर देती हो। हे (भद्रवाचः) कल्याण और सुखदायी वाणी को बोलने वाली गौओ ! तुम लोग (गृहं) घर को भी (भद्रं कृणुत) सुखकारी बनाती हो । (वः) तुम्हारी (वयः) क्षीर, दधि आदि अन्न—भोज्य पदार्थ की प्रशंसा (सभासु) सभाओं में (उच्यते) की जाती है । उसी प्रकार ये इन्द्रियां सूक्ष्म अणु आत्मा को स्थूल करती हैं, अरूप को सरूप करतीं और भद्रवाणियां उच्चारण करती हुई इस गृहरूप देह को सुखकारी बनातीं और इनके ग्राह्य विषयों को सभाओं में नाना प्रकार से वर्णन किया जाता है ।

प्रजावतीः सूयवसे रुशन्तीः शुद्धा अपः सुप्रपाणे पिबन्तीः ।
मा वः स्तेन ईशत माघशंसः परि वो रुद्रस्य हेतिर्वृणक्तु ॥ ७ ॥

भा०—(सुयवसे) उत्तम तृण आदि चारा से युक्त देश में (रुशन्तीः) शोभा देती हुई, तृणादि खाती हुई (प्रजा-वतीः) प्रजा सन्तति से युक्त (सु-प्रपाणे) उत्तम जल पान करने के स्थान में (शुद्धाः अपः) शुद्ध जलों का (पिबन्तीः) पान करती हुई (वः) तुम गौओं को (स्तेनः) चोर (मा ईशत) न चुरा ले और (अघ-शंसः) पापकर्मा, पापी पुरुष भी तुम पर वश न करे । (वः) तुम्हारी (रुद्रस्य हेतिः) रुद्र परमेश्वर का या पशुपालक का (हेतिः) आयुध, वज्र सदा (परि वृणक्तु) सब ओर से रक्षा करे और चोरों और कसाइयों का वारण करे । या विद्युत् आदि दैवी पीड़ाएं उनको न सतावें ।

अध्यात्म पक्ष में—सुयवस=भोग्य विषय में विचरती एवं आनन्द स्थलों में शुद्ध रसों को प्राप्त करती हुई, इन सन्तान युक्त इन्द्रियों पर स्तेन=

७—' सुयवसं रिपन्ती ' (च०) ' हेती रुद्रस्य वृज्याः ' इति ऋ० ।

चोर काम, अघशंस=क्रोध वश न करें। रुद्ररूप परमेश्वर की दण्ड-व्यवस्था से भय खाकर वे पाप वृत्तियों से सदा दूर रहें।

[२२] राजा का स्थापन।

वसिष्ठोऽथर्वा वा ऋषिः । इन्द्रो देवता । १–७ त्रिष्टुभः । सप्तर्चं सूक्तम् ॥

इमामिन्द्र वर्धय क्षत्रियं म इमं विशामेकवृषं कृणु त्वम्।
निरमित्रानक्ष्णुह्यस्य सर्वास्तान् रन्धयास्मा अहमुत्तरेषु ॥१॥

भा०—राजधर्मों का उपदेश करते हैं। हे (इन्द्र) सेनापते ! या (मे) मेरे (इमम्) इस (क्षत्रियम्) क्षत्रिय धर्म से युक्त पुरुष को (वर्धय) और अधिक बढ़ा, पुष्ट कर और (इमं) इसको (विशाम्) प्रजाओं में (एक-वृषं) एकमात्र सब से श्रेष्ठ सभापति रूप में (त्वं) तू (कृणु) बनाले। और (अस्य) इसके (सर्वान्) समस्त (अमित्रान्) शत्रुओं को (निर् अक्ष्णुहि) सर्वथा विनष्ट कर दे। और (तान् सर्वान्) उन सब को (अहम्-उत्तरेषु[1] अस्मै रन्धय) मैं बड़ा २ इस प्रकार के परस्पर के संघर्षों में इसके अधीन कर।

एमं भज ग्रामे अश्वेषु गोषु निष्टं भज यो अमित्रो अस्य।
वर्ष्म क्षत्राणामयमस्तु राजेन्द्र शत्रुं रन्धय सर्वमस्मै ॥ २ ॥

---

[२२] १–(द्वि०) 'वृषामेकवृषं' इति सायणाभिमतः (प्र०) 'क्षत्रियाणाम्' इति तै० ब्रा०।

१. 'अहम्-उत्तरेषु' इत्येकपदं पदपाठे। सायणमते तु, 'अहम्। उत्तरेषु' इति पदद्वयम्।

२–(तृ०) 'वर्ष्मन् क्षत्राणां' (प्र०) 'इमाम् आभज' (द्वि०) 'निरमुं भज' इति पैप्प० सं०। (च०) 'शत्रून् रन्धय' इति क्वचित्।

भा०—हे इन्द्र ! (इमं) इस राजा होने योग्य क्षत्रिय को (ग्रामे) ग्रामों में, जनसमूहों में (आ भज) सब का प्रिय बना दे । और (अश्वेषु गोषु) अश्वों में और गौओं में अर्थात् घुड़सवारों और गोपालकों में भी प्रिय बना, (यः, अस्य अमित्रः) जो इसका शत्रु है (तं निर्भज) उसको ग्राम आदि पदार्थों से पृथक् कर दे । (क्षत्राणाम्) क्षत्रियों और राष्ट्रों के (वर्ष्मे) देह-साम्राज्य में (अयम्) यह (राजा अस्तु) सब का राजा, सब के चित्त का अनुरंजन करने वाला हो । और (अस्मै) इसके (सर्वं) सब (शत्रुं) शत्रुओं को (रन्धय) इसके अधीन कर ।

अयमस्तु धनपतिर्धनानामयं विशां विश्पतिरस्तु राजा ।
अस्मिन्निन्द्र महि वर्चांसि धेह्यवर्चसं कृणुहि शत्रुमस्य ॥ ३ ॥

भा०—(अयम्) यह क्षत्रिय (धनानाम्) नाना प्रकार के सुवर्ण, रजत, मुक्ता, मणि, प्रवाल, धनों का (धन-पति !) कुबेर के समान स्वामी (अस्तु) हो । और (अयम् राजा) यह सब का अनुरंजन करने हारा सब में अधिक प्रकाशमान होकर (विशाम्) सब प्रजाओं का (विश्पतिः) प्रजापति, स्वामी (अस्तु) हो । हे (इन्द्र) सेनापते ! बलपते ! ऐश्वर्यवन् ! (अस्मिन्) इस में (महि वर्चांसि) बड़े २ तेज, शत्रुओं को विजय करने में समर्थ बल पराक्रमों का (धेहि) आधान, स्थापन कर । और (अस्य शत्रुम्) इसके शत्रु को (अवर्चसम्) निस्तेज, निर्बल (कृणुहि) कर ।

अस्मै द्यावापृथिवी भूरि वामं दुहाथां घर्मदुघे इव धेनू ।
अयं राजा प्रिय इन्द्रस्य भूयात् प्रियो गवामोषधीनां पशूनाम् ॥४॥

३–(तृ०) 'अस्मदिन्द्र' इति तै० ब्रा० ।

४–(द्वि०) 'दुघेव', (तृ०) 'भूयाः' (च०) 'ओषधीनामुतापाम्' इति पैप्प० सं० । (प्र०) 'अस्मे' इति तै० ब्रा० ।

भा०—(घर्मदुघे) रस, गोरस प्रदान करने वाली (धेनू इव) कामधेनु गौओं के समान (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी, आकाश और भूमि दोनों अपनी २ सम्पत्तियों से वर्षाओं और अन्न जलों से (भूरि वामं) बहुत सी धन सम्पत्ति को (दुहाथाम्) उत्पन्न करें, प्रदान करें । (अयं राजा) यह राजा (इन्द्रस्य) सेनापति का और परमात्मा का भी (प्रियः) प्यारा (भूयात्) हो और (गवाम्) गौओं का और (ओषधीनां) ओषधियों या प्रजाओं और (पशूनां) पशुओं का भी (प्रियः) प्यारा हो ।

युनज्मि त उत्तरावन्तमिन्द्रं येन जयन्ति न पराजयन्ते ।
यस्त्वा करदेकवृषं जनानामुत राज्ञामुत्तमं मानवानाम् ॥५॥

भा०—सेनापति और राजा को परस्पर मित्र रहने का उपदेश करते हैं । हे राजन् ! (ते) तुझ से (उत्तर-वन्तम्) अधिक सामर्थ्य से युक्त, बलवान् इस (इन्द्रं) सेनापति को (युनज्मि) तेरे अधीन, तेरे कार्य में नियुक्त करता हूं (येन) जिस के सामर्थ्य और आज्ञा से प्रेरित होकर सेना के वीर पुरुष (जयन्ति) शत्रु पर विजय पाते हैं (न परा-जयन्ते) और कभी पराजित नहीं होते हैं । और (यः) जो सेनापति (त्वा) तुझ राजा को (जनानाम्) समस्त जनों में (एक-वृषं) एकमात्र सब से श्रेष्ठ और (मानवानां) मनुष्यों, (राज्ञाम्) और राजाओं में से भी सब से (उत्-तमम्) उत्तम (करत्) बना देता है ।

उत्तरस्त्वमधरे ते सपत्ना ये के च राजन् प्रतिशत्रवस्ते ।
एकवृष इन्द्रसखा जिगीवाञ्छत्रूयतामा भरा भोजनानि ॥ ६ ॥

५–(प्र०) 'तमुत्तरावन्तमिन्द्र' इति पैप्प० सं० । (द्वि०) 'जयासि न पराजयासै' इति तै० ब्रा० । (तृ० च०) सत्वाकरेकवृषभं स्वानामथोराजन्नुत्तमं' इति तै० ब्रा० ।

६–(प्र०) 'अधरे सन्त्वन्ये' इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे (राजन्) प्रजा को अनुरञ्जन करने हारे राजन् ! (त्वम् उत्तरः) तू अपने शत्रुओं से सदा ऊंचा होकर रह और (ते सपत्नाः) तेरे बराबरी का दावा करने वाले (प्रतिशत्रवः) तेरे प्रति शत्रुता दर्शाने वाले (ये के च) जो कोई भी हों वे (ते अधरे) तेरे से नीचे ही रहें। तू (एकवृषः) एकमात्र सब से श्रेष्ठ (इन्द्रसखा) सेनापति का मित्र होकर (शत्रूयतां जिगीवान्) शत्रुओं पर विजय करता हुआ (भोजनानि आभर) अपने राष्ट्र के लिये खाद्य पदार्थों को प्राप्त कर।

सिंहप्रतीको विशो अद्धि सर्वा व्याघ्रप्रतीकोव बाधस्व शत्रून्।
एकवृष इन्द्रसखा जिगीवाञ्छत्रूयतामा खिदा भोजनानि ॥ ७ ॥

भा०—हे राजन् ! तू (सिंहप्रतीकः) सिंह के समान शूरवीर होकर (सर्वाः) समस्त (विशः) प्रजाओं और राष्ट्रों का (अद्धि) भोग कर। और (व्याघ्रप्रतीकः) व्याघ्र के समान बलवान् होकर (शत्रून्) सब शत्रुओं को (अवबाधस्व) पीड़ित कर अपने नीचे दबा (एकवृष इन्द्रसखा) तू एकमात्र सबसे श्रेष्ठ सेनापति का मित्र होकर (शत्रूयताम् आजिगीवान्) शत्रुओं का विजय करता हुआ (भोजनानि आखिद) उनके खाद्य पदार्थों को छीन कर लेआ।

[२३] पापमोचन की प्रार्थना।

मृगार ऋषिः। इतः परं सप्त मृगारसंज्ञानि सूक्तानि तत्र नाना देवताः। ३ पुरस्ताज्ज्योतिष्मती, ४ अनुष्टुप्, ६ प्रस्तार पंक्तिः, १-२, ७ त्रिष्टुभः। सप्तर्चं सूक्तम् ॥

७-(च०) 'शत्रूयतामभितिष्ठा महांसि'। इति पैप्प० सं०।

अ॒ग्नेर्म॑न्वे प्रथ॒मस्य॒ प्रचे॑तसः पाञ्च॑जन्यस्य बहु॒धा यमि॒न्धते॑ ।
वि॒शोवि॑शः प्रवि॒शि॒वांस॑मीमहे॒ स नो॑ मुञ्च॒त्वंह॑सः ॥ १ ॥

भा०—ईश्वर से पाप मोचन करने की प्रार्थना—(यम्) जिसको (बहुधा) ज्ञानी लोग बहुत प्रकारों से और बहुत वार (इन्धते) हृदय-वेदि में एवं तदनुरूप यज्ञवेदि में भी प्रदीप्त करते हैं उस (पाञ्च-जन्यस्य) पाचों जन, पाचों इन्द्रिय, पाचों भूतोंमें समान रूपसे उपासनीय (प्र-चेतसः) उत्कृष्ट ज्ञानवान् (प्रथमस्य) सब के आदिभूत, सर्वश्रेष्ठ (अग्नेः) सब के प्रकाशक परमेश्वर का (मन्वे) मैं मनन करता हूं । और (विशः-विशः) समस्त प्रजाओं में (प्रविशि-वांसम्) उत्तम रूप से या प्रेरक रूप से सर्व-व्यापक होने के कारण अन्तः प्रविष्ट हुए उससे ही हम (ईमहे) यह याचना करते हैं कि (सः) वह (नः) हमें (अंहसः मुञ्चतु) पाप से मुक्त करे । ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और इनसे नीचे की स्थिति के निषाद, मानव समाज के ये पांच विभाग पञ्चजन कहाते हैं ।

यथा॑ ह॒व्यं वह॑सि जातवेदो॒ यथा॑ य॒ज्ञं क॒ल्पया॑सि प्रजा॒नन् ।
ए॒वा दे॒वेभ्यः॑ सुम॒तिं न॒ आ व॑ह॒ स नो॑ मुञ्च॒त्वंह॑सः ॥ २ ॥

भा०—हे (जात-वेदः) समस्त पदार्थों में व्यापक और सब पदार्थों के ज्ञाता प्रभो ! (यथा) जिस प्रकार से तू (हव्यं वहसि) देने और स्वीकार करने योग्य पदार्थ को नाना जीवों और पञ्चभूतों में एक दूसरे के पास ले जाता और समर्पित करता है । और (प्र-जानन्) खूब अच्छी प्रकार सब विधि नियम आदि जानता हुआ (यथा) जिस २ प्रकार से (यज्ञं) इस परस्पर संगत, संसक्त, सृष्टि रूप यज्ञ को (कल्पयासि)

[२३] १–(द्वि०) 'पाञ्चयज्ञस्य' इति पाठः सायणसम्मतः । 'पञ्चजनस्य' इति पैप्प० सं० । 'यं पञ्चजन्यं बहवः समिन्धते' (तृ०) विश्वस्यां विशि प्रविविशिवांसमीमहे इति मै० सं० ।

रचता है, बनाता है, (एवा) उसी प्रकार (नः) हमारे (देवेभ्यः) विद्वानों और ज्ञानी पुरुषों, इन्द्रियों और दिव्य पदार्थों में भी (नः) हमारे लिये (सु-मतिम्) उत्तम शुभ मति को (आ वह) प्राप्त कर । (सः) वह प्रभु (नः) हमें (अंहसः) पाप से (मुञ्चतु) मुक्त करे ।

यामन्यामन्नुपयुक्तं वहिष्ठं कर्मन्कर्मन्नाभगम् ।
अग्निमीडे रक्षोहणं यज्ञवृधं घृताहुतं स नो० ॥३॥

भा०—जिस प्रकार प्रतिदिन यज्ञ और भोजनपाक आदि के अवसर में अग्नि का उपयोग किया जाता है, वही भारी २ गाड़ियों को ढो ले जाता है, हरेक काम में उसका आश्रय लेना पड़ता है उससे शत्रु का विनाश किया जाता है सब यज्ञों को वढ़ाया जाता और घृत की आहुति दी जाती है उसी प्रकार या उससे भी अधिक (यामन् यामन्) प्रत्येक याम=दिन (उपयुक्तं) समीपतम होकर समाधि द्वारा प्राप्त करने योग्य (वहिष्ठं) समस्त संसार को वहन करने में सब से बड़ी शक्ति, (कर्मन् कर्मन्) प्रत्येक काम में (आभगम्) सब प्रकार से सेवा करने योग्य (रक्षोहणं) विघ्नों और विघ्नकर्ताओं के विनाशक (यज्ञवृधं) देवपूजा, दान संगति-करण आदि शुभ कार्यों के प्रवर्तक (घृताहुतं) घृत=तेज=दीप्ति से सर्वत्र प्रकाशित उस (अग्निं) अग्नि की (ईडे) स्तुति करता हूं (सः नः मुञ्चतु अंहसः) वह ईश्वर हमें पाप से मुक्त करे ।

सुजातं जातवेदसमग्निं वैश्वानरं विभुम् ।
हव्यवाहं हवामहे स० ॥ ४ ॥

भा०—(सु-जातं) सब पदार्थों में उत्तम रूप, शोभन रूप में प्रकट होने वाले (जातवेदसं) सब पदार्थों में व्यापक, सर्वज्ञ, सर्वस्वामी,

३–' अग्निमीडे ' इत्यन्ता पादसमाप्तिरिति केचित् । ' आभगम् ' इत्यन्तेति प्रायः सर्वत्र ।

(विभुम्) सर्वव्यापक, अनन्त (वैश्वानरं) समस्त प्राणियों में प्रवर्तक रूप से विद्यमान (हव्यवाहं) सब को अन्न प्राप्त कराने हारे उस (अग्निं) अग्नि को (हवामहे) हम स्तुति और उपासना करते हैं । (सः नः अंहसः मुञ्चतु) वह हमें पाप से मुक्त करे ।

येन ऋषयो वलमद्योतयन् युजा येनासुराणामयुवन्त मायाः ।
येनाग्निना पणीनिन्द्रो जिगाय स० ॥ ५ ॥

भा०—जिस प्रकार इस अग्नि की सहायता से बल या शक्ति को पदार्थ-विज्ञानवेत्ता उत्पन्न करलेते और नाना प्रकार के वल सामर्थ्य के अद्भुत चमत्कारी कार्य करते हैं और दुष्टों का विनाश करते हैं उसी प्रकार (येन) जिस परमात्मा के (युजा) सहायक होने से (ऋषयः) विज्ञान के सत्य तत्वों को गहराई पर भी देख लेने वाले (वलम्) अपने परम आत्मसामर्थ्य को (अद्योतयन्) प्रकाशित करते हैं । और (येन) जिसकी सहायता से (असुराणाम्) प्राणों में रमण करने वाली इन्द्रियों की (मायाः) ज्ञान और कर्म वृत्तियों को (अयुवन्त) पृथक् २ कर के उनको वश करते हैं । अथवा असुर वलवान् प्राणों के वेगों को वश करते हैं । और (येन) जिस (अग्निना) अग्नि के वल पर (इन्द्रः) जीव (पणीन्) व्यवहार करने वाले इन्द्रियों को (जिगाय) वश करता है । (सः नः अंहसः मुञ्चतु) वह हमें पाप से मुक्त करे ।

येन देवा अमृतमन्वविन्दन् येनौषधीर्मधुमतीरकृण्वन् ।
येन देवाः स्वराभरन्त्स० ॥ ६ ॥

भा०—(येन) जिस परमेश्वर की सहायता से (देवाः) विद्वान् लोग (अमृतम्) मोक्षसुख को (अनु-अविन्दन्) प्राप्त करते हैं और

५-(प्र०) 'येनर्षयो नलमियोतयन्' इति पैप्प० सं० ।

(येन) जिस से (ओषधीः) ओषधियों को और मानस वृत्तियों को (मधुमतीः) मधुर रस से युक्त और आनन्दप्रद (अकृण्वन्) बना लेते हैं और (देवाः) विद्वान् ज्ञानी गण (येन) जिस से (स्वः) उस सुख मय लोक को (आभरन्) प्राप्त करते हैं । (सः नः अंहसः मुञ्चतु) वह हमें पाप से मुक्त करे ।

यस्येदं प्रदिशि यद् विरोचते यज्जातं जनितव्यं च केवलम् ।
स्तौम्यग्निं नाथितो जोहवीमि स नो मुञ्चत्वंहसः ॥ ७ ॥

भा०—(इदं) यह समस्त जगत् (यद् विरोचते) जो नाना प्रकार से शोभा दे रहा है (यत् जातं) जो उत्पन्न हुआ और (जनितव्यं च) जो उत्पन्न होगा वह सब (केवलम्) विना किसी अन्य की अपेक्षा किये एक मात्र, (यस्य प्रदिशि) जिसके उत्कृष्ट शासन में है । (नाथितः) पापों के फल रूप दुखों से संतप्त होकर मैं जीव उस (अग्निं) अग्नि स्वरूप पाप प्रदाहक तेजोमय देव की (स्तौमि) स्तुति करता हूं और (जोहवीमि) वार २ पुकार करता हूं । (सः नः अंहसः मुञ्चतु) वह हमें हमारे पापों से मुक्त करे ।

[२४] पापमोचन की प्रार्थना ।

द्वितीयं मृगारसूक्तम् । १ शाक्करगर्भा पुरःशक्करी । २—७ त्रिष्टुभः । सप्तर्चं सूक्तम् ॥

७–(प्र० द्वि०) 'यस्येदं प्राणन्निमिषद् यदेजति यस्य जातं जनमानं च केवलम्' इति मै० सं० ।

इन्द्रस्य मन्महे शश्वदिदस्य मन्महे वृत्रघ्न स्तोमा उप मेम आगुः।
यो दाशुषः सुकृतो हवमेति स नो मुञ्चत्वंहसः ॥ १ ॥

भा०—(इन्द्रस्य) ऐश्वर्यशील परमेश्वर का (मन्महे) हम मनन करते हैं। (अस्य इद्) इस परमेश्वर का ही हम (शश्वत्) अनादिकाल से बराबर (मन्महे) विचार करते चले आये हैं। (वृत्र-घ्नः) सब विघ्नों और तामस आवरणों को विनाश करने वाले उस ज्योतिःस्वरूप की (स्तोमाः) स्तुतियां या यथार्थ गुण वर्णन ही (इमे) ये सब (मा) मुझे (उप आगुः) प्राप्त होते हैं, प्रकट होते, सत्य प्रतीत होते हैं। (यः) जो परमेश्वर (दाशुषः) दानशील, आत्मसमर्पक (सु-कृतः) शुभ कर्म कर्त्ता पुरुष की (हवम्) पुकार को सुन कर (एति) उसका सहायक हो कर उसको प्राप्त होता है (सः नः) वह हमें (अंहसः) पाप से (मुंचतु) छुड़ावे।

य उग्रीणामुग्रबाहुर्ययुर्यो दानवानां बलमारुरोज।
येन जिताः सिन्धवो येन गावः स० ॥ २ ॥

भा०—(यः) जो परमेश्वर (उग्र-बाहुः) बलशाली भुजा वाला, सर्व शक्तिमान् होकर (उग्रीणां) उग्र शक्तियों का (ययुः) परस्पर संगत करके एक साथ चलाने वाला है और (यः) जो (दानवानां) छेदन भेदन करने वाले या परस्पर को एक दूसरे में समर्पित कर देने वाले दानव=

[२४] १–(प्र०) 'इन्द्रस्य मन्वे शश्वद् यस्य मन्विरे' इति पैप्प० सं० ; 'इन्द्रस्य-मन्वे प्रथमस्य प्रचेतसः' (द्वि०) 'उप मामुपागुः' (तृ०) 'हव-मुपगन्ता' इति मै० सं० ।

२–(प्र०) 'योग्राणामुग्रबाहुर्योदा-' (द्वि०) 'बलमाससाद' इति पैप्प० सं० । (प्र०) 'युयुर्यो' इति सायणाभिमतः ।

पञ्चभूतों के (बलं) बल सामर्थ्यों को शत्रुओं की सेना बल के समान (आ-रुरोज) शिथिल करता, तोड़ डालता है। और (येन) जिस ने (सिन्धवः) बहने वाली नदियों को भी (जिताः) वश कर लिया है और (येन) जिसने (गावः) गौओं, पृथिवियों, सूर्यों एवं गतिमान पिण्डों को भी वश में किया है (सः नः) वह परमेश्वर हमें (अंहसः मुञ्चतु) पाप से मुक्त करे।

यश्चर्षणिप्रो वृषभः स्वर्विद् यस्मै ग्रावाणः प्रवदन्ति नृम्णम्।
यस्याध्वरः सप्तहोता मदिष्ठः स० ॥ ३ ॥

भा०—(यः) जो (चर्षणि-प्रः) मनुष्यों को पूर्ण करने वाला, (वृषभः) सब सुखों का वर्षक, (स्वः-विद्) सुख, आनन्द, मोक्ष, प्रकाश का प्राप्त कराने वाला है। (यस्मै) जिसके (ग्रावाणः) ज्ञानी, स्तुतिकर्त्ता, विद्वान् लोग (नृम्णम्) ऐश्वर्य का (प्र-वदन्ति) वर्णन किया करते हैं। (यस्य) जिसके (अध्वरः) कभी नष्ट न होने वाला संसारमय यज्ञ (सप्त-होता) सात होताओं द्वारा सम्पादित होता है। (सः) वह (मदिष्ठ) सब से अधिक आनन्द देने हारा परमेश्वर (नः) हमें (अंहसः) पाप से (मुञ्चतु) मुक्त करे।

यस्य वशास ऋषभास उक्षणो यस्मै मीयन्ते स्वरवः स्वर्विदे।
यस्मै शुक्रः पवते ब्रह्मशुम्भितः स० ॥ ४ ॥

भा०—जिस प्रकार यज्ञ में गौएं, बैल और यूपशकल और मन्त्रों से संस्कृत सोम उस प्रजापति की अर्चना के निमित्त हैं उसी प्रकार

३–(प्र०) 'प्रचर्षणिः' (तृ०) 'यस्याध्वर्युः सप्तहोतामुदिच्युत्' इति पैप्प० सं०।

४–(तृ०) 'यस्मिन् शुक्रः प्रवर्त्तते' इति पैप्प० सं०।

(यस्य) जिसके निमित्त (वशासः) मोटे तथा उनके समान शरीर में वशीकृत इन्द्रियां और ब्रह्माण्ड और उसके वश में चलने वाली शक्तियां, (उक्षाणः) वीर्य सेचन और जल सेचन में समर्थ वैल और मेघ (ऋषभासः) और ऋषभ, श्रेष्ठ पुरुष हैं और (यस्मै) जिस (स्वः-विदे) स्वः= विशाल प्रकाश, या तेजोमय लोक में व्यापक परमात्मा की शक्ति से (स्वरवः) समस्त सूर्य (मीयन्ते) गतिकर रहे हैं । और यस्मै जिसकी व्यवस्था में (ब्रह्म-शुम्भितः) ब्रह्म=प्रकृति या वेदमय ज्ञान से शुम्भितः भासमान होता हुआ (शुक्रः) यह तेजोमय रूप में (पवते) प्रकाशित होता है ।

यस्य जुष्टिं सोमिनः कामयन्ते यं हवन्त इषुमन्तं गविष्टौ ।
यस्मिन्नर्कः शिश्रिये यस्मिन्नोजः स० ॥ ५ ॥

भा०—(सोमिनः) आत्मवान्, ज्ञानी, सोम रस का आस्वादन करने वाले विद्वान् (यस्य) जिसके (जुष्टिं) प्रेम, कृपा की (कामयन्ते) आकांक्षा करते हैं (यं) जिस (इषुमन्तं) सर्व कामनामय या सर्व शक्तिमान् परमेश्वर को (गविष्टौ) गो—वेद वाणियों को प्राप्त करने या ज्ञानरश्मियों को प्राप्त करने पर (हवन्ते) स्तुति करते हैं । (यस्मिन्) जिसमें (अर्कः) तेजःस्वरूप महान् सूर्य (शिश्रिये) आश्रय लेता है और जिस में (ओजः) सब बल और कान्ति विद्यमान है, (सः नः) वह हमें (अंहसः मुञ्चतु) पाप से मुक्त करे ।

यः प्रथमः कर्मकृत्याय जज्ञे यस्य वीर्यं प्रथमस्यानुबुद्धम् ।
येनोद्यतो वज्रोऽभ्यायताहिं स० ॥ ६ ॥

५–(द्वि०) 'इषुवन्तं' इति पैप्प० सं० ।

६–' यद्धे ' इति क्वचित् ।

भा०—(यः) जो इन्द्र परमेश्वर (प्रथमः) सब से प्रथम, श्रेष्ठ (कर्म-कृत्याय) इस संसार की रचना करने के लिये (जज्ञे) सब से प्रथम प्रादुर्भूत एवं मूलकारण रूप में विद्यमान था। और (यस्य) जिस (प्रथमस्य) आदिकारण का (वीर्यं) बल, शक्ति, सामर्थ्य (अनु-बुद्धम्) संसार को देख लेने के बाद विद्वानों ने जाना। (येन उद्यतः) जिससे उठाया गया (वज्रः) प्रेरक बल (अहिं) अहिंस्य, अनादिकालसिद्ध प्रकृति तत्व को (अभि-आयत) सब प्रकार से वश करता है। (सः) वह (नः) हमें (अंहसः मुञ्चतु) पाप से मुक्त करे।

यः स॒ङ्ग्रा॒मान् नय॑ति॒ सं यु॒धे व॒शी यः पु॒ष्टानि॑ संसृ॒जति॑ द्व॒यानि॑ ।
स्तौमीन्द्रं॑ ना॒थि॒तो जो॑हवीमि॒ स नो॑ मुञ्च॒त्वंह॑सः ॥ ७ ॥

भा०—(यः) जो (वशी) सब पर वश करने हारा, स्वतः, स्वतन्त्र होकर सेनाओं को सेनापति के समान (सम्-ग्रामान्) जनसमूहों को (युधे) युद्ध करने के लिये (सं नयति) उचित मार्ग से ले जाता है अर्थात् जो ईश्वर सेनापति के समान अपने जीवनसंग्राम में आगे बढ़ने का रास्ता सब प्राणियों को दिखाता है और (यः) जो (द्वयानि) दो दो के जोड़ों को (पुष्टानि) हृष्ट पुष्ट करके सन्तानोत्पन्न करने के लिये (सं-सृजति) तैयार करता है। उस (इन्द्रं) परमेश्वर को मैं (नाथितः) दुःखों से पीड़ित होकर (स्तौमि) स्तुति करता हूं और (जोहवीमि) बार बार पुकारता हूं (सः नः) वह हमें (अंहसः मुञ्चतु) पाप से मुक्त करे।

७–(द्वि०) 'पुष्ट्या नः' इति पैप्प० सं०।

[२५] पापमोचन की प्रार्थना ।

तृतीयं मृगारसूक्तम् । ३ अतिशाक्करगर्भा जगती, ७ पथ्याबृहती, १, २, ४–६ त्रिष्टुभः । सप्तर्चं सूक्तम् ॥

वायोः सवितुर्विदथानि मन्महे यावात्मन्वद् विशथो यौ च रक्षथः ।
यौ विश्वस्य परिभू बभूवथुस्तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ १ ॥

भा०—ईश्वर की वायु और सविता रूप से स्तुति करते हैं । (वायोः) वायु के समान जगत् के आधार भूत, जगत् के प्राण, प्रेरक (सवितुः) और सूर्य के समान उत्पादक परमेश्वर के (विदथानि[1]) ज्ञान करने योग्य परमात्माके ज्ञापक गुणोंको (मन्महे) हम मनन करते हैं । (यौ) जो परमात्मा के ये दोनों उत्पादक और प्रेरक रूप (आत्मान्वद्) आत्मा से युक्त चेतन तुम दोनों (जगत्) जंगम जगत् में (विशथः) प्राण रूप होकर और वीर्य रूप होकर प्रविष्ट रहते हो (च) और (रक्षथः) उनको विनष्ट होने से रक्षा करते एवं बचाते हो । हे दोनों गुणो ! तुम दोनों (विश्वस्य) समस्त विश्व के (परिभू) सर्वत्र व्यापक (बभूवथुः) होकर रहते हो (तौ नः मुञ्चतम् अंहसः) वे तुम दोनों हमें अंहः=पाप से मुक्त करो । परमात्मा सब का उत्पादक और प्रेरक है वह प्राण और वीर्य रूप में समस्त चेतन शरीरों में विद्यमान है, यह विचार कर मनुष्य अपने प्राणों के समान अन्य के प्राणों पर अत्याचार न करे और अपने वीर्य को दिव्यांश जानकर कामांगों से पाप न करे ।

---

[२५] १–(द्वि०) ' विश्नतो यौ च रक्षतः ' इति मै० सं० ।

१. विदथानि वेदनानि गुणविषयज्ञानानि । यद्वा विदथानि वेदितव्यानि श्रुतिविहितकर्माणि ' इति सायणः ।

यथोः सङ्ख्याता वरिमा पार्थिवानि याभ्यां रजो युपितमन्तरिक्षे ।
यथोः प्रायं नान्वानशे कश्चन तौ० ॥ २ ॥

भा०—जिस प्रकार वायु और सूर्य पृथिवी पर होने वाले बड़े कार्यों को कर दिखाते हैं और जिस प्रकार दोनों मिलकर अन्तरिक्ष रजः=वर्षा-जलों और धूलिपटलों को ऊपर उठा लेते हैं और इनकी उच्चगति को कोई अन्य पदार्थ नहीं प्राप्त कर सकता उसी प्रकार ईश्वर की भी ये दो शक्तियां हैं वात और सविता । (यथोः) जिनके (पार्थिवानि) पृथिवी पर होने वाले (वरिमानि) बड़े २ कामों को (सं-ख्याता) गिना जाता है । (याभ्यां) जिन दोनों शक्तियों के द्वारा (अन्तरिक्षे) इस पोल रूप आकाश भाग में (रजः) जलमय मेघ, ज्योतिमय सूर्यादि लोक और निहारिका रूप आकाश-गंगा आदि पदार्थ (युपितम्) निःशंक खड़े हैं । और (यथोः) जिन से (प्रायं) ऊंचे प्रदेश में (कश्चन) और कोई भी (न) नहीं (अनु-आनशे) जासकता (तौ) वे दोनों ईश्वरीय सामर्थ्य (नः) हमें (अंहसः) पाप से (मुञ्चतम्) मुक्त करें ।

तव व्रते नि विशन्ते जनासस्त्वय्युदिते प्रेरते चित्रभानो ।
युवं वायो सविता च भुवनानि रक्षथस्तौ० ॥ ३ ॥

भा०—हे (चित्रभानो) विचित्र प्रभा से युक्त, सूर्य के समान दीप्तिमान् परमेश्वर ! (तव व्रते) तेरे व्रत, नियमव्यवस्था में रहकर (जनासः) समस्तजन (नि विशन्ते) नियम से व्यवस्थित होकर रहते हैं । और (त्वयि उदिते) तेरे हृदय में उदय होने पर ज्ञान से प्रकाशित होने पर (प्रेरते) उत्कृष्ट पथ में गति करते हैं । हे (वायो) सब के प्रेरक ! सर्वाधार !

२–(प्र०) 'वरिमाणि पार्थिवा', (द्वि०) 'रजो गुस्थितमन्तरिक्षे' (तृ०) 'यथोः प्रयाम्' इति पैप्प० सं० ।

३–(तृ०) 'यच्छतः' इति पैप्प० सं० ।

तू और हे सर्वोत्पादक ! तू दोनों रूपों से (भुवनानि रक्षथः) समस्त लोकों की रक्षा करता है । (तौ) वे दोनों ईश्वरीय शक्तियां (नः) हमें (अंहसः मुञ्चताम्) पाप से मुक्त करें ।

अपेतो वायो सविता च दुष्कृतमप रक्षांसि शिमिदां च सेधतम् ।
सं ह्यू३र्जया सृजथः सं बलेन तौ० ॥ ४ ॥

भा०—हे (वायो) सर्व प्रेरक परमेश्वर ! और (सविता च) सर्वोत्पादक परमेश्वरीय शक्ते ! तुम दोनों (दुःष्कृतम् अपेतः) बुरे किये कर्मों को उसी प्रकार दूर कर देते हो जैसे वायु प्रबल वेग से मल और रोगकारी वायुओं और कूड़ों को दूर कर देता है और जैसे सूर्य अपनी तीव्र किरणों से मल आदि पदार्थों को शुष्क करके हर लेता है । और ये दोनों शक्तियां (रक्षांसि) सब विघ्नों और (शिमिदाम् च) पीड़ा को (अप सेधतम्) दूर करते हो और तुम दोनों (ऊर्जया) अन्न रस से पूर्ण पुष्टि और प्राण सामर्थ्य से (सं सृजथः) युक्त करते हो, जीवन देते और (बलेन संसृजथः) बल से भी सम्पन्न करते हो । (तौ) वे दोनों ईश्वरीय रूप (नः) हमें (अंहसः) पाप से (मुञ्चतम्) मुक्त करे ।

रयिं मे पोषं सवितोत वायुस्तनू दक्षमा सुवतां सुशेवम् ।
अयक्ष्मतातिं मह इह धत्तं तौ० ॥ ५ ॥

भा०—(सविता) सूर्य (उत वायुः) और वायु=जिस प्रकार (मे) मेरे शरीर में (रयिं) वीर्य को और (पोषं) पुष्टि को प्रदान करते हैं और वे दोनों जिस प्रकार (मे तनू) मेरे शरीर में (दक्षं) बल को उत्पन्न करते हैं और (अयक्ष्मतातिं) यक्ष्म=रोग जन्तु से उत्पन्न राज रोगों से मुक्त करने वाले तेज को धारण कराते हैं उसी प्रकार ईश्वर के उक्त दोनों सामर्थ्य (मे

४-(तृ०) 'सृजथ सं' इति बहुत्र । (द्वि०) 'समिदाम्' इति क्वचित् ।

त्तनू रयिं पोषं) मेरे शरीर में वीर्य और पुष्टि का प्रदान करें और (सु-शेवं) उत्तम सुख रूप में सेवन करने योग्य (दक्षं) बल और ज्ञान को (आ सुवतां) उत्पन्न करें। और (इह) यहां इस लोक में (अयक्ष्मतातिम् महः) रोग रहित तेज वा कान्ति को प्रदान करें (तौ) वे दोनों ईश्वरीय शक्तियां प्रादुर्भूत होकर (नः) हमें (अंहसः मुञ्चतम्) पाप से भी मुक्त करें।

प्र सु॑म॒तिं स॑वितर्वाय ऊ॒तये॒ मह॑स्वन्तं मत्स॒रं मा॑दयाथः ।
अ॒र्वाग् वा॒मस्य॑ प्र॒वतो॒ नि य॑च्छतं तौ० ॥ ६ ॥

भा०—हे सवितः ! हे वायो ! आप दोनों ईश्वरीय शक्तियां (ऊतये) हमारी रक्षा के निमित्त (सु-मतिं) उत्तम बुद्धि, शक्ति को (प्रयच्छतं) उत्तम रीति से प्रदान करे। आप दोनों (महस्वन्तं) तेज से युक्त (मत्सरं) आनन्ददायक आत्मा को (मादयाथः) परितृप्त करते हो। (प्र-वतः) प्रकर्ष गति से जाने हारे (वामस्य) इस सुन्दर जीव को (अर्वाक्) साक्षात् सब उत्कृष्ट सुखों को (नियच्छतं) प्रदान करो। (तौ) वे दोनों आप (नः) हमें (अंहसः) पाप से (मुञ्चतम्) मुक्त करें।

उप॒ श्रेष्ठा॑ न आ॒शिषो॑ दे॒वयो॒र्धाम॑न्नस्थिरन् ।
स्तौमि॑ दे॒वं स॑वि॒तारं॑ च वा॒युं तौ नो॑ मुञ्चत॒मंह॑सः ॥ ७ ॥

भा०—(नः) हमारी (श्रेष्ठाः आ-शिषः) उत्कृष्ट ये शुभ प्रार्थनाएं (देवयोः) उक्त दोनों दिव्य, दानशील देवों के (धामन्) धारण करने हारे परम तेजःस्वरूप परमेश्वर में ही (उप अस्थिरन्) पहुंचती हैं।

६–(द्वि०) 'मादयेताम्' (तृ०) 'प्रवता नियच्छतः' इति पैप्प० सं०।
७–(प्र०) 'नाशिषो' इति पैप्प० सं०। 'आशिरः' इति मै० सं०। (द्वि०) 'धर्मा अस्थिरन्' मै० सं०। (तृ०) 'स्तौमि वायुं सवितारं नाथितो जोहवीमि' इति पैप्प० सं०, मै० सं०।

(सवितारं) सविता=सब के उत्पादक स्वरूप परमात्मा और (वायुं च देवं) सब के प्रेरक देव प्रभु को ही स्तुति करता हूं । (तौ) वे दोनों रूप ही (नः) हमें (अंहसः मुञ्चतम्) पाप से मुक्त करें ।

इस सूक्त में सूर्य और वायु के भी गुण स्पष्ट किये हैं । दृष्टान्त देकर दार्ष्टान्त में ईश्वर के गुण भी स्पष्ट कहे हैं । इससे प्रजापति के सूर्य और वायु के समान, अन्य युगल रूपों का भी वर्णन हुआ जानना चाहिये ।

[२६] पापमोचन की प्रार्थना ।

मृगार ऋषिः । तृतीयं मृगारसूक्तम् । १ पुरोष्टिर्जगती, शक्वरगर्भातिमध्येज्योतिः, २—७ त्रिष्टुभः । सप्तर्चं सूक्तम् ॥

मन्वे वां द्यावापृथिवी सुभोजसौ सचेतसौ ये अप्रथेथाममिता योजनानि । प्रतिष्ठे ह्यभवतं वसूनां ते नो मुञ्चतमंहसः ॥ १ ॥

भा०—पूर्वोक्त प्रकार से ही द्यौ और पृथिवी या सूर्य और पृथिवी इनका भी वर्णन करते हैं । हे (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी, माता और पिता, नर और नारी के समान (वां) तुम दोनों का मैं (मन्वे) मनन करता हूं । आप (सु-भोजसौ) उत्तम रीतिसे समस्त संसार के प्राणियों को नाना भोग देने हारे (स-चेतसौ) समान चित्त हुए हुए हो । (ये) जो तुम दोनों (अमिता) अपरिमित (योजनानि) योजनों, दूरी तक (अप्रथेथाम्) विस्तृत हो । तुम दोनों (वसूनां) वास करने वाले प्राणियों और सूर्य आदि लोकों की (प्रतिस्थे) प्रतिष्ठा, आश्रय (हि अभवतम्) ही रहते हो । (ते) वे तुम दोनों (नः) हमें (अंहसः) पाप से (मुञ्चतम्) मुक्त

[२६] १—' अप्रथेताम् ' इति क्वचित् ।

करो । ईश्वर ने मा बाप के समान द्यौ और पृथिवी अपरिमित विस्तृत और अन्नदाता बनाया, यह जान कर मनुष्य-हत्या आदि पापों में न पड़े ।

प्रतिष्ठे ह्यभवतं वसूनां प्रवृद्धे देवी सुभगे उरूची ।
द्यावापृथिवी भवतं मे स्योने ते० ॥ २ ॥

भा०—हे द्यौ और पृथिवी आप दोनों (वसूनां प्रतिस्थे हि अभवतम्) वास करने वाले लोकों और प्राणियों के आश्रय स्थान हो । क्योंकि आप दोनों (प्रवृद्धे) बड़े विशाल (सुभगे) उत्तम ऐश्वर्य से युक्त (उरूची) ऊरु=विशाल प्रकृति में व्यापक हैं । हे (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी तुम दोनों मेरे लिये (स्योने) सुखकारी (भवतं) हो और (ते) वे दोनों (नः) हमें (अंहसः मुञ्चतम्) पाप से मुक्त करें । द्यौ और पृथिवी=माता पिता, राजा और प्रजा ।

असन्तापे सुतपसौ हुवेहमुर्वी गम्भीरे कविभिर्नमस्ये' ।
द्यावा० ॥ ३ ॥

भा०—(द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी आप दोनो ! (असम्-तापे) स्वयं संताप रहित (सु-तपसौ) उत्तम तप से युक्त (उर्वी) विशाल (गम्भीरे) गम्भीर और (कविभिः) विद्वानों क्रान्त-दर्शी तत्वज्ञानियों द्वारा (नमस्ये) आदर से देखे जाने योग्य हो । (मे स्योने भवतम्) आप दोनों मेरे लिये सुखकारी हों (ते नः अंहसः मुञ्चतम्) वे दोनों हमें पाप से मुक्त करें ।

२–(प्र०) 'प्रतिष्ठे हि बभूवथुः' (द्वि०) 'प्रविद्धे' इति सायणः । (तृ०) 'भवतं स्योने' इति सायणः ।

३–(प्र०) ' हुवे वाम् ' इति पैप्प० सं० ।

ये अमृतं विभृथो ये हवींषि स्रोत्या विभृथो ये मनुष्यान् ।
द्या० ॥ ४ ॥

भा०—(ये) जो द्यौ और पृथिवी (अमृतं) अमृत, जीवन को धारण करते हैं (ये स्रोत्या) जो नदी आदि के प्रवाहों को धारण करते हैं और (ये मनुष्यान्) जो मनुष्यों को पालन पोषण करते हैं वे (द्यावा पृथिवी मे स्योने भवतं) द्यौ और पृथिवी मेरे लिये सुखकारी हों । (ते नः अंहसः मुञ्चतम्) वे हमें पाप से मुक्त करें । समाज में माता और पिता देह में प्राण और अपान, राष्ट्र में राजा, प्रजा, सूर्य और पृथिवी द्यौ और पृथिवी के नाम से कहे जाते हैं ।

ये उस्रिया बिभृथो ये वनस्पतीन् ययोर्वां विश्वा भुवनान्यन्तः ।
द्या० ॥ ५ ॥

भा०—(ये) जो तुम दोनों द्यौ और पृथिवी (उस्रियाः बिभृथः) गौओं को पालन करती हो, (ये वनस्पतीन्) जो तुम दोनों सब वृक्ष वनस्पतियों को पालन करती हो, (ययोः अन्तः) जिन दोनों के बीच में (विश्वा भुवनानि) समस्त भुवन विद्यमान हैं वे द्यौ और पृथिवी (मे स्योने भवतम्) मुझे सुखकारी हों (ते नः अंहसः मुञ्चतम्) वे दोनों हमें पाप से मुक्त करें ।

ये कीलालेन तर्पयथो ये घृतेन याभ्यामृते न किं चन शक्नुवन्ति ।
द्यावापृथिवी भवतं मे स्योने ते० ॥ ६ ॥

भा०—हे द्यौ और पृथिवी ! तुम (ये) जो दोनों (कीलालेन) अन्न से समस्त संसार को (तर्पयथः) तृप्त करती हैं (ये घृतेन) और जो दोनों घृत=तेज से समस्त विश्व को पूरित करती हैं । (याभ्याम् ऋते) जिन के बिना (किंचन न) कुछ भी नहीं (शक्नुवन्ति[1]) कर सकते । (मे स्योने

१. 'शक्नुऽवन्ति भृति' क्वचित्पदपाठः । (प्र०) 'मेकीलालैः' इति पैप्प० सं० ।

भवतं) तुम दोनों मुझे सुखकारी हों (ते नः अंहसः मुञ्चतम्) वे दोनों हमें पाप से मुक्त करें ।

यन्मेदमभि शोचति येनयेन वा कृतं पौरुषेयान्न दैवात् ।
स्तौमि द्यावापृथिवी नाथितो जोहवीमि ते नो मुञ्चतमंहसः ॥७॥

भा०—(यत्) जो (मा) मुझ को (इदम्) यह मेरा किया कर्म (अभि-शोचति) हर तरफ से सन्ताप देता है और (येन येन वा) जिस जिस कारण से प्रेरित होकर (कृतम्) किया हुआ कर्म मुझे सताता है जो कर्म (पौरुषेयात्) पुरुष=आत्मा या पुरुषों के किये संकल्प से उत्पन्न जो कर्म मुझे सन्ताप देता है जो (न दैवात्) देव—ईश्वरीय काम नहीं है । उनसे (नाथितः) पीड़ित होकर मैं (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी इन के सामान परिपालक गुण वाले ईश्वरीय शक्तियों की मैं (स्तौमि) स्तुति करता हूं और (जोहवीमि) उनको पुकारता हूं कि (ते नः अंहसः मुञ्चतम्) वे दोनों हमें पाप से मुक्त करें ।

[२७] पापमोचन की प्रार्थना ।

मृगार ऋषिः । नाना देवताः । पञ्चमं मृगार सूक्तम् । १-७ त्रिष्टुभः ।
सप्तर्चं सूक्तम् ॥

मरुतां मन्वे अधि मे ब्रुवन्तु प्रेमं वाजं वाजसाते अवन्तु ।
आशूनिव सुयमानह्व ऊतये ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १ ॥

७-(द्वि०) ' पौरुषयं न दैव्यम् ' इति पैप्प० सं० ।

[२७] १-(द्वि०) ' वाजसाताऽवन्तु ' इति पैप्प० सं० । (तृ०) ' सुयमानह्व इति क्वचित् । (प्र०) ' अंशूनिव ' इति सायणाभिमतः ।

भा०—पाप से मुक्त होने के लिये विद्वानों, रक्षकों और प्राणरूप मरुतों का वर्णन करते हैं। (मरुतां) मरुतों, वायुओं और उन विद्वानों के विषय में मैं (मन्वे) मनन करता हूं कि वे (मे अधिब्रुवन्तु) मुझ पर शासन करें और उपदेश करें और (वाजसाते) ज्ञानप्रदान काल में या संग्राम में (इमम् वाजम्) इस ज्ञान और बल को अन्न के साथ (प्र अवन्तु) अच्छी प्रकार सुरक्षित रखें । मैं ऐसे विद्वानों को (सुयमान् आशून् इव) उत्तम रीति से वश करने योग्य वेगवान् घोड़ों के समान (ऊतये) अपनी रक्षा के लिये (अह्वे) बुलाता हूं, स्मरण करता हूं। (ते नः अंहसः मुञ्चन्तु) वे हमें पाप से मुक्त करें। 'मरुतः=प्राणाः, भटः, विद्वांसः'।

उत्समक्षितं व्यचन्ति ये सदा य आसिञ्चन्ति रसमोषधीषु ।
पुरो दधे मरुतः पृश्निमातॄंस्ते० ॥ २ ॥

भा०—मैं (पृश्नि-मातॄन्) प्रश्नि=वाणी माता सरस्वती या ज्ञान-सूर्य या पृथिवी माता की गोद से उत्पन्न हुए (मरुतः) वायुओं के समान सर्वोपकारक विद्वानों को (पुरः) साक्षात् (दधे) आदर से हृदय में धारता हूं, उनको साक्षी पुरोहित करता हूं। (ये) जो विद्वान् गण (अक्षितं) अविनाशी (उत्सं) ज्ञान प्रवाह को (वि-अचन्ति) विस्तारित करते हैं और (सदा) निरन्तर (ये) जो लोग (ओषधीषु) ओषधियों में से (रसं) रस निकाल कर (आ-सिञ्चन्ति) जनों को पिलाते हैं अथवा ओषधियों में ही नाना रसों को प्रवेश कराते हैं (तेनः०) वे हमें पाप से मुक्त करें। वायुओं के पक्ष में—जो वायुएं मेघ से अक्षय (उत्सं) जल कोष को फैलाते हैं और वनस्पतियों में रसों को बरसाते हैं ऐसे (पृश्निमातॄन्) मध्यमिका वाक्=विद्युत् माता से उत्पन्न या आकाश में व्यापक इन तत्वों को मैं साक्षात् अपने वश करता हूं। दोनों पक्षों में विशेषणों का श्लेष स्पष्ट है।

२–(तृ०) 'पृश्निमातॄस्ते' इति क्वचित् ।

पयो धेनूनां रसमोषधीनां जवमर्वतां कवयो य इन्वथ ।
शग्मा भवन्तु मरुतो नः स्योनास्ते० ॥ ३ ॥

भा०—वे (मरुतः) मरुद्गण (शग्माः) शक्तिमान् होकर (नः) हमारे लिये (स्योनाः) सुखकारी हों । जो (धेनूनां) गौओं के (पयः) दूध को (ओषधीनां रसम्) ओषधियों के रस को, और (अर्वताम्) घोड़ों के (जवम्) वेग को (कवयः) क्रान्तदर्शी, तत्वज्ञानी होकर (इन्वथ) स्वयं प्राप्त करते, वश करते, एवं उपयोग करते हैं । (ते नः अंहसः मुञ्चन्तु) वे हमें पापों और कष्ट से बचावें । वायु पक्ष में—जो वायुएं (धेनूनां पयः) गौओं और सूर्य-रश्मियों में दूध और जल को लातीं, (ओषधीनां रसम्) ओषधियों में रस उत्पन्न करती, (अर्वतां जवम्) अश्व आदि पशुओं में वेग और स्वस्थता को उत्पन्न करतीं हैं वे हमें सुखकारी हों, वे हमें कष्ट से बचावें । अध्यात्म में—धेनू=ज्ञानेन्द्रिय ओषधि=केशलोम, अर्वन्तः=कर्मेन्द्रियें और मरुतः=प्राण ।

अपः समुद्राद् दिवमुद् वहन्ति दिवस्पृथिवीमभि ये सृजन्ति ।
ये अद्भिरीशाना मरुतश्चरन्ति ते० ॥ ४ ॥

भा०—जिस प्रकार मरुत्गण (समुद्राद्) समुद्र से (अपः) जलों को (दिवम्) आकाश में (उद् वहन्ति) उठा ले जाते हैं और 'मानसून' या वर्षाओं से भरे बादलों द्वारा (दिवः) द्यौलोक आकाश से (पृथिवीम्) इस पृथिवी पर (ये) जो (अपः अभि सृजन्ति) जलों को बरसाते हैं । और (अद्भिः ईशानाः) जलों के द्वारा सामर्थ्यवान् होकर (चरन्ति) गति करती हैं उसी प्रकार (ये) जो विद्वान् गण, ज्ञान के समुद्र से ज्ञानों को प्राप्त कर के मोक्ष तक पहुंचते हैं मोक्ष से पुनः पृथिवी पर आकर ज्ञानोंका

३–(द्वि०) 'य इन्वन्' इति पैप्प० सं० । (तृ०) 'शक्मा' इति सायणसम्मतः पाठः ।

उपदेश करते और उन ज्ञान सामर्थ्यों से ऐश्वर्यवान् होकर सर्वत्र विचरते हैं वे जीवन-मुक्त पुरुष हैं । (ते नः अंहसः मुञ्चन्तु) वे हमें पाप या दुःख के कारणों से बचावें ।

ये कीलालेन तर्पयन्ति ये घृतेन ये वा वयो मेदसा संसृजन्ति ।
ये अद्भिरीशाना मरुतो वर्षयन्ति ते० ॥ ५ ॥

भा०—(ये) जो मरुद्गण (कीलालेन) अन्न से (तर्पयन्ति) प्राणियों को तृप्त करते हैं (ये घृतेन) जो घृत, जल से पृथिवी को तृप्त करते हैं (ये) और जो (मेदसा) पुष्टिकारक पदार्थ से (वा) ही (वयः) दीर्घ आयु को (सं-सृजन्ति) उत्पन्न करते हैं और (ये मरुतः) जो मरुद्गण (अद्भिः) जलों से (ईशानाः) शक्तिसम्पन्न होकर (वर्षयन्ति) जलों की वर्षा करते हैं (तेनः०) वे हमें सुखी करें और कष्टों से मुक्त करें ।

विद्वानों के पक्ष में—जो विद्वान् कीलाल=अमृतरस से, (घृतेन) तेजोमय ज्ञान से और पुष्टिकारक पदार्थों से सब को तृप्त करते और पुष्ट करते और दीर्घायु होने का उपदेश करते हैं जो (अद्भिः) ज्ञानों और कामों से (ईशानाः वर्षयन्ति) शक्त होकर सुखों की वर्षा करते हैं वे हमें पाप से मुक्त करें । प्राणों के पक्ष में स्पष्ट है ।

यदीदिदं मरुतो मारुतेन यदि देवा दैव्येनेदृगार ।
यूयमीशिध्वे वसवस्तस्य निष्कृते स्ते० ॥ ६ ॥

भा०—हे (मरुतः) मरुद्गणो विद्वानो ! (यदि) यदि (इदं) यह पापमय कष्ट (मारुतेन) वायुओं द्वारा या हमारे प्राणों के उपद्रवों से उत्पन्न है और हे (देवाः) विद्वान् लोगो ! (ईदृग्) ऐसा कष्टमय पाप यदि

५–(प्र०) 'कीलालैः' (तृ०) 'ये ईशानाः' इति पैप्प० सं० ।
६–(द्वि०) 'ईदृगु स मारिष्यति' इति मै० सं० ।

(दैव्येन) देव ईश्वर की ओर से आधिदैविक रूप में (आर[1]) हमें प्राप्त हुआ है तो भी हे (वसवः) सबों को सुखपूर्वक बसाने हारे सब के प्राणरक्षको ! (तस्य निः-कृतेः) उसके दूर करने में (यूयम्) तुम लोग ही (ईशिध्वे) समर्थ हो। (ते नः अंहसः मुञ्चन्तु) वे आप लोग हमें पापमय दुःख से मुक्त करें।

तिग्ममनीकं विदितं सहस्वन्मारुतं शर्धः पृतनासूग्रम्।
स्तौमि मरुतो नाथितो जोहवीमि ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥७॥

भा०—(मारुतम्) मरुत्गण का (अनीकम्) सैनिकबल (तिग्मम्) तीक्ष्ण और (सहस्वत्) सहनशील, विजयकारी (विदितम्) सबों को ज्ञात है। इसी प्रकार (पृतनासु) सेनाओं में (मारुतम्) मरुत्गणों का (उग्रम् शर्धः) भयंकर बल भी सर्वविदित है। इस कारण (नाथितः) मैं दुःखी पुरुष, मरुद्गण के (स्तौमि) गुणों की स्तुति करता हूं और (जोहवीमि) उनका स्मरण करता हूं। (ते नः अंहसः मुञ्चन्तु) वे हमें पाप, कष्ट से मुक्त करें।

[२८] पापमोचन की प्रार्थना।

मृगार ऋषिः। षष्ठं मृगारसूक्तम्। नाना देवताः। १ द्व्यतिजागतगर्भा भुरिक्। २–७ त्रिष्टुभः। सप्तर्चं सूक्तम्॥

१. 'आ। आर' इति पदच्छेदो ह्विटनिकामितः।

७–(प्र०) 'तिग्मामायुधं वीडितम्' इति क्वचित्। 'तिग्मामायुधं वीडितं सहस्व दिव्यं शर्धः पृतनासु जिष्णु। स्तौमि मरुतः' 'देवान् नाथितो जोहवीमि, ते नो मुञ्चन्त्वेनसः' इति बहुत्र।

भवाशर्वौ मन्वे वां तस्य वित्तं ययोर्वामिदं प्रदिशि यद् विरोचते ।
यावस्येशाथे द्विपदो यौ चतुष्पदस्तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ १ ॥

भा०—ईश्वर के दो स्वरूप एक भव=जगत् का उत्पादक और दूसरा शर्व=समस्त जगत् का संहारक । ईश्वर के इन दो स्वरूपों का वर्णन करते हैं । हे (भवाशर्वौ) सर्व जगत् उत्पादक शक्ते ! और सर्वसंहारक शक्ते ! (वां) तुम दोनों शक्तियों के विषय में (मन्वे) विचार करता हूं । (यद् इदं विरोचते) जो यह संसार नाना प्रकार से दिखाई देता है वह (ययोः वाम्) जिन आप दोनों शक्तियों के (प्र-दिशि) शासन में है । (यौ) और जो तुम दोनों शक्तियां (अस्य) इस संसार पर (ईशाथे) वश कर रहे हो, और (यौ) जो तुम दोनों (द्वि-पदः) दोपाये, मनुष्यों और (चतुः-पदः) पशुओं पर भी वश कर रहे हो (तौ) वे तुम दोनों (नः अंहसः) हमें पाप से (मुञ्चतम्) मुक्त करो ।

ययोरभ्यध्व उत यद् दूरे चिद् यौ विदिताविषुभृतामसिष्ठौ ।
याव० ॥ २ ॥

भा०—(अभि-अध्वे) समीप के पदार्थ (उत) और (यद् दूरे) जो दूर के पदार्थ सब (ययोः) जिनके शासन में हैं । और (यौ चिद्) जो दोनों (इषु-भृताम्) इषु=बाण, प्रेरक शक्ति को धारण करने वालों में (असिष्ठौ) सब से अधिक वेगवान् समस्त लोक लोकान्तरों के प्रेरक, उनको इधर उधर फेंकने वाले हैं । (यौ अस्य०) जिनका वश इन सब मनुष्यों और पशुओं पर भी है वे दोनों शक्तियां हमें पाप से मुक्त करें ।

---

[२८] १–(द्वि०) 'ययोर्वां यदिदं वितिष्ठते' इति पैप्प० सं० ।
२–(द्वि०) 'यौ विततौ', (तृ०) 'भवाशर्वौ भवतं मे स्योनौ' इति पैप्प० सं० ।

सहस्राक्षौ वृत्रहणा हुवेहं दूरेगव्यूती स्तुवन्नेम्युग्रौ ।
यात्र० ॥ ३ ॥

भा०—(अहं) मैं (सहस्र-अक्षौ) सहस्रों चक्षुओं वाले, सर्वद्रष्टा, (वृत्र-हना) विघ्नों के विनाशक (दूर-गव्यूती) गौ-इन्द्रियों के संचार या पहुंच से परे भी वर्त्तमान उन दोनों उत्पादक और संहारक शक्तियों को मैं (उग्रौ) उग्र बड़े बलवान्, भयकारी रूप में (स्तुवन्) उनके गुणों का यथार्थ वर्णन करता हुआ उन तक (एमि) पहुंचता हूं । (यौ अस्य ईशाथे०) जो इस संसार पर, सब मनुष्यों और पशुओं पर वश किये हुए हैं वे दोनों हमें पाप से मुक्त करें ।

यावारेभाथे बहु साकमग्रे प्र चेदस्राष्टमभिभां जनेषु ।
याव० ॥ ४ ॥

भा०—हे भव और शर्व दोनों शक्तियो ! आप दोनों ने (अग्रे) सृष्टि के प्रारम्भ काल में (बहु) बहुत से पदार्थ समूहों को (साकं) एक साथ ही (आ-रेभाथे) उत्पन्न, प्रकट कर दिया था । (च) और (जनेषु) जनों में, उत्पन्न होने वाले पदार्थों में (अभि-भाम्) सब तरफ फैलने वाली चमकने वाली कान्ति दीप्ति, तेज प्रकाश को (प्र अस्राष्टम्) पूर्व ही उत्पन्न किया था । और इस प्रकार संयोग विभाग से समस्त संसार को रच कर तुम दोनों शक्तियां (यौ ईशाथे०) समस्त संसार पर और समस्त मनुष्यों पर वश करती हैं । वे दोनों हमें पाप से मुक्त करें ।

३–(द्वि०) 'स्तुवन् । नेमी' इति सायणकृतः पदच्छेदश्चिन्त्यः । एवमेव 'स्तुवन्नेमी' इति कल्पनाकृतमपि न विचारसहम् । (प्र० द्व०) 'हुवे वा दूरहूती सुनेमी उग्रौ' इति पैप्प० सं० ।

४–(द्वि०) 'अस्राष्ट्रम्' इति बहुत्र । 'अस्राष्टम्' इति सायणः ।

यर्योर्व्रुधान्नापपद्यते कश्चनान्तर्देवेषूत मानुषेषु ।
यावु० ॥ ५ ॥

भा०—(ययोः) जिन दोनों की (वधात्) आघात करने की शक्ति या मार अर्थात् जन्म, मृत्यु, सृष्टि-संहार, रूप वज्र से (देवेषु) देवों और (मानुषेषु) मनुष्यों में से (कः चन) कोई भी (न अप-पद्यते) नहीं बच पाता, जो (यौ अस्य ईशाथे) दोनों इस संसार पर और सब मनुष्यों और पशुओं पर वश करती हैं। वे दोनों हमें पाप से मुक्त करें ।

यः कृत्याकृन् मूलकृद् यातुधानो नि तस्मिन् धत्तं वज्रमुग्रौ ।
यावुस्येशाथे द्विपदो यौ चतुष्पदुस्तौ० ॥ ६ ॥

भा०—(यः) जो पुरुष (कृत्या-कृत्) अपनी घातक क्रिया करे और (यः) जो (यातु-धानः) पीड़ा देने वाला (मूल-कृत्) मूल काटने वाला है (तस्मिन्) उस पर आप दोनों भव और शर्व (उग्रौ) भयंकर रूप से बलवान् होकर (वज्रम् निधत्तम्) उसको दुष्ट कार्यों से रोकने वाले शस्त्र या दण्ड का प्रयोग करो । (यौ अस्य ईशाथे०) जो दोनों इस संसार और मनुष्यों और चौपायों पर वश करते हैं वे दोनों हमें पाप से मुक्त करें ।

अधि नो ब्रूतं पृतनासूग्रौ सं वज्रेण सृजतं यः किमीदी ।
स्तौमि भवाशर्वौ नाथितो जोहवीमि तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥७॥

भा०—हे (उग्रौ) उग्रस्वरूप बलवान् भव और शर्व ! आप दोनों (नः) हमें (अधिब्रूतं) उत्तम रीति से उपदेश करो और (पृतनासु) मनुष्यों में (यः) जो (किमीदी) संशयात्मा, अस्थिर चित्त या प्रत्येक

५–(द्वि०) 'किंचनान्तर्देवेषु उत' इति पैप्प० सं० ।

६–(द्वि०) 'धत्ताम्' इति बहुत्र ।

७–(प्र०) 'अधि मे ब्रूतं पृतनासु उग्रौ' इति पैप्प० सं० ।

पदार्थ और जीव को तुच्छ देख कर उसे नष्ट कर डालने वाला, अत्याचारी, क्षुद्रवृत्ति है उसको (वज्रेण) तुच्छ कार्य से रोकने वाले आयुध से (संसृजतम्) दण्डित करो। हे (भवाशर्वौ) भव और शर्व मैं (नाथितः) संतापित होकर (स्तौमि) आप के गुण वर्णन करता हूं और (जोहवीमि) पुकारता हूं कि (तौ नः अंहसः मुञ्चतम्) वे आप दोनों हमें पाप से मुक्त करें।

[२९] पापमोचन की प्रार्थना।

मृगार ऋषिः। सप्तमं मृगार सूक्तम्। नाना देवताः। १–६ त्रिष्टुभः। ७ शक्वरीगर्भा जगती। सप्तर्चं सूक्तम्॥

मन्वे वां मित्रावरुणावृतावृधौ सचेतसौ द्रुह्वणो यौ नुदेथे।
प्र सत्यावानमवथो भरेषु तौ नो मुञ्चतमंहसः॥ १॥

भा०—मित्र और वरुण इन दोनों का व्याख्यान करते हैं। हे (मित्रावरुणौ) मित्र और वरुण ! (वां मन्वे) मैं आप दोनों के विषय में मनन करता हूं। आप दोनों (ऋता-वृधौ) ऋत=सत्य, वेदज्ञान एवं इस प्राकृतिक जगत् को बढ़ाने वाले, (स-चेतसौ) समान चित्त हैं (यौ) जो (द्रुह्वणः) द्रोह करने वालों को (नुदेथे) ताड़ना करते हैं। और (सत्यवानम्) सत्य के पक्षपाती पुरुष को (भरेषु) संग्रामों, विवादस्थलों में (प्र-अवथः) अच्छी प्रकार रक्षा करते हो (तौ नः अंहसः मुञ्चतम्) वे आप दोनों हम राष्ट्रवासियों को पाप से मुक्त करें।

[२९] १–(द्वि०) 'सत्यौजसौ दृह्याणि यो निरेते' (तृ०) 'सौ सत्या-'
'...वथो हवेपु' इति पैप्प० सं०। (प्र०) 'वरुणा तस्य वित्तम्' (द्वि०) 'सत्यौजसा दृह्वाना [दुर्हणा] यं नुदेथे' इति तै० सं०, मै० सं०। (तृ० च०) 'या राजानं स रथं यथाउग्रा'' 'मुञ्चतमागसः' इति मै० सं०।

ईश्वर के दो रूप हैं एक सत्य-वादियों से प्रेम करने वाला और दूसरा पापियों का दमन करने वाला। इसी प्रकार राज्य व्यवस्था में दो पद हैं एक सब पर मित्र दृष्टि से रहने वाला न्यायाधीश जो सत्य का पक्षपाती है, दूसरा दण्डाधीश जो पापी पुरुष को दण्ड देता है। वे दोनों भी क्रम से मित्र और वरुण दो नाम से वेद में कहे गये हैं। यह पहले भी दर्शाया जा चुका है। 'अध्यात्म पक्ष में—मित्र, वरुण=प्राण, अपान लेने चाहिये'। सत्यावान्=आत्मा। द्रुह्वणः=काम क्रोधादि।

सचेतसौ द्रुह्वणो यौ नुदेथे प्र सत्यावानमवथो भरेषु ।
यौ गच्छथो नृचक्षसौ बभ्रुणा सुतं तौ० ॥ २ ॥

भा०—आप दोनों (स-चेतसौ) समान चित्त होकर, समान रूप से ज्ञानवान् होकर (यौ) जो (द्रुह्वणः) सत्य और राज्य शासन के द्रोह-कारी पुरुषों को (नुदेथे) ताड़ना करते हो और (भरेषु) संग्रामों, यज्ञों और विवादस्थलों, व्यवहारों में (सत्य-वानं प्र अवथः) सत्यवादी पुरुष की रक्षा करते हो और (नृ-चक्षसौ) सब मनुष्यों को समान रूप से देखते हुए (यौ) जो आप दोनों (बभ्रुणा) पालन पोषण करने हारे राष्ट्र के पोषक राजा के द्वारा (सुतं) बनाये हुए राष्ट्र या पुत्र समान प्रजा के पास (गच्छथः) आते हो। अथवा (बभ्रुणा सुतं गच्छथः) बभ्रु=पुष्ट प्रमाण से सुत=निष्कर्ष किये, अन्तिम निर्णय पर पहुंचते हो। वे दोनों आप (नः अंहसः मुञ्चतम्) हम राष्ट्रवासियों को पाप कर्म से मुक्त करो।

यावङ्गिरसमवथो यावगस्तिं मित्रावरुणा जमदग्निमत्रिम् ।
यौ कश्यपमवथो यौ वसिष्ठं तौ० ॥ ३ ॥

२—' सत्यौजसौ द्रुह्वाणि यो निरेवे,' ' एवेषु इति पैप्प० सं० ।

३—' यावगस्त्यम् ' इति सायणाभिमतः ।

भा०—(यौ) जो तुम दोनों (अङ्गिरसम् अवथः) अंगिराः ज्ञानवान्, राष्ट्र के अंग २ में रस रूप से विराजमान विद्वान् की रक्षा करते हो, (यौ अगस्तिं) और जो अगस्ति=पाप नाशक, धर्मोपदेशक आचार्य पुरुष की रक्षा करते हो, हे (मित्रावरुणौ) मित्र और वरुण (जमदग्निम्) जो प्रज्वलिताग्नि, तपस्वी, आहिताग्नि गृहस्थ की रक्षा करते हो और (अत्रिम्) जो अत्रि सर्वत्र निवास करने वाले अन्नभोजी, अज्ञान नाशक पुरुष की रक्षा करते हो (यौ कश्यपं अवथः) जो कश्यप=ज्ञान का पान करने वाले शिष्य, विद्यार्थिगण की रक्षा करते हो और (यौ वसिष्ठं) जो वसिष्ठ—आश्रमवासी जितेन्द्रिय पुरुष की रक्षा करते हो (तौ नः अंहसः मुञ्चतम्) वे दो आप दोनों हम राष्ट्रवासियों को पाप कर्म से मुक्त करें।

अध्यात्मपक्ष को सातवें मन्त्र में स्पष्ट करेंगे।

यौ श्या॒वाश्व॒मव॑थो वध्र्यू॒श्वं मित्रा॑वरुणा पुरु॒मी॒ढमत्रि॑म् ।
यौ वि॑म॒दमव॑थः स॒प्तव॑ध्रिं॒ तौ० ॥ ४ ॥

भा०—हे (मित्रावरुणा) मित्र और वरुण (यौ) जो आप दोनों (श्याव-अश्वम् अवथः) ज्ञान में सिद्ध अश्व=इन्द्रियों वाले, कुशल पुरुष की रक्षा करते हो और (वध्रि-अश्वं) जितेन्द्रिय की रक्षा करते हो (पुरु-मीढम्) बहुत धन सम्पन्न धनाढ्य वैश्यों की रक्षा करते हो और (अत्रिणम्) धन का उपभोग करने वाले वेतनभोगी पदाधिकारी की रक्षा करते हो। (यौ वि-मदम् अवथः) और जो तुम दोनों मद रहित अप्रमादी पुरुष की रक्षा करते हो और (सप्त-वध्रिम्) सप्त=सर्पणशील है अश्व जिसके ऐसे योद्धा, रथी पुरुष की या सात घोड़े=इन्द्रियों के वशी, अविकलांग, स्वस्थ, नीरोग पुरुष की रक्षा करते हो वे आप दोनों हमारे राष्ट्रवासी लोगों को (अंहसः) पाप और पाप से होने वाले कष्ट से मुक्त करें।

४–(प्र०) 'अवथो गविष्ठिरम्' इति तै० ब्रा०।

यौ भरद्वाजमवथो यौ गविष्ठिरं विश्वामित्रं वरुण मित्र कुत्सम् ।
यौ कक्षीवन्तमवथः प्रोत कण्वं तौ० ॥ ५ ॥

भा०—हे वरुण ! और हे मित्र ! आप जो (भरत्-वाजम् अवथः) अन्न का संग्रह करने हारे उत्तम वैश्य की रक्षा करते हो, (यौ गविष्ठिरम्) और जो आप दोनों गौओं पर स्थिर रहने वाले या भूमि पर स्थिर रहने वाले कृषक, गोपालक और वनस्पतियों की रक्षा करते हो, और (विश्वामित्रं कुत्सम्) सब के मित्र उपदेशक और कुत्स=संशय काटने वाले, और सब को मिलाये रखने वाले सज्जन नेता पुरुष की रक्षा करते हो, (कक्षीवान्तं अवथः) जो तुम दोनों कक्षीवान्=शासनशील, सदा कसे हुए, स्थिर सैनिक, सेनापदाधिकारी पुरुष की रक्षा करते हो (उत) और (कण्वं प्र अवथः) मेधावी, उपदेशक, गुरु अथवा कण कण से आहार करके अपना जीवन पालने वाले, उञ्छ, शिल वृत्ति करने वाले तपस्वी, व्रतधारी, ज्ञानी पुरुष की रक्षा करते हो (तौ नः अंहसः मुञ्चतम्) वे दोनों हमें पाप कर्म से मुक्त करें ।

यौ मेधातिथिमवथो यौ त्रिशोकं मित्रावरुणावुशनां काव्यं यौ ।
यौ गोतममवथः प्रोत मुद्गलं तौ० ॥ ६ ॥

भा०—हे (मित्रावरुणा) मित्र और वरुण ! (यौ) जो दोनों आप (मेध-अतिथिम् अवथः) मेधातिथि मेधा=धारणावती बुद्धि से युक्त तीव्र ज्ञानी पुरुषों की रक्षा करते हो, (यौ त्रि-शोकम्) जो तुम तीनों शोक=कान्तियों से युक्त ज्ञान, वचन, कर्मवान् या कायिक, मानस और वाचिक पापों को ज्ञानाग्नि से भस्म करने वाले शुद्ध पवित्र योगी की रक्षा करते हो,

५–(प्र०) 'यौ वध्र्यूश्वम्' इति पैप्प० सं० ।

६–'उशनम्', (तृ०) 'यौ मुद्गलमवथो गोतमं च' इति पैप्प० सं० ।

(यौ उशनां काव्यं) कवि क्रान्तदर्शी विद्वानों के संग से उत्पन्न ज्ञान के इच्छुक जिज्ञासु की रक्षा करते हो, (यौ गोतमम् अवथः) जो तुम दोनों गोतम=आत्म ज्ञानियों में श्रेष्ठ पुरुष की रक्षा करते हो (उत मुद्गलं प्र अवथः) और मुद्गल=आनन्दमय दशा में लीन होने वाले जीवनमुक्त पुरुष की रक्षा करते हो वे आप दोनों हमें पाप कर्म से मुक्त करो, बचाओ।

ययो रथः सत्यवर्त्मर्जुरश्मिर्मिथुया चरन्तमभियाति दूषयन् ।
स्तौमि मित्रावरुणौ नाथितो जोहवीमि तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥७॥

भा०—हे (मित्रावरुणौ) मित्र और वरुण ! (ययोः) जिन आप दोनों का (सत्य-वर्त्मा) सत्य मार्ग पर जाने वाला (ऋजुरश्मिः) सरल रश्मियों वाला या सरल आचाररूप रस्सियों से बंधा, (रथः) स्वरूप या गतिशील व्यवहार है वह (मिथुया चरन्तम्) मिथ्या आचरण करने वाले पुरुष को (दूषयन्) अपराध में पकड़ता हुआ (अभियाति) उस पर आक्रमण करता है। मैं (नाथितः) संतापित होकर (स्तौमि) आपके गुणों का यथार्थ वर्णन करता हूं और (जोहवीमि) और पुकारता या प्रार्थना करता हूं कि (तौ) वे दोनों आप(नः) हमें (अंहसः मुञ्चतम्) पाप से मुक्त करें।

राष्ट्र पक्ष में स्पष्ट है। अध्यात्मपक्ष में—प्राण और अपान योगी की निरन्तर रक्षा करते हैं। आंगरिस, अगस्ति, जमदग्नि, अत्रि, कश्यप, वसिष्ठ, श्यावाश्व आदि सब आत्मा के अधीन प्राण शक्ति हैं जिनके कार्य और गुण भेद से ये नाम हैं जैसे बृहदारण्यक में कहा—" प्राणानेतदाह—तस्या सप्त ऋषयः सप्ततीरे इति प्राणा वै ऋषयः। इमावेव गोतमभारद्वाजौ (कर्णौ) इमावेव विश्वामित्रजमदग्नी (चक्षुषी) इमौ वसिष्ठ काश्यपौ (नासिके) वागेवात्रिरित्यादि बृहदारण्यक उप० २ । २ । ३–४ ॥ दायां बायां

७–'यो वांस्य ऋजुरश्मिः सत्यधर्मा मिथुश्चरन्त मुपयाति दूषयन्' इति मै० सं० ।

कान गोतम और भारद्वाज हैं, दायीं बायीं आंख विश्वामित्र और जमदग्नि हैं। दायीं बायीं नासिकाएं वसिष्ठ और कश्यप हैं, वाणी अत्रि है। इसी प्रकार, श्यावाश्व=मन, वध्यूश्व आत्मा, पुरुमीढ, अति सम्पत्तिमान् भोक्ता, आत्मा, विमद प्रज्ञानघन रूप आत्मा, सप्तवध्रि सप्तप्राण आत्मा, भारद्वाज ज्ञानमय अन्नाद आत्मा, गविष्ठिर=इन्द्रियाधिष्ठित आत्मा, कुत्स=ब्रह्मयोगी आत्मा, कक्षीवान् प्राणाभ्यासी, कण्व=ज्ञानवान्, मेधातिथि=ऋतम्भरा प्रज्ञासिद्ध आत्मा, त्रिशोक=तापत्रय का नाशकारी विदेह मुक्त आत्मा, काव्य उशना=वाक्सिद्ध आप्तकाम योगी, गोतम=आत्मसाक्षात्कारी, मुद्गल आनन्दघन योगी, इत्यादि जितने ये नाम हैं सब योग की विशेष दशा में पहुंचे हुए योगीजनों के ही हैं।

---

[३०] परमेश्वरी सर्व शासक शक्ति का वर्णन।

अथर्वा ऋषिः। वाग्देवत्यम्, १-५, ७, ८ त्रिष्टुभः, । ६ जगती। अष्टर्चं सूक्तम् ॥

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः।
अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा ॥१॥

ऋ० १० । १२५ । १ ॥

भा०—ऋग्वेदे राष्ट्री देवता। वागम्भृणी ऋषिः। वागम्भृणी देवता। परमेश्वरी शक्ति स्वयं अपना वर्णन करती है। (अहं [1]) मैं (रुद्रेभिः) रुद्रों और (वसुभिः) वसुओं द्वारा सर्वत्र विश्वरूप राष्ट्र में और (विश्वेदेवैः) विश्वेदेव, समस्त विद्वानों सहित (चरामि) सर्वत्र व्याप्त हूं। (अहम्)

[३०] १-१. 'विशुद्धसत्वपरिणामरूपस्य अन्तःकरणस्य वृत्तिविशेष अभिमानात्मकोऽहंकारः। तदुपलक्षितानवच्छिन्नात्मका 'अहम्' इति सायणः।

(मित्रा वरुणा) मित्र और वरुण (उभा) दोनों को (बिभर्मि) धारण करती हूं, (अहम् इन्द्राग्नी) मैं इन्द्र और अग्नि को और (अहम् उभा अश्विना) मैं ही दोनों अश्वियों को भी धारण पोषण करती हूं ।

विशुद्ध सत्व गुण के परिणाम रूप अन्तःकरण की वृत्ति, अभिमान स्वरूप 'अहं' कहाती है । उससे युक्त आत्मा की शक्ति का वर्णन है । विराट्रूप—'प्रकृते महान् महतोऽहंकारः' । उस वैकारिक सात्विक अहंकार की अधिष्ठात्री भी ईश्वरी शक्ति 'अहम्' है । उसका प्रतिनिधि शरीर में 'अहम्' है । रुद्र, वसु, आदित्य ये सब प्राणों के नाम हैं ।

अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम् ।
तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तः ॥ २ ॥

ऋ० १० । १२५ । ३ ॥

भा०—(अहं) मैं (राष्ट्री [1]) सब संसार पर राज्य करने वाली ईश्वरी शक्ति हूं । मैं (वसूनां) सब वास कराने हारे लोकों को विद्वानों को, (सं-गमनी) प्राप्त कराने वाली, (चिकितुषी) सब का ज्ञान करने वाली और सब को ज्ञान कराने वाली, (यज्ञियानां प्रथमा) सब यज्ञयोग्य देवों में सब से प्रथम, सब से उत्कृष्ट हूं । (तां) उस (भूरि-स्थात्रां) नाना स्वरूप से, जगत् के प्रपञ्चरूप विराजमान (मां) मेरा (देवाः) विद्वान् लोग (भूरि) नाना प्रकार से (आवेशयन्तः) कल्पना करते हुए (वि-अदधुः) उपदेश करते हैं ।

अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवानामुत मानुषाणाम् ।
यं कामये तन्तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम् ॥ ३ ॥

ऋ० १० । १२५ । ५ ॥

२–' भूर्यावेशयन्तीम् ' इति ऋ० ।

१. ' ईश्वरनामैतत् ' इति सायणः ।

३–(द्वि० ' जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः ' इति ऋ० ।

भा०—(अहम्) मैं परमेश्वर (एव) ही (देवानां जुष्टं) देव-विद्वानों के हितकर उन से सेवन करने एवं प्रिय लगने योग्य (उत) और (मानुषाणां) मनुष्यों, मननशील जीवों के हितकारी (इदं) इस अनुभव योग्य, साक्षात् आध्यात्मिक और भौतिक ज्ञान का (स्वयं) स्वयं अपने आप (वदामि) उपदेश करता हूं । और (यं कामये) जिस २ को मैं उचित समझता हूं (तं तं) उस २ को (उग्रं) सब से अधिक बलवान् एवं ऐश्वर्यवान् (कृणोमि) करता हूं और जिस २ को चाहता हूं (तं) उस २ को (ब्रह्माणम्) ब्रह्मा, (तं ऋषिं) उस २ को ऋषि और (तं) उस २ को (सुमेधाम्) उत्तम धारणावती बुद्धि से सम्पन्न करता हूं ।

मया सोऽन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणिति य ईं शृणोत्युक्तम् ।
अमन्तवो मां त उप क्षियन्ति श्रुधि श्रुत श्रद्धेयं ते वदामि ॥४॥

ऋ० १० । १२५ । ४ ॥

भा०—शरीर में स्थित 'अहं' शक्ति या आत्म शक्ति का निरूपण करते हैं । (सः) वह पुरुष शरीर (मया अन्नम् अत्ति) मेरी शक्ति से ही अन्न को खाता है, (यः विपश्यति) जो देखता है वह भी मेरी शक्ति से देखता है, (याः प्राणाति) जो प्राण लेता है वह भी मेरी आत्म शक्ति से ही प्राण लेता है । (यः ईम् उक्तं शृणोति) और जो कहा हुआ वचन भी सुनता है वह भी मेरी शक्ति से ही सुनता है। (मां अमन्तवः) मुझको न मानने और जानने वाले (ते) वे बहुत से लोग (उप क्षियन्ति) विनाश को प्राप्त होजाते हैं हे (श्रुत) गुरुपदेश को श्रवण करने हारे विद्वन् ! (श्रुधि) मैं अन्तरात्मा भीतर से जो कहती हूं उस को श्रवण कर । मैं (ते) तेरे लिये (श्रद्धेयं) सत्यरूप से धारण करने योग्य, श्रद्धायोग्य उपदेश (वदामि) कहता हूं ।

४–(प्र०) 'सोअन्न-' (द्वि०) 'प्राणिति' (च०) 'श्रद्धिवम्' इति ऋ० ।

परमात्म पक्ष में—समस्त संसार का भोजन, दर्शन, प्राणन, श्रवण आदि उसी प्रभु के दिये शक्ति से होता है जो उस भगवान् के इस सामर्थ्य के नहीं मानते वे अज्ञान में नष्ट होजाते हैं। वही ईश्वर सब के हित का उपदेश करता है।

अहं रुद्राय धनुरा तनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उं ।
अहं जनाय समदं कृणोम्यहं द्यावापृथिवी आ विवेश ॥ ५॥
ऋ० १० । १२५ । ६ ॥

भा०—(ब्रह्म-द्विषे) ब्रह्म=वेद-ज्ञान को द्वेष करने वाले, ब्रह्मघाती, (शरवे) हिंसक को (हन्तवा) मारने के लिये (उ) भी (अहम्) मैं ही ईश्वर (रुद्राय) दुष्टों को रुलाने वाले क्षत्रिय के (धनुः) धनुष् को (आतनोमि) तानता हूं। (अहं) मैं ईश्वर ही (जनाय) जन्तुओं के (समदं) संग्राम या प्रमोद को (कृणोमि) करता हूं। (अहं) मैं ही (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी दोनों में (आविवेश) आविष्ट, व्यापक हूं।

अहं सोमंमाहुनसं बिभर्म्यहं त्वष्टारमुत पूषणं भगम् ।
अहं दधामि द्रविणा हविष्मते सुप्राव्याइ यजमानाय सुन्वते ॥६॥
ऋ० १० । १२५ । २ ॥

भा०—(अहं) मैं (आहनसं) आघातकारी, शत्रु के विनाशक (सोमं) सोम राजा को (बिभर्मि) धारण करता हूं और मैं ही (त्वष्टारं) सूर्य को और (पूषणं) सब के पोषक और (भगं) ऐश्वर्यवान् को भी धारण करता हूं। (अहं) मैं (हविष्मते) हवि द्वारा यज्ञ करने वाले, (सुन्वते) सोम सवन करने वाले (यजमानाय) यजमान को (सुप्र-अव्या) सुखप्रद (द्रविणा) धनों का (प्रदधामि) प्रदान करता हूं।

६–(तृ०) 'द्रविणं' इति ऋ० । (च०) 'सुप्राव्ये' इति सायणसम्मतः पाठः ।

अहं सुवे पितरमस्य मूर्धन्मम योनिरप्स्वन्तः समुद्रे ।
ततो वि तिष्ठे भुवनानि विश्वोतामूं द्यां वर्ष्मणोप स्पृशामि ॥७॥

ऋ० १० । १२५ । ७ ॥

भा०—(अहं) मैं ईश्वरी शक्ति (अस्य) इस दीखनेयोग्य संसार के भी (मूर्धन्) प्रारम्भ में या ऊपर (पितरम्) इसके पिता, परिपालक हिरण्यगर्भ को (सुवे) उत्पन्न करती हूं । (समुद्रे[1]) समस्त भूत, प्राणियों के उद्गम स्थान परमात्मा के (अन्तः) भीतर विराजमान (अप्सु) समस्त जगत् प्रपञ्च में व्यापक महत्-रूप मूल कारण परमाणुओं में (मम) मुझ ईश्वरी शक्ति का (योनिः) कारण रूप से आवासस्थान है । (ततः) उसी मेरे आवासस्थान से जहां मैंने मूल कारण प्रकृति में संसार प्रपंच का वीज वपन किया, वहां से ही (विश्वा भुवनानि) समस्त लोकों को (वि तिष्ठे) व्यवस्थित करती हूं, उनकी रचना करती हूं । और (अमूम् द्याम्) उस दूरस्थ आकाश में व्यापक दिव्य लोकमयी सृष्टि को (वर्ष्मणा) प्राकृत आवरण विराड्रूप देह से (उप स्पृशामि) आच्छादित करती हूं । अर्थात् मैंने विशाल आकाश को भी ढका है ।

मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् ।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥
सर्वयोनिषु कौंतेय मूर्त्तयः संभवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद् योनिरहं वीजप्रदः पिता ॥

गीता । अ० १४ । ३, ४ ॥

७–' भुवानानु विश्वोता ' इति ऋ० ।

१. समुद्रवन्ति अस्माद् भूतजातानि इति समुद्रः परमात्मा । समुद्र एवास्य बन्धुः समुद्रो योनिः इति वाजसनेयकश्रुत्या समुद्रशब्दवाच्यत्वं परमात्मनो दर्शितम् । इति सायणः ।

अहमेव वातं इव प्र वाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा ।
परो दिवो पर एना पृथिव्यैतावती महिम्ना सं बभूव ॥ ८ ॥

ऋ० १० । १२५ । ८ ॥

भा०—(अहम् एव) मैं ही (विश्वा भुवनानि) समस्त लोकों और देहों को (आरभमाणा) निर्माण करती हुई (वात-इव) देहों में प्राण के समान और संसार में वायु के समान (प्र वामि) सर्वत्र विशेष रूप से, उत्कृष्ट रूप से व्यापक होकर रहती हूं । और मैं ही (दिवः) सूर्यादि लोकों से (परः) परे और (एना पृथिव्याः परः) इस पृथिवी से भी परे अर्थात् इन विकार पदार्थों से भी पूर्व काल में विद्यमान रह कर (महिम्ना) अपनी महिमा, महत्व शक्ति से (एतावती) इतने विशाल रूप में जगत् का रूप बना कर (सं बभूव) पूर्ण रीति से प्रकट हो रही हूं ।

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।
न तदस्ति विना यत् स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥ ३९ ॥
नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप ॥ ४० ॥
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥ ४२ ॥

गीता अ० १० ॥

इसी प्रकार गीता के १० वें और १५ वें अध्याय में इस सूक्त का पूर्ण व्याख्यान प्राप्त होगा । पाठक वहां ही देखें ।

इति षष्ठोऽनुवाकः ।

[तत्र सूक्तानि पञ्च, ऋचश्च षट्त्रिंशत् ।]

८—' एतावती महिना सं बभूव ' इति ऋ० ।

[३१]

ब्रह्मास्कन्द ऋषिः । मन्युर्देवता । १, ३ त्रिष्टुभौ, २, ४ भुरिजौ, ५–७ जगत्यः । सप्तर्चं सूक्तम् ॥

त्वया मन्यो सरथमारुजन्तो हर्षमाणा हृषितासो मरुत्वन् ।
तिग्मेषव आयुधा संशिशाना उप प्र यन्तु नरो अग्निरूपाः ॥१॥

ऋ० १० । ८४ । १ ॥

भा०—मन्युस्तापस ऋषिः । मन्युर्देवता । हे मन्यो ! ज्ञानस्वरूप प्रकाशमान् आत्मा में ज्ञानपूर्वक अभिमान के उग्रभावरूप ! हे (मरुत्वन्) प्राणस्वरूप आत्मन् ! इन्द्र ! (त्वया) तुझ सहायक के साथ (स-रथम्) रथ सहित शत्रु को (आ-रुजन्तः) पीड़ित एवं भग्न, विनष्ट करते हुए (हर्षमाणाः) हर्ष, आनन्द प्रसन्नता प्रकट करते हुए (हृषितासः) स्वयं हृष्ट प्रसन्न होकर (आयुधा सं-शिशानाः) अपने हथियारों को तीखा करते हुए (तिग्म-इषवः) तीक्ष्ण बाणों वाले अग्निरूपाः) आग के समान जाज्वल्यमान (नरः) नेता, भट-गण (उप प्र यन्तु) शत्रु तक पहुंच जांय ।

अध्यात्म पक्ष में—हे मन्यो=ज्ञानवान् मरुत्वन्=सर्व प्राणों के स्वामिन् ! इन्द्र ! परमेश्वर तुझ सहायक के होते हुए अग्नि रूप ज्ञानी जीव शमदमादि तीव्र साधनों को करते हुए तीक्ष्ण इषु=कामना, प्रबल इच्छा वाले होकर (हर्षमाणाः हृषितासः) स्वयं प्रसन्न आनन्दमग्न होकर रथ=देह सहित इस बन्धन को तोड़ कर मुक्त होकर तुझे प्राप्त करें । अध्यात्म युद्ध का वर्णन भक्तों की वाणियों में बहुत है जैसे कबीर कहते हैं:—

[३१] १–' हर्षमाणासो धृषिता मरुत्वः ' इति ऋ० । (च०) ' यन्ति ' इति पैप्प० सं० । मन्युर्मन्यतेर्दीप्तिकर्मणः क्रोधकर्मणो वा । (नि० १० । ३.)

एक शमशेर, इकसार चलती रहे, खेल कोई सूरमा सन्त झेलै ।
कामदल जीत करि, क्रोध पैमाल करि, परम सुखधाम तहं सुरत मेलै ॥
सील से नेह करि, ज्ञान को खड्ग लै, आप चौगान में खेल खेलै ।
कहे कबीर, सोई संतजन सूरमा, सीस को सौंपकरि करम ठेलै ॥

रेखता २६ ॥

अ॒ग्निरि॑व मन्यो त्विषि॒तः स॑हस्व सेना॒नीर्नः॑ सहुरे हू॒त ए॑धि ।
ह॒त्वाय॒ शत्रू॒न् वि भ॑जस्व॒ वेद॒ ओजो॒ मिमा॑नो॒ वि मृधो॑ नुदस्व ॥२॥

ऋ० १० । ८४ । २ ॥

भा०—हे मन्यो ! तू (अग्निः-इव) अग्नि के समान (त्विषितः) कान्तिमान् होकर (सहस्व) शत्रुओं को पराजित कर । और तू हे (सहुरे) सहनशील ! (हूतः) हम से पुकारा जाकर या हम से आदर पूर्वक आमन्त्रित होकर (नः सेना-नीः) हमारा सेना-नायक (एधि) बन । (शत्रून् हत्वाय) शत्रुओं को मार कर (वेदः) धन को (विभजस्व) समस्त सैनिकों में बांट दे । और (ओजः) अपने असह्य बल, प्रताप को (मिमानः) बराबर बनाये रख कर (मृधः) शत्रुगण को (वि नुदस्व) नाना प्रकार से परे हटा ।

अध्यात्म पक्ष में—हे मन्यो ज्ञानी योगिन् ! आत्मन् ! अग्नि के समान देदीप्यमान होकर काम क्रोध आदि पर वश कर और हे सहुरे=आत्मन् ! तू पुकारा जाकर हमारा सेना-नायक बन । क्रोध काम आदि का नाश कर, आत्मविभूतियों को अन्य इन्द्रियों में बांट दे और विषयरूप शत्रुओं का विनाश कर ।

२–(तृ०) ' जित्वाय शत्रून ' इति पैप्प० सं० ।

सहस्व मन्यो अभिमातिमस्मै रुजन् मृणन् प्रमृणन् प्रेहि शत्रून्।
उग्रं ते पाजो नन्वा रुरुध्रे वशी वशं नयासा एकज त्वम् ॥ ३ ॥

ऋ० १० । ८४ । ३ ॥

भा०—हे मन्यो ! (अस्मै) इस राजा के (अभिमातिम्) शत्रु को (सहस्व) पराजित कर और (शत्रून्) शत्रुओं को (रुजन्) उनको तोड़ता फोड़ता, (मृणन्, प्र-मृणन्) रौंदता पीसता हुआ उस तक (प्रेहि) जा पहुंच, उस पर चढ़जा। (ननु) क्या वे (ते उग्रं पाजः) तेरे उग्र, प्रचण्ड बल को (आ रुरुध्रे) रोक सकते हैं ? नहीं। क्योंकि तू हे (एक-ज) अद्वितीय ! (त्वम्) तू (वशी) सब पर वश करने हारा होकर उन सब को (वशं नयासै) अपने वश में ले आता है।

अध्यात्म पक्ष में—योगी अपने आत्मा को कहता है—मन्यो ! ज्ञानवन् ! आत्मन् ! इस आत्मा के अभिमान—अहंकार को वश कर काम क्रोध आदि शत्रुओं के बल को वार २ तोड़, उनको दबा, पीस और आगे बढ़, तेरे प्रचण्ड बल को ये नहीं सह सकते। तू उन पर एकला वश कर लेता है।

कबीर सोई सूरमा जाके पांचों साथ।
जाके पांचों बस नहीं तेहि गुरु संग न साथ॥

—सूरमा का अङ्ग २४ ॥

एको बहूनामसि मन्य ईडिता विशंविशं युद्धाय सं शिशाधि।
अकृत्तरुक्त्वया युजा वयं द्युमन्तं घोषं विजयाय कृण्मसि ॥ ४ ॥

ऋ० १० । ८४ । ४ ॥

३–(प्र०) 'अभिमातिमस्मे' (च०) 'तपस एकजत्वम्' इति ऋ०।
(तृ०) 'रुरुध्रे' इति सायणाभिमतः।
४–'मन्यवीडितो विशं विशं युधये कृण्महे' इति ऋ०।

भा०—हे मन्यो ! ज्ञानवन् ! आत्मन् ! (ईडिता) एकमात्र ज्ञान करने वाला तू इन (बहूनाम्) बहुत से इन्द्रियगण में से (एकः) एक ही है । तू (विशं-विशं) प्रत्येक प्रजा को (युद्धाय) काम क्रोध आदि शत्रुओं के संग युद्ध करने के लिये (सं शिशाधि) उनको वार २ शासन कर, उन पर वश रख कर उनके लड़ने के लिये आज्ञा दे । हे (अकृत्तरुक्) अच्छिन्नकान्ते ! अटूट प्रकाश वाले आत्मन् ! (त्वया युजा) तुझ सहायक के साथ (वयं) हम (द्युमन्तं) दीप्तियुक्त, तेजःसम्पन्न होकर, एवं शानदार (घोषं) सिंहनाद (विजयाय) इस विजय के लिये (कृण्मसि) करते हैं । इस अध्यात्म ब्रह्मविषयक विजय का प्रकरण देखो ' केनोपनिषद् ' (खण्ड ३, ४)

विजेषकृदिन्द्र इवानवब्रवो३ स्माकं मन्यो अधिपा भवेह ।
प्रियं ते नाम सहुरे गृणीमसि विद्मा तमुत्सं यत आबभूथं ॥ ५ ॥
ऋ० १० । ८४ । ५ ॥

भा०—हे मन्यो ! प्रभो ! तू (इन्द्रः-इव) सेनापति या परमेश्वर के समान (विजेषकृत्) विजयशील होता हुआ भी (अ-नव-ब्रवः) अति पुरातन उपदेष्टा है । तू (इह) इस लोक में (अस्माकम्) हमारे (अधि-पाः) राजा (भव) हो । हे (सहुर) सहनशील ! शत्रु का पराजय करनेहारे ! (ते प्रियं नाम) तेरे प्रिय नाम का हम (गृणीमसि) उच्चारण करते हैं । (तम्) उस (उत्सं) आनन्द के उत्तम, परम स्रोत का (विद्म) ज्ञान करें (यतः) जिससे तू भी (आ-बभूथ) आनन्द मय और सामर्थ्यवान् हो सर्वत्र व्यापक है ।

आभूत्या सहजा वज्र सायक सहो बिभर्षि सहभूत उत्तरम् ।
क्रत्वा नो मन्यो सह मेद्ये/धि महाधनस्य पुरुहूत संसृजि ॥ ६ ॥

६–(द्वि०) ' बिभर्ष्यभिभूत उत्तरम् ' इति पाठभेदः, ऋ० ।

भा०—हे मन्यो ! हे वज्र ! अज्ञान को वर्जन करने हारे, हे (सायक) समस्त कष्टों को अन्त करने हारे ! हे (सहभूते) इन्द्रिय सामर्थ्यों सहित सदा विद्यमान् आत्मन् ! हे (आ-भूत्या) इन्द्रियों पर दमन करने हारे व्यापक सामर्थ्य सहित (सह-जा) सहनशील ! तू (उत्तरं सहः) सब से अधिक विजय सामर्थ्य, वज्र को (बिभर्षि) धारण करता है । तू (क्रत्वा सह) ज्ञानमय बल के या कर्म के साथ (मेदी) उत्तम फल से प्रेम करने वाला होकर हे (पुरु-हूत) इन्द्रियगण रूप प्रजाओं से पुकारे गये इन्द्ररूप आत्मन् ! राजन् ! तू (महा-धनस्य) महान् धन, मोक्ष की (सं-सृजि) प्राप्ति के शुभ कार्य में (एधि) तत्पर हो, कमर कस ।

संसृ॑ष्टं॒ धन॑मु॒भयं॑ स॒माकृ॑तम॒स्मभ्यं॑ धत्तां॒ वरु॑णश्च म॒न्युः ।
भियो॒ दधा॑ना॒ हृद॑येषु॒ शत्र॑वः॒ परा॑जितासो॒ अप॒ नि ल॑यन्ताम् ॥७॥

भा०—(मन्युः) ज्ञानवान् आत्मा और (वरुणश्च) सर्वश्रेष्ठ वरणीय मोक्षरूप परम आत्मा (धनं) ज्ञान और आनन्दरूप (उभयं) दोनों प्रकार के धनों को (सं-सृष्टं) एक बनाकर, मिलाकर (सम्-आकृतम्) एक रस करके बराबर २ (अस्मभ्यं धत्तां) हमें दे । और (हृदयेषु) हृदयों में (भियः) नाना प्रकार के भयों को (दधानाः) उत्पन्न करने हारे (शत्रवः) शत्रुगण, काम, क्रोध लोभ आदि (परा-जितासः) पराजित होकर (अप नि लयन्ताम्) सर्वथा दूर भागें, छिपे रहें, विनष्ट हों । ये मन्त्र राजा के पक्ष में स्पष्ट हैं ।

[३२] प्रभु से प्रार्थना ।

ब्रह्मास्कन्द ऋषिः । मन्युर्देवता । १ जगती, २—७ त्रिष्टुभः । सप्तर्चं सूक्तम् ॥

७–' अस्मभ्यं दत्तां ' (तृ०) ' भियम् ' इति ऋ० । (च०) ' पराजिता यन्तु परमां परावतम् ' इति पैप्प० सं० ।

यस्ते मन्यो विंधद् वज्र सायक सह ओजः पुष्यति विश्वमानुषक् ।
साह्याम दासमार्यं त्वया युजा वयं सहस्कृतेन सहसा सहस्वता ॥१॥

ऋ० १० । ८३ । १ ॥

भा०—मन्युस्तापस ऋषिः । मन्युर्देवता । हे मन्यो ! हे वज्र ! पापकर्मों से वर्जन करने हारे ! हे (सायक) शत्रुओं को अन्त करने वाले ! (यः) जो (ते) तू (अविधत्) परिचर्या करता है, सेवन करता है वह (विश्वम्) सब प्रकार के (सहः) सहन करने वाले सामर्थ्य (ओजः) कान्ति, प्रभाव (विश्वम्) सब गुणों को (आनुषक्) निरन्तर (पुष्यति) पुष्ट करता है । (सहस्कृतेन) बल को बढ़ाने वाले (सहस्वता) पर-विजयी (त्वया युजा) तुझ सहायक से (दासम्) कर्म, धर्म का विनाश करने वाले नीचवृत्ति पुरुष को और (आर्यं) अपने धर्म कर्मों में श्रेष्ठ पुरुष को (वयं) हम (साह्याम) अपने वश करें ।

मन्युरिन्द्रो मन्युरेवास देवो मन्युर्होता वरुणो जातवेदाः ।
मन्युर्विशं ईडते मानुषीर्याः पाहि नो मन्यो तपसा सजोषाः ॥२॥

ऋ० १० । ८३ । २ ॥

भा०—(मन्युः इन्द्रः) मन्यु ही इन्द्र है, (मन्युः एव) मन्यु ही (देवः) देव (आस) है, (मन्युः होता) मन्यु होता है, (वरुणः) मन्यु ही वरुण है; (जात-वेदाः) मन्यु ही जातवेदा है, (मन्युः) वह मन्यु है जिसको (याः) जो (मानुषीः) मनुष्य मननशील प्रजाएं हैं वे सब

[३२] १–(प्र०) 'यस्ते सद्यो' (च०) 'सहसा सहीयसा' इति पैप्प० सं० ।
२–(तृ०) 'मन्युं विश' सायणाभिमत, ऋग्वेदमतश्च । (प्र०) 'मन्युर्भगो' (तृ०) 'ईडते देवयन्तीः' (च०) 'तपसा श्रमेण' इति तै० ब्रा० । 'मानुषीर्यः' इति पैप्प० सं० ।

(ईडते) स्तुति करते हैं, उपासना करते हैं । हे (मन्यो) मन्यो ! प्रभो ! तू (सजोषाः) सप्रेम (तपसा) तप से (नः पाहि) हमारी रक्षा कर ।

अभी/हि मन्यो तवसस्तवीयान् तपसा युजा वि जहि शत्रून् ।
अमित्रहा वृत्रहा दस्युहा च विश्वा वसून्या भरा त्वं नः ॥ ३ ॥

ऋ० १० । ८३ । ३ ॥

भा०—हे मन्यो ! ज्ञानवन् प्रभो ! आप (तवसः तवीयन्) महान् से भी महान् हैं । आप (तपसा युजा) अपने सदा साथ वर्तमान तप, सामर्थ्य, बल से (शत्रून्) शत्रुओं को (विजहि) सर्वथा नाश करो । (त्वं) आप (अमित्र-हा) शत्रुओं के नाशक ! (वृत्र-हा) सब विघ्नों के नाशक, (दस्यु-हा) सब डाकू आदि विनाशकारी हिंसकों के विनाश कर होकर (नः) हमें (वसूनि) धनों को (आ भर) प्राप्त करा ।

त्वं हि मन्यो अभिभूत्योजाः स्वयम्भूर्भामो अभिमातिषाहः ।
विश्वचर्षणिः सहुरिः सहीयानस्मास्वोजः पृतनासु धेहि ॥ ४ ॥

भा०—हे मन्यो ! प्रभो ! (त्वं) आप (अभिभूति-ओजाः) सर्वातिशायी ओजः=बल सम्पन्न, सर्वशक्तिमान् (स्वयं-भूः) बिना दूसरे की सहायता के स्वयं जगत् की उत्पत्ति स्थिति, प्रलय में समर्थ, अथवा स्वयं सत्तावान् किसी से न उत्पन्न होकर भी (भामः) तेजस्वी, स्वयंप्रकाश, (अभिमाति-सहः) अभिमानी शत्रुओं को पराभव करने वाले (विश्व-चर्षणिः) सब के द्रष्टा, (सहुरिः) सहनशील, सर्ववशी, (सहीयान्) बलवान् हो । आप (अस्मासु) हम (पृतनासु) प्रजाओं में (ओजः धेहि) बल का प्रदान करो ।

३–(द्वि०) 'जहीह सत्रून्' इति पैप्प० सं० ।
४–'सहुरिः सहावान्' इति ऋ० । (द्वि०) 'स्वयं जोभासो' (च०) 'सहावान् सहूयमानोऽमृताय गच्छत्' इति मै० सं० ।

अभागः सन्नप परेतो अस्मि तव क्रत्वा तविषस्य प्रचेतः ।
तं त्वा मन्यो अक्रतुर्जिहीडाहं स्वा तनूर्बलदावा न एहि ॥ ५ ॥

ऋ० १० । ८३ । ५ ॥

भा०—हे (प्रचेतः) प्रकृष्ट ज्ञानवान् ! हे मन्यो ! (तविषस्य) महान् (तव) तेरे (क्रत्वा) क्रिया सामर्थ्य, बल से (अभागः) रहित (सन्) होकर मैं (अप) दूर (परा-इतः) पराजित (अस्मि) हो जाता हूं । हे मन्यो ! तव (अक्रतुः) निर्बल, अज्ञानी होकर (अहं) मैं (त्वा) तेरी (जिहीड[1]) शरण आता हूं । तेरा (स्वा तनूः) अपना स्वरूप ही (बल-दावा) बलदायक है । अतः तू (नः) हमें (एहि) प्राप्त हो ।

अयं ते अस्म्युप न एह्यर्वाङ् प्रतीचीनः सहुरे विश्वदावन् ।
मन्यो वज्रिन्नभि न आ ववृत्स्व हनाव दस्यूँरुत बोध्यापेः ॥ ६ ॥

ऋ० १० । ८३ । ६ ॥

भा०—मैं (अयं) यह (ते अस्मि) तेरा ही हूं । आप (नः) हम से (प्रतीचीनः) प्रत्यक् तत्व, सदा अदृश्य होकर भी (नः) हमारे (अर्वाङ्) साक्षात् दर्शन (उप एहि) दें । हे (सहुरे) सहनशील, बलशालिन् ! हे (विश्वदावन्) समस्त संसार को सब पदार्थ देने हारे मन्यो ! ज्ञानवन् ! (वज्रिन्) संहारक ! (नः) हमारे (अभि आ ववृत्स्व) सहायक हों। मैं और आप दोनों (दस्यून्) दस्युओं, आत्मशक्ति के नाशक शत्रुओं को (हनाव) विनाश करें, (उत) और (आपेः) मुझ बन्धु को आप (बोधि) अपना समझें, अपनावें या ज्ञान दें ।

५–‘ स्वा तनूर्बलदेयाय मेहि ’ इति ऋ० ।

१. हिडिगत्यनादरयोः भ्वादिः ।

६–(प्र०) ‘ उपमा ’ (तृ०) ‘ वज्रिन्नभि मामाववृत्स्व ’ (द्वि०) ‘ विश्वधायः ’ इति ऋ० ।

अभि प्रेहि दक्षिणतो भवा नोऽधा वृत्राणि जङ्घनाव भूरि ।
जुहोमि ते धरुणं मध्वो अग्रमुभावुपांशु प्रथमा पिबाव ॥७॥

ऋ० १० । ८३ । ७ ॥

भा०—हे मन्यो ! आप (अभि प्रेहि) हमें साक्षात् दर्शन दें और (दक्षिणतः भव) हमारे सदा दायें होकर रहें। (अध) और (नः वृत्राणि) हमारे विघ्नों को हम दोनों मिलकर (भूरि) खूब (जंघनाव) विनाश करें। हे मन्यो ! (ते) तेरे (मध्वः) मधु=मधुर आनन्द रस का (अग्रं) सार-भूत श्रेष्ठ (धरुणं) ध्रुव, चिरस्थायी स्वरूप को (जुहोमि) मैं स्वीकार करता हूं, प्राप्त करता हूं। (उभौ) हम दोनों प्रभु और भक्त मिलकर (उप-अंशु) शान्त, एकान्त में (प्रथमा) सब से पूर्व उस रस का (पिबाव) पान करें।

[३३] पाप नाश करने की प्रार्थना।

ब्रह्मा ऋषिः । पापनाशनोऽग्निर्देवता । १–८ गायत्र्यः । अष्टर्चं सूक्तम् ॥

अप नः शोशुचदघमग्ने शुशुग्ध्या रयिम् ।
अप नः शोशुचदघम् ॥ १ ॥ ऋ० १ । ९७ । १ ॥

भा०—हे (अग्ने) जाज्वल्यमान तेजःस्वरूप परमात्मन् ! (नः) हमारे (अघम्) पाप को (अप शोशुचत्) दूर करो और (रयिम्) हमारे वीर्य को (शुशुग्धि) खूब प्रज्वलित करो। (नः अघम् अप शोशुचद्) हमारे पापों को दूर करो।

७–(च०) 'पिबेव' इति पैप्प० सं० ! (प्र०) 'मेऽधा' (च०) 'उभा उपांशु' इति ऋ० ।

सुक्षेत्रिया सुगातुया वसूया च यजामहे ।

अपं० ॥ २ ॥ ऋ० १ । ९७ । २ ॥

भा०—हे प्रभो ! (सुक्षेत्रिया) उत्तम क्षेत्र=देह की प्राप्ति के लिये और (सुगातुया) और उत्तम मार्ग—देवयान को प्राप्त करने की इच्छा से और (वसूया च) उत्तम वसु=आत्मा को या परम आत्मरूप आनन्द मोक्ष को प्राप्त करने की इच्छा से (यजामहे) हम आपकी उपासना करते हैं । आप (नः अघम् अप शोशुचद्) हमारे पापों को जला कर नष्ट करें ।

प्र यद् भन्दिष्ठ एषां प्रास्माकासश्च सूरयः ।

अपं० ॥ ३ ॥ ऋ० १ । ९७ । ३ ॥

भा०—(एषां) इन हमारे समस्त विद्वान् कल्याण-कारियों में से (यत्) क्योंकि प्रभो आप ही (भन्दिष्ठः) सब से अधिक सुखकारी और कल्याणकारी है और (अस्माकासः सूरयः च) हमारे विद्वान् भी कल्याण कारी है । उनके संग में रख कर (नः अघम् अप शोशुचत्) हमारे पापों को दूर करो ।

प्रयत् ते अग्ने सूरयो जायेमहि प्र ते वयम् ।

अपं० ॥ ४ ॥ ऋ० १ । ९७ । ४ ॥

भा०—हे (अग्ने) ज्ञानमय प्रभो ! (यत्) क्योंकि (ते) तुझ से ही (सूरयः प्र) विद्वान् लोग उत्पन्न होते हैं अतः (वयम्) हम भी (ते प्रजायेमहि) तुझ से ही विद्या प्राप्त करके उन्नत हों । (नः अघम् अप शोशुचद्) हमारे पापों को आप दूर करें ।

प्र यद॒ग्नेः सह॑स्वतो वि॒श्वतो॒ यन्ति॑ भा॒नवः॑ ।

अपं० ॥ ५ ॥ ऋ० १ । ९७ । ५ ॥

[३३] ४–' जायेमहे ' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(यत्) क्योंकि (सहस्वतः) सब को अभिभव करने वाले बल से सम्पन्न (अग्ने) प्रकाशस्वरूप आपके (भानवः) तेजःस्वरूप सहस्रों सूर्य रूप किरणें (विश्वतो यन्ति) चारों तरफ गति कर रहे हैं। अतः आप (नः अघम् अप शोशुचद्) हमारे पाप को दूर करें।

त्वं हि विश्वतोमुख विश्वतः परिभूरसि ।
अप॰ ॥ ६ ॥ ऋ० १ । ९७ । ६ ॥

भा०—हे (विश्वतः-मुख) सर्वव्यापक, सब ओर सहस्रों मुखों वाले आप (विश्वतः) सब प्रकार से (परि-भूः असि) सर्वत्र व्यापक और सब पर शक्तिशाली हो, इसलिये आप (नः अघम् अप शोशुचत्) हमारे पापों को दूर करें। " सहस्र शीर्षाः पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् " इति (यजुर्वेद अ० ३१)।

द्विषो नो विश्वतोमुखाति नावेव पारय ।
अप॰ ॥ ७ ॥ ऋ० १ । ९७ । ७ ॥

भा०—हे (विश्वतोमुख) सर्वव्यापक सर्वद्रष्टा ! आप (नावा इव) जिस प्रकार नौका से समुद्रों को पार किया जाता है उसी प्रकार (नः) हमें (द्विषः अति पारय) काम क्रोध आदि अन्तः-शत्रुओं से पार कर। और (नः अघम् अप शोशुचत्) हमारे पाप हम से दूर कर।

स नः सिन्धुमिव नावाति पर्षा स्वस्तये ।
अप नः शोशुचदघम् ॥ ८ ॥ ऋ० १ । ९७ । ८ ॥

भा०—(सः) वह परम पवित्र आप (नावा) नाव—जहाज़ से (सिन्धुम् इव) समुद्र के समान (नः) हमें हमारे (स्वस्तये) सुख,

८—(प्र०) ' नावया ' इति ऋ०, पैप्प० सं० ।

परम आनन्दमय कल्याण के लिये (अति पर्षा) इस भवसागर से पार करो और (नः अघम् अप शोशुचद्) हमारे पापों को हम से दूर करो ।

---

[३४] विष्टारी ओदन, परम प्रजापति की उपासना और फल ।

अथर्वा ऋषिः । ब्रह्मास्यौदनं विष्टारी ओदनं वा देवता । १–३ त्रिष्टुभः, ५ त्र्यवसाना सप्तपदाकृतिः, ६ पञ्चपदातिशक्करी, ७ भुरिक् शक्करी, ८ जगती । अष्टर्चं सूक्तम् ॥

ब्रह्मास्य शीर्षं बृहदस्य पृष्ठं वामदेव्यमुदरमोदनस्य ।
छन्दांसि पक्षौ मुखमस्य सत्यं विष्टारी जातस्तपसोऽधि यज्ञः ॥१॥

भा०—(यज्ञः) यह यज्ञमय प्रजापति (विष्टारी) सर्वत्र विस्तृत, ब्रह्माण्ड रूप में विराट् देह करके फैला हुआ है । यह (तपसः अधिजातः) उस तपरूप परम परमात्मा से उत्पन्न हुआ है । इसका एक नाम 'ओदन'= प्रजापति या परमेष्ठी है । (अस्य) इस (ओदनस्य) प्रजापतिरूप ओदन का (शीर्षम्) शिरोभाग (ब्रह्म) ब्रह्मज्ञान, वेद या शक्ति है और (अस्य पृष्ठम्) इसकी पीठ (बृहत्) यह विशाल ब्रह्माण्ड है और (उदरं) उदर भाग (वामदेव्यम्) वाम=जीव द्वारा अधिष्ठित संसार स्थावर जंगम है । यज्ञपक्ष में—उस ओदन का शिरोभाग रथंतर साम, पृष्ठभाग बृहत् साम और उदरभाग वामदेव्य साम हैं । वर्णभेद से उसका शिरोभाग ब्राह्मण, पृष्ठभाग बृहत्-क्षत्र और वामदेव्य-वैश्य हैं । इसके (पक्षौ) दोनों पक्ष (छन्दांसि) छन्द हैं । (अस्य मुखम्) इसका मुख सत्य है ।

संवत्सर, पुरुष, आत्मा, परमात्मा, समाज, राष्ट्र, यज्ञ आदि प्रजापति

---

[३४] १–(प्र०) 'ब्रह्मास्य शिरः' (च०) 'विष्टा यज्ञस्तपसोऽधि जातः' इति पैप्प० सं० ।

के नाम से कहे जाते हैं सब पद्यों में ब्रह्म बृहत्, वामदेव्य, छन्द आदि शब्दों के अर्थ इस रूप में समझिये ।

(१) यज्ञः=मखः, भागः, देवानां महः । एष वै महान् देवो यद् यज्ञः (गो० पू० २ । १६) यज्ञो वै बृहन् विपश्चित् । श० ३ । ५ । ३ । १२ ॥ यज्ञो विदद् वसुः । श० १५ । ४ । ५ ॥ यज्ञो वै स्वः । श० १ । १ । २ । २१ ॥ देवरथः । ऐ० २ । ३७ ॥ वाग् वै यज्ञः । ऐ० ५ । ५४ ॥ संवत्सरो यज्ञः प्रजापति । शं० २ । २ । २ । ४ ॥ आत्मा वै यज्ञः । श० ६ । २ । १ । ७ ॥ पुरुषो वै यज्ञः । कौ० १७ । ७ ॥

(२) ओदनः=परमेष्ठी वा ऐष यदोदनः । तै० १ । ७ । १० । ६ ॥ प्रजापतिर्वा ओदनः । श० १३ । ३ । ६ । ७ ॥ रेतो वा ओदनः । श० १३ । १ । १४ । ४ ॥

(३) ब्रह्म=वाग्, वाचः परमं व्योम, सत्वं, चक्षुः, मन्त्रः, वेदः, अग्निः, प्राणः, अहः, ब्राह्मणः इत्येते ब्रह्मवाच्यार्थाः ।

(४) बृहत्—बृहन्मर्याः इदं सः ज्योगभूद् इति बृहतो बृहत्त्वम् । तां० ७ । ६ । ५ ॥ यद् ह्रस्वं तद् रथन्तरं यद् दीर्घं तद् बृहत् । कौ० ३ । ५ ॥ श्रैष्ठ्यं । ऐ० ८ । २ । यथा वै पुत्रो ज्येष्ठ, एवं बृहत् प्रजापतेः ॥ तां० ७ । ६ । ६ ॥ ऊर्ध्वमिव हि बृहत् । द्यौः । तां० १६ । १ । ८ ॥ स्वर्गो लोकः । तां १६ । ५ । १५ ॥ आदित्यः, प्राणः, क्षत्रं, मनः । स प्रजापतिः तूष्णीं मनसाऽध्यायत् स यन्मनस्यासीत् तत् बृहत्समभवत् । तां० ७ । ६ । १ ।

(५) वामदेव्यम्=पिता वामदेव्यं, पुत्राः पृष्ठानि । ता० ७ । ६ १ ॥ शान्तिर्वामदेव्यम् तै० १ । १ । ८ । २ ॥ प्रजननं वामदेव्यं । श० ५ । १ । ३ । १२ ॥ प्राणः । श० ६ । १ । २ । ३८ ॥ पशवः । तां० ४ । ८ । १५ ॥

(६) छन्दांसि=दिशः, रसः, इन्द्रियाणि, प्राणाः, पशवः । प्रजापतेर्वा एतान्यंगानि यच्छन्दांसि । ऐ० ८ । १८ ॥ लोमानि । श० ६ । ४ । १ । ६ ॥ छन्दांसि सावित्री । गो० पू० १ । ३३ ॥

(७) सत्यम्=ऋतम्, धर्मः, सुकृतस्य लोकः, व्रतस्य रूपम्, देवाः, ब्रह्म, सत्यं वा एतत् यद्वर्षति । तै० १ । ७ । ५ । ३ ॥ असावादित्यः तै० २ । १ । ११ । १ ॥ विशेषविवरणं परिशिष्टे द्रष्टव्यम् ।

अनस्थाः पूताः पवनेन शुद्धाः शुचयः शुचिमपि यन्ति लोकम् ।
नैषां शिश्नं प्र दहति जातवेदाः स्वर्गे लोके बहु स्त्रैणमेषाम् ॥२॥

भा०—उक्त प्रकार के प्रजापति की उपासना एवं ज्ञान करने वाले विद्वान् पुरुष (अनस्थाः) अस्थि आदि स्थूल पदार्थों के बने शरीर बन्धन से मुक्त होकर (पवनेन शुद्धाः) पवन, सब के परमपावन परमात्मा की ज्योति से शुद्ध हुए हुए, (शुचयः) वाक् मनः, कर्म सब प्रकार से पवित्र एवं कान्तिमान् होकर (शुचिम् लोकम्) शुद्ध पवित्र, ज्योतिर्मय लोक मोक्ष को (अपि यन्ति) प्राप्त होते हैं । (जातवेदाः) समस्त उत्पन्न लोकों को जानने हारा परमात्मा (एषां) इन मुक्त पुरुषों के (शिश्नं[1]) सुख-प्राप्ति के साधन सामर्थ्यों को (न प्र दहति) दग्ध नहीं करता । इसलिये (स्वर्गे लोके) स्वर्ग=सुखमय लोक में भी (एषां) इन मुक्तात्माओं को (बहु स्त्रैणम्) बहुत से भोग्य लोक प्राप्त होते हैं ।

आत्मज्ञानी अपने सुरक्षित सामर्थ्य से मुक्त होकर यथेच्छ होकर सर्व लोकों में जासकते हैं । जैसा उपनिषद् में लिखा है । " स स्वराड् भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति । " छान्दो० । (१० । २५) इस

२–(प्र०) ' अनस्थाः शुद्धाः पवनेन पूताः ' इति पैप्प० सं० ।
१. ' शिश्नं श्नथतेः ' नि० ४ । ३ । ३ ॥

तत्व को न समझ कर अन्य मजहब वालों ने स्वर्ग में अप्सराओं और हूरों की कल्पना की है। वस्तुतः शिश्न-इन्द्रियों के सामर्थ्य का उपलक्षण है और स्त्रियां भोग्य लोकों का उपलक्षण हैं। क्योंकि समस्त आनन्दों का एकायन 'शिश्न' को माना गया है इसलिये उसी का उपादान किया है और श्लेषवृत्ति से "स्त्रैणम्" शब्द से भोग्य पदार्थ को बतलाया गया है। मुक्तात्माओं के देहादि अवयय न होने से शिश्नादि शब्द की भोग-साधन सामर्थ्य में लक्षणा है। इसकी तुलना इसी सूक्त के ४ र्थ मन्त्र से करो।

विष्टारिणमोदनं ये पचन्ति नैनानवर्तिः सचते कदा चन ।
आस्ते यम उप याति देवान्त्सं गन्धर्वैर्मदते सोम्येभिः ॥ ३ ॥

भा०—(ये) जो मुक्त पुरुष (विस्तारिणं) विस्तृत, विराड् रूप इस (ओदनं) प्रजापति विषयक ज्ञानरूप 'ओदन' को (पचन्ति) परिपक्व करते हैं। उसका अभ्यास करते, पकाते हैं, अपने हृदय में दृढ़ कर लेते हैं (एनान्) उन पुरुषों को (अवर्त्तिः) किसी पदार्थ का अभाव (कदा चन) कभी भी (न सचते) नहीं रहता। मुक्तात्मा पुरुष (यमे) समस्त विश्व के नियामक परमेश्वर में (आस्ते) आश्रय ले लेता है, और (देवान्) पूर्व मुक्त आत्माओं के भी (उप याति) समीप प्राप्त होता है, और (सोम्येभिः) सोम=ब्रह्मानन्द रस का उपभोग करने हारे उन (गन्धर्वैः) ज्ञानी पुरुषों के साथ ही (मदते) परम हर्ष को प्राप्त करता है।

विष्टारिणमोदनं ये पचन्ति नैनान् यमः परि मुष्णाति रेतः ।
रथी ह भूत्वा रथयान ईयते पक्षी ह भूत्वाति दिवः समेति ॥४॥

भा०—पूर्वोक्त भावों को और अधिक स्पष्ट करते हैं। (ये विष्टारिणं

३-(द्वि०) 'कुतश्चन', (च०) 'सौम्यैः' इति पैप्प० सं०।
४-(तृ०) 'रथायान ईयते' इति पैप्प० सं०।

(६) छन्दांसि=दिशः, रसः, इन्द्रियाणि, प्राणाः, पशवः । प्रजापतेर्वा एतान्यंगानि यच्छन्दांसि । ऐ० ८ । १८ ॥ लोमानि । श० ६ । ४ । १ । ६ ॥ छन्दांसि सावित्री । गो० पू० १ । ३३ ॥

(७) सत्यम्=ऋतम्, धर्मः, सुकृतस्य लोकः, व्रतस्य रूपम्, देवाः, ब्रह्म, सत्यं वा एतत् यद्वर्षति । तै० १ । ७ । ५ । ३ ॥ असावादित्यः तै० २ । १ । ११ । १ ॥ विशेषविवरणं परिशिष्टे द्रष्टव्यम् ।

अनस्थाः पूताः पवनेन शुद्धाः शुचयः शुचिमपि यन्ति लोकम् ।
नैषां शिश्नं प्र दहति जातवेदाः स्वर्गे लोके बहु स्त्रैणमेषाम् ॥२॥

भा०—उक्त प्रकार के प्रजापति की उपासना एवं ज्ञान करने वाले विद्वान् पुरुष (अनस्थाः) अस्थि आदि स्थूल पदार्थों के बने शरीर बन्धन से मुक्त होकर (पवनेन शुद्धाः) पवन, सब के परमपावन परमात्मा की ज्योति से शुद्ध हुए हुए, (शुचयः) वाक् मनः, कर्म सब प्रकार से पवित्र एवं कान्तिमान् होकर (शुचिम् लोकम्) शुद्ध पवित्र, ज्योतिर्मय लोक मोक्ष को (अपि यन्ति) प्राप्त होते हैं । (जातवेदाः) समस्त उत्पन्न लोकों को जानने हारा परमात्मा (एषां) इन मुक्त पुरुषों के (शिश्नं[1]) सुख-प्राप्ति के साधन सामर्थ्यों को (न प्र दहति) दग्ध नहीं करता । इसलिये (स्वर्गे लोके) स्वर्ग=सुखमय लोक में भी (एषां) इन मुक्तात्माओं को (बहु स्त्रैणम्) बहुत से भोग्य लोक प्राप्त होते हैं ।

आत्मज्ञानी अपने सुरक्षित सामर्थ्य से मुक्त होकर यथेच्छ होकर सर्व लोकों में जासकते हैं । जैसा उपनिषद् में लिखा है । " स स्वराड् भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति । " छान्दो० । (१० । २५) इस

२–(प्र०) ' अनस्थाः शुद्धाः पवनेन पूताः ' इति पैप्प० सं० ।

१. ' शिश्नं श्नथतेः ' नि० ४ । ३ । ३ ॥

तत्व को न समझ कर अन्य मजहब वालों ने स्वर्ग में अप्सराओं और हूरों की कल्पना की है। वस्तुतः शिश्न-इन्द्रियों के सामर्थ्य का उपलक्षण है और स्त्रियां भोग्य लोकों का उपलक्षण हैं। क्योंकि समस्त आनन्दों का एकायन 'शिश्न' को माना गया है इसलिये उसी का उपादान किया है और श्लेषवृत्ति से "स्त्रैणम्" शब्द से भोग्य पदार्थ को बतलाया गया है। मुक्तात्माओं के देहादि अवयय न होने से शिश्नादि शब्द की भोग-साधन सामर्थ्य में लक्षणा है। इसकी तुलना इसी सूक्त के ४ थें मन्त्र से करो।

विस्तारिणमोदनं ये पचन्ति नैनानवर्तिः सचते कदा चन।
आस्ते यम उप याति देवान्त्सं गन्धर्वैर्मदते सोम्येभिः ॥ ३ ॥

भा०—(ये) जो मुक्त पुरुष (विस्तारिणं) विस्तृत, विराड् रूप इस (ओदनं) प्रजापति विषयक ज्ञानरूप 'ओदन' को (पचन्ति) परिपक्व करते हैं। उसका अभ्यास करते, पकाते हैं, अपने हृदय में दृढ़ कर लेते हैं (एनान्) उन पुरुषों को (अवर्त्तिः) किसी पदार्थ का अभाव (कदा चन) कभी भी (न सचते) नहीं रहता। मुक्तात्मा पुरुष (यमे) समस्त विश्व के नियामक परमेश्वर में (आस्ते) आश्रय ले लेता है, और (देवान्) पूर्व मुक्त आत्माओं के भी (उप याति) समीप प्राप्त होता है, और (सोम्येभिः) सोम=ब्रह्मानन्द रस का उपभोग करने हारे उन (गन्धर्वैः) ज्ञानी पुरुषों के साथ ही (मदते) परम हर्ष को प्राप्त करता है।

विष्टारिणमोदनं ये पचन्ति नैनान् यमः परि मुष्णाति रेतः।
रथी ह भूत्वा रथयान ईयते पक्षी ह भूत्वाति दिवः समेति ॥४॥

भा०—पूर्वोक्त भावों को और अधिक स्पष्ट करते हैं। (ये विष्टारिणं

३–(द्वि०) 'कुतश्चन', (च०) 'सौम्यैः' इति पैप्प० सं०।
४–(तृ०) 'रथायान ईयते' इति पैप्प० सं०।

ओदनं पचन्ति) जो उस महान् , विश्वव्यापी, प्रजापति के यथार्थ ज्ञान का परिपाक करते हैं (एनान् रेतः) इनके वीर्य=सामर्थ्य को भी (यमः) वह संसार का व्यवस्थापक (न परि मुष्णाति) नहीं हरता। इसलिये वह (रथी ह भूत्वा) रथ में चढ़े राजा के समान, आत्मवान् होकर (रथयाने) केवल आत्मा द्वारा प्राप्त करने योग्य ब्रह्मलोक में (ईयते) प्राप्त होता है। और (पत्ती ह भूत्वा) ज्ञान और कर्म दोनों सामर्थ्यरूप पत्तों से युक्त, शुद्ध आत्मा होकर (अति दिवः) द्यौलोक, तेजोमय लोक को पार करके (सम् एति) उस ब्रह्म में लीन हो जाता है।

ये वै विद्वांसस्ते पक्षिणो येऽविद्वांसस्तेऽपक्षाः।
त्रिवृत्पञ्चदशावेव स्तोमौ पक्षौ कृत्वा स्वर्गं लोकं प्रयन्ति।
तां० १४ । १ । १३ ॥

एष य॒ज्ञानां॒ वित॑तो॒ वहि॑ष्ठो विष्टा॒रिणं॑ प॒क्त्वा दिव॒मा वि॑वेश।
आ॒ण्डीकं॒ कुमु॑दं॒ सं त॑नोति॒ बिसं॑ शा॒लूकं॒ शफ॑को मुला॒ली।
ए॒तास्त्वा॒ धारा॒ उप॑ यन्तु॒ सर्वाः॑ स्व॒र्गे लो॒के मधु॑मत् पिन्व॑माना॒।
उप॑ त्वा तिष्ठन्तु पुष्क॒रिणीः॑ सम॑न्ताः ॥ ५ ॥

भा०—(एषः) यह प्रजापति (यज्ञानां) सब आत्माओं में से (वहिष्ठः) सब से अधिक महान् (विततः) सर्वव्यापक है। उस (विस्तारिणम्) व्यापक परमेश्वर विषयक ज्ञान को (पक्त्वा) परिपक्व कर ज्ञानी पुरुष (दिवम्) तेजोमय स्वर्ग=मोक्ष लोक को (आ विवेश) प्राप्त करता है। जिस प्रकार हंस सुन्दर तालाब में गोल २ अण्डाकृति कमल, कमलनाल, कमलकन्द और मृणाल, शफक आदि पद्मविशेष प्राप्त करता

५–' वहिष्ठः '। इति सायणसम्मतः। (प्र०) ' एष यज्ञो विततो वहिष्ठो विष्टारपक्त्वो दिव ' इति पैप्प० सं०।

है उसी प्रकार वह परमहंस मुक्तात्मा मोक्ष-स्थान में (आण्डीकम्) ब्रह्माण्ड में व्याप्त (कुमुदं) आनन्दमय, (बिसं) सब के प्रेरक, (शालूकं) कमलकन्द के समान आनन्दकन्द, (शफकः) ज्ञानघन, (मुलाली) मूल शक्ति जिस में जगत् अंकुरित और लीन होता है इन सब सुख कर पदार्थों को (तनोति) साक्षात् करता है । (एताः सर्वाः धाराः) हे मुमुक्षो ! ये सब समस्त संसार के धारण करने वाली शक्तियें, (त्वा) तुझे (उपयन्तु) प्राप्त हों । और ये सब (स्वर्गे लोके) उस सुखमय लोक में (मधुमत्) आनन्दमय अमृत को (पिन्वमानाः) उत्पन्न करती हुई (सम् अन्ताः) शुभ परिणाम वाली (पुष्करिणीः) नाना प्रकार से आत्मा को पुष्ट करने वाली शक्तियां (त्वा उप तिष्ठन्तु) तुझे प्राप्त हों ।

इस मन्त्र में 'बहिष्ठ' शब्द आया है । इसका अपभ्रष्ट रूप 'बहिश्त'= स्वर्ग मुसलमान मानते हैं ।

घृतह्रदा मधुकूलाः सुरोदकाः क्षीरेण पूर्णा उदकेन दध्ना ।
एतास्त्वा० ॥ ६ ॥

भा०—इन धारणशील शक्तिमय रूप धाराओं का स्वरूप दर्शाते हैं । हे मुमुक्षो ! जिस प्रकार जल-धाराएं जल से भरे तालों से युक्त, सुन्दर आनन्दप्रद तटों से सुशोभित, गोदुग्ध आदि से पूर्ण, सुरा के समान मादक द्रव्य से युक्त धारायें और सुन्दर नदियां मनुष्य को आनन्दित करती हैं उसी प्रकार मोक्ष में पूर्वोक्त धारायें (घृतह्रदाः) ज्ञान और तेज के तालावों से भरी, (मधुकूलाः) शहद के समान मधुर रस वाले तटों से सुशोभित, (सुरोदकाः) सुख से रमण करने योग्य परमानन्द रूप जल से भरी, (क्षीरेण पूर्णाः) दुग्ध के समान परम भोग्य रस से परिपूर्ण (उद-

६–' एतास्त्वां तल्पा उपयन्ति विश्वतः स्वर्गे लोके स्वधया मादयन्तीः ' इति पैप्प० सं० ।

केन) ऊर्ध्व गति में प्राप्त करने वाले और (दध्ना) समस्त संसार को धारण करने वाले बल से परिपूर्ण (एताः धाराः सर्वाः त्वा स्वर्गे लोके उपयन्तु) वे सब नाना जगत्-धारक शक्तियां तुझ को सम्पत्ति रूप में प्राप्त हों। और (समन्ताः पुष्करिणीः मधुमत् पिन्वमानाः उप त्वा तिष्ठन्तु) शुभ फलप्रद पुष्टिकारक आत्मशक्तियों की वर्धक शक्तियां भी राजोद्यान में सुन्दर पुखरिनियों के समान आनन्दमय अमृत को उत्पन्न करती हुई तुझे प्राप्त हों।

इसका रहस्य देखो छान्दोग्य उप० में ब्रह्मलोक वर्णन—"ब्रह्मलोके तृतीयस्यामितो दिवि तदैरंमदीयं सरस्तदश्वत्थः सोमसवनं, तदपराजिता पूर्ब्रह्मणः प्रभुविमितं हिरण्मयम्।" (छा० ८। ५। ३) इसका स्पष्टीकरण देखो १ म खण्ड सामभाष्य की भूमिका में 'सोमदेवता' (पृ० ४१)। बहिश्त या स्वर्ग में घी दूध की नहरों का भाव यहां से अन्य मतावलम्बियों ने लिया है।

चतुरः कुम्भांश्चतुर्धा ददामि क्षीरेण पूर्णां उदकेन दध्ना।
एतास्त्वा धारा उप यन्तु सर्वाः स्वर्गे लोके मधुमत् पिन्वमाना उप त्वा तिष्ठन्तु पुष्करिणीः समन्ताः ॥ ७ ॥

भा०—प्रजापति के प्रतिनिधि यज्ञ में जिस प्रकार चार कलश दूध जल और दही से भर कर रखे जाते हैं उसी प्रकार उस परम ब्रह्मलोक में हे मुमुक्षो! (क्षीरेण) परम भोग्य रस (उदकेन) ऊपर को खैंचने वाली शक्ति से और (दध्ना) धारक शक्ति से (पूर्णान्) पूर्ण (चतुरः) चार (कुम्भान्) घटों के समान आश्रयभूत चारों पुरुषार्थों को (चतुर्धा) चार प्रकार से

७–'चतुर्धा दधामि' इति सायणसम्मतः पाठः। 'चतुष्कुम्भ्यां चतुर्धा ददाति' इति पैप्प० सं०।

(ददामि) मैं परमात्मा सब जीवों को प्रदान करता हूं । (एतास्त्वा धाराः० इत्यादि पूर्ववत्) ये सब आनन्दधारायें तुझे स्वर्गलोक में भी प्राप्त हों । और सब आनन्द-उत्पादक, आत्मा के शक्ति को पुष्ट करने वाली शक्तियां भी मिलें अतः दृढ़ चित्त होकर आत्म-ज्ञान का सम्पादन कर ।

इममोदनं नि दधे ब्राह्मणेषु विष्टारिणं लोकजितं स्वर्गम् ।
स मे मा क्षेष्ट स्वधया पिन्वमानो विश्वरूपा धेनुः कामदुघा मे अस्तु ॥ ८ ॥

भा०—मैं परमेश्वर (इमं) इस (विष्टारिणं) सर्वव्यापक (स्वर्गं) सुखमय मोक्षरूप (लोकजितं) समस्त लोकों पर वश करा देने वाले (ओदनं) प्रजापति को (ब्राह्मणेषु) ब्रह्मज्ञानियों में (निदधे) प्रदान करता हूं, उपदेश करता हूं । (स्वधया पिन्वमानः) अमृत से समस्त मुक्तात्माओं को तृप्त करने वाला वह ओदन, प्रजापति का स्वरूप (मे) मुझ मुमुक्षु के लिये (मा क्षेष्ट) नष्ट न हो प्रत्युत (मे) मुझ मुमुक्षु के लिये वही प्रजापति, परमेष्ठी ब्रह्म (विश्वरूपा धेनुः) सब प्रकार की कामधेनु होकर (कामदुघा) समस्त कामनाओं को पूर्ण करने हारी (अस्तु) हो ।

[३५] प्रजापति की उपासना से मृत्यु को तरना ।

प्रजापतिर्ऋषिः । मृत्योरतिक्रमणं देवता । ३ भुरिक्, ४ जगती, १, २, ५–७ त्रिष्टुभः । सप्तर्चं सूक्तम् ॥

८–(प्र०) ‘ इममोदनं पचसि मिश्रधन्वानो ’ (द्वि०) ‘ लोकजितीयं स्वर्गं ’ (तृ०) ‘ क्षेष्ट सदसिष्यमाणा ’ इति (च०) ‘ विश्वरूपा-कामदुघा धेनुरस्तु मे ’ इति पैप्प० सं० ।

यमोद॒नं प्र॑थम॒जा ऋ॒तस्य॑ प्र॒जाप॑ति॒स्तप॑सा ब्र॒ह्मणेऽप॑चत् ।
यो लो॒काना॒ं विधृ॑ति॒र्नाभि॒रेषा॒त् तेनौ॑द॒नेनाति॑ तराणि मृ॒त्युम् ॥१॥

भा०—पूर्व सूक्त में कहे ओदन रूप प्रजापति के विराट् सामर्थ्य का और वर्णन करते हैं। (ऋतस्य) मूल भूत ब्रह्म की शक्ति से प्रेरित प्रकृति के भी (प्रथम-जाः) प्रथम उत्पन्न उसके पूर्व विद्यमान (प्रजापतिः) समस्त प्रजारूप अन्य लोकों के परिपालक ईश्वर ने (ब्रह्मणे) इस विशाल मूल-कारण प्रकृति से (यम् ओदनं) जिस ओदन रूप प्रकृति के विकारकारी सामर्थ्य को (अपचत्) परिपक्व रूप में प्रकट किया और (यः) जो (लोकानां) समस्त लोकों को (विधृतिः) विशेष रूप से धारण करने वाली शक्ति और (नाभिः) उन को बांधने, व्यवस्थित रखने वाली केन्द्र शक्ति या उपादानकारण है। (तेन ओदनेन) उस ओदन रूप परमेष्ठी के ज्ञान से (मृत्युम्) मृत्यु को (अति तराणि) पार करूं।

येनात॑रन् भूत॒कृतोऽति॑ मृ॒त्युं यम॒न्ववि॑न्द॒न् तप॑सा॒ श्रमे॑ण ।
यं प॒पाच॑ ब्र॒ह्मणे॒ ब्रह्म॒ पूर्वं॒ तेनौ॰ ॥ २ ॥

भा०—उसी महान् जगत्-धारक सामर्थ्य को और स्पष्ट रूप से बतलाते हैं। (येन) जिस सामर्थ्य से (भूत-कृतः) समस्त प्राणियों को रचने वाले विश्वस्रष्टा, विद्वान् लोग (मृत्युं) मौत को (अति तरन्) पार कर जाते हैं। और (यम्) जिसको योगी लोग (तपसा) तप से और (श्रमेण) श्रम से (अनु अविन्दन्) उपलब्ध करते और उसका ज्ञान करते हैं। और (यं) जिसको (पूर्वं ब्रह्म) वह पूर्ण ब्रह्म, परमेश्वर (ब्रह्मणे) मूल प्रधान, प्रकृति के निमित्त (पपाच) परिपाक करता है (तेन ओदनेन) उस परम ज्ञानमय सामर्थ्य से (मृत्युम् अति तराणि) मृत्यु को मैं पार करूं।

[३५] १-(तृ०) 'नाभिरेका' इति सायणसम्मतः पाठः । 'नाभिरेषाम्' इति क्वचित् ।

यो दाधार पृथिवीं विश्वभोजसं यो अन्तरिक्षमापृणाद् रसेन ।
यो अस्तभ्नाद् दिवमूर्ध्वो महिम्ना तेनौ० ॥ ३ ॥

भा०—(यः) जो वह ओदनरूप सामर्थ्य (विश्व-भोजसं) समस्त संसार के परिपालक (पृथिवीं) इस पृथिवीं को (दाधार) धारण किये हुए है और (यः रसेन) जो अपने रस, सार, बल और मेघादि जल से (अन्तरिक्षं) अन्तरिक्ष और उस में विद्यमान वायु आदि पदार्थों को (आ पृणाद्) पूर्ण कर देता है । और जो (महिम्ना) बड़े सामर्थ्य से स्वयं (ऊर्ध्वः) सब से उच्च कोटि पर विराजमान होकर भी (दिवम्) इस सूर्य लोक या द्यौलोक को (अस्तभ्नात्) थामे हुए है । (तेन ओदनेन मृत्युम् अति तराणि) उस ओदन रूप, परम ब्रह्म शक्ति से मैं मृत्यु को पार कर जाऊं ।

यस्मिन्मासा निर्मितास्त्रिंशदराः संवत्सरो यस्मान्निर्मितो द्वादशारः ।
अहोरात्रा यं परियन्तो नापुस्तेनौ० ॥ ४ ॥

भा०—उस ओदन रूप परम शक्ति का काल पर वश बतलाते हैं । (यस्मात्) जिस परम शक्ति से (त्रिंशत्-अराः) तीस दिन रूप अरों सहित (मासाः) मास चक्र (निः-मिताः) बनाये गये अर्थात् जिस शक्ति से प्रति मास ३० बार अपनी कीली पर पृथ्वी को और मास में एक बार पृथ्वी के चारों ओर चन्द्र को घुमाया जा रहा है । और (यस्मात्) जिस उपादान में से (द्वादशारः संवत्सरः) १२ बारह अरों वाला संवत्सर चक्र (निः-मितः) बनाया गया है अर्थात् पृथ्वी को राशियों से अंकित क्रान्ति वृत्त पर १२ मासों में एक बार नियम से घुमाया जा रहा है और (यं) जिस तक (परि-यन्तः) बराबर गति करते हुए, निरन्तर गुजरते हुए (अहोरात्राः) दिन रात भी

४–(तृ०) 'पर्यन्तः' इति सायणाभिमतः ।

(न आपुः) नहीं पहुंचते अर्थात् जिसको समाप्त नहीं कर सकते मैं (तेन ओदनेन मृत्युम् अतितराणि) उस अनन्त, महाकालेश्वर प्रभुरूप ओदन=प्रजापति के बल से मौत को तर जाऊं।

यः प्राणदः प्राणदवान् बभूव यस्मै लोका घृतवन्तः क्षरन्ति।
ज्योतिष्मतीः प्रदिशो यस्य सर्वास्तेनौ० ॥ ५ ॥

भा०—(यः) जो वह परम शक्ति (प्राणदः) सब को प्राण, जीवन देने वाला होकर भी (प्राणद-वान्) प्राण देने वाले वायु, सूर्य, जल आदि दिव्य पदार्थों का स्वामी (बभूव) है। (यस्मै) जिसके निमित्त, जिसके बल पर, जिसके शासन से, (घृतवन्तः) तेजस्वी, प्रकाशवान् सूर्य आदि (लोकाः) लोक (क्षरन्ति) जीवन रस को भूमण्डल पर फेंक रहे हैं। और (यस्य) जिसके सामर्थ्य से (सर्वाः प्र-दिशः) समस्त दिशाएं (ज्योतिष्मतीः) ज्योतिर्मय नक्षत्र सूर्यों से जगमगा रही हैं, मैं (तेन, ओदनेन, मृत्युम् अतितराणि) उस परम सामर्थ्यमय, रसरूप शक्ति से मौत को पार करूं।

यस्मात् पक्वादमृतं सम्बभूव यो गायत्र्या अधिपतिर्बभूव।
यस्मिन् वेदा निहिता विश्वरूपास्तेनौदनेनाति तराणि मृत्युम् ॥ ६ ॥

भा०—(यस्मात्) जिस (पक्वाद्) परिपक्व सामर्थ्य, एवं सुविचारित पुनः २ योग समाधि द्वारा अभ्यास किये गये ब्रह्म से (अमृतम् सम्-बभूव) अमृत, परम मोक्ष रस उत्पन्न होता है। और (यः) जो (गायत्र्याः अधिपतिः बभूव) वेद की मूलभूत गायत्री=परम शक्ति का अधिपति है। और (यस्मिन्) जिस में (विश्व-रूपाः) समस्त प्रकार के (वेदाः) वेदज्ञान (निहिताः) रखे हैं। (तेन ओदनेन मृत्युम् अतितराणि) उस परम ओदन रूप परम बल से मैं मृत्यु को पार करूं।

५–' प्राणदवां बभूव ' इति सायणसम्मतः पाठः।

अव॑ बाधे द्विषन्तं॑ देवपीयुं स॒पत्ना॒ ये मेऽप॒ ते भ॑वन्तु ।
ब्र॒ह्मौद॒नं वि॑श्व॒जितं॑ पचामि शृ॒ण्वन्तु॑ मे श्र॒द्दधा॑नस्य दे॒वाः ॥ ७ ॥

भा०—मैं (देव-पीयुं) दिव्य गुणों और भावों के विनाशक, एवं मेरे इन्द्रिय सामर्थ्यों के प्रतिघातक, (द्विषन्तं) मुझ से अप्रीति करने वाले एवं मेरे अप्रीति के पात्र विरोधी दुर्भावों और दुष्ट पदार्थों को मैं (अव बाधे) अपने अधीन करके उनकी शक्ति को रोक दूं । और (ये मे स-पत्नाः) जो मेरे सपत्न अर्थात् मेरे द्रव्यों पर अपना हक जमाना चाहते हैं ऐसे (ते) वे आक्रामक शत्रु लोग (अप भवन्तु) मुझ से दूर रहें । मैं (विश्वजितं) समस्त विश्व को विजय करने में समर्थ (ब्रह्म-ओदनं) ब्रह्मरूप शक्ति को (पचामि) परिपक्व करता हूं, उसका अभ्यास करता हूं । उसको अपने हृदय में दृढ़ता से जमाता हूं । (देवाः) समस्त विद्वान् लोग (श्रत्-दधानस्य) सत्य को धारण करने हारे (मे) मेरे इस संकल्प का (शृण्वन्तु) श्रवण करें और मुझे इस कार्य में साहाय्य दें ।

इति सप्तमोऽनुवाकः ।

[तत्र पञ्च सूक्तानि, सप्तत्रिंशद् ऋचः ।]

[३६] न्याय-विधान और दुष्टों का दमन ।

चातन ऋषिः । सत्यौजा अग्निर्देवता । १—८ अनुष्टुभः, ९ भुरिक् । दशर्चं सूक्तम् ॥

तान्त्स॒त्यौजाः॒ प्र द॑हत्व॒ग्निर्वै॑श्वान॒रो वृषा॑ ।
यो नो॑ दुर॒स्याद् दिप्सा॒च्चाथो॒ यो नो॑ अराति॒यात् ॥ १ ॥

भा०—न्यायविधान और दुष्टों के दमन करने का उपदेश करते हैं । (सत्य-ओजाः) सत्य के बल को धारण करने वाला न्यायाधीश (अग्निः)

ज्ञानी, अग्नि के समान पापियों को दण्ड देने वाला, (वैश्वानरः) समस्त नरों का हितकारी (वृषा) सत्य, सुखों का वर्षक, एवं धर्मात्मा, न्यायकारी पुरुष (तान्) उन २ को (प्रदहतु) उत्तम रीति से समूल भस्म करे, दण्डित करे। १-(यः) जो (नः) हम में से (दुरस्यात्) दुष्टता का व्यवहार करे, हमें अपने भाइयों को दुर्दुरावे, २-(यः दिप्सात्) जो दूसरों को पीड़ित करे या ठगे, ३ (अथो) और (यः) जो (नः) हम से (अराति-यात्) अराति=शत्रु के समान वर्त्ताव करे, और हमें हमारा अधिकार न दे।

यो नो दिप्सददिप्सतो दिप्सतो यश्च दिप्सति ।
वैश्वानरस्य दंष्ट्रयोरग्नेरपि दधामि तम् ॥ २ ॥

भा०—(नः) हम में से (यः) जो (अदिप्सतः) दूसरे को न ठगने और न हिंसा करने हारे निरपराधी को (दिप्सत्) ठगता और हानि पहुंचाता है और (यः च दिप्सतः) ठगने और मारने वाले को (दिप्सति) ठगता और मारता है (वैश्वानरस्य अग्नेः) सर्व प्रकाशक वैश्वानर=सर्व हितकारी पञ्च, न्यायाध्यक्ष के (दंष्ट्रयोः) दाढ़, दमनकारी हाथों में (तम्) उसको (दधामि) रखूं।

य आगरे मृगयन्ते प्रतिक्रोशेऽमावास्ये ।
क्रव्यादो अन्यान् दिप्सतः सर्वांस्तान्त्सहसा सहे ॥ ३ ॥

भा०—(ये) जो लोग (आगरे) घर में, (प्रतिक्रोशे) कलह के अवसरों में और (अमावास्ये) एक स्थान पर एकत्र होने के अवसरों और स्थानों में (मृगयन्ते) प्रतिहिंसा के भाव से दूसरों का घात लगाते हैं

[३६] २-'दिप्सत्', 'दीप्सात्' इति क्वचित्।
३-(तृ०) 'दिप्सन्ति' इति सायणाभिमतः पाठः।

और (अन्यान्) और अपरिचित लोगों को भी (दिप्सतः) हिंसा करने वाले (क्रव्यादः) परमांसभोजी, विना अधिकार के दूसरे का माल चुराने और छीनने वाले हैं (तान् सर्वान्) उन सबों को (सहसा) अपने बल से मैं शासक (संह) अपने नीचे दबा दूं।

सहें पिशाचान्त्सहंसैषां द्रविणं ददे ।
सर्वान् दुरस्यतो हन्मि सं म आकूतिर्ऋध्यताम् ॥ ४ ॥

भा०—(पिशाचान्) मांसभक्षी पशुओं के समान दूसरों के धनापहरण और प्राण और शरीर पर आक्रमण करने वाले लोगों को (सहे) मैं वश करूं और (एषां) इनका (द्राविणं) सब माल (ददे) मैं इन से ले लूं । (दुरस्यतः) दुष्टता का कार्य करने वाले (सर्वान्) सबों को (हन्मि) मैं मारूं, दण्ड दूं । जिससे (मे) मेरी (आकूतिः) उत्तम संकल्प, शुभ शिक्षा (संऋध्यताम्) खूब अच्छी प्रकार से सफल हो । राजा दुष्टों को इसलिये दमन करे कि प्रजा में सत् शिक्षा का कार्य सफल हो ।

ये देवास्ते नहासन्ते सूर्येण मिमते जवम् ।
नदीषु पर्वतेषु ये सं तैः पशुभिर्विदे ॥ ५ ॥

भा०—दुष्ट चोरों का पता कैसे लगावें । (ये देवाः) जो विद्वान् पुरुष, गुणी (तेन) उस दुष्ट पुरुष के साथ (हासन्ते) हंसी, क्रीड़ा, विनोद, करते हैं और तो भी (सूर्येण) सूर्य के समान सर्वप्रकाशक राजा के साथ (जवम्) अपनी गति मति (मिमते) जोड़े रखते हैं और जो (नदीषु)

४–' सहसा आ एषाम् ' इति पदच्छेदो ह्विटनिकामितः । (च०) ' स नः ' इति सायणाभिमतः ।

५–प्रक्षिप्ता ऋक् इति ग्रिलः, विकृतेति लैन्मनः ।

नदियों के तटों पर तीर्थ स्थानों और घाटों पर और (पर्वतेषु) पर्वतों में में भी तपस्या आदि करते हैं उन (पशुभिः) देखने वाले पशु=गुप्त चरों के द्वारा उस चोर दुष्ट पुरुष को (विदे) पता लगा लूं और पकड़ लूं। राजा भले पुरुषों को सदा दुष्टों के पीछे नदियों पर्वतों में भी लगाये रखे और उन से उस का पता लगा कर पकड़ ले।

तपनो अस्मि पिशाचानां व्याघ्रो गोमतामिव।
श्वानः सिंहमिव दृष्ट्वा ते न विन्दते न्यञ्चनम् ॥ ६ ॥

भा०—मैं (पिशाचानां) मांसभक्षी, और डाकू लोगों का (तपनः) संताप करने वाला, (गोमताम्) गोपालकों के लिये (व्याघ्रः इव) बाघ के समान त्रास देने वाला (अस्मि) हूं। (सिंहम्) सिंह को (दृष्ट्वा) देख कर (श्वानः, इव) जिस प्रकार कुत्ते घबरा उठते हैं और चैन नहीं पाते उसी प्रकार वे मुझ दमनकारी पुलिस आफीसर का नाम सुन कर (न्यञ्चनम्) चैन या छुपने के लिये शरण भी (न विन्दते) नहीं पाते बल्कि इधर उधर भागते हैं।

न पिशाचैः सं शक्नोमि न स्तेनैर्न वनर्गुभिः।
पिशाचास्तस्मान्नश्यन्ति यमहं ग्राममाविशे ॥ ७ ॥

भा०—मैं (पिशाचैः) पिशाच डाकुओं के साथ (न सं शक्नोमि) संधि कर के नहीं रह सकता हूं, (न स्तेनै) चोरों के साथ भी संधि नहीं कर सकता, (न वनर्गुभिः) अपराध करके जंगल में छिप कर रहने वाले, छापा मारने वाले डाकुओं के साथ भी संधि नहीं कर सकता। इसीलिये (यम् ग्रामं) जिस ग्राम में (अहं) मैं (आ विशे) पहुंच जाता हूं

६–' तेऽनुविन्दते न्यञ्चनम् ' इति सायणसम्मतः पाठः।
७–(द्वि०) ' नश्यन्तु ' इति सायणाभिमतः।

(पिशाचाः) वे हत्यारे, परद्रव्य-प्राणापहारी डाकू लोग (तस्मात्) उस वस्ती से ही (नश्यन्ति) भाग जाते हैं ।

यं ग्राममाविशत इदमुग्रं सहो मम ।
पिशाचास्तस्मान्नश्यन्ति न पापमुप जानते ॥ ८ ॥

भा०—(मम) मेरा (उग्रं) भयंकर, बलवान् (इदम्) यह (सहः) दमनकारी बल (यं ग्रामम्) जिस ग्राम या बस्ति में भी (आ विशते) पहुंच जाता है (तस्मात् पिशाचाः नश्यन्ति) उस ग्राम से ही डाकू भाग जाते हैं । वहां के लोगों पर वे (पापम्) पाप, दुष्टाचार और लूट पाट (न उपजानते) करना ही नहीं जानते. वहां ये बदमाशी करना भूलजाते हैं, या वहां के लोग बुराई का नाम भी नहीं जानते ।

" न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो नानाहिताग्निर्न स्वैरी स्वैरिणी कुतः " छान्दोग्य उप० ॥ मेरे राज्य में न चोर, न लुटेरा, न अयाज्ञिक, न व्यभिचारी है, फिर व्यभिचारिणी भी कहां से हो ।

ये मां क्रोधयन्ति लपिता हस्तिनं मशका इव ।
तानहं मन्ये दुर्हितान् जने अल्पशयूनिव ॥ ९ ॥

भा०—(मशकाः) मच्छर जिस प्रकार (हस्तिनम् इव) हाथी को कुपित कर देते हैं उस प्रकार (ये) जो (मां) मुझ दमनकारी, सत्यनिष्ठ राजा को (लपिताः) व्यर्थ झूंठे मूंठे, चुगलखोर, व्यर्थ बक झक करके (क्रोधयन्ति) क्रुद्ध कर देते हैं (तान्) उनको (अहं) मैं (जने) राष्ट्र वासी जनता में (अल्पशयून्) स्वल्पवृत्ति, तुच्छस्वभाव के छिद्रान्वेपी

९-(प्र०) 'ये मां क्रोधयन्ति लिपिताः', (तृ०) ' मन्ये दुर्हतान् ' इति सायणसम्मतौ पाठौ ।

छोटे २ बिलों में रहने वाले, हानिकारक कीड़ों या मूसों के समान (दुर्हितान्) सदा दुःखकारी अनिष्टजनक (मन्ये) समझता हूं ।

राजा खुशामदी लोगों पर कान न दे, वे प्रजा के बड़े अपकारी होते हैं ।

अभि तं निर्ऋतिर्धत्तामश्वमिवाश्वाभिधान्या ।
मल्वो यो मह्यं क्रुध्यति स उ पाशान्न मुच्यते ॥ १० ॥

भा०—(अश्वाभिधान्या) घोड़े को बांधने वाली रस्सी से जिस प्रकार (अश्वम् इव) अश्व को बांध लिया जाता है उसी प्रकार (निर्ऋतिः) पापों को रोक देने वाली दमनकारिणी शक्ति (तं) उस पापी पुरुष को (अभि धत्ताम्) सब ओर से जकड़ ले । और (यः) जो (मल्वः) मलिन हृदय, दुष्ट-चित्त वाला [मैलिग्नेंट या मैलीशस] (मह्यं) मेरे विरुद्ध (क्रुध्यति) क्रोध प्रकट करता है (स उ) वह कभी (पाशात्) पाश, दमन, क़ैद आदि क़ानूनी दण्ड से (न मुच्यते) छूटने नहीं पाता ।

[३७] हानिकारक रोग-जन्तुओं के नाश का उपदेश ।

बादरायणिर्ऋषिः । अजशृङ्गी अप्सरो देवता । १, २, ४, ६, ८–१० अनुष्टुभौ । ३ त्र्यवसाना षट्पदी त्रिष्टुप् । ५ प्रस्तार पंक्तिः । ७ परोष्णिक् । ११ षट्पदा जगती । १२ निचृत् । द्वादशर्चं सूक्तम् ॥

त्वया पूर्वमथर्वाणो जघ्नू रक्षांस्योषधे ।
त्वया जघान कश्यपस्त्वया कण्वो अगस्त्यः ॥ १ ॥

१०–(च०) 'मुच्यसे' इति सायणाभिमतः ।

[३७] २–(द्वि०) 'चातयामसि' इति पैप्प० सं० ।

भा०—जनता को हानि पहुंचाने वाले रोग जन्तुओं को नाश करने का उपदेश करते हैं। हे (ओषधे) ओषधे ! रोग-जन्तु-नाशक औषध ! (त्वया) तेरे द्वारा (अथर्वाणः) अहिंसक, विद्वान् (रक्षांसि) जीवन के सुख में विघ्न करने वाले रोग जन्तुओं को (जघ्नुः) विनाश करते हैं (त्वया) तेरे द्वारा (कश्यपः) सूर्य के समान ज्ञानी, सर्वद्रष्टा विद्वान् (जघान) रोग जन्तुओं का नाश करता है और (कण्वः) वायु के समान कण २ करके ज्ञान प्राप्त करने और खोल कर रहस्य का उपदेश करने वाला विद्वान् भी तेरे बल पर उनका नाश करता है और (अगस्त्यः) सूर्य के समान तेजस्वी पुरुष भी तेरे द्वारा जन्तुओं का नाश करता है।

त्वया वयमप्सरसो गन्धर्वांश्चातयामहे।
अजशृङ्ग्यज रक्षः सर्वान् गन्धेन नाशय ॥ २ ॥

भा०—हे (अजशृङ्गी) अजशृङ्गि=काकड़ासींगी नामक ओषधे ! (त्वया) तुझ से (वयम्) हम (अप्सरसः) जल में फैलने वाले रोगों और (गन्धर्वान्) वायु में फैलने वाले रोगों को भी (चातयामः) विनाश करते हैं। तू अपने रोगनाशक स्वभाव से (सर्वान् रक्षः) सब रोगों को (अज) दूर कर और (गन्धेन विनाशय) गन्ध से परे भगा दे।

अजशृङ्गी के गुण—वातहर, कास, श्वास, राजयक्ष्मा, वमन, तृष्णा, अरुचि, अतिसार, चक्षुर्दोष, हृद्रोग, अर्श, शोष, अतिकुष्ठ आदि का नाश करती है। इसके जलाने से तीक्ष्ण गन्ध होता है। मच्छर आदि भाग जाते हैं।

नदीं यन्त्वप्सरसोपां तारमवश्वसम्।
गुल्गुलूः पीला नलद्यौ३क्षगन्धिः प्रमन्दनी।
तत् परेताप्सरसः प्रतिबुद्धा अभूतन ॥ ३ ॥

३–(द्वि०) "अपां तारमिव स्वसम्" (प्र०) 'प्रतिबद्धाः' इति पाठभेदौ सायणसम्मतौ। 'प्रबन्धनी' इति पैप्प० सं०।

भा०—(अप्सरसः) जलों में फैलने वाली व्याधि कीट (अपां तारं) जलों से भरी हुई (अवश्वसम्) नीचे की ओर वेग से वहने वाली (नदीं) नदी में (यन्तु) वहा दिये जांय । उनको अपने स्थान से निकालने के लिये पांच पदार्थ हैं । १-(गुल्गुलूः) गूगल, २-(पीला) पीला, ३-(नलदी) नलदी नामक ओषधि, ४-(औक्षगन्धिः) औक्षगन्धि और, ५-(प्रमन्दनी) प्रमन्दनी । हे (अप्सरसः) जल में फैलने वाले रोगो ! तुम इनकी गन्धों से (प्रतिबुद्धाः) सजग हो कर, चेत कर, व्याकुल (अभूतन) हो जाओ और (तत्) तभी (परा-इत) तुम हमारे नगर ग्राम और घरों को छोड़ कर चले जाओ ।

गुग्गल=सुगन्ध, कृमिनाशक है । पीला=पीलु, विषनाशक, लनदी=मांसी या जटामांसी, इसके तीन भेद हैं १ मांसी, २-गंधमांसी, ३-आकाशमांसी, तीनों विष, भूतदाह और ज्वर के विनाशक और मकड़ी आदि जन्तु नाशक हैं । अक्षौगन्धि मांसी का दूसरा भेद है, जिसको गंधमांसी लिखा है ।

प्रमन्दनी=प्रमोदनी, मल्लिका है जो गन्ध से पूर्ण होती है कुष्ठ, विस्फोट, कण्डू, विष, व्रण का नाशक है । उक्त ओषधियों के बल पर रोगकारी जन्तुओं का नाश करके उनको पुनः जल के नालों द्वारा नदी में बहा देना चाहिये । नगरों में ' ड्रेनिज सिस्टम ' से कार्य लेना चाहिये ।

यत्राश्वत्था न्यग्रोधा महावृक्षाः शिखण्डिनः ।
तत् परेताप्सरसः प्रतिबुद्धा अभूतन ॥ ४ ॥

भा०—(यत्र) जहां (अश्वत्थाः) पीपल (न्यग्रोधाः) और वट आदि महावृक्ष और (शिखण्डिनः) मोर या चूड़ामणि या काकमाची के पौधे हैं (तत्) वहां से हे (अप्सरसः) प्रजाओं में फैलने वाली व्याधियो ! (परा-इत) भाग जाओ और (प्रति-बुद्धाः अभूतन) इन वृक्षों से व्याकुल होकर रहो । चूड़ामणि का वीर्योष्णा, विष वैषम्यजन्तुघ्नी, रोगग्रामभयापहा ।

यत्र॑ वः प्रे॒ङ्खा हरि॑ता अर्जु॒ना उ॒त यत्रा॑घा॒टाः क॑र्क॒र्य॑ः सं॒वद॑न्ति ।
तत् परे॑ताप्सरसः प्रति॑बुद्धा अभूतन ॥ ५ ॥

भा०—और (यत्र) जहां (वः) तुम्हारे लिये (प्रेङ्खाः) हिलते झुलते (हरिताः) हरे (अर्जुनाः) अर्जुन वृक्ष हैं (उत) और (यत्र) जहां (आघाटाः) बड़े बल से पीटे गये (कर्कर्यः) नगाड़े आदि (संवदन्ति) बजते हैं (तत्) वहां से भी हे (अप्सरसः) प्रजा में फैलने वाली व्याधियो ! तुम (परा-इत) भाग जाओ और (प्रतिबुद्धाः अभूतन) व्याकुल और नष्ट हो जाओ ।

एयम॑ग॒न्नोष॑धीनां वी॒रुधां॑ वी॒र्या॑वती ।
अ॒ज॒शृ॒ङ्ग्य॑रा॒टकी॑ ती॒क्ष्णशृ॑ङ्गी॒ व्यृ॑षतु ॥ ६ ॥

भा०—(वीरुधां) विशेष प्रकार से क्षुपरूप में भूमि पर अंकुरित होने वाली, (ओषधीनां) ओषधियों में से सब से अधिक (वीर्यावती) वीर्यवाली (इयम्) यह (अजशृङ्गी) अजशृङ्गी=काकड़ासिंगी (आ अगन्) हमें प्राप्त हुई है यह गुणों में (अराटकी) रोगनाशक (तीक्ष्ण-शृंगी) तीक्ष्ण स्वभाव होने से रोग जन्तुओं को विनाश करती है । वह (व्यृषतु) रोग जन्तुओं को नाना प्रकार के उपचारों से विनाश करे ।

आ॒नृत्य॑तः शिख॒ण्डिनो॑ गन्ध॒र्वस्या॑प्सरापतेः ।
भि॒नद्मि॑ मु॒ष्कावपि॑ यामि॒ शेपः॑ ॥ ७ ॥

भा०—(आ-नृत्यतः) चारों ओर नाचते कूदते (शिखण्डिनः) चोटी वाले (गन्धर्वस्य) गन्ध के पीछे जाने वाले, रोग फैलाने वाले (अप्सरा-

५–' यत्र वोखुसा, हरिताऽर्जुना घाटाः कर्करी असंवदन्ति ' इति पैप्प० सं० ।
६–' अपतेतोऽप्सरसो गन्धर्वा यत्र वो गृहाः ' इति अधिकः पाठः पैप्प० सं० ।
७–' इयं वीरुच्छिख- ' इति पैप्प० सं० ।

पतेः) मादा रोगकीट के पति अथवा फैलने वाले रोगों को अपने भीतर पालने वाले जन्तु के (मुष्कौ भिनद्मि) वीर्योत्पादक अण्डकोशों को तोड़ डालूं और (शेपः अपि यामि) प्रजनन अंग का नाश कर दूं। इससे रोग-जनक कीट अपनी सन्तति न बढ़ा सकेंगे, रोग फैलना बन्द हो जायगा। इनको वीर्यहीन, निस्सन्तान करने के लिये ऐसी ओषधियों का प्रयोग करना चाहिये कि इनके सन्तान-उत्पादक अंग ओषधि के घातक प्रभाव से फट जांय।

भीमा इन्द्र॑स्य हे॒तयः॑ श॒तमृ॒ष्टीर॑य॒स्मयीः॑ ।
ताभि॑र्हवि॒रदा॑न् ग॒न्ध॒र्वान॑वका॒दान् व्यृ॑षतु ॥ ८ ॥

भा०—रोगजनक कीट किस प्रकार जलों में फैलने वाले रोगांशों को उत्पन्न करते हैं और उनका विनाश कैसे करें सो लिखते हैं। (इन्द्रस्य) सूर्य की (शतम्) सैकड़ों (ऋष्टीः) किरणें (भीमाः) उग्र होकर (अयस्मयीः) लोहे की बनी (ऋष्टीः) तेज़ धार वाली किर्चों के समान तीक्ष्ण (हेतयः) नाशकारी हैं। (ताभिः) उनसे (हविरदान्) अन्नों को खाने वाले और (अवकादान्) अवका=जल पर उतराने वाली काई को खा लेने वाले कीड़ों को सूर्य (व्यृषतु) नष्ट करे। इसी प्रकार—

भीमा इन्द्र॑स्य हे॒तयः॑ श॒तमृ॒ष्टीर्हि॑र॒ण्ययीः॑ ।
ताभि॑र्हवि॒रदा॑न् ग॒न्ध॒र्वान॑वका॒दान् व्यृ॑षतु ॥ ९ ॥

भा०—(इन्द्रस्य हिरण्ययीः ऋष्टीः) सूर्य की स्वर्ण के समान चमकने वाली तीक्ष्ण किरणें भी (शतम्) सैकड़ों (भीमाः हेतयः) भयानक रूप से रोग नाश करने वाली हैं। (ताभिः हविरदान् अवकादान्) उनकी सहायता से अन्नों पर भोग लगाने वाले और जल पर उतराने वाली काई पर आहार करने वाले (गन्धर्वान्) कीड़ों को सूर्य (व्यृषतु) विनाश करे।

८—(द्वि०) 'शतपृष्ठीः', 'ताभिरभिह्वदान्' इति सायणसम्मतः पाठः।

अव॒का॒दान॑भि॒शो॒चान॒प्सु ज्यो॑तय माम॒कान् ।
पि॒शा॒चान् सर्वा॑नोषधे॒ प्र मृ॑णीहि॒ सह॑स्व च ॥ १० ॥

भा०—शरीर-गत रोग जन्तुओं पर ओषधि का प्रयोग बतलाते हैं। हे ओषधे ! (अवकादान्) काई [फंगस] पर आहार करने वाले (अभिशोचान्) सब तरफ देह में दाह उत्पन्न करने वाले (मामकान्) मेरे शरीर में बैठे रोग-कीटों को (अप्सु) शरीर-गत जलों, रुधिर में ही (ज्योतय) विनष्ट कर अथवा हे ओषधे ! (ज्योतय मामकान्) जल में चमचमाने वाले (सर्वान् पिशाचान्) सब पिशाचों, शरीर के रक्त मांस पोषण करने वाले रोग जन्तुओं को (प्र मृणीहि) विनाश कर (सहस्व च) और उनको दबा।

श्वेवैकः क॒पिरि॒वैकः कु॑मा॒रः स॑र्वकेश॒कः ।
प्रि॒यो दृ॒श इ॑व भू॒त्वा ग॑न्ध॒र्वः स॑चते॒ स्त्रिय॒स्-
तमि॒तो ना॑शयामसि॒ ब्रह्म॑णा वी॒र्या॒वता ॥ ११ ॥

भा०—रोगकीटों के रूपों का वर्णन करते हैं। (एकः श्वा इव) एक गन्धर्व नामक रोगकीट कुत्ते के समान, उस के स्वभाव वाला या उस के आकार वाला है, और (एकः) एक (कपिः, इव) बन्दर के समान है वह (कुमारः) बड़ी कठिनता से प्राण त्याग करता एवं बुरी तरह से अपने शिकार रोगी को मारता है। (सर्वकेशकः) उस के समस्त शरीर पर रोम होते हैं। जिस प्रकार सर्वाङ्ग सुन्दर केश बनाये कुमार=नवयुवक, आंखों

१०–‘ अप्सुद्योतय ’ इति सायणसम्मतः पाठः। ‘ अवकाशमभिशाचो विच्छिः घातयमानकान गन्धर्वान् सर्वान् ओषधे कृणुतस्त्वपरायणः ’ इति पैप्प० सं०। ‘ ज्योतयमामकान् ’ इति एकं पदम् इति सर्वत्र। ‘ ज्योतयमानकान् ’ इति ह्विट्नीकामितः पाठः।

के आगे दर्शनीय सुन्दर वेश बना कर अपनी कुत्ते की सी कामप्रियता और बन्दर की सी कुरूपता को छिपा कर स्त्रियों में विचरता और उन के मन हरता है उसी प्रकार ये रोगकीट भी (दृशः) चक्षु के (प्रियः इव) प्रिय होकर (स्त्रियः) अपनी मादा जन्तुओं पर (सचते) जाता है उस को (वीर्यावता) वीर्यवाली (ब्रह्मणा) 'ब्रह्म' नामक ओषधि या वेद ज्ञान से (इतः) यहां से इस नगर, ग्राम, गृह, शरीर से (नाशयामसि) हम विनाश करें ।

जाया इद् वो अप्सरसो गन्धर्वाः पतयो यूयम् ।
अप धावतामर्त्या मर्त्यान् मा सचध्वम् ॥ १२ ॥

भा०—हे (गन्धर्वाः) गन्धर्वो ! (यूयम्) तुम लोग (पतयः) पति हो और (अप्सरसः) अप्सराएं (वः) तुम्हारी (जाया इत्) स्त्रियां ही हैं अथवा—(पतयः यूयम् गन्धर्वाः) तुम पति लोग सब गन्धर्व हो और (वः जाया इत् अप्सरसः) तुम्हारी स्त्रियां ही अप्सराएं हैं । इसी प्रकार इन रोग-जन्तुओं में भी (यूयम्) तुम जो (पतयः) नर (गन्धर्वाः) गन्धर्व कहाते हो और (वः जायाः) तुम्हारी सन्ततियों के पैदा करने वाली मातायें (इत्) ही (अप्सरसः) अप्सरस् कहाती हैं । परन्तु तुम (अमर्त्याः) बिना मरे ही (अप धावत) इस शरीर से दूर भाग जावो, और (मर्त्यान्) तुम्हारे कारण मृत्यु को प्राप्त होने वाले इन मनुष्यों को (मा सचध्वम्) मत पकड़ो ।

इस सूक्त का प्रतीयमान वैद्यक विषयक अर्थ कह दिया अब अध्यात्म परक अर्थ की दिशा दर्शाते हैं ।

१–कश्यप, कण्व और अगस्त्य आंख, कान, नाक आदि प्राणाङ्ग अथर्वा=इन्द्रियों ने अजशृङ्गी=आत्म शक्ति नामक ओषधि से जीवन के विघ्नों

१२–' अपक्रामत् पुरुषादमर्त्या ' इति पैप्प० सं० ।

को नाश किया । २–उसी आत्म शक्ति से कर्म में लगने वाली अप्सराओं कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रिय गन्धर्वों या इन्द्रियों और प्राणादि गन्धर्वों को वश किया । ३ ये अप्सराएं अवश्वस=प्राण लेने वाले (अपां तारं) कर्मों के कर्त्ता, शरीर रूप नदी में बहती हैं इन के नाम हैं गुल्गुलू=रसना, पीला=चक्षु, नलदी=कान, औक्षगन्धि=नासिका, प्रमन्दिनी=त्वचा । ये प्रतिबुद्ध होकर (परेत) दूर तक जांय । ४, ५–और नाना विषयों का आलोचन करें । ६ इन सब में अजशृङ्गी=चेतना प्रबल है । ७ नाचते हुए बड़े गन्धर्व मन को वश करो उसको दोनों अण्डकोश राजस और तामस भावों को नष्ट करके उसे शेपः=ज्ञानमय सात्विक भावों को प्राप्त कराओ । ८, ९–हविरद=विषयोपसेवी और अवकाद=रस लोलुप गन्धर्वों को इन्द्र आत्मा परमात्मा की अयस्मयी=प्राणमय हिरण्ययी-ज्ञानमय शक्ति साधनाओं से वश करो । १०–इन इन्द्रियों को और भी ज्योति युक्त बनाओ और इनमें पिशाच=विषय-लोलुपों को उस आत्मा की शक्ति से दबाओ । ११-वह मन कुत्ते के समान कामी और बन्दर की तरह से चञ्चल है । वह कुमार=काबू न आने वाला अदम्य, सर्वगामी होकर इन्द्रियों में विचरता है उस को प्रबल ब्रह्मज्ञान से हम दबावें । १२–ये आत्मा गन्धर्व और अप्सरस, प्राण वृत्तियां और इन्द्रियवृत्तियां अमर्त्य= अविनाशी हैं । ये मर्त्य=शरीर में लिप्त न रहें प्रत्युत अन्तर्लीन होकर आत्मा को सबल करें ।

[३८] द्यूत क्रीड़ा के दृष्टान्त से चितिशक्ति का वर्णन ।

बादरायणिर्ऋषिः । अप्सरो ग्लहाश्च देवताः । १, २ अनुष्टुभौ, ३ षट्पदा त्र्यवसाना जगती । ५ भुरिग् जगत्यष्टिः, ६ त्रिष्टुप् , ७ त्र्यवसाना पञ्चपदाऽनुष्टुव् गर्भा परोपरिष्टान् ज्योतिष्मती जगती । सप्तर्चं सूक्तम् ॥

उद्भिन्दतीं सञ्जयन्तीमप्सरां साधुदेविनीम् ।
ग्लहे कृतानि कृण्वानामप्सरां तामिह हुवे ॥ १ ॥

भा०—चौपड़ खेलने वाली स्त्री के दृष्टान्त से चितिशक्ति का वर्णन करते हैं । जिस प्रकार शर्तें रख २ कर कोई जूआ खेलने में चतुर स्त्री कृत=जय-चिह्नों को बराबर फेंकती है उसी प्रकार हमारी यह चितिशक्ति भी (उद्-भिन्दतीम्) हृदय ग्रन्थियों को खोलती हुई, (साधु-देविनीम्) उत्तम रूप से प्रकाशमान ज्योतिष्मती प्रज्ञा (सं-जयन्तीम्) सब अन्य मानस वृत्तियों पर वश करती हुई (अप्सराम्) ज्ञानों और कर्मों में शक्ति रूप में व्यापक होकर (ग्लहे) चौपड़ के खेलने के कार्य के समान इस 'ग्रहे' इन्द्रियों के व्यापार में (कृतानि कृण्वानाम्) कृत, त्रेता, द्वापर, कलि आदि के चिह्नों से अंकित अक्षों के समान इन प्राण इन्द्रियों के द्वारा कर्म करती हुई (अप्सरां) रूपवती कन्या के समान (अप्सराम्) कर्म और ज्ञान में शक्ति रूप से व्यापक चितिकला को (इह) इस योगसाधनामय कर्म के अवसर पर (हुवे) स्मरण करता हूं ।

विचिन्वतीमाकिरन्तीमप्सरां साधुदेविनीम् ।
ग्लहे कृतानि गृह्णानामप्सरां तामिह हुवे ॥ २ ॥

भा०—जिस प्रकार मुग्ध पुरुष किसी (साधु-देविनीं) खूब जूआ खेलने वाली (विचिन्वतीम् आकिरन्तीम्) पासों को समेट २ कर पुनः फेंकती हुई अप्सरा को (ग्लहे) पासा खेलते समय (कृतानि गृह्णानाम्) कृत त्रेता आदि के बने चिह्नों वाले पासों में से कृत चिह्नाङ्कित को ही फेंकते देखता है और उस पर मुग्ध हो जाता है उसी प्रकार मैं साधक इस देह में भी अक्ष=इन्द्रियों के संग क्रीड़ा करने वाली इस (अप्सराम्) ज्ञानों में व्यापक (साधुदेविनीम्) उत्तम रूप से प्रकाशन करने वाली, स्वयं ज्योतिष्मती होकर इन्द्रियों को बार बार (विचन्वतीम् आ-किरन्तीम्) चुन २ कर उठाती

उनको अपने में समूहित करती और पुनः बखेरती या बाहर विषयों पर फेंकती और (ग्लहे) इस अक्षक्रीड़ा रूप इन्द्रिय व्यापार में (कृतानि) अपने किये कर्मों या प्राणों को स्वयं (गृह्णानाम्) स्वीकार या वश करती हुई (ताम् अप्सराम्) उस अलौकिक चेतना शक्ति का (इह हुवे) इस योग समाधि के अवसर में (हुवे) स्मरण करता हूं ।

यायैः परिनृत्यत्याददाना कृतं ग्लहात् ।
सा नः कृतानि सीपती प्रहामाप्नोतु मायया ।
सा नः पयस्वत्यैतु मा नो जैषुरिदं धनम् ॥ ३ ॥

भा०—जिस प्रकार कोई रूपवती स्त्री (अयैः) पासों से खेलती हुई (परिनृत्यती) मारे खुशी के नाचती २ (ग्लहात्) चौपड़ के स्थान से (कृतं आददाना) कृत-चिह्न को बराबर लेती जाती है । और (कृतानि सीपती) कृत चिह्नों को लेती लेती ही (मायया) माया से (प्रहाम्) आखिरी बाजी को भी मार लेती है और सब खेलने वाले चाहा करते हैं कि वह स्त्री उनके तरफ़ से खेले जिससे और जूएखोर उनका धन न खेंच ले जांय इसी प्रकार यह चिति शक्ति भी अजब जूआ खेल रही है । (या) जो चिति शक्ति (अयैः) जूआ खेलने के साधन पासों के समान सदा गतिमान इन इन्द्रियों से (ग्लहात्) इस अक्ष व्यापार रूप इन्द्रियों के विषय ग्रहण रूप व्यापार में (परिनृत्यती) बराबर नाचती हुई प्रसन्न होकर (कृतं आददाना) अपने किये कार्य या मुख्य प्राण को अपनाती है वही (नः) हमारे (कृतानि) किये कर्मों को (सीपती) एक शृंखला में बांधती हुई भी (मायया) बुद्धि शक्ति से या ज्ञानमयी मुद्रा से सब कर्मों को नाश करने वाली अन्त में कर्म हानि रूप दशा को भी प्राप्त कर लेती है । (सा) वह

[३८] ३–' कृतानि शेपन्ती ' इति सायणसम्मतः पाठः । ' सा नः पयस्वती'ति चरणतुर्थ्या सह सायणेन व्याख्यातः ।

(पयस्वती) आनन्द-रस वाली (नः एतु) हमें प्राप्त हो जिससे बाह्य विषय (नः) हमारे (इदं धनं) इस आत्म-ज्ञान रूप धन को (मा जैषुः) न हर ले जांय ।

या अक्षेषु प्रमोदन्ते शुचं क्रोधं च बिभ्रती ।
आनन्दिनीं प्रमोदिनीमप्सरां तामिह हुवे ॥ ४ ॥

भा०—(या) जिसके द्वारा चित्तवृत्तियां (अक्षेषु) पासों के समान चञ्चल, विषयों पर जाने वाली इन्द्रियों में व्याप्त होकर (प्रमोदन्ते) प्रसन्न होती हैं और (शुचं) शोक और (क्रोधं च) क्रोध को भी (बिभ्रती= बिभ्रति) धारण करती हैं । (ताम्) उस (आनन्दिनीं) आनन्द उत्पन्न करने हारी, (प्रमोदिनीं) प्रमोद करने हारी (अप्सरां) सब ज्ञानों, कर्मों में व्यापक चितिशक्ति को (इह हुवे) इस योगाभ्यास काल में स्मरण करता हूं ।

सूर्यस्य रश्मीननु याः संचरन्ति मरीचीर्वा या अनुसंचरन्ति ।
यासामृषभो दूरतो वाजिनीवान्त्सद्यः सर्वान् लोकान् पर्यैति रक्षन् ।
स न ऐतु होममिमं जुषाणो३ऽन्तरिक्षेण सह वाजिनीवान् ॥ ५ ॥

भा०—अब सूर्य के दृष्टान्त से आत्मा का वर्णन करते हैं । (याः) जो चित्तवृत्तियां (सूर्यस्य) अन्तरिक्ष में प्रकाशमान सूर्य के समान भीतरी हृदयाकाश में प्रकाशमान प्राणात्मा सूर्य की (रश्मीन्) किरणों के समान इन्द्रियों को बांधने वाली रश्मि=रस्सियों—आत्म शक्तियों के (अनु-सं-चरन्ति) अनुकूल वश होकर भोग्य पदार्थों में विचरती हैं, (वा) और

४–' या अक्षेषु प्रमोदते ' इति सायणसम्मतः पाठः ।
५–' सूर्यस्यरश्मीननु ' इत्यादि प्रथमश्चरणः सायणेन चतुर्थ्या ऋचो द्वितीय चरणेन सहैकीकृत्य व्याख्यातः ।

(याः) जो सूर्य के समान प्रकाशमान आत्मा के (मरीचीः) प्रभा और सात्विक शक्तियों के (अनु-संचरन्ति) वश होकर गति करती हैं । (यासाम्) जिनका (ऋषभः) आत्मा सूर्य, स्वामी (वाजिनीवान्) उनकी ज्ञान-कर्म-मय वाज=बल को भी रखने वाली शक्ति बुद्धि का भी स्वामी होकर उनसे (दूरतः) दूर अवाङ्-मनस-गोचर है वह (सद्यः) शीघ्र ही उनको (रक्षन्) अपने साथ रखता हुआ भी (सर्वान् लोकान्) समस्त काम्य लोकों को (परि-एति) भ्रमण करता है । वह (वाजिनी-वान्) बुद्धि का स्वामी हमारे (इमं होमम्) इस होम=जीवनमय या प्राणापानाहुति रूप आध्यात्म यज्ञ को (जुषाणः) स्वीकार करता हुआ (अन्तरिक्षेण सह) समस्त भीतरी हृदय भूमि के व्यापक परमात्मा के सामर्थ्य के साथ (नः आ एतु) हमें (साक्षात्) प्राप्त हो ।

अन्तरिक्षेण सह वाजिनीवन् कर्की वत्सामिह रक्ष वाजिन् ।
इमे ते स्तोका बहुला एह्यर्वाङियं ते कर्कीह ते मनोऽस्तु ॥ ६ ॥

भा०—हे (वाजिनीवन्) चिति शक्ति, बुद्धि शक्ति के स्वामिन् ! हे (वाजिन्) ज्ञानवान् ! तू (अन्तरिक्षेण सह) भीतर निवास करने वाले उस प्रभु के साथ मिल कर (कर्कीं वत्साम्) कर्कवर्णा, शुभ्र ज्योतिष्मती, विशोका इस (वत्सा) बछड़ी के समान सुशील एवं देहरूप गृह में बसने वाली चिति शक्ति को (इह) इस समाधि दशा में (रक्ष) स्थिर रख । (इमे) ये (स्तोकाः) स्वल्प आनन्दबिन्दु भी (ते) तेरे लिये (बहुलाः) बहुत आनन्दप्रद हैं । हे आत्मन् (एहि अर्वाक्) आ, साक्षात् दर्शन दे । हे आत्मन् योगिन् ! (इयं) यह प्रत्यक्ष सूर्य के समान चमकने वाली (ते) तेरी (कर्की) सूर्या, उषा, दिव्य विशोका

६–' कर्कीन् वत्सान् ' इति सायणाभिमतः पाठः ।

ज्योतिष्मती ऋतम्भरा या विवेकख्याति है । (ते मनः) तेरी मनन शक्ति, मन (इह अस्तु) इसी में लगा रहे ।

अन्तरिक्षेण सह वाजिनीवन् कर्की वत्सामिह रक्ष वाजिन् ।
अयं घासो अयं व्रज इह वत्सां नि बध्नीमः ।
यथानाम व ईश्महे स्वाहा ॥ ७ ॥

भा०—हे (वाजिनीवन्) चितिशक्ति के स्वामिन् आत्मन् ! तू (अन्तरिक्षेण सह) उस अन्तर्यामी प्रभु के साथ मिला रह । और हे (वाजिन्) योगिन् ! (इह) उसी में (कर्कीम् वत्साम् रक्ष) अपनी ज्योतिष्मती प्रज्ञा रूप देहवासिनी गौ को लगाये रख । (अयं) यह आनन्दमय प्रभु यही इस विशेषकर प्रज्ञारूप गौ के लिये (घासः) घास या खाद्य, परम उपभोग्य पदार्थ है । (अयं व्रजः) यही इस गौ के लिये परम विश्राम-स्थली है । (इह वत्साम् निबध्नीमः) यहां इस बछड़ी, गाय को बांधते हैं । (वः) तुम समस्त प्राणों पर (यथा-नाम) सुखपूर्वक वश करके (ईश्महे) तुम्हें वश करते हैं और अध्यात्म ऐश्वर्य प्राप्त करते हैं । (स्वाहा) यह आत्मा परमात्मा में आहुतिरूप में पड़कर मोक्ष को प्राप्त हो जाता है ।

[३९] विभूतियों और समृद्धियों को प्राप्त करने की साधना ।

अंगिरा ऋषिः । संनतिर्देवता । १, ३, ५, ७ त्रिपदा महाबृहत्यः, २, ४, ६, ८ संस्तारपंक्तयः, ९, १० त्रिष्टुभौ । दशर्चं सूक्तम् ॥

७–‘ वत्सानिह ’ इति सायणाभिमतः पाठः ।

पृथिव्यामग्नये समनमन्त्स आर्ध्नोत् ।
यथा पृथिव्यामग्नये समनमन्नेवा मह्यं संनमः सं नमन्तु ॥ १ ॥

भा०—समस्त संसार की विभूतियों को प्राप्त करने का गोदोहन दृष्टान्त से उपदेश करते हैं । (पृथिव्यां) इस विशाल पृथिवी पर समस्त प्राणी (अग्नये) अग्नि, ज्ञान के समक्ष (समनमन्) सिर झुकाते हैं (स आर्ध्नोत्) वह अग्नि=प्रकाश ही सब से अधिक समृद्धिपूर्ण है । तो फिर (यथा) जिस प्रकार (पृथिव्याम्) इस पृथिवी पर (अग्नये समनमन्) समस्त प्राणी अग्नि=प्रकाश और ज्ञान के आगे झुकते हैं (एवा) उसी प्रकार (मह्यं) मेरे आगे (संनमः) समस्त सम्पदाएं (सं नमन्तु) आकर झुकें, प्राप्त हों ।

पृथिवी धेनुस्तस्या अग्निर्वत्सः ।
सा मेऽग्निना वत्सेनेषमूर्जं कामं दुहाम् ।
आयुः प्रथमं प्रजां पोषं रयिं स्वाहा ॥ २ ॥

भा०—अग्नि और पृथिवी के रहस्य को खोलते हैं । (पृथिवी धेनुः) यह पृथिवी गाय के समान है (तस्याः अग्निः वत्सः) उस का बछड़ा अग्नि है । (सा) वह पृथिवी रूप गाय (अग्निना वत्सेन) अग्नि रूप बछड़े को देख कर (मे) मेरे लिये (इषम्) अन्न और (ऊर्जम्) बल आदि (कामं) समस्त उत्तम अभिलाषा योग्य पदार्थों को (दुहाम्) उत्पन्न करे और साथ ही (प्रथमं) प्रथम (आयुः) दीर्घ जीवन, (प्रजां) पुत्रादि सन्तति, (पोषं) पुष्टि, पशु आदि धन और (रयिं) वीर्य और यश को भी प्रदान करें । (स्वाहा) हमारी यही उत्तम प्रार्थना है ।

---

[३९] १—' अग्नये समनमत् पृथिव्यै समनमत् यथाग्निः पृथिव्या समनमद् एवं मह्यं भद्राः संनतयः सं नमन्तु ' इति तै० सं० ।

अन्तरिक्षे वायवे समनमन्त्स आर्ध्नोत् ।
यथान्तरिक्षे वायवे समनमन्नेवा मह्यं संनमः सं नमन्तु ॥ ३ ॥

भा०—(अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष—पृथिवी के समीप के आकाश भाग में (वायवे समनमन्) वायु के प्रति समस्त प्राणि सिर झुकाते हैं क्योंकि (सः आर्ध्नोत्) वही सब से बलवान् और समृद्धिमान् है । तब (यथा अन्तरिक्षे वायवे समनमन्) जिस प्रकार अंतरिक्ष में वायु के आगे सब सिर झुकाते हैं (एवा) उसी प्रकार (संनमः) सम्पदाएं और विनीत प्रजाएं मह्यं (सं नमन्तु) मेरे समक्ष झुकें ।

अन्तरिक्षं धेनुस्तस्यां वायुर्वत्सः ।
सा मे वायुना वत्सेनेषमूर्जं० । ० ॥ ४ ॥

भा०—(अन्तरिक्षम् धेनुः) अन्तरिक्ष एक गाय के समान है (तस्याः वायुः वत्सः) वायु उसका वत्स=बछड़े के समान उस में ही निवास करने वाला है । (सा) वह (वायुना वत्सेन) वायु रूप वत्स के प्रेम से (इषम् ऊर्जं कामं दुहाम्) मेरे कामना के अनुसार अन्न और बलप्रद रस को उत्पन्न करे और (प्रथमं प्रजां पोषं रयिम्) सब से श्रेष्ठ श्रेणि की आयु प्रजा और यश का प्रदान करे (स्वाहा) यह हमारी उत्तम प्रार्थना है । उत्तम वायु बहे, दुःख कटें, सुख हों ।

दिव्या/दित्याय समनमन्त्स आर्ध्नोत् ।
यथादिव्यादित्याय समनमन्नेवा मह्यं संनमः सं नमन्तु ॥ ५ ॥

भा०—(दिवि) द्यौलोक, उपरिस्थ आकाश में (आदित्याय समनमन्) आदित्य सूर्य के समक्ष सब ग्रह उपग्रह आदि प्रजाएं झुकती हैं क्योंकि उन में से (सः आर्ध्नोत्) वही सब से अधिक समृद्धिमान् शक्तिशाली

४–(प्र०) 'तस्य' इति सायणाभिमतः पाठः ।

है । (यथा दिवि आदित्याय समनमन्) जिस प्रकार द्यौलोक में सब प्रजाएं सूर्य के आगे झुकती हैं (एवा संनमः मह्यं सं नमन्तु) इसी प्रकार सब सम्पत्तियां और सब प्रजाएं मेरे समक्ष भी झुकें ।

द्यौर्धेनुस्तस्या आदित्यो वत्सः सामं आदित्येनं वत्सेनेषमूर्जं०।०॥६॥

भा०—(द्यौ धेनुः) द्यौलोक भी एक गाय है (तस्याः आदित्याः वत्सः) उसका बच्छे के समान उस में निवास करने वाला आदित्य=सूर्य है (सा आदित्येन वत्सेन इषम् ऊर्जम् कामं दुहाम्) वह आदित्यरूप बछड़े के प्रेम से, उसी की शक्ति से प्रेरित होकर मेरे लिये मेरी कामना के अनुसार अन्न और पुष्टिकारक रसों को उत्पन्न करे और (प्रथमं आयुः प्रजाम् पोषं रयिम्) सब से श्रेष्ठ आयु प्रजा और यश, वीर्य को भी प्रदान करे (स्वाहा) यही हमारी उत्तम प्रार्थना है । सूर्य उत्तम प्रकाश दे, रोग नाश हों, मेघ बनें, बरसें, अन्न हो, बल हो, प्रजा, पुष्टि वीर्य यश प्राप्त हो ।

दिक्षु चन्द्राय समनमन्त्स आर्ध्नोत् ।
यथा दिक्षु चन्द्राय समनमन्नेवा मह्यं संनमः सं नमन्तु ॥ ७ ॥

भा०—(दिक्षु चन्द्राय समनमन्) दिशाओं में आल्हादकारी चन्द्र के समक्ष सब प्रजाएं झुकती हैं । (सः अर्ध्नोत्) वही सब दिशाओं में समृद्ध है । (यथा दिक्षु चन्द्राय समनमन्) जिस प्रकार सब दिशाओं में आल्हादकारी चन्द्र के आगे झुकते हैं उसके आश्रय पर रहते हैं । (एवा मह्यं संनमः संनमन्तु) उसी प्रकार समस्त प्रजाएं मेरे समक्ष झुकें ।

दिशो धेनवस्तासां चन्द्रो वत्सः ।
ता मे चन्द्रेण वत्सेनेषमूर्जं कामं दुहाम् ।
आयुः प्रथमं प्रजां पोषं रयिं स्वाहा ॥ ८ ॥

भा०—(दिशः धेनवः) दिशाएं भी गौएं हैं । (तासां चन्द्रः वत्सः) उनका चन्द्र ही उन में निवास करने वाला बछड़े के समान है । (ताः

चन्द्रेण वत्सेन मे कामं इषम् ऊर्जम् दुहाम्) वे दिशाएं चन्द्र वत्स की प्रेरणा से मेरे लिये मेरी कामना के अनुसार खूब अधिक मात्रा में अन्न और उस से उत्पन्न पुष्टिकारक रस को पैदा करें। (प्रथमं आयुः प्रजां पोषं रयिम्) और सब से श्रेष्ठ प्रजा, पुष्टि धन सम्पत्ति और यश वीर्य भी प्रदान करे, (स्वाहा) यही हमारी उत्तम प्रार्थना है। दिशाओं में चन्द्र प्रकाशित हो, ओषधियां बढ़ें। अन्न में बल हो, उत्तम वायु, बल, आयु, प्रजा, सम्पदा, यश प्राप्त हों।

अ॒ग्नाव॒ग्निश्च॑रति॒ प्रवि॑ष्ट॒ ऋषी॑णां पु॒त्रो अ॑भिशस्ति॒पा उ॑।
न॒म॒स्का॒रेण॒ नम॑सा ते जुहोमि॒ मा दे॒वानां॑ मिथु॒या कर्म॑ भा॒गम् ॥६॥

पूर्वार्धः यजु० ५। ४॥

भा०—(अग्नौ) अग्नि, ज्ञानी में (अग्निः) ज्ञानस्वरूप सर्व प्रकाशक परमात्मा (प्रविष्टः चरति) भीतर अन्तर्यामी होकर व्यापक हैं। और वही (ऋषीणां पुत्रः) समस्त मन्त्रद्रष्टा ऋषियों को शरीर और मानस दुःखों से बचाने वाला है। वही (अभिशस्तिपा उ) सब पाप और निन्दा से भी रक्षा करता है। हे परमात्मन् (ते) तुझे मैं (नमसा) बड़े आदर से झुक कर (नमस्कारेण) 'नमः' इस प्रकार के आदर भाव के सूचक पद का उच्चारण करके (जुहोमि) अपने को तेरे समर्पण करता हूं। हे पुरुषो! हम लोग (देवानां भागं) विद्वान् लोगों के सेवन करने योग्य उनके उपदेश

६–' अभि शस्तिपावा ' इति यजु० । (द्वि०) ' पुत्रोऽधिराज एषः ' (तृ० च०) ' मा देवानां यूयुपाम भागधेयं ' इति मै० सं० । (तृ०) ' स्वाहाकृत्या ब्रह्मणा ' (च०) मिथुयाकर्भागधेयम् ' इति तै० सं० । (प्र०) ' व्याघ्रोऽयमग्नौ चरति ' (द्वि०) ' अभिशस्तिपा अयाम् ' इति तै० ब्रा० । ' तस्मै जुहोमि हविषा घृतेन मा देवानां मोमुहद् भागधेयम् ' इति आ० श्रौ० सू० ।

को (मिथुया) मिथ्या रूप से (मा कर्म) न करें । अर्थात् अनादर या देखावा बना कर उत्तम काम न करें, प्रत्युत सत्य भाव से उत्तम कामों को करें ।

हृदा पूतं मनसा जातवेदो विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।
सप्तास्यानि तव जातवेदस्तेभ्यो जुहोमि स जुषस्व हव्यम् ॥१०॥

भा०—ईश्वरोपासना और सदाचार के बाद आत्मा की उपासना का उपदेश करते हैं । हे (जातवेदः) समस्त पदार्थों के जानने हारे ! हे (देव!) प्रकाशस्वरूप देव ! तू (विश्वानि वयुनानि) समस्त ज्ञानों को (विद्वान्) जानने हारा है । तुझे (मनसा) मनन पूर्वक (हृदा) हृदय से (पूतं) पवित्र किये (हव्यं) स्तुति को (जुहोमि) तेरे लिये अर्पित करता हूं । और हे (जातवेदः) ज्ञान को प्राप्त करने हारे ज्ञानी आत्मन् जीव ! (तव सप्त आस्यानि) तेरे सात मुख हैं । दो आंख, दो कान, दो नासिका, एक मुख, (तेभ्यः) इन में भी (मनसा) मनन और (हृदा) हृदय से (पूतं हव्यं) पवित्र किये समाधि योग से प्राप्त ज्ञान और अन्न की (जुहोमि) आहुति देता हूं । अथवा—

काली कराली च मनोजवा च सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा ।
स्फुलिङ्गिनी विश्वरुचीति चैता लेलायमाना इति सप्त जिह्वाः ॥

ये आत्मा की सात शक्तियां योग बल से जागृत होती हैं । जो विराट् रूप में भी विद्यमान हैं ।

[४०] आक्रमणकारी शत्रुओं के विनाश करने का उपदेश ।

शुक्रऋषिः । कृत्याप्रतिहरणाय बहवो देवताः । २ जगती, ८ पुरोतिशक्वरी पादयुक्ता जगती, १, ३-५ त्रिष्टुभः । अष्टर्चं सूक्तम् ॥

ये पुरस्ताज्जुह्वति जातवेदः प्राच्या दिशोऽभिदासन्त्यस्मान् ।
अग्निमृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगेनान् प्रतिसरेण हन्मि ॥१॥

भा०—हे (जातवेदः) सर्वज्ञ परमात्मन् ! (ये) जो (पुरस्तात्) पूर्व दिशा से (जुह्वति) अपने को आहुति करते हैं और (प्राच्याः दिशः) प्राची दिशा की ओर से (अस्मान् अभि दासन्ति) हमें नष्ट कर रहे हैं (ते) वे (अग्निम् ऋत्वा) अग्नि को प्राप्त होकर (पराञ्चः) पराङ्-मुख, पराजित होकर (व्यथन्तां) कष्ट भोगें और (प्रत्यग्) इनके विपरीत (प्रतिसरेण) इनका पीछा करके (एनान् हन्मि) इन का विनाश करूं ।

ये दक्षिणतो जुह्वति जातवेदो दक्षिणाया दिशोऽभि दासन्त्यस्मान् ।
यममृत्वा ते० ॥ २ ॥

भा०—(ये दक्षिणतः जुह्वति०) हे जातवेदः परमात्मन् ! जो दक्षिण दिशा से अपने आपको इस कार्य में आहुति कर दें और दक्षिण दिशा से हमें नष्ट करें (ते) वे (यमम्०) उस व्यवस्थापक यम के पास जाकर पराजित होकर कष्ट को प्राप्त करें और (प्रत्यग एनान्०) उनको भी मैं पीछा करके विनाश करूं ।

ये पश्चाज्जुह्वति जातवेदः प्रतीच्या दिशोऽभिदासन्त्यस्मान् ।
वरुणमृत्वा ते० ॥ ३ ॥

भा०—जो (पश्चात्) पीठ पीछे से या पश्चिम दिशा की ओर से (जुह्वति) अपने को आहुति कर दें और उस दिशा से (अस्मान् अभिदासन्ति) हमें विनाश करें वे (वरुणम् ऋत्वा० इत्यादि) वरुण, निवारक शक्ति को प्राप्त होकर परास्त होकर जायं और उनका पीछा करके मैं विनाश करूं ।

य उत्तरतो जुह्वति जातवेद उदीच्या दिशोऽभिदासन्त्यस्मान् ।
सोममृत्वा ते० ॥ ४ ॥

अपां मा पाने यतमो दुदम्भ क्रव्याद् यातूनां शयने शयानम् ।
तद्दा० ॥ ८ ॥

भा०—(यतमः) जो कोई (क्रव्यात्) कच्चा मांस खाने वाले रोग जन्तु (अपां पाने) जलों के पान करने के स्थान, घाट, बावड़ी, प्याऊ आदि में और (यातूनां शयने) पीड़ाओं के बिस्तर में (मां शयानं) पड़े, मुझको असावधान अवस्था में (ददम्भ) विनाश करने का यत्न करता है (तत् आत्मना०) वह स्वयं अपनी सन्तानों सहित नष्ट हो और यह रोगी नीरोग हो ।

दिवा मा नक्तं यतमो दुदम्भ क्रव्याद् यातूनां शयने शयानम् ।
तद्दात्मना प्रजया पिशाचा वि यातयन्तामगदो३यमस्तु ॥ ९ ॥

भा०—(यतमः) जो भी (क्रव्याद्) कच्चे मांस का आहारी मच्छर, मत्कुण आदि रोगकारी जन्तु (दिवा नक्तं) दिन और रात के समय में और (यातूनां शयने) पीड़ा या रोगों के सेज पर (शयानम्) असावधान रूप में पड़े (मा) मुझ को (ददम्भ) पीड़ा देना चाहता है (तद्) वह (आत्मना) स्वयं और उसके सहचारी (पिशाचाः) मांसभोजी रोग कीट भी (वि यातयन्ताम्) नाना प्रकार से नष्ट किये जांय और (अयम् अगदः अस्तु) यह रोगी पुरुष नीरोग हो ।

अथवा—सोमचिकित्सा (होमियोपैथी) का उपदेश करते हैं कि (यतमः क्रव्याद् ददम्भ) जो भी रोग कीट या विषाणु रोगी को सताता है (तदात्मना) उसी के सम जाति के (प्रजया) प्रजा, अंश से वे (पिशाचाः) रोगकारी कीटाणु (वि यातयन्तां) विनाश को प्राप्त हों । और

८–‘ शयने शयानः ’ इति लड्विगकामितः ।

९–(प्र०) ‘दिवा त्वा’ (द्वि०) ‘क्रव्याद् यातुः शयते पिशाचः । उदग्ने-द्वानूपृथक् । शृणीह्यप्यैनं देहि निर्ऋतेरुपस्थे ’ इति पैप्प० सं० ।

इस प्रकार (अयम् अगदः अस्तु) वह रोगी नीरोग हो जाय। इस पक्ष में अग्नि जातवेदाः=प्रबल टिंक्चर है जो विशेष शक्ति से युक्त है।

क्रव्यादमग्ने रुधिरं पिशाचं मनोहनं जहि जातवेदः।
तमिन्द्रो वाजी वज्रेण हन्तु छिनत्तु सोमः शिरो अस्य धृष्णुः ॥१०॥

भा०—हे (जातवेदः) सर्वज्ञ अग्ने ! हे जात-वीर्य ! जात-बल (अग्ने) तेजःस्वरूप (क्रव्यादम्) कच्चे मांस के आहारी, (रुधिरम्) रक्त में फैलने वाले, (पिशाचं) मांस में जमे हुए और (मनः-हनं) रोगी के चित्त को या मननशक्ति पर आघात पहुंचाने वाले अपस्मार, उन्माद और मदकारी रोग को (जहि) तू विनाश कर। उस रोग को (इन्द्रः) इन्द्र रोग का विनाशक, (वाजी) बलवान्, शक्तिमान् होकर (वज्रेण) अपने रोग विनाशक बल से (हन्तु) मार दे और (सोमः) सोम या ओषधि का सूक्ष्म अंश (धृष्णुः) व्यस्थित होकर, शरीर में चिरकालिक प्रभाव करके (अस्य) इन रोगकारी मूल कीटों के (शिरः) शिर=हिंसाकारी प्रभाव को (छिनत्तु) काट दे।

सनादग्ने मृणसि यातुधानान् न त्वा रक्षांसि पृतनासु जिग्युः।
सहमूरानन दह क्रव्यादो मा ते हेत्या मुक्षत दैव्यायाः ॥ ११ ॥

अथर्व० ८ । ३ । १८ ॥

भा०—हे (अग्ने) विद्वन् ! या तेजोरूप ! (सनात्) चिरकाल से, सदा से तू (यातु-धानान्) पीड़ाजनक रोगों को (मृणसि) विनाश करता है। (रक्षांसि) बाधा, विघ्नकारी जन्तु (त्वा) तुझको (पृतनासु) मनुष्यों में या संग्रामों में (न जिग्युः) न जीत पावें ! इसलिये (क्रव्यादः) रोगी का कच्चा मांस खा डालने वाले रोगांशों को (सह-मूरान्) समूल (अनु-दह) जलादे। और (दैव्यायाः) दिव्य गुण युक्त (ते हेत्याः) तेरे आघातकारी शक्तिरूप वज्र से (मा मुक्षत) वे छूट न जांय।

समाहर जातवेदो यद्धृतं यत् पराभृतम् ।
गात्राण्यस्य वर्धन्तामंशुरिवाप्यायतामयम् ॥ १२ ॥

भा०—हे (जात-वेदः) अग्ने ! (अस्य) इस रोगी पुरुष के शरीर में से (यत्) जो धातु और बल (हृतम्) रोगों ने हर लिया है, और (यत्) जो (परा-भृतम्) विनष्ट कर दिया है उसे (सम्-आ हर) पुनः भली प्रकार प्राप्त करा । (अस्य) इसके (गात्राणि) शरीर के अंग (वर्धन्ताम्) बढ़ें और (अयम्) यह (अंशुः-इव) चन्द्र के समान (आ प्यायताम्) दिनों दिन बढ़े, मोटा ताज़ा हो ।

सोमस्येव जातवेदो अंशुरा प्यायतामयम् ।
अग्ने विरप्शिनं मेध्यमयक्ष्मं कृणु जीवतु ॥ १३ ॥

भा०—हे (जात-वेदः) अग्ने ! (सोमस्य अंशुः इव) चन्द्र के एक भाग, कला के समान (अयम्) यह कृश पुरुष भी (आ प्यायताम्) पुष्टि को प्राप्त हो । हे (अग्ने) अग्ने ! (विरप्शिनम्) नाना प्रकार की विद्याओं का उपदेश करने वाले महान् विद्वान् (मेध्यं) मेधावी, पवित्राचारी पुरुष को (अयक्ष्मं) रोग, यक्ष्मादि कष्ट से रहित (कृणु) कर जिससे वह (जीवतु) चिरकाल तक जीवित रहे ।

एतास्ते अग्ने समिधः पिशाचजम्भनीः ।
तास्त्वं जुषस्व प्रति चैना गृहाण जातवेदः ॥ १४ ॥

भा०—हे (जातवेदः) हे अग्ने ! (एताः ते सम्-इधः) ये तेरी उत्तम रीति से प्रकाश करने या चमकने वाली शक्तियां, ज्वालाएं ही (पिशाच-जम्भनीः) मांसशोषक या मांस में फैलने वाले रोगाणुओं की नाशक हैं ।

१२–(प्र०) 'समाभर' (द्वि०) 'यज्जग्धं यत्' इति पैप्प० सं० ।
१३–(च०) ' जीवसे ' इति पैप्प० सं० ।

(ताः) उनको (त्वं) तू (जुपस्व) अपने में धारण कर और (एनाः) इन को (प्रति गृहाण) अपने भीतर रख ।

तार्ष्टाघीरंग्ने सुमिधः प्रति गृह्णाह्यर्चिषा ।
जहांतु क्रव्याद्रूपं यो अस्य मांसं जिहीर्षति ॥ १५ ॥

भा०—हे अग्ने ! आप (तार्ष्ट-अघीः) तृषा रोग को दूर करने वाली इन (सम्-इधः) दीप्तिमय शक्तियों को अपने (अर्चिषा) तेज से (प्रति-गृह्णाहि) अपने में धारण कर । जिससे वह (क्रव्याद्) मांसशोषक रोग अपने (रूपं जहातु) स्वरूप को त्याग दे (यः) जो (अस्य) इस रोगी के (मांसं) मांस को (जिहीर्षति) सुखा डालना चाहता है ।

[३०] आरोग्य और सुख की प्राप्ति का उपदेश ।

आयुष्काम उन्मोचन ऋषिः । आयुर्देवता । १ पथ्यापंक्तिः, २–८, १०, ११, १३, १५, १६ अनुष्टुभः, ९ भुरिक्, १२ चतुष्पदा विराड् जगती, १४ विराट् प्रस्तार-पंक्तिः, १७ त्र्यवसाना षट्पदा जगती । सप्तदशर्चं सूक्तम् ॥

आवर्तस्त आवर्तः परावर्तस्त आवर्तः ।
इहैव भव मा नु गा मा पूर्वाननु गाः । पितॄन्
असुं बध्नामि ते दृढम् ॥ १ ॥

भा०—हे पुरुष ! (ते आवतः आवतः) तेरे समीप से समीप और (ते परावतः) तेरे दूर से भी (आवतः) दूर देश से (ते असुं) तेरे प्राण को और आत्मा को (दृढं) खूब बलपूर्वक (बध्नामि) बांधता हूं । तू (इह एव) यहां ही (भव) रह । (मा पूर्वान् अनु-गाः) अपने पूर्व के विनष्ट हुए

---

[३०] १–(द्वि०) ' परावतस्ते परावतः ' इति पैप्प० सं० ।

पुरुषों के पीछे मत जा। (मा अनु गाः पितॄन्) अपने बूढ़े मां बाप के पीछे भी मत जा, प्रत्युत मुझ आचार्य के पास ब्रह्मचर्य और विद्या का लाभ कर।

यत् त्वाभिचेरुः पुरुषः स्वो यदरणो जनः।
उन्मोचनप्रमोचने उभे वाचा वदामि ते ॥ २ ॥

भा०—(यत्) यदि तेरा (स्वः पुरुषः) अपना कोई सम्बन्धी पुरुष या (यद्) यदि कोई (अरणः) बुरा (जनः) आदमी (अभि-चेरुः) तुझ पर अपना अभिचार या बुरा आक्रमण, हानिकारक पापकार्य करना चाहता है तो मैं आचार्य हे शिष्य ! तुझ को (वाचा) अपनी वाणी से उस जाल से छूटने के लिये (उन्मोचन-प्रमोचने) उन्मोचन और प्रमोचन (उभे) दोनों का अधिकार और शक्ति का (ते) तुझे, (वदामि) उपदेश करता हूं।

उन्मोचन=जाल से ऊपर निकल आना और प्रमोचन=जाल से दूर ही रहना। अर्थात्, फंस जाने पर छूटना और पहले ही न फंसना।

यद् दुद्रोहिथ शेपिषे स्त्रियै पुंसे अचित्त्या।
उन्मो० ॥ ३ ॥

भा०—हे शिष्य ! (यद्) यदि (अचित्या) विना जाने तेने (स्त्रियै) किसी स्त्री से या (पुंसे) पुरुष से (दुद्रोहिथ) द्रोह किया और उस को (शेपिषे) बुरा वचन कहा तो भी (ते उन्मोचन-प्रमोचने वाचा वदामि), मैं उस पाप से परे रहने और छूटने का उपदेश करता हूं।

यदेनसो मातृकृताच्छेषे पितृकृताच्च यत्।
उन्मोचनप्रमोचने उभे वाचा वदामि ते ॥ ४ ॥

२–(प्र०) 'पुरुषाः' इति ह्विटनिकामितः।

भा०—(यद्) यदि (मातृ-कृतात् एनसः) माता के किये दोष से (यत् च) और यदि (पितृ-कृतात् एनसः) पिता के किये दोष से (शेषे) तू आवृत रह कर अज्ञान में सो रहा है तो भी (वाचा) वेद-वाणी से उन दोषों और व्यसनों से (उन्मोचन-प्रमोचने) छूटने और दूर रहने दोनों का (वदामि) तुझे उपदेश करता हूं ।

यत् ते माता यत् ते पिता जामिर्भ्राता च सर्जतः ।
प्रत्यक् सेवस्व भेषजं जरदष्टिं कृणोमि त्वा ॥ ५ ॥

भा०—(यत) जिस (भेपजम्) रोग निवारक उपाय या औषध को (ते माता) तेरी माता और (यत् ते पिता) जिस औषध को तेरा पिता और (जामिः भ्राता च) तेरी भगिनी और भाई भी (सर्जतः) तैयार करते हैं उसको (प्रत्यक् भेषजं) साक्षात् दुःखहारी औषध को (सेवस्व) तू सेवन कर । (त्वा) तुझ को मैं (जरदष्टिं कृणोमि) बुढ़ापे तक जीवन बिताने योग्य चिरजीवी रहने का उपदेश करता हूं । अर्थात् ऊटपटांग पदार्थ मत खा । हितकारी पुरुषों के बतलाये ज्ञान और पथ्यों का सेवन कर ।

इहैधि पुरुष सर्वेण मनसा सह ।
दूतौ यमस्य मानु गा अधि जीवपुरा इहि ॥ ६ ॥

भा०—हे पुरुष ! (सर्वेण मनसा सह) अपने समस्त मनन शक्ति, चित्त और ज्ञान के साथ (इह) इस गुरु-गृह में (एधि) रह, निवास कर (यमस्य दूतौ) यम के दूत, दुख, उपताप के लाने वाले अशना और पिपासा, भूख और प्यास दोनों के पीछे (मा अनु गा) मत जाओ । (जीव-पुराः) जीव के निवास भूत पुर अर्थात् देह के अंगों पर (अधि इहि) वश करो ।

५–(तृ०) 'प्रत्यक् चेवस्य' इति पैप्प० सं० ।

अनुहूतः पुनरेहि विद्वानुदयनं पथः ।
आरोहणमाक्रमणं जीवतोजीवतोयनम् ॥ ७ ॥

भा०—देवमार्ग या उत्तरायणमार्ग का उपदेश करते हैं । (अनुहूतः) विद्वानों से अनुशिष्ट, शिक्षित हो २ कर (पुनः) फिर भी (विद्वान्) ज्ञानी होकर हे शिष्य ! तू (उद्-अयनं) ऊपर मोक्ष धाम में, उन्नति की तरफ़ ले जाने वाले (पथः) मार्गों को (एहि) प्राप्त हो । (आ-रोहणं) ऊपर चढ़ना, (आ क्रमणम्) आगे की तरफ़ बढ़ना, यही (जीवतः-जीवतः) प्रत्येक जीवनयुक्त जीव की (अयनम्) वास्तविक गति है ।

मा बिभे र्न मरिष्यसि जरदष्टिं कृणोमि त्वा ।
निरवोचमहं यक्ष्ममङ्गेभ्यो अङ्गज्वरं तव ॥ ८ ॥

भा०—रोगभय से मुक्त होने का उपदेश करते हैं । हे शिष्य (मा बिभेः) भय मत कर, डर मत । (न मरिष्यसि) तू कभी मरेगा नहीं । क्योंकि (त्वां) तुझ को मैं आचार्य, (जरद्-अष्टिं) वृद्धावस्था तक जीवन बिताने में समर्थ (कृणोमि) करता हूं । (तव अङ्गेभ्यः) तेरे अंगों से (यक्ष्मम्) सब प्रकार के रोगजनक अंश और (अङ्ग-ज्वरं) शरीर के भागों में विद्यमान् ज्वर=संताप पीड़ा को (निः अवोचम्) बाहर निकालता हूं ।

अङ्गभेदो अङ्गज्वरो यश्च ते हृदयामयः ।
यक्ष्मः श्येन इव प्रापप्तद् वाचा साढः परस्तराम् ॥ ९ ॥

भा०—हे शिष्य ! (ते) तेरे (अङ्ग-भेदः) शरीर में होने वाली पीड़ा जिससे देह टूटता हो, (यः च अङ्ग-ज्वरः) और जो अंगज्वर है और (हृदय-आमयः) हृदय-रोग और (यक्ष्मः) यक्ष्मा रोग है वह सब

८–(द्वि०) 'जरदष्टिर्भविष्यसि' इति पैप्प० सं० ।
९–(प्र०) 'शीर्षरोगमङ्गरोगम्', 'श्येनैव' इति पैप्प० सं० ।

(वाचा सादः) मेरी उपदेश या वाणी के बल से पराजित होकर (श्येन इव) बाज़ के समान (परः-तराम्) परे (प्र-अपप्तत्) भाग जाय ।

ऋषी बोधप्रतीबोधावस्वप्नो यश्च जागृविः ।
तौ ते प्राणस्य गोप्तारौ दिवा नक्तं च जागृताम् ॥ १० ॥

भा०—(बोध-प्रतीबोधौ) बोध और प्रतिबोध, ज्ञान करने और उसको स्मरण करने की शक्ति, बुद्धि और मन (यः च) जो (ऋषी) सर्व कार्यों के द्रष्टा हैं, दोनों में एक (अस्वप्नः) कभी नहीं सोता और दूसरा मन या अन्तःकरण है वह भी (जागृविः) सदा जागता रहता है । (तौ) वे दोनों (ते प्राणस्य गोप्तारौ) तुझ जीव के प्राण=जीवन की रक्षा करने वाले (दिवा नक्तं च) दिन और रात सदा (जागृताम्) जागते रहें ।

अयमग्निरुपसद्य इह सूर्य उदेतु ते ।
उदेहि मृत्योर्गम्भीरात् कृष्णाच्चित् तमसस्परि ॥ ११ ॥

भा०—(अयम् अग्निः) यह अग्नि, आत्मा (उप-सद्यः) प्राप्त करने या ज्ञान करने–उपासना करने योग्य है । (इह) इसमें (ते) तेरा (सूर्यः) सब इन्द्रियों का प्रेरक मुख्य प्राण (उद्-एतु) उदित हो । (गम्भीरात्) गम्भीर भयावह (कृष्णात्) काले (तमसः चित्) अन्धकार के समान घोर (मृत्योः) मृत्यु, देह और आत्मा के विच्छेद के भय से भी (परि उद्-एहि) परे, ऊंचा चला जा ।

नमो यमाय नमो अस्तु मृत्यवे नमः पितृभ्य उत ये नयन्ति ।
उत्पारणस्य यो वेद तमग्निं पुरो दधे स्मा अरिष्टतातये ॥ १२ ॥

भा०—(नमः यमाय) उस सर्व-नियन्ता को नमस्कार है, हम उसके आगे झुकते हैं । (मृत्यवे नमः अस्तु) और देह को आत्मा से पृथक् करने

१०–(तृ० च०) 'ते ते प्राणस्य गोप्तारो दिवास्वप्नं च जाग्रतु' इति पैप्प० सं० ।

वाले उस कर्मफल दाता प्रभु को भी नमस्कार है, हम उसके भी आगे विनय से झुकते हैं । (उत) और (ये नयन्ति) जो हमको इस शरीर से दूसरे शरीर तक ले जाते हैं उन (पितृभ्यः) पालक प्राणों को भी (नमः) नमस्कार है या उन पालक पिताओं-माता, पिता, गुरु, आचार्य, प्रभु इन पन्च पितरों को भी नमस्कार है जो हमें इस लोक में जीवन पथ पर ले जाते हैं । और जो (अस्मै) इस जीव के (अरिष्टतातये) कल्याण के लिये (उत्-पारणस्य) इस शरीर के त्याग के अनन्तर इसके पालना, जीवन यात्रा के विषय में जो सब कुछ जानता है (तम् अग्निं) उस अग्नि तेजोमय परमेश्वर को भी मैं (पुरः दधे) सदा अपने आगे रखता हूं । उसका सदा साक्षात् प्रभुत्व मानता हूं । उत्पारणज्ञ विद्वान् का वर्णन देखो अथर्व० ८ । १ । १०-१९ । २ । ६ ॥

ऐतु प्राण ऐतु मन ऐतु चक्षुरथो बलम् ।
शरीरमस्य सं विदां तत् पद्भ्यां प्रति तिष्ठतु ॥ १३ ॥

भा०—इन्द्रियां किस प्रकार शरीर में कार्य करती हैं इसका उपदेश करते हैं । इस शरीर में प्रथम (प्राणः आ एतु) प्राण आता है, फिर (मनः आ एतु) मन, मननशक्ति आती है फिर (चक्षुः आ एतु) चक्षु दर्शनशक्ति अर्थात् उपलक्षण से आंख, नाक, कान, जिह्वा आदि इन्द्रियों में ज्ञानशक्ति का आगमन होता है । (अथो बलम्) और उसके पश्चात् बल, प्राणेन्द्रिय, हाथ, पांव, पेट आदि की शक्ति आती है । तब (अस्य) इस जीव का (शरीरम्) शरीर (विदां) बुद्धि को (सम्-एतु) प्राप्त होता है । (तत्) तब (पद्भ्यां) पैरों से (प्रति तिष्ठतु) यह शरीर खड़ा होने लगता है ।

प्राणेनाग्ने चक्षुषा सं सृजेमं समीरय तन्वा३ सं बलेन ।
वेत्थामृतस्य मा नु गान्मा नु भूमिगृहो भुवत् ॥ १४ ॥

१४-(तृ०) 'वेत्थामृतस्यमृतस्य गान्मोसु' इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे (अग्ने) परमात्मन् ! (प्राणेन) प्राणशक्ति और (चक्षुषा) दर्शनशक्ति से (सं सृज) इस जीव को युक्त कर और (तन्वा) शरीर से और (बलेन) बल से (इमं) इस जीव को (सम्-ईरय) प्रेरित कर । आप प्रभो ! (अमृतस्य वेत्थ) उस अमृत, जीवनशक्ति को जानते हो । आपकी दी जीवनशक्ति से युक्त होकर यह जीव (मा नु गात्) इस देह को छोड़ कर न जावे और (मा नु भूमिगृहः भुवत्) भूमि को अपना घर बना कर, खाक में मिल कर न रहे अर्थात् मर कर मिट्टी में न मिले । प्रत्युत शरीर का दीर्घ जीवन प्राप्त करके मोक्ष को प्राप्त करे ।

मा ते प्राण उप दसन्मो अपानोपि धायि ते ।
सूर्यस्त्वाधिपतिर्मृत्योरुदायच्छतु रश्मिभिः ॥ १५ ॥

भा०—हे जीव ! (ते प्राणः) तेरा प्राण (मा उप-दसत्) विनाश को प्राप्त न हो । और (ते अपानः) तेरा अपान भी (मा अपि धायि) कभी न रुके । अर्थात् तेरे शरीर में प्राण-अपान=श्वासोच्छ्वास की क्रिया कभी बन्द न हो । (अधि-पतिः) सब का मालिक (सूर्यः) सूर्य, सब का प्रेरक परमात्मा (त्वा) तुझ को (रश्मिभिः[1]) अपनी व्यापक बलकारिणी किरणों से (उद्-आ-यच्छतु) ऊंचा उठाये रखे । तेरे शरीर को और जीवन शक्ति को गिरने न दे ।

इयमन्तर्वदति जिह्वा बद्धा पनिष्पदा ।
त्वया यक्ष्मं निरवोचं शतं रोपीश्च तक्मनः ॥ १६ ॥

१५–(द्वि०) 'मा पानो', (च०) 'आयच्छति' इति पैप्प० सं० ।
१. अश्नोतेरशच् । उणादि० ४ । ४६ ॥ रश्मिः ।

१६–(द्वि० तृ०) 'उग्रजिह्वापनिष्पदा तयारोमं निरायुषः' इति पैप्प० सं० ।
(तृ०) 'तया' ह्विटनिकामितः । 'त्वया' इति बहुत्र ।

भा०—(इयम्) यह (जिह्वा) जीभ (अन्तः) मुख के भीतर (बद्धा) बंधी हुई । (पनिः-पदा) स्तुति करने और वाग्-व्यापार करने में चतुर, गतिशील होकर (वदति)-व्यक्त वाणी का उच्चारण करती है । हे वाणि ! (त्वया) तेरे बल से (यक्ष्मं) यक्ष्म-रोग को और (तक्मनः) कष्टदायी ज्वर के (शतं रोपीः च) सैकड़ों पीड़ाओं को भी (निः अवोचम्) दूर कर देता हूं ।

अयं लोकः प्रियतमो देवानामपराजितः ।
यस्मै त्वमिह मृत्यवे दिष्टः पुरुष जज्ञिषे ।
स च त्वानु ह्वयामसि मा पुरा जरसो मृथाः ॥ १७ ॥

भा०—(अयं) यह (अपरा-जितः) किसी से न हारने वाला सदा बलवान् (प्रिय-तमः) अत्यन्त प्रिय, रुचिकर (देवानाम्) देवगण इन्द्रियों का (लोकः) शरीर है । हे पुरुष ! हे देहपुरी के वासी जीवात्मन् ! (यस्मै) जिसके कारण (त्वम्) तू (इह) इसमें रह कर (मृत्यवे दिष्टः) मृत्यु के भाग्य में पड़ा हुआ ही (जज्ञिषे) उत्पन्न होता है । अर्थात् शरीर त्यागने के लिये ही शरीर का ग्रहण करता है । इसलिये (सः च) वह तू इस देह से असंग है । (त्वा अनु-ह्वयामसि) हम विद्वान् मुक्तजन तुझ को बार २ फिर २ चेताते हैं कि (जरसः पुरा) बुढापे से पहले (मा मृथाः) प्राणों को मत छोड़ ।

[३१] गुप्त हिंसा के प्रयोग करने वालों का दमन ।

शुक्र ऋषिः । कृत्यादूषणं देवता । १–१० अनुष्टुभः, ११ बृहती गर्भा, १२ पथ्याबृहती । द्वादशर्चं सूक्तम् ॥

१७–(तृ० प्र०) 'तस्मै त्वामिह जज्ञिषे अदृष्टः पुरुष मृत्यवे तस्मै त्वा निह्वयामसि' इति पैप्प० सं० । (च०) 'पुरुष-जज्ञिषे' इत्येकपदमिति पदपाठे प्रमादः ।

यां ते चक्रुरामे पात्रे यां चक्रुर्मिश्रधान्ये ।
आमे मांसे कृत्यां यां चक्रुः पुनः प्रति हरामि ताम् ॥ १ ॥

भा०—(याम्) जिस आपत्तिजनक कार्य को (ते) वे तेरे शत्रु लोग (आमे पात्रे) कच्चे वर्तनों में (चक्रुः) प्रयोग करते हैं (याम्) और जिस दुष्प्रयोग को (मिश्र-धान्ये) मिलेजुले धान्य, अन्नों में करते हैं और (यां कृत्यां) जिस विपत्तिजनक करतूत को वे (आमे मांसे) कच्चे मांस में (चक्रुः) करते हैं (ताम्) उसी दुःखदायी प्रयोग को दण्ड के रूप में (पुनः) फिर (प्रति-हरामि) उनको ही भुगतवा दूं । कच्चे पात्र में विपका लेप लगा कर अपने दुश्मनों के घर बेच आना, अनाज में विषैली बूंटी के दाने मिलाकर पर-राष्ट्र में बेच देना, कच्चे मांस में रोगकारी कीटों और विपकी धारा छोड़ देना, इत्यादि जनघातक लीला करने वालों को वैसा ही दण्ड होना चाहिये ।

यां ते चक्रुः कृकवाकावजे वा यां कुरीरिणि ।
अव्यां ते कृत्यां यां० ॥ २ ॥

भा०—(यां) जिस कृत्या=घातक प्रयोग को (ते) वे नीच पुरुष (कृकवाकौ) कृकवाकु=तीतर, (अजे) बकरे और (कुरीरिणि) कुरीर=चील, पर और (यां कृत्यां) जिस करतूत को वे (अव्यां) भेड़ पर करते हैं (तां) उस करतूत से (पुनः प्रति हरामि) फिर उनको दण्डित करूं ।

यां ते चक्रुरेकशफे पशूनामुभयादति ।
गर्दभे कृत्यां यां० ॥ ३ ॥

भा०—(यां) जिस हिंसा कार्य को वे (एकशफे) एक खुर वाले पशु पर या (गर्दभे) गधे की जाति के पशु पर (यां) जिस हिंसा को (उभयादति) दोनों जबाड़ों में दांत वाले गाय व भैंस आदि पशुओं पर (चक्रुः) करते हैं वही हत्या का दण्ड उन्हें मैं पुनः दूं ।

यां ते चक्रुरमूलायां वलगं वा नराच्याम् ।
क्षेत्रे ते कृत्यां यां० ॥ ४ ॥

भा०—(ते) वे लोग (यां) जिस हिंसा और (वलगम्) गुप्त पाप को (अमूलायां नराच्यां वा) अमूला और नराची नामक ओषधि के आधार पर (चक्रुः) करते हैं और (यां कृत्यां) जिस करतूत को (ते) वे (क्षेत्रे) खेत में करते हैं, वही दुःखदायी दण्ड मैं पुनः उनको दूं । अमूला और नराची दोनों विषैली ओषधि हैं। खेत में हत्या और गड्ढे आदि द्वारा धोखाबाज़ी से परघात करते हैं ।

यां ते चक्रुर्गार्हपत्ये पूर्वाग्नावुत दुश्चितः ।
शालायां कृत्यां यां० ॥ ५ ॥

भा०—(ते) वे (दुः-चितः) दुष्ट चित्त वाले लोग (गार्हपत्ये) स्थिरता से घर में निरन्तर जलने वाली गार्हपत्य नामक (पूर्व-अग्नौ) प्रथमाग्नि में करते हैं । (यां कृत्यां) जिस करतूत को (शालायां) शाला=गृह में लोग किया करते हैं, उसी करतूत को दण्ड के रूप में पुनः उन पर प्रयोग करूं । निरन्तर स्थिर गार्हपत्य में-लोग ज्वलनशील विस्फोटक पदार्थों को चोरी से डाल कर हानि पहुंचाते हैं, मकानों में लोग आग लगाते सेंध लगाते तथा अन्य दुष्कर्म करते हैं ।

यां ते चक्रुः सभायां यां चक्रुरधिदेवने ।
अक्षेषु कृत्यां यां० ॥ ६ ॥

भा०—(ते) वे दुष्ट पुरुष (यां) जिस दुष्टाचार को (सभायां चक्रुः) सभा में करते हैं और (यां) जिस नीच कर्म को (अधि-देवने) जूआखोरी में और (अक्षेषु यां कृत्यां चक्रुः०) अक्ष=जूएके पासों में करते हैं उस सब करतूत के बदले में वही अनर्थकारी दण्ड उनको भी दूं । सभा

में दलबन्दी करके परद्रोह करते हैं, जूए में परद्रव्यहरण और नाना दुराचार करते हैं।

यां ते चक्रुः सेनायां यां चक्रुरिष्वायुधे।
दुन्दुभौ कृत्यां यां० ॥ ७ ॥

भा०—(ते) वे दुष्ट पुरुष (यां) जिस घातक व्यवहार को (सेनायां) सेना में और (यां इषु-आयुधे) धनुषों और बाणों में (चक्रुः) करते हैं, और (यां कृत्यां) जिस घातक व्यवहार को (दुन्दुभौ) नक्कारे में करते हैं, उसके बदले में उसी अनर्थकारी प्रयोग को मैं उनके प्रति भी करूं। सेना में परद्रोह, धनुष बाण में कूट और विषैले बाणों का प्रयोग, नक्कारों में विष आदि लगा कर सेना वालों को देने से उनसे मृत्यु हो जाती है।

यां ते कृत्यां कूपेऽवदधुः श्मशाने वा निचख्नुः।
सद्मनि कृत्यां यां चक्रुः पुनः प्रति हरामि ताम् ॥ ८ ॥

भा०—(ते) वे लोग (यां कृत्यां) जिस हानिकारक प्रयोग को (कूपे) कूए में (अव-दधुः) करते हैं। या जिन बुरे हानिकारक पदार्थों को (श्मशाने वा नि-चख्नुः) श्मशान में गाड़ आते हैं और (सद्मनि) घर में (यां कृत्यां) बुरी २ हत्याओं को (चक्रुः) करते हैं। (ताम्) उसको मैं उनके ऊपर ही दंड के रूप में (प्रति हरामि) डालता हूं। कूए में विष डालने, श्मशान में भय आदि उत्पन्न करने या विस्फोटक पदार्थ चिता में जलाने या अन्य घोर अनर्थकारी सती दाहादि कार्य करने या घरों में बालक बालिकाओं की हत्या करने के अपराध करने वाले पुरुषों को यथोचित दंड दिया जाय।

यां ते चक्रुः पुरुषास्थे अग्नौ संकसुके च याम्।
म्रोकं निर्दाहं क्रव्यादं पुनः प्रति हरामि ताम् ॥ ९ ॥

भा०—(ते) वे दुष्ट पुरुष (याम्) जिस कुकृत्य को (पुरुषास्थे) पुरुष की हड्डियों में, और (यां च) जिस कुकृत्य को (सं-कसुके) नरद्रोही

चिता दाहक (अग्नौ) आग में (चक्रुः) करते हैं। ऐसे चोरी, (निर्दाहं) अग्नि से लोगों के घर भस्म करने और (क्रव्यादं) कच्चा मांस खाने वाले घोर पापी को फिर वैसा ही दण्ड प्राप्त कराऊं।

अपंथेना जंभारैणां तां पथेतः प्रहिंएमसि ।
अधीरो मर्याधीरेभ्यः सं जभाराचित्त्या ॥ १० ॥

भा०—जो दुष्ट पुरुष (एनां) इस कुकृत्य करतूती को (अपथेन) बुरे मार्ग से (आ जभार) राष्ट्र में लाता है। (तां) उस करतूत को हम (इतः पथा) इस प्रकार के सरल मार्ग से (प्र हिण्मसि) राष्ट्र से बाहर निकाल दें। और प्रायः (अधीरः) मूर्ख, बेवकूफ़ लोग अपनी (अचित्या) अज्ञानिता या मूर्खता से ऐसे बुरे काम (मर्या धीरेभ्यः) बुद्धिमान् लोगों के लिये (सं जभार) ला पटकते हैं। इसलिये राजा उन दुष्ट कार्यों को कभी न चलने दे।

यश्चकार न शशाक कर्तुं शश्रे पादमङ्गुरिम् ।
चकार भद्रमस्मभ्यमभगो भगवद्भ्यः ॥ ११ ॥

अथर्व० ४ । १८ । (प्र० तृ०)

भा०—और (यः) जो (चकार) किसी बुरे काम को कर तो बैठता है और तो भी (कर्तुं) उसको करने में (न शशाक) समर्थ न हो तो वह अपने (पादम्) पैर और (अंगुरिम्) हाथों को भी (शश्रे) तोड़ लेता है। वह (अभगः) मूर्ख ऐसा करके भी (अस्मभ्यम्) हम (भगवद्भ्यः) ऐश्वर्यवान् पुरुषों के लिये तो (भद्रं चकार) भलाई ही करता है। वह बुरे काम में हाथ डाल कर अपना सत्यानाश आप कर लेता है।

१०—'मर्याः । धीरेभ्यः' इति पदच्छेदो ह्विटनिकामितः ।

कृत्याकृतं वलगिनं मूलिनं शपथेय्यम् ।
इन्द्रस्तं हन्तु महता वधेनाग्निर्विध्यत्वस्तया ॥ १२ ॥

भा०—(इन्द्रः) इन्द्र राजा, (तं कृत्या-कृतं) उस हिंसाकारी (वलगिनं) नीच कुटिलगामी (मूलिनं) विषैली जड़ों के आधारों पर दूसरों को हत्या करने वाले और (शपथेय्यं) व्यर्थनिन्दक पुरुष को (महता वधेन) बड़े भारी कठोर दण्ड से (हन्तु) मारे और (अग्निः) अग्नि सेनापति अपने (अस्तया) फेंके जाने वाले बाण या गोली से (विध्यतु) वेंध डाले।

इति षष्ठोऽनुवाकः ।

[तत्र सूक्तानि पञ्च, ऋचश्च सप्ततिः]

इति पञ्चमं काण्डं समाप्तम् ।

अनुवाकाः पञ्चमे षडेकत्रिंशच्च सूक्तकम् ।
षट्सप्ततिश्च त्रिशती ऋचां च परिगण्यते ॥

वेदवस्वङ्कचन्द्राब्दे श्रावणे च सिते भृगौ ।
प्रतिपद्यगमत्पूर्त्तिं पञ्चमञ्चाप्यथर्वणः ॥

इति प्रतिष्ठितविद्यालंकार-मीमांसातीर्थविरुदोपशोभित-श्रीमज्जयदेवशर्मणा विरचितेऽथर्वणो ब्रह्मवेदस्यालोकभाष्ये पञ्चमं काण्डं समाप्तम् ।

१२—' इन्द्रस्तु सर्वास्तान् हन्तु स त्वघ्नेन भवामिवः ' इति पैप्प० सं० ।

गौओं के पालन करने वाले गोपाल के समान (नः) हम प्रजाओं को (विश्वतः) सब ओर से (परि पाहि) पालन कर। और हमारे शत्रुगण (दुरस्यवः) दुःखदायी संकटों में हमें डालने वाले पुरुष (अपाञ्चः) परे हटकर (निवताः) नीचे सिर झुका कर (यन्तु) चलें। (अमा) साथ ही (एषां प्रबुधां) इनके बहुत अधिक जानने वाले विद्वानों का (चित्तं) ज्ञान भी (वि नेशत्) नाना प्रकार से नष्ट हो जाय। योगी के पक्ष में स्पष्ट है।

मम॑ दे॒वा वि॑ह॒वे स॑न्तु॒ सर्व॒ इन्द्र॑वन्तो म॒रुतो॒ विष्णु॑र॒ग्निः।
ममा॒न्तरि॑क्षमु॒रुलो॑कमस्तु॒ मह्यं॒ वातः॑ पवतां॒ कामा॑या॒स्मै ॥ ३ ॥

ऋ० १० । १२८ । २ ॥

भा०—(मरुतः) वायु के समान वेगवान् (विष्णुः) व्यापक (अग्निः) अग्नि, अग्रणी, आत्मा और (देवाः) अर्थों का प्रकाश करने वाले ये (सर्वे) सब इन्द्रिय गण भी (इन्द्र-वन्तः) राजा के समान परमेश्वर को प्रमुख बना कर (मम) मेरे (वि-हवे) शासन में (सन्तु) रहें। (मम) मेरा (अन्तरिक्षम्) अन्तः निवास करने वाला मन, हृदय भी (उरु लोकं अस्तु) विशाल प्रकाश से युक्त हो अथवा यह विशाल लोक अन्तरिक्ष भी मेरे वश हो। और (वातः) यह प्राण वायु और यह वायु (मह्यं) मेरे लिये (अस्मै) इस २ (कामाय) कामना योग्य प्रयोजन के लिये (प्रवताम्) प्रवाहित हो।

मह्यं॑ यजन्तां॒ मम॒ यानी॒ष्टाकू॑तिः स॒त्या मन॑सो मे अस्तु।
एनो॒ मा नि गां॑ कत॒मच्च॒नाहं विश्वे॑ दे॒वा अ॒भि र॑क्षन्तु॒ मे॒ह ॥ ४ ॥

ऋ० १० । १२८ ॥

३–(च०) 'कामे अस्मिन्' इति-ऋ०। (तृ०) 'उरु गोपं' इति तै० सं०।

४–(प्र०) ' मह्यं यजन्तु मयातिहव्या ' (च०) ' विश्वेदेवासते अधिवोचता नः' इति ऋ० (च०) ' रक्षन्तु मामिह ' इति पैप्प० सं०।

भा०—(मम यानि इष्टानि) मेरे जो इष्ट=अभिलषित सुखदायक पदार्थ और यज्ञ कर्म हैं वे (मह्यं) मुझे (यजन्ताम्) प्राप्त हों और मेरे अभिलषित पदार्थ प्राप्त करावें। और (मे मनसः) मेरे मन की (आ-कूतिः) दृढ़ संकल्प (सत्या अस्तु) सत्य हो। (अहं) मैं (कतमत् चन) किसी भी (एनः) पाप को (मा निगाम्) प्राप्त न होऊं। (विश्वे देवाः) समस्त देव गण विद्वान् अधिकारी पुरुष (मा) मुझे (इह) यहां (रक्षन्तु) रक्षा करें।

मयि॑ दे॒वा द्रवि॑ण॒मा य॑जन्तां॒ मय्या॒शीर॑स्तु॒ मयि॑ दे॒वहू॑तिः ।
दैवा॒ होता॑रः सनिषन् न ए॒तदरि॑ष्टाः स्याम त॒न्वा॒/सु॒वीराः॑ ॥ ५ ॥

ऋ० १० । १२८ । ३ ॥

भा०—(मयि) मुझ पर (देवाः) देव-विद्वान् लोग (द्रविणम्) ज्ञान और धन का (आ यजन्ताम्) अनुग्रह करके प्रदान करें (मयि) मुझ पर उन का (आशीः) आशीर्वाद बना रहे। (मयि) और मुझ पर निर्भर कर के (देव-हूतिः) देवगण विद्वानों की बुलाहट लगी रहे। अर्थात् वे सदा मेरे यहां आवें, अथवा (मयि देवहूतिः) मुझे लोग 'देव' शब्द से आदर पूर्वक पुकारा करें। (दैवाः होतारः) देव=राजा सम्बन्धी विद्वान् प्रजागण मेरे यज्ञ में होता बनकर (नः) हमें (एतत्) यह सब योग्य पदार्थ (सनिषन्) प्राप्त करावें, प्रदान करें। हम (तन्वा) अपने शरीर से (अरिष्टाः) सदा आरोग्य, अपीड़ित, सुखी होकर आत्मा से (सु-वीराः) उत्तम वीर (स्याम) बनें। दैव्याः होतारः विशः। श० ३ । ७ । ३९ ॥ अध्वर्यु, इन्द्रियगण आदि। देखो परिशिष्ट सामवेद भाष्य।

५–(तृ०) 'देव्याहोतारो वनुषन्त पूर्वे' इति ऋ०। 'वनिषन्न' इति तै० सं०। (प्र०) 'मह्यं देवाः' (द्वि०) 'मम्देवहूतिः' इति पैप्प० सं०।

दैवीः षडुर्वीरुरु नः कृणोत् विश्वे देवास इह मादयध्वम् ।
मा नो विदद्भिभा मो अशस्तिर्मा नो विदद् वृजिना द्वेष्या या ॥६॥

पूर्वार्धः ऋ० १० । १२८ । ५ ॥

भा०—हे (षड् उर्वीः) छः विशाल (दैवीः) देवियो ! (नः) हमारे लिये (उरु कृणोत) विशाल प्रदेश प्रदान करो और विशाल ज्ञान और अन्न दो, और हे (विश्वे देवासः) समस्त विद्वान् पुरुषो ! आप लोग (इह) यहां, मेरे राज्य में (मादयध्वम्) खूब आनन्द से निवास करो । (नः) हमें (अभि-भाः) हमारे साहसों का नाश करने वाली निराशा (मा विदद्) प्राप्त न हो और (अशस्तिः मा) अपकीर्ति भी न प्राप्त हो । और (या) जो (द्वेष्या) द्वेष करनेवाली या द्वेष करने, योग्य अप्रीति का पात्र, (वृजिना) परित्याग करने योग्य पाप बुद्धि है वह भी (मा विदद्) प्राप्त न हो ।

अध्यात्म में—प्राण आदि पांच ज्ञान-वृत्तियां और छठी मनोवृत्ति और साधारण छः दिशाएं ।

तिस्रो देवीर्महि नः शर्म यच्छत प्रजायै नस्तन्वेऽ यच्च पुष्टम् ।
मा हास्महि प्रजया मा तनूभिर्मा रधाम द्विषते सोम राजन् ॥७॥

उत्तरार्धः १० । १२८ । ५ ॥

भा०—(नः) हमें (तिस्रोः देवीः) तीनों देवियां (महि शर्म) बड़ा भारी सुख (यच्छत) प्रदान करें । और (यत् च) जो कुछ (नः

६–(प्र०) 'षडुर्वी' (द्वि०) 'इह वीरध्वम्' इति ऋ० ।
७–(तृ०) 'मा धनेन' इति पैप्प० सं० । (द्वि०) 'महि मे'— 'प्रजायै मे' (तृ० च०) 'मां विशः सम्मनसो जुषन्तां पित्र्यं क्षत्रं पृतजानात्वस्मत्' इति पैप्प० सं० ।

तन्वे) हमारे शरीर और (प्र-जायै) प्रजा के लिये (पुष्टम्) पुष्टि और बल हो वह भी प्रदान करें। (प्र-जया मा हास्महि) हम अपनी सन्तति से हीन न हों, न हमारी सन्ततियों का नाश हो और न सन्तति का विच्छेद हो। (मा तनूभिः) हम अपने शरीरों को रोग आदि असमय मृत्युओं से न त्याग करें। हे (राजन् सोम) सर्व हृदयों के राजन्! नृपते! और परमात्मन्! हे सोम! सर्वोत्पादक और सर्व प्रेरक! हम (द्विपते) शत्रु से (मा रधाम) पीड़ित न हों। तीन देवी=प्राण, अपान, व्यान और वाक्, मन, और काय।

उ॒रु॒व्यचा॑ नो महि॒षः शर्म॑ यच्छत्व॒स्मिन् हवे॑ पुरुहू॒तः पु॑रु॒क्षु।
स नः॑ प्र॒जायै॑ हर्यश्व मृ॒डेन्द्र॒ मा नो॑ रीरिषो॒ मा परा॑ दाः ॥ ८ ॥

ऋ० १० । १२८ । ८ ॥

भा०—(उरुव्यचाः) इस विशाल मूल प्रकृति में या विशाल ब्रह्माण्ड में व्यापक राज-पक्ष में प्रजा में व्यवस्था-रूप से व्यापक (महिषः) महान् परमात्मा (नः) हमें (शर्म) शरण और सुख (यच्छतु) दे। (पुरु-हूतः) समस्त प्रजाओं द्वारा स्मरण किया गया, परमात्मा (अस्मिन्) इस (हवे) यज्ञ में हमें (पुरु-क्षु) बहुत अन्न भी दे। हे (हरि-अश्व) तीव्र व्यापनशील शक्तियों से युक्त तीव्राश्वों से युक्त राजा के समान परमात्मन् (नः प्र-जायै) हमारी प्रजा के लिये (मृड) सुख दो, (नः) हमें (मा रीरिषः) कभी मत मरने दो और (मा परादाः) हमें कभी मत त्याग। राजा, ईश्वर दोनों पक्ष में स्पष्ट है।

८–(प्र०) 'शर्म यंसत्' (द्वि०) 'पुरुक्षुः' (तृ०) 'मृडय' इति ऋ०, पैप्प० सं०।

धाता विधाता भुवनस्य यस्पतिर्देवः सविताभिमातिषाहः ।
आदित्या रुद्रा अश्विनोभा देवाः पान्तु यजमानं निर्ऋथात् ॥९॥

ऋ० १० । १२८ । ७ ॥

भा०—(धाता) सब का धारण पोषण करने वाला, (वि-धाता) सब का उत्पादक, ही वह (देवः) देव, प्रकाशमान, सब का प्रकाश है (यः) जो (भुवनस्य पतिः) समस्त उत्पन्न हुए विश्व का पालक है । वही (सविता) सब का प्रेरक और सब के (अभिमाति-सहः) अभिमान करने वाले अन्तः-शत्रु काम क्रोध आदि का विनाशक है । (यजमानं) इस देवार्चा करने हारे यजमान=आत्मा को उस देव की दिव्य शक्तियां (निः-ऋथात्) असत्य-मय पाप मार्ग से (पान्तु) बचावें । वे देव ये हैं (आदित्याः) १२ मास (रुद्राः) रुद्र, वायुएं और (उभा अश्विना) दोनों अश्वी, द्यौ और पृथिवी ।

ये नः सपत्ना अप ते भवन्त्विन्द्राग्निभ्यामवं बाधामह एनान् ।
आदित्या रुद्रा उपरिस्पृशो न उग्रं चेत्तारमधिराजमंक्रत ॥ १० ॥

यजु० ३४ । ४६ ॥

भा०—(ये) जो (नः) हमारे (स-पत्नाः) स्वत्व पर समान अधि-कार जमाने वाले भीतरी और बाहरी शत्रु हैं (ते अप भवन्तु) वे दूर हों ।

९–‘ धाता धातॄणां भु- ’ (द्वि०) ‘ देवं त्रातारमभिमातिषाहम् ’ (तृ०) ‘ इमं यज्ञमश्विनोभा बृहस्पतिर्देवाः पान्तु यजमाने न्यर्थान् ’ इति ऋ० । (तृ०) ‘ बृहस्पतिरिन्द्राग्नी अश्विनोभा ’ इति पैप्प० सं० ।

१०–(द्वि०) ‘ महे तान् ’ (च०) ‘ अक्रन् ’ (तृ०) ‘ वसवोरुद्रा-आदित्या उपरिस्पृशं मा ’ इति क्वचित् पाठाः । (प्र०) ‘ येनः शप-न्त्युपने ’ (द्वि०) ‘ अप वाधाम योनिम् ’ (तृ०) ‘ उपरिस्पृशो-माम् ’ (च०) ‘ अक्रन् ’ इति पैप्प० सं० ।

(एनान्) इन सब को (इन्द्राग्निभ्याम्) इन्द्र और अग्नि से इन्द्र=विद्युत् या सूर्य और अग्नि=आग और ज्ञान या राजा और सेनापति द्वारा अब (बाधामहे) विनष्ट करते हैं । (उपरि-स्पृशः) ऊर्ध्व देश को स्पर्श करने वाले (आदित्याः) सूर्य की किरण और (रुद्राः) वायुएं (चेत्तारं) समस्त संसार को चेतना देने हारे उस (उग्रं) बलवान् प्रभु को (अधि-राजम्) सब का स्वामी (अक्रत) बनाते हैं । राष्ट्र पक्ष में—(आदित्याः) सूर्य के समान ज्ञानी पुरुष और (रुद्राः) दुष्टों को रुलाने वाले वीर पुरुष सब मिलकर (चेत्तारम्) सब को चेताने वाले (उग्रं) बलवान् पुरुष को (अधिराजम् अक्रत) अपना स्वामी राजा बनाते हैं ।

अर्वाञ्चमिन्द्रममुतो हवामहे यो गोजिद् धनजिदश्वजिद् यः ।
इमं नो यज्ञं विहवे शृणोत्वस्माकमभूर्हर्यश्व मेदी ॥ ११ ॥

ऋ० १० । १२८ । परि० ॥

भा०—(अमुतः) उस परमात्मा के समान ही हम (अर्वाञ्चं) प्रत्यक्ष दीखने वाले इस लोक के (इन्द्रम्) राजा की (हवामहे) भी स्तुति करते हैं कि (यः) जो (गो-जित्) गौओं आदि पशुओं का विजेता (धन-जित्) धनों का विजेता, और (अश्व-जिद्) अश्वों का विजय करने वाला है । वह (नः) हमारे (इमं यज्ञं) इस यज्ञ को (वि-हवे) विशेष स्तुतिकाल और युद्ध काल में भी (शृणोतु) श्रवण करे । हे (हरि-अश्व) हरणशील अश्व=शक्तियों से सम्पन्न परमात्मन् और राजन् ! आप (अस्माकं) हमारे (मेदी) स्नेही (अभूः) हो । राजा और परमात्मा दोनों के पक्षों में समान है । अध्यात्म में—गौ=ज्ञानेन्द्रियां अश्व=कर्मेन्द्रियां धन=ज्ञान और कर्म फल, अमुक=परमात्मा और तदनुसार इस देह में यह इन्द्र=आत्मा ।

११–' विहवे जुषस्वास्य कुर्मो हरिवो मे दिनं त्वा ' इति ऋ० प० । ' विहवे जुषस्वास्माकं कृण्वो ह० मे० त्वा० ' इति पैप्प० सं० ।

[४] कोढ के नाशक कूठ ओषधि का वर्णन ।

भृग्वंगिरा ऋषिः । यक्ष्मनाशनः कुष्ठो देवता । १–४, ७, ९ अनुष्टुभः, ५ भुरिक्, ६ गायत्री, १० उष्णिग्गर्भा निचृत् । दशर्चं सूक्तम् ॥

यो गिरिष्वजायथा वीरुधां बलवत्तमः ।
कुष्ठेहि तक्मनाशन तक्मानं नाशयन्नितः ॥ १ ॥

भा०—हे (कुष्ठ) कूठ नाम का वृत्त ! तू (यः) जो (गिरिषु) पर्वतों में (अजायथाः) उत्पन्न होता है इस कारण (वीरुधां) लताओं में से (बलवत्-तमः) सब से अधिक बलवान् है । हे (तक्म-नाशन) कुष्ठ आदि रोगों के नाश करने वाला ! तू (इतः) इस देह से (तक्मानम् नाशयन्) कुष्ठ आदि दुःखदायक रोग को नाश करता हुआ (आ इहि) हमें प्राप्त हो ।

कुष्ठ के विषय में राजनिघण्टु—"कफमारुतरक्तजित् त्रिदोषविष-कण्डूश्च कुष्ठरोगांश्च नाशयेत् ।"

सुपर्णसुवने गिरौ जातं हिमवतस्परि ।
धनैरभि श्रुत्वा यन्ति विदुर्हि तक्मनाशनम् ॥ २ ॥

भा०—जो पुरुष (तक्म-नाशनं) ज्वर के नाशक इसको (हि विदुः) निश्चय पूर्वक जान लेते हैं वे इसको (हिमवतः परि) हिमालय के ऊपर (सुपर्णसुवने गिरौ) सुपर्ण-गरुड़ों को उत्पन्न करने वाले अति उच्च गिरि-शिखर पर भी (श्रुत्वा) इसका नाम सुन कर (धनैः) अपने नाना द्रव्य व्यय करके (अभि यन्ति) वहां तक पहुंचते हैं और उसको उद्योग से प्राप्त

[४] २–(प्र०) 'सुवर्णसवने' (तृ० च०) 'धनैरभिश्रुतं हत्विकुष्ठे तक्म-नाशनः' इति पैप्प० सं० ।

करते हैं। अथवा (धनैः[1]) उसकी पहिचान करने वालों के साथ (अभियन्ति) वहां पहुंचते हैं।

अश्वत्थो देवसदनस्तृतीयस्यामितो दिवि ।
तत्रामृतस्य चक्षणं देवाः कुष्ठमवन्वत ॥ ३ ॥

अथर्व० १९ । ३९ । ६ ॥ अथर्व० ६ । ९५ । १ ॥

भा०—(देव-सदनः) दिव्य गुणों का आश्रय (अश्वत्थः) सूर्य, (इतः) यहां से, इस लोक से (तृतीयस्याम् दिवि) तीसरे द्यौलोक में है। (तत्र) वहां ही (अमृतस्य) अमृत रस का वास्तविक (चक्षणं) परिदर्शन होता है। वही (देवाः) दिव्य किरणें (कुष्ठम्) कुष्ठ नामक ओषधि को (अवन्वत) पालित पोषित करती हैं, सेती हैं, पुष्ट करती हैं।

हिरण्ययी नौरचरद्धिरण्यबन्धना दिवि ।
तत्रामृतस्य पुष्पं देवाः कुष्ठमवन्वत ॥ ४ ॥

अथर्व० १९ । ३९ । ७ ॥ अथर्व० ६ । ९५ । ५ ॥

भा०—(हिरण्ययी) तेजोमय (नौः) नाव के समान यह आदित्य (हिरण्य-बन्धना) तेजो-द्रव्य से बंधी हुई (अचरत्) विचरती है। (तत्र) वहां (अमृतस्य पुष्पं) अमृत रस ओषधियों के गुणकारी रस का पुष्प=पोषण सामर्थ्य है। (देवाः) उसकी दिव्य किरणें (कुष्ठम् अवन्वत) कूठ नामक ओषधि को सेवती और पुष्ट करती हैं।

---

१. धनं धिनोतीति सतः नि० ३ । २ । ३ ॥ धिवि जिवि प्रीणनार्थौ भ्वादिः ।

३–(च०) ' ततः कुष्ठोऽजायत ' इति अथर्व० १९ । ३९ । ६ ॥

४–(तृ० च०) ' तत्रामृतस्य चक्षणं ततः कुष्ठोऽजायत ' इति अथर्व० १९ । ३९ । ७ ॥

हिरण्ययाः पन्थान आसन्नरित्राणि हिरण्ययां ।
नावो हिरण्ययीरासन् याभिः कुष्ठं निरावहन् ॥ ५ ॥

भा०—उस सूर्य के (पन्थानः) किरणों के जाने के मार्ग (हिरण्ययाः) ज्योतिर्मय (आसन्) हैं और (अरित्राणि) समुद्र में नाव को खेने के लिये लगे चप्पुओं के समान सूर्य में लगी किरणें भी (हिरण्यया) स्वतः ज्योतिर्मय हैं । और उन ज्योतिर्मय चप्पुओं के आश्रय पर विचरने वाली (नावः) सूर्यमय नौकाएं भी (हिरण्ययीः) ज्योतिर्मय हैं (याभिः) जिनसे (कुष्ठं) कूठ नामक औषध को (निः-आवहन्) खूब पुष्ट करते हैं ।

इमं मे कुष्ठ पूरुषं तमा वह तं निष्कुरु ।
तमु मे अगदं कृधि ॥ ६ ॥

भा०—हे कुष्ठ ! ओषधे (मे) मेरे (इमं) इस (पूरुषं) पुरुष को (आ वह) आरोग्यता को प्राप्त करा, (तं निष्कुरु) उस को रोग से मुक्त कर और (तम् उ मे अगदं कृधि) मेरे इस पुरुष को रोग मुक्त बनाये रख ।

देवेभ्यो अधि जातो/सि सोमस्यासि सखा हितः ।
स प्राणाय व्यानाय चक्षुषे मे अस्मै मृड ॥ ७ ॥

भा०—हे कुष्ठ ! तू (देवेभ्यः) देवगण=किरण-समूहों से (अधिजातः असि) रस प्राप्त कर के उत्पन्न हुआ है । और (सोमस्य) सोमलता का (सखा) मित्र के समान उसी देश में उत्पन्न होने से अथवा (सोमस्य सखा) सोम ओषधि रस के समान होकर उस का सखा (हितः) और गुण में उसी के समान हितकारी है । (सः) वह तू (प्राणाय) शरीर के प्राण और (व्यानाय) शरीर में व्यापक व्यान वायु और (मे अस्मै) मेरे इस (चक्षुषे) चक्षु दोष को भी अच्छा कर के (मृड) सुखी कर ।

७-(तृ०) 'प्राणायापानाय' इति पैप्प० सं० ।

उदं॒ङ् जा॒तो हि॒मवं॑त॒: स प्रा॒च्यां नी॑यसे॒ जनं॑म् ।
तत्र॒ कुष्ठ॑स्य॒ नामा॑न्युत्त॒मानि॒ वि भे॑जिरे ॥ ८ ॥

भा०—तू (उदङ्) उत्तर दिशा में (जातः) उत्पन्न होता है और हे कूठ ! तू (हिमवतः) हिमालय से (प्राच्यां) प्राची दिशा में रहने वाले (जनं) जनपदों में (नीयसे) लाया जाता है । (तत्र) वहां उस पूर्व देश में (कुष्ठस्य) कूठ के (उत्तमानि नामानि) उत्तम २ रूपों को (विभेजिरे) पृथक् २ विभक्त कर देते हैं । अर्थात् सब कूठ की जातियों में से उत्तम २ जातियों को छांट लेते हैं ।

उ॒त्त॒मो नाम॑ कुष्ठास्युत्त॒मो नाम॑ ते पि॒ता ।
यक्ष्मं॑ च॒ सर्वं॑ ना॒शयं॑ त॒क्मानं॑ चार॒सं कृ॑धि ॥ ९ ॥

भा०—हे (कुष्ठ) कूठ (ते नाम उत्-तमः) तेरा नाम उत्तम है । (ते पिता उत्-तमो नाम) तेरा पालक भी उत्तम सूर्य या पर्वत सब से ऊपर विराजमान है, या ऊंचा है । तू (सर्वं यक्ष्मं नाशय) समस्त यक्ष्म रोगों को नाश कर और (तक्मानं च) तक्मा, कोढ़ रोग को (अरसं) निर्बल, विष-रहित (कृधि) कर ।

शी॒र्षा॒म॒यमु॑पहृ॒त्याम॒क्ष्योस्त॒न्वो॒३ रप॑: ।
कुष्ठ॒स्तत् सर्वं॒ निष्क॑र॒द् दैवं॑ समह॒ वृष्ण्य॑म् ॥ १० ॥

भा०—मैं (शीर्ष-आमयम्) सिर के रोग को और (अक्ष्योः तन्वः रपः) आंखों और शरीर के दोष को (उप-हत्याम्) विनाश करूं । (कुष्ठः) कूठ औषध (दैवं वृष्ण्यम्) दिव्य ओषधि के समान प्रभावशाली पुष्टिकरण

८–(द्वि०) 'प्राच्यं'

९–(तृ० च०) 'यतः कुष्ठ प्रजायसे तदेह्यरिष्टतातये' इति पैप्प० सं० ।

१०–(प्र०) 'शीर्षहत्यमुपहत्य' (तृ०) 'कुष्ठो नो विश्वतस्पात्' इति पैप्प० सं० ।

होने के कारण (सम् अह) बड़ी उत्तम रीति से (तत् सर्वं) वह सब कुछ (निष्करत्) कर देता है।

अध्यात्म ब्रह्म-वाद में भी यह सूक्त लगता है। 'अश्वत्थो देवसदनः तृतीयस्यामितो दिवि' यह अलंकार, छान्दोग्य में ब्रह्मप्रकरण में मोक्ष विषयक दिया है। इस लिङ्ग से कुष्ठ=परमेश्वर=गिरिष्ठ, कौ वाचि तिष्ठति इति कुष्ठः इसका अर्थ है वही जो 'गिरिष्ठ' शब्द का है अर्थात् समस्त वेदवाणी में व्यापक है। १-वही सब दुखों का नाशक है। वही आनन्द वल्ली होने से सब लताओं में बलवान् परम भव-भेषज है। २-हिमवान् सुमेरु=मेरु दण्ड के ऊपर सुपर्णसुवन=मस्तक भाग में ज्ञानरूप से एवं योगाभ्यास में ब्रह्म-रन्ध्रस्थल में प्रकाशरूप से प्रकट होता है। ३-उस शरीर के तृतीय लोक मूर्धा में इन्द्रियरूप देवों के एक मात्र आश्रय अश्वत्थ परम-आत्मा है उसी में अमृत का दर्शन होता है। उसी को देव गण 'कुष्ठ' कहते हैं। ४-वहीं एक हिरण्ययी नाव है जो तेजोमय विशोका ज्योतिष्मती, प्रज्ञा या ऋतम्भरा है। ५-उस के सब मार्ग ज्योतिर्मय हैं वह अपने ज्योतिर्मय रश्मियों से उस 'कुष्ठ' आत्मा को धारण करती है,। ६-वही कुष्ठ का दर्शन पुरुष आत्मा को अगद=भव रोग से निवृत्त करता है। वही ब्रह्मानन्द सोम परमामृत रस का अपर-पर्याय है। प्राण व्यान चक्षु सब को बल देता है। ८-वही ऊर्ध्व देश में उत्पन्न ब्रह्मानन्द शरीर के रोग में व्याप जाता है। ९-समस्त देह-दुःख उस को पाकर टूट जाता है। १०-शिर, चक्षु, देह सब निरोग, सबल और प्रफुल्लित हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त विशाल विराड् ब्रह्माण्ड में तारामण्डलों में ज्योतिषियों ने एक चित्र कल्पना कर रखा है। इसमें अश्वत्थ, सुपर्ण, हिरण्ययी नौका आदि की कल्पना भी उसी प्रकार है जैसे मृगशिरा, रोहिणी, कर्कट, सिंह आदि की है यह हिरण्यमयी नौका वह तारा मण्डल है जिसको अंग्रेज़ी में 'अर्गो'=अर्णवयानमण्डल कहते हैं।

[५] सिलाची=लाक्षा ओषधि का वर्णन ।

अथर्वा ऋषिः । लक्ष्मी देवता । १–९ अनुष्टुभः । नवर्चं सूक्तम् ॥

रात्री॑ मा॒ता नभः॑ पि॒तार्य॒मा ते॑ पिताम॒हः ।
सि॒ला॒ची नाम॒ वा अ॑सि॒ सा दे॒वाना॑मसि॒ स्वसा॑ ॥ १ ॥

भा०—सिलाची नाम ओषधि का उपदेश करते हैं । सिलाची=लाख नामक ओषधि की (माता) माता के समान पालन पोषण और वृद्धि करने वाली (रात्री) रात्रि है । अर्थात् वह रात में बढ़ती है, (नभः) अधिक न चमकने वाला, चन्द्रमा, नक्षत्रमय आकाश उसका (पिता) पालन करने वाला है । वह रात्रि की ओस से बढ़ती है और (ते पितामहः) तेरा पितामह (अर्यमा) सूर्य है । तो भी परम्परा से वह ओषधि सूर्यप्रकाश की अपेक्षा करती है । हे ओषधे तू (सिलाची नाम वा असि) 'सिलाची' नाम वाली है । तू (देवानाम् स्वसा असि) देव विद्वानों की भगिनी के समान रोगियों को सुख देने में सहायक है । अथवा देह में विद्यमान देव इन्द्रियों को स्वयं गति देने में समर्थ है ।

यस्त्वा॒ पिब॑ति॒ जीव॑ति॒ त्राय॑से॒ पुरु॑षं॒ त्वम् ।
भ॒र्त्री हि शश्व॑ता॒मसि॒ जना॑नां च॒ न्यञ्च॑नी ॥ २ ॥

भा०—उसके गुण बतलाते हैं । हे ओषधे ! (यः त्वा पिबति) जो तुझ को पान करता है । (जीवति) वह दीर्घ जीवन धारण करता है, वह मृत्यु से बच जाता है । क्योंकि (त्वम्) तू (पुरुषं) पुरुष को (त्रायसे) मृत्यु से रक्षा करती है और (हि) क्योंकि तू (शश्वतां) अनादि काल से

[५] १–' शिलादी नाम वासि ' इति पैप्प० सं० ।
२–(तृ०) ' धर्त्री च ' इति पैप्प० सं० ।

चले आये (जनानां) मनुष्यों की (भर्त्री हि) भरण पोषण करने वाली (असि) है । और इसीलिये (नि-अञ्चनी) सब रोगों को दबाने वाली अथवा समस्त शरीर में सुगमता से व्याप जाने वाली भी है ।

वृक्षंवृ॑क्षमा रो॑हसि वृषण्यन्ती॑व कुन्यला॑ ।
जय॑न्ती प्रत्याति॒ष्ठ॑न्ती स्पर॑णी नाम॒ वा अ॑सि ॥ ३ ॥

भा०—(वृषण्यन्ती) काम से प्रेरित होकर पति की अभिलाषा करने वाली (कन्यला) कन्या नवयुवति जिस प्रकार स्वयंवर काल में पुरुष को देख कर उस का आश्रय लेने का संकल्प करती है उसी प्रकार हे ओषधे ! तू भी (वृक्षं-वृक्षं) प्रत्येक वृक्ष पर (आरोहसि) आश्रय लेती है । और (जयन्ती) उस पर फैल कर उसको पूरी तरह से उसे छा लेती है और पुनः (प्रति-आ-तिष्ठन्ती) उस पर खूब मजबूती से जड़ जमाकर स्थिर हो जाती है । तेरा दूसरा नाम (स्परणी नाम वा असि) 'स्परणी' भी है ।

यद् द॒ण्डेन॒ यदिष्वा॒ यद् वारु॒र्हर॑सा कृ॒तम् ।
तस्य॒ त्वम॑सि॒ निष्कृ॑तिः॒ सेमं निष्कृ॑धि॒ पूरु॑षम् ॥ ४ ॥

भा०—इसके गुणों का उपदेश करते हैं । (यद्) जो (अरुः) घाव (दण्डेन) दण्डे की चोट से (यद् इष्वा) और जो घाव बाण के लगने से और (यद् वा अरुः) जो घाव (हरसा कृतम्) किसी रगड़ से या वेगवान् पदार्थ से होगया है (तस्य) उसको (त्वम् निष्कृतिः असि) तू सर्वथा दूर करने में नाचूक औषध है । (सा) ऐसी वह तू ओषधि (इमं पूरुषं निष्कृधि) इस पुरुष को चंगा कर ।

३-(च०) ' संजया नाम वासि ' इति पैप्प० सं० ।

४-(तृ० च०) 'त्वमसि भीषजी निष्कृतिर्नाम वासि' इति पैप्प० सं० ।

भद्रात् प्लक्षान्निस्तिष्ठस्यश्वत्थात् खदिराद्धवात् ।
भद्रान्न्यग्रोधात् पर्णात् सा न एह्यरुन्धति ॥ ५ ॥

भा०—इसके उत्पन्न होने के वृक्षों का उपदेश करते हैं । हे ओषधे ! तू (भद्रात्) उत्तम (प्लक्षात्) प्लक्ष-पिलखन के पेड़ से, (अश्वत्थात्) पीपल के पेड़ से और (खदिरात्) खैर के पेड़ से और (धवात्) बबूल के पेड़ से और (भद्रात्) उत्तम (न्यग्रोधात्) बड़ के पेड़ से और (पर्णात्) पर्ण=पलाश=ढाक के पेड़ से (निः तिष्ठसि) निर्यासरूप होकर उस पर आ जमती है । हे (अरुन्धति) अरु=घावों को भर देने वाली ओषधे ! (सा) वह तू (नः एहि) हमें प्राप्त हो ।

हिरण्यवर्णे सुभगे सूर्यवर्णे वपुष्टमे ।
रुतं गच्छासि निष्कृते निष्कृतिर्नाम वा असि ॥ ६ ॥

भा०—उसके स्वरूप का उपदेश करते हैं । हे (हिरण्य-वर्णे) स्वर्ण के समान पीत रंग वाली, (सु-भगे) सुन्दर चमक से युक्त (सूर्य-वर्णे) सूर्य के समान लाल पीले, चमकीले रंग वाली (वपुष्टमे) अपने बीजवपन करने और फैलने में सब से अधिक शक्तिशाली ! हे (निष्कृते) रोग को सर्वथा दूर करने वाली ! तू (निष्कृतिः नाम वा असि) 'निष्कृति' नाम वाली ही है । तू सर्वरोगहारिणी है । तू (रुतं) रुत=व्रण पर ही (गच्छासि) प्रयोग की जाती है । अथवा नामानुरूप गुण को प्राप्त करती है ।

हिरण्यवर्णे सुभगे शुष्मे लोमशवक्षणे ।
अपामसि स्वसा लाक्षे वातो ह्यात्मा बभूव ते ॥ ७ ॥

६–(प्र०) 'हिरण्यबाहू' (च०) 'सेमं निष्कृधि पौरुषम्' इति पैप्प० सं० ।

७–(प्र०) 'हिरण्यवर्णे युवते' इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे (हिरण्य-वर्णे) सुवर्ण के वर्णवाली ! हे (सु-भगे) सुन्दर कान्ति, सौभाग्य वाली ! हे (लोमशवक्षणे) पार्श्वों पर सूक्ष्म रोमवाली ! तू (अपाम् स्वसा असि) जलों की भगिनी के समान उन में अपना रस छोड़ देने वाली है । हे (लाक्षे) लाख नाम वाली ओषधे ! (ते आत्मा) तेरा देह (वातः हि बभूव) वस्तुतः, वात स्वरूप है । अर्थात् वायु से तू पुष्ट होती है ।

सिलाची नाम कानीनोऽजबभ्रु पिता तव ।
अश्वो यमस्य यः श्यावस्तस्य हास्नास्युक्षिता ॥ ८ ॥

भा०—(सिलाची नाम कानीना) सिलाची नाम की ओषधि कन्या-स्वरूप है । हे ओषधे ! (तव पिता अजबभ्रु) तेरा पिता उत्पादक 'अजबभ्रु' और (यमस्य) सर्वनियामक परमात्मा का (यः) जो (श्यावः) नित्य-गतिशील (अश्वः) अश्वरूप सूर्य है (तस्य) उसके (अस्ना) रस से (उक्षिता) तू सिंची हुई है ।

'अजबभ्रु' वह वृक्ष हैं जिन पर बकरियां चरायी जाती हैं जैसे—पीपल, बड़, बेरी आदि । ' सिलाची ' इसलिये कहा जाता है अपनी चिपकने वाली लेस से वह शाखाओं पर चिपटी रहती है ।

अश्वस्यास्नः सम्पतिता सा वृक्षाँ अभि सिष्यदे ।
सरा पतत्रिणी भूत्वा सा न एहारुन्धति ॥ ९ ॥

भा०—हे ओषधे ! (अश्वस्यः) सूर्य के (अस्नः) लाल रस से (सम्पतिता) संयुक्त होकर (सा) वह ओषधि (वृक्षान् अभि सिष्यदे)

८—'आजबभ्रुः' इति ग्रिलः । (च०) ' आस्ना ' इति ह्विटनिकामितः । (प्र०) ' घृताची नाम कनीनोत बभ्रूः पिता तव ' इति पैप्प० सं० ।
९—(द्वि०) ' सा प्राणमभिशुष्यति ' इति पैप्प० सं० ।

वृक्षों पर से स्रवित होती है । हे (अरुन्धति !) व्रण पूरने वाली ओषधे ! (सरा) बहने वाली या फैलने वाली (सा) वह तू (पतत्रिणी) पक्षों वाली अर्थात् शाखा पर चिपटे छिलकों वाली खूब परिपक्वावस्था में (नः) हमें (एति) प्राप्त हो । लाख को चपड़ा बनाया जाता है तब उसे पिघला कर पत्रों के समान चादरें बिछादी जाती हैं वह बहुत उत्तम और औषध में काम लायी जाती है ।

इति प्रथमोऽनुवाकः ।

[तत्र सूक्तानि पञ्च, ऋचश्चाष्टचत्वारिंशत् ।]

[६] जगत्-स्रष्टा का वर्णन ।

अथर्वा ऋषिः । १ सोमरुद्रौ, ब्रह्मादित्यौ, कर्माणि रुद्रगणाः हेतिश्च देवताः । १ त्रिष्टुप्, २ अनुष्टुप्, ३ जगती, ४ अनुष्टुब्बुष्णिक् त्रिष्टुब्गर्भा पञ्चपदा जगती, ५—७ त्रिपदा विराड् नाम गायत्री, ८ एकावसाना द्विपदाण्यनुष्टुप्, १० प्रस्तार पंक्तिः, ११, १३, पंक्तयः, १४ स्वराट् पंक्तिः । चतुर्दशर्चं सूक्तम् ॥

ब्रह्म॑ जज्ञा॒नं प्र॑थ॒मं पु॒रस्ता॒द् वि सी॑म॒तः सु॒रुचो॑ वे॒न आ॑वः ।
स बु॒ध्न्या॑/उप॒मा अ॑स्य वि॒ष्ठाः स॒तश्च॒ योनि॒मस॑तश्च॒ वि वः॑ ॥१॥

अथर्व० ४ । १ । १ ॥ साम० पू० प्र० ४ । ३ । ९ ॥

भा०—(वेनः) ज्ञानवान्, तेजस्वी परमात्मा ने (प्रथमं) सब से प्रथम या अतिविस्तीर्ण रूप से (जज्ञानम्) प्रकट होते हुए (ब्रह्म) बृहदाकार ब्रह्माण्ड को (पुरस्तात्) इस समस्त संसार की रचना के पूर्व ही उत्पन्न किया और (सुरुचः) कान्तिमान लोकों को (सीमतः) उसके बीच में से (वि आवः) बना कर प्रकट किया । (सः) उस ही परमात्मा ने (बुध्न्याः) आकाश में उत्पन्न हुए (अस्य उपमाः) उसके ही सदृश

(वि-स्थाः) विशेष रूप से स्थित अन्य ब्रह्माण्ड भी स्थापित किये । अथवा (अस्य) इस जगत् के (उपमाः) बनाने वाले (बुध्न्याः) मूल आधार-भूत (विष्ठा) व्यवस्थाएं भी (वि वः) प्रकट कीं और उसने ही (सतः च) इस सद्रूप जगत् और (असतः च) अव्यक्त प्रकृति के (योनिम्) मूल-कारण को (वि वः) प्रकट किया है ।

अनाप्ता ये वः प्रथमा यानि कर्माणि चक्रिरे ।
वीरान् नो अत्र मा दभन् तद् वः एतत् पुरो दधे ॥ २ ॥

अथर्व० का० ४ । ७ । ७ ॥

भा०—(ये) जो (वः) तुम लोगों में से हे पुरुषो ! (अनाप्ताः) आप्त अर्थात् पूर्ण ज्ञानी नहीं होकर (यानि कर्माणि) जिन कर्मों को (चक्रिरे) करते हैं, उनके अज्ञान से किये काम (अत्र) इस संसार में (नः वीरान्) हमारे पुत्रों को (मा दभन्) हानिकारक न हों । इस-लिये (तत् एतत्) उस परम ज्ञानमय इस वेद को मैं परमात्मा (वः) तुम्हारे (पुरः) आगे (दधे) स्थापित करता हूं ।

सहस्रधार एव ते समस्वरन् दिवो नाके मधुजिह्वा असश्चतः ।
तस्य स्पशो न नि मिषन्ति भूर्णयः पदेपदे पाशिनः सन्ति सेतवे ॥३॥

ऋ० ९ । ७३ । ४ ॥

भा०—(दिवः) ज्ञानस्वरूप, प्रकाशमय परमात्मा के उस (नाके) परम सुखमय (सहस्र-धारे) सहस्रों धारण-शक्तिसम्पन्न लोक में (एव) ही (ते) वे नाना मुक्त जीव (असश्चतः) स्थिर कूटस्थ, निश्चल, शान्त-स्वभाव होकर (मधु-जिह्वाः) मधुर रसना से, ज्ञानमयी मनोहर वाणी से

[६] ३–ऋग्वेदे पवित्र ऋषिः, पवमानः सोमो देवता । 'सहस्रधारेऽवते', 'तस्य-स्पशो', 'सन्ति सेतवः' इति ऋ० । सहस्रममिते सम' इति पैप्प० सं० ।

(सम्-अस्वरन्) ऐसे वेद-ज्ञान का गान कर रहे हैं कि (तस्य) उस परमेश्वर के (भूर्णयः[1]) समस्त संसार के भरण पोषण करने या धर पकड़ने वाले (स्पशः) सब के चरित्रों को देखने वाले दूत (न निमिषन्ति) एक क्षण भी असावधान होकर आंख नहीं झपकते । प्रत्युत अनर्थकारियों को (सेतवे) बांधने के लिये तो वे (पदे-पदे) पद २ पर (पाशिनः) हाथों में पाश-दण्ड या फन्दा लिये हुए (सन्ति) खड़े हैं । वे सज्जनों का पालन और दुष्टों का दमन करते हैं ।

पर्यू॒ षु प्र ध॑न्व॒ा वाज॑सातये॒ परि॑ वृ॒त्राणि॑ स॒क्षणिः॑ ।
द्वि॒षस्तद॒ध्य॑र्ण॒वेनै॑यसे सनिस्र॒सो नामा॑सि
त्र॒यो॒द॒शो मास॒ इन्द्र॑स्य गृ॒हः ॥ ४ ॥ ऋ० ७ । ११० । १ ॥

भा०—हे सोम ! राजन् ! (वाजसातये) ज्ञान, धन, वीर्य या अन्न की प्राप्ति के लिये जब आप (वृत्राणि) सब आवरणकारी विघ्नों को (सक्षणिः) सहनशील होकर (परि उ सु प्र धन्वा) परे मार भगाते हो । आप ही (तत्) तब (अर्णवेन) समुद्र के द्वारा भी (द्विषः) शत्रुओं पर (अधि ईयसे) चढ़ाई करते हो । इसीलिये आपका (सनिस्रसः नाम असि) नाम 'सनिस्रस'=पराक्रमी, 'विक्रम' से शत्रु पर चढ़ाई करने में चतुर है । यह बात ठीक है कि (त्रयोदशो मासः) तेरहवां मास (इन्द्रस्य गृहः) इन्द्र का घर है । अर्थात् जिस प्रकार बारहों मास अतिक्रमण करके इन्द्र=सूर्य तेरहवें

१. 'बिभर्त्ति धरति सर्वमिति भूर्णिः' दयानन्दउणादिव्याख्यायाम् । भृ भर्त्सने भरणे चेति, भर्त्सनशीला इति क्षेमकरणः ।

४–ऋग्वेदे अरुणत्रसदस्यू ऋषी । पवमानः सोमो देवता । (तृ०) 'द्विषस्तरध्या ऋणयान ईरसे' इति पाठभेदः साम० । तत्रैव 'द्विष०······ ईयसे' इति ऋ० । (च०) 'सहस्रशो नामा' (तृ०) 'दिवस्तद' इति पैप्प० सं० ।

मास में पैर रख देता है इसी प्रकार वीर भी शत्रु के द्वादश राजमण्डल का विजय करके तेरहवें स्थान पर स्वतः इन्द्र होकर विराजता है।

न्वे॒३तेना॑रा॒त्सीर॒सौ स्वाहा॑।

ति॒ग्माऽयु॑धौ ति॒ग्महे॑ती सु॒शेवौ॒ सोमा॑रुद्रावि॒ह सु मृ॑डतं नः ॥ ५ ॥

उत्तरार्धं भागः ऋ० ७ । ७४ । ४ प्र०, द्वि० ॥

भा०—प्रजा के प्रतिनिधि राजा से कहें कि (एतेन) निश्चय से इस प्रकार के सुगुप्त मन्त्र द्वारा ([अ] नु-अरात्सीः असौ) हे राजन्! वह तू सिद्धि को प्राप्त हो। (स्वाहा) यह हमारी सद्-भावना है और प्रजा चाहे कि (तिग्मायुधौ) तीक्ष्ण हथियार वाले और (तिग्महेती) तीक्ष्ण अस्त्र वाले (सोमारुद्रौ) राजा और सेनापति दोनों (सुशेवौ) सुखपूर्वक सेवा करने योग्य होकर (इह) इस राष्ट्र में (नः) हमें (सु मृडतम्) सुखी रखें।

अवै॒तेना॑रा॒त्सीर॒सौ स्वाहा॑। ति॒ग्मा० ॥ ६ ॥

भा०—प्रजा के प्रतिनिधि राजा से कहें कि (एतेन) इस प्रकार के उपाय से (असौ) हे अमुक राजन्! तू शत्रुओं को (अव अरात्सीः) नीचे दबाने में सफल हो (स्वाहा) यह हमारी सद्-इच्छा है। (तिग्मायुधौ०) तीक्ष्ण अस्त्र शस्त्र वाले राजा और सेनापति दोनों सुखपूर्वक सेवा करने योग्य होकर हमें सुखी बनावें।

अपै॒तेना॑रा॒त्सीर॒सौ स्वाहा॑।

ति॒ग्माऽयु॑धौ ति॒ग्महे॑ती सु॒शेवौ॒ सोमा॑रुद्रावि॒ह सु मृ॑डतं नः ॥७॥

५—'वीतेना वैतेना मैतेन रात्स्यीरसो स्वाहा [?]' (द्वि० तृ०) सुशेवाग्निषोमाविह' इति पैप्प० सं०। (प्र०) 'नैतेन' इति ह्विटनि-कामितः। 'अनु-एतेन' इति पेट० लाक्षणिकः। 'वि-एतेन अरात्सीः' इति पैप्पलादाभिप्रेतः पाठः।

भा०—प्रजा के प्रतिनिधि राजा से कहें कि (असौ) हे अमुक राजन् ! तू (एतेन) इस अमुक उपाय से (अप अरात्सीः) शत्रुगण को परे भगा देने में समर्थ हो । (तिग्मायुधौ०) तीक्ष्ण अस्त्र शस्त्र वाले राजा और सेनापति दोनों हमें सुखी बनावें ।

मुमुक्तम॒स्मान्दु॑रि॒ताद॑व॒द्याज्जु॒षेथां॑ य॒ज्ञम॒मृत॑म॒स्मासु॑ धत्तम् ॥ ८ ॥

भा०—हे राजन् और सेनापते ! आप दोनों (अस्मान्) हम प्रजाजनों को (अवद्याद्) निन्दनीय (दुरिताद्) दुराचार से (मुमुक्तम्) मुक्त करें । और (यज्ञं) हमारे संगठन को (जुषेथाम्) आप प्रेम से देखें और उसमें योग दें । और (अस्मासु) हम में (अमृतम्) जीवन और ज्ञान और अमृत—मृत्यु और शत्रु से होने वाले भय का पूर्ण प्रतीकार (धत्तम्) करें ।

चक्षु॑षो हेते॒ मन॑सो हेते॒ ब्रह्म॑णो हेते॒ तप॑सश्च हेते ।
मे॒न्या मे॒निर॑स्यमे॒नय॒स्ते स॑न्तु॒ ये३॒॑स्माँ अ॑भ्यघा॒यन्ति॑ ॥ ६ ॥

भा०—हे (चक्षुषः हेते) चक्षु के आयुध ! हे (मनसः हेते) मन के आयुध ! हे (ब्रह्मणः हेते) ब्रह्म=ज्ञान के आयुध ! और (तपसः च हेते) तपः-सामर्थ्य के आयुधरूप राजन् ! तू (मेन्याः मेनिः असि) मेनि= आयुध का भी तू आयुध है । (ये अस्मान्) जो हम पर (अभि-अघायन्ति) सब तरफ़ से पापाचार करना चाहते हैं (ते अमेनयः सन्तु) वे सदा बिना हथियार के रहें । शत्रु पर आंख रख कर उसको दबाना चक्षु का शस्त्र फेंकना है । मानस—मन्त्र-शक्ति से दबाना मन का हथियार चलाना है, विद्वानों के विज्ञान का वार करना ब्रह्म का हथियार चलाना है,

८—(प्र०) 'अस्माद् गृभीथाद्' इति पैप्प० सं० ।

९—'वचो हेते ब्रह्मणो हेते । यो मा अधायुरभिदासति तमग्ने मेन्यामेनिं कृणु' इति तै० ब्रा० ।

इसी प्रकार बल, तपस्या, सहन-शक्ति से शत्रु पर वार करना तप का हथियार चलाना है।

यो॒ऽस्माँश्चक्षु॑षा॒ मन॑सा॒ चित्त्याकू॑त्या च॒ यो अ॒घायुर॑भि॒दासा॑त्। त्वं तान॑ग्ने मे॒न्याम॒मेनीन् कृणु॒ स्वाहा॑ ॥ १० ॥

भा०—(यः व अघ-युः) जो जो पापाचारी पुरुष (अस्मान्) हमें (चक्षुषा) अपनी दुर्भावमय आंखों से अपने (मनसा) मन से, (चित्या) अपने ज्ञान से और (आकूत्या) अपने मन्त्र, सलाहों से (अभि-दासात्) हमें नाश करना चाहता है हे अग्ने ! राजन्, सेनापते ! (तान्) उन शत्रुओं को तू अपने (मेन्या) तलवार के ज़ोर से (अमेनीन्) निःशस्त्र (कृणु) कर (स्वाहा) हमारी तुझे यही उत्तम सलाह है।

इन्द्र॑स्य गृ॒हो॑ऽसि। तं त्वा॒ प्र प॑द्ये तं त्वा॒ प्र वि॑शामि॒ सर्व॑गुः सर्व॑पूरुषः॒ सर्वा॑त्मा॒ सर्व॑तनूः स॒ह यन्मेऽस्ति॒ तेन॑ ॥ ११ ॥

भा०—शरणागतों को उपदेश है कि वे राजा से कहें कि (इन्द्रस्य गृहः असि) इन्द्र=ऐश्वर्यशील उस राज शक्ति का तू गृह=आश्रय-स्थान है। हे राजन् ! (तं त्वा प्रपद्ये) मैं तेरी शरण हो तुझे प्राप्त होता हूं, (तं त्वा प्र विशामि) उस परमशक्तिमान् की सेवा में प्रविष्ट-भर्ती होता हूं। मैं (सर्वगुः) अपनी सब गौओं, इन्द्रियों सहित, (सर्व-पूरुषः) सब पुरुषों सहित (सर्वात्मा) सब मन और (सर्व-तनूः) सब शरीरों और (यत् मे अस्ति तेन) और जो भी मेरा है उसके सहित तेरी शरण होता हूं।

१०–' यो मा चक्षुषा यो मनसा यो वाचा ब्रह्मणाऽघायुरभिदासति तपोऽग्ने त्वां मेन्यामुममेनिं कृणु ' इति तै० ब्रा०। ' त्वमग्ने त्वं मेन्यामेनिं कृणु ' इति पैप्प० सं०।

११–' सर्व पौरुषः ' इति पैप्प० सं०।

राजा जिनको अपने साथ मिलावे उनसे इस प्रकार का प्रतिज्ञापत्र लिखा कर अपने साथ लेकर उनको अपनी सेना आदि के कार्यों में नियुक्त करे ।

इन्द्रस्य शर्मासि । तं त्वा० ॥ १२ ॥

भा०—(इन्द्रस्य शर्म असि) हे राजन् ! तू इन्द्र=ऐश्वर्यशाली शक्ति का आश्रय स्थान है (तं त्वा प्रपद्ये०) तुझे मैं प्राप्त होता हूं, तेरी सेवा में आता हूं, इत्यादि पूर्ववत् ।

इन्द्रस्य वर्मासि । तं त्वा० ॥ १३ ॥

भा०—हे राजन् ! तू (इन्द्रस्य वर्म असि) इन्द=ऐश्वर्यशाली पद का कवच के समान रक्षक है । (तं त्वा०) उस तेरी मैं शरण में आता हूं, इत्यादि पूर्ववत् ।

इन्द्रस्य वरूथमसि । तं त्वा प्र पद्ये तं त्वा प्र विशामि सर्वगुः सर्वपूरुषः सर्वात्मा सर्वतनूः सह यन्मेऽस्ति तेन ॥ १४ ॥

भा०—(इन्द्रस्य वरूथम् असि) हे राजन् ! तू उस इन्द्र के समृद्धिशाली पद का वरूथ=स्वीकार करने वाला रक्षक है । (तं त्वा प्रपद्ये) मैं तेरी शरण आता हूं, तेरे कार्य में नियुक्त होता हूं, इत्यादि पूर्ववत् ।

११, १२, १३, १४ इन चार मन्त्रों में राजा के प्रति शरणागतों के कर्त्तव्यों का उपदेश किया है कि वे राजा की शरण में अपनी गौ, पुरुष देह और समस्त भूमि धन आदि सहित शरण में आयें, और ऐसा प्रतिज्ञापत्र भी लिख दें ।

[७] अधीन भृत्यों को वेतन देने की व्यवस्था।

अथर्वा ऋषिः। बहवो देवताः। १-३, ६-१० आदित्या देवताः, ४, ५ सरस्वती, १ विराड्गर्भा प्रस्तारपंक्तिः, ४ पथ्या बृहती, ६ प्रस्तारपंक्तिः, २, ३, ५, ७-१० अनुष्टुभः। दशर्चं सूक्तम्॥

आ नो॑ भर॒ मा परि॑ ष्ठा अराते॒ मा नो॑ रक्षी॒र्दक्षि॑णां नी॒यमा॑नाम्।
नमो॑ वी॒र्त्सांया॒ असमृद्धये॒ नमो॑ अस्त्वरा॑तये॥ १॥

भा०—विद्वानों को भरण पोषण और वृत्ति देने के विषय में उपदेश करते हैं। हे (अराते) पर द्रव्य को दूसरों को न देने वाले पुरुष! (नः आ भर) हमें हमारा उचित पालन पोषण योग्य द्रव्य दे दिया कर। (मा परि-ष्ठाः) उदासीन होकर चिन्ता में मत खड़ा रह। (नः) हमारे लिये (नीयमानां दक्षिणाम्) लायी गयी दक्षिणा=श्रेष्ठ कर्म के लिये आदर पूर्ण पुरस्कार—ऋत्विग् लोगों की भृति को (मा रक्षीः) अपने पास मत रख। (वि-ईर्त्सायै) विशेष ऋद्धि के प्राप्त करने की इच्छा-प्रलोभन या लालसा को भी (नमः) वज्र के समान दूर से त्याग करते हैं और साथ ही (नमः असम्-ऋद्धये) समृद्धि का न होना या दरिद्रता को भी नमस्कार है वह भी नहीं चाहिये। और हे दाता तू भी निष्कपट होकर कह कि (नमः अस्तु अरातये) न देने के भाव=कंजूसी को भी दूर से (नमः) नमस्कार हो, अर्थात् उसे भी धत्ता बता। देने वाला कंजूस न हो, लेने वाले लालची न हों तो ग़रीबी अवश्य दूर हो जाती है।

यम॑राते पुरोध॒त्से पुरु॑षं परिरा॒पिण॑म्।
नम॑स्ते॒ तस्मै॑ कृण्मो॒ मा व॒निं व्य॑थयी॒र्मम॑॥ २॥

भा०—हे (अराते) अभी पुरुषों और विद्वान् कार्यकर्त्ताओं को उन का पुरस्कार न देने हारे पुरुष! तू (यम्) जिस (पुरुषं) पुरुष को

(परि-रापिणं) नाना प्रकार से अपने आगे बुरा भला कहते हुए, अपने आगे अपने वेतन के लिये बड़बड़ाते हुए को (पुरः-धत्से) आगे खड़ा रखता है। (ते) ऐसे तुझ और (तस्मै) ऐसे तेरे उस पुरुष को भी (नमः कृण्मः) नमस्कार करते हैं, अर्थात् ऐसी दशा कभी समाज में नहीं आने देना चाहते। क्योंकि प्रत्येक पुरुष यह चाहता है कि (मम) मेरी (वनिं[1]) वृत्ति को (मा व्यथयीः) हे मेरे मालिक तू मत मार, मुझे हानि मत पहुंचा, नहीं तो तेरे सेवक तेरे सामने तुझे बुरा भला सुनावेंगे और गिड़ गिड़ावेंगे।

प्र णो वनिर्देवकृता दिवा नक्तं च कल्पताम्।
अरातिमनुप्रेमो वयं नमो अस्त्वरातये ॥ ३ ॥

भा०—(नः वनिः) हमारा भाग, वृत्ति (देवकृता) विद्वान् पुरुषों ने नियत की है। इसलिये वह (दिवा नक्तं च) दिन और रात (प्र कल्पताम्) उत्तम रीति से बराबर बनी रहे। (अरातिम्) न देने हारे कंजूस पुरुष के पास (अनु प्र-इमः) फिर उसके अनुकूल होकर उसके पास आते और कहते हैं कि (नमः अरातये अस्तु) अदानशील को नमस्कार अर्थात् उसको दबाया जाने का उपाय हो। नमः=वज्रम्। (शत०)

सरस्वतीमनुमतिं भगं यन्तो हवामहे।
वाचं जुष्टां मधुमतीमवादिषं देवानां देवहूतिषु ॥ ४ ॥

[७] २–१. वनिरिति भृत्यपरपर्यायः श्रौतसूत्रेषु प्रसिद्धः। तद्यथा वनी वाहनं भृत्यर्थं ऋत्विजां वचनम्। वन सन सम्भक्तौ। वनिः सम्भागः। वन्यते याच्यते इति वनिः इति दयानन्द उणादिव्याख्यायाम्।

३–(प्र०). 'प्र वो' इति क्वचित्।

४–'सरस्वतीमनुमिंत' इति क्षेमकरणमुद्रितः पाठः प्रामादिकः।

भा०—(भगं यन्तः) ऐश्वर्य को प्राप्त होते हुए भी (अनुमतिं) अपने से बड़ों को अनुमति और (सरस्वतीं) वेद की ज्ञानमयी वाणी को (हवामहे) बराबर लेते, याद रखते और पाठ करते हैं । और हम विद्वान् लोग (देवहूतिषु) विद्वानों की एकत्रित सभाओं और यज्ञ कार्यों में (देवानां) देव विद्वानों की (जुष्टां) अति प्रिय (वाचं) वेद वाणी को (अवादिषं) हम बोलें और उसका उपदेश करें ।

यं याचाम्यहं वाचा सरस्वत्या मनोयुजा ।
श्रद्धा तमद्य विन्दतु दत्ता सोमेन बभ्रुणा ॥ ५ ॥

भा०—(यं) जिस स्वामी से (अहं) मैं (मनोयुजा) अपने मन से युक्त (सरस्वत्या) सुन्दर अर्थ और सार वाली (वाचा) वाणी से (याचामि) मांगता हूं, (तम्) उस स्वामी को (अद्य) आज (बभ्रुणा) सब के परिपालक (सोमेन) सब का उत्पादक परमात्मा के (दत्ता) दी गयी (श्रद्धा) सत्य धारणा वाली आदर भक्ति (विन्दतु) प्राप्त हो । अर्थात् विद्वान् ब्राह्मण के उपदेश आदि कर चुकने के पश्चात् दक्षिणा प्राप्त करने के अवसर पर जो दाता के हृदय में श्रद्धा है वह परमात्मा की दी हुई है । प्रभु के प्रेम से पुरुष विद्वानों का आदर करता है ।

मा वनिं मा वाचं नो वीर्त्सीरुभाविन्द्राग्नी आ भरतां नो वसूनि ।
सर्वे नो अद्य दित्सन्तोऽरातिं प्रति हर्यत ॥ ६ ॥

भा०—हे स्वामिन् ! (वनिं) किसी के वेतन-वृत्ति आदि को (मा वि-ईर्त्सीः) मत रोक और (मा वाचं) वेद-वाणी के उपदेशों को भी मत रोक । (इन्द्राग्नी) ऐश्वर्यवान् राजा और विद्यावान् ज्ञानी पुरुष (नः) हमें (वसूनि) वास और जीवन योग्य पदार्थों को (नः) हमें (आ भरताम्) बराबर सब प्रकार से प्राप्त कराते रहें । हे (दित्सन्तः) दान करने में उत्सुक पुरुषो ! (नः) हमें (अद्य) आज (अरातिं प्रति) वेतन न प्रदान करने वाले

कंजूस के प्रति आप लोग (प्रति हर्यत) आक्रमण करो । उसका मुकाबला करो जिससे कि वे अन्यों का स्वत्व न मारें ।

परोपेह्यसमृद्धे वि ते हेतिं नयामसि ।
वेद त्वाहं निमीवन्तीं नितुदन्तीमराते ॥ ७ ॥

भा०—हे (असमृद्धे) दरिद्रते (परः अपेहि) दूर हट जा । (ते) तेरे ऊपर (हेतिं) वज्र (वि नयामसि) पात करें । हे (अराते) आदन-शीलते ! दूसरे का स्वत्व दूसरे को न देने की प्रवृत्ते ! (त्वा) तुझको (अहं) मैं (निमीवन्तीं) सर्वथा निर्बल करने वाली अथवा नितान्त धनियों के पैर बढ़ाने वाली और ग़रीबों को (नितुदन्तीम्) सर्व प्रकार से कष्ट पीड़ा देने वाली ही (वेद) जानता हूं ।

उत नग्ना बोभुवती स्वप्नया सचसे जनम् ।
अराते चित्तं वीर्त्सन्त्याकूतिं पुरुषस्य च ॥ ८ ॥

भा०—हे अराते ! अदानशीलते ! तू (पुरुषस्य) पुरुष, उद्यमी जन के (चित्तं) चित्त को (आकूतिं च) और बुद्धि को भी (वि-ईर्त्सन्ती) मन्द करती हुई । (उत) और (नग्ना बोभुवती) नंगी हो होकर (जनम्) मनुष्य के पास (स्वप्नया) आलस्य, बे खबरी से (सचसे) उसके पास आ जाती है । अर्थात् कंजूसी प्रथम चित्त और बुद्धि में खोट पैदा करती है और नग्न होकर अज्ञान दशा में मनुष्य पर सवार हो जाती है और उसके साथ मनुष्य भी लोभ में पड़कर बेशर्म हो जाता है ।

या महती महोन्माना विश्वा आशा व्यानशे ।
तस्यै हिरण्यकेश्यै निर्ऋत्या अकरं नमः ॥ ९ ॥

भा०—धन की वृद्धि से पाप की वृद्धि होती है उसका रूप भी देखिये । (या) जो पाप प्रवृत्ति (महती) बड़ी भारी (महोन्माना) बड़ी विशाल

परिणाम में फैली हुई (विश्वाः आशाः व्यानशे) सब दिशाओं में फैलजाती है (तस्यै) उस (हिरण्यकेश्यै) सुवर्ण के केशों वाली अथवा सुवर्ण के कारण लाखों विपत्तियां डालने वाली (निर्ऋत्यैः नमः अकरम्) उस निर्ऋति, पाप प्रवृत्ति को भी नमस्कार अर्थात् उसको भी दवाने का उपाय करूं। लोग दानशील हों, धन किसी का बढ़ना न पावे तो अधिकार किसी के मारे न जावें तो सब रोजी भर पेट पावें तो चोरी, जारी, डाकाजनी न बढ़े।

हिरण्यवर्णा सुभगा हिरण्यकशिपुर्मही।
तस्यै हिरण्यद्राप्येरात्या अकरं नमः ॥ १० ॥

भा०—उस (अरात्यै नमः अकरम्) अराति अदानशीलता को भी 'नमः' वज्र प्रहार करता हूं जो (हिरण्यवर्णा) सुवर्ण के वर्ण की है अर्थात् सदा सोना या धन पर लुब्ध रहती है, (सुभगा) देखने में बड़ी भाग्य, ऐश्वर्यवती, (मही) बड़ी विशाल (हिरण्यकशिपुः) सब सोने के ही वस्त्रों से आच्छादित है (तस्यै) उस (हिरण्यद्रापये) सुवर्ण के कारण कुत्सित गति में प्राप्त कराने वाली, धन के कारण पाप फैलाने वाली 'अराति' कंजूसी को भी नमस्कार है।

[८] सैनिकों और सेना पतियों के कर्त्तव्य !

अथर्वा ऋषिः । १, २ अग्निर्देवता, ३ विश्वेदेवाः, ४–९ इन्द्रः, २ त्र्यवसाना षट्पदा जगती, ३, ४ भुरिक् पथ्या पंक्तिः, ६, प्रस्तार पंक्तिः, द्व्युष्णिक् गर्भा पथ्यापंक्तिः, ९ त्र्यवसाना षट्पदा द्व्युष्णिग्गर्भा जगती । नवर्चं सूक्तम् ॥

वैकङ्कतेनेध्मेन देवेभ्य आज्यं वह।
अग्ने ताँ इह मादय सर्व आ यन्तु मे हवम् ॥ १ ॥

[८] १–' इह सादय ', सर्वा यन्तु ' इति पैप्प० सं० ।

भा०— हे (अग्ने) अग्ने ! राजन् ! शत्रुतापक ! (इध्मेन वैकङ्कतेन) अति तेजस्वी वज्र से (देवेभ्यः) देव विद्वान् पुरुषों के हित के लिये (आज्यम्) वीर्य को (वह) धारण कर (इह) इस राष्ट्र में (तान्) उन सबको मादय प्रसन्न कर वे सब (मे हवम् आयन्तु) मेरे यज्ञ में आवें।

प्रजापतिर्या प्रथमामाहुतिमजुहोत्स हुत्वायत्र न्यमृष्ट ततो विकङ्कतः समभवत् । श० ६ । ३ । १ । तस्मादेष याज्ञियो वृक्षः यज्ञपात्रीयो वृक्षः ॥ श० २ । २ । ४ । १० । यज्ञो विकङ्कतः । विकङ्कतं भाः आच्छेत् १ । १ । ३ । १२ ॥ वज्रो वै विकङ्कतः । श० ५ । २ । ४ । १८ ॥

प्रजापति की प्रथम आहुति ईश्वर की शक्ति का प्रकृति में वह प्रथम शक्ति संचार है जिससे हिरण्यगर्भ उत्पन्न हुआ है । उसी आहुति से यह विराट् यज्ञ उत्पन्न हुआ जिसमें उस अग्नि के बल से सब वैकारिक भूत संयुक्त होकर प्रपञ्च रच रहे हैं । राष्ट्रपक्ष में अर्थ पूर्व कर दिया है । अध्यात्म में वैकङ्कत इध्म=प्राण, आज्य=अन्न रस प्राण आदि । अग्नि वैश्वानर जाठर अग्नि, राष्ट्र पक्ष में वैकङ्कत-इध्म=वज्रमय अग्नि-युद्ध है उस में अग्नि रूप राजा या सेनापति अपने देव=नियुक्त अधिकारियों को आज्य=वज्र, असि और आज्य=अभिलषित पदार्थ प्रदान करें । युद्ध भी यज्ञ है, देखो महाभारत शान्तिपर्व में भीष्म-वचन । संवत्सर यज्ञ में कालाग्नि में ऋतुगण ही इध्म और आज्य आदि कल्पित हैं जिनमें वसन्त आज्य है, ग्रीष्म इंधन है, शरत् हवि हैं इत्यादि विद्वान् समझ लें ।

इन्द्रा याहि मे हवमिदं करिष्यामि तच्छृणु ।
इम ऐन्द्रा अतिसरा आकूतिं सं नमन्तु मे ।
तेभिः शकेम वीर्यं१जातवेदस्तनूवशिन् ॥ २ ॥

भा०—सेनापति राजा से कहे—हे इन्द्र ! राजन् ! (मे हवं आ याहि) मेरे यज्ञ में आप आइये । (इदं करिष्यामि) मैं यह विजय कार्य करूंगा ।

(तत् शृणु) वह सुनो । सभापति सैनिकों से कहें-(इमे) ये (ऐन्द्राः) इन्द्र=राजासम्बन्धी (अतिसराः) शीघ्र गामी सैनिक हैं । आप लोग (मे आकूतिम्) मेरी आज्ञा को (सं नमन्तु) आदर पूर्वक सुन कर पालन करो । प्रजागण सेनापति से कहें-हे (जातवेदः) समस्त कार्यों के जानने वाले अग्ने ! सेनापते ! हे (तनूवशिन्) राष्ट्र के शरीर पर वश करने हारे ! (तेभिः) इन विजय के उपायों से (वीर्यं शकेम) बल की वृद्धि कर सकें । सेनापति इस प्रकार राजा से सलाह करे और पुनः सैनिकों को उत्साहित करे और सैनिक इसकी आज्ञा पालन करके अपना वीर्य बढ़ावें ।

यद॒साव॒मुतो॑ देवा अदे॒वः संश्चिकी॑र्षति ।

मा तस्या॒ग्निर्ह॒व्यं वा॑क्षी॒द्धवं॑ दे॒वा अ॑स्य॒ मोप॑ गु॒र्ममै॒व ह॒वमेत॑न ॥३॥

भा०—हे (देवाः) देवगण ! राजगण ! जनो ! (असौ) वह अमुक नाम का (अमुतः) अमुक देश से (अदेवः सन्) राजा न होता हुआ भी (यत्) जो युद्ध आदि (चिकीर्षति) करना चाहता है (तस्य) उसकी (हव्यं) आज्ञा को (अग्निः) नेता लोग (मा वाक्षीत्) धारण न करें । और (देवाः) अन्य राजगण (अस्य) उसके (हवं) बुलाने पर उसकी राज सभा में (मा उप गुः) न जावें । प्रत्युत (मम एव हवम् एतन) आप लोग मेरे ही राजसूय आदि यज्ञ में आवें ।

अति॑ धावतातिसरा इन्द्र॑स्य॒ वच॑सा हत ।

अविं॒ वृक॑ इव मथ्नीत॒ स वो॒ जीव॒न् मा मो॑चि प्रा॒णम॒स्यापि॑ नह्यत ॥४॥

भा०—युद्ध की रीति का उपदेश करते हैं—हे (अतिसराः) सुभटो ! तेज़ सवारो ! (अति धावत) खूब वेग से दौड़ो । (इन्द्रस्य वचसा हत) अपने राजा की आज्ञा के अनुसार शत्रु पर मार करो । (अविं वृक इव) जिस प्रकार भेड़ियां भेड़ को झंझोट डालता है, उसी प्रकार (मथ्नीत) शत्रु की सेना को झंझोट डालो, मथ डालो, कुचल डालो, (वः) तुम

लोगों के हाथों से (सः) वह (जीवन्) जीता जी (मा मोचि) न छूट पावे। (अस्य) इसके (प्राणम्) प्राण को, इसके प्राण धारण करने के सब उपायों को भी (अपि नह्यत) बन्द कर डालो । या (अपि) भी (नह्यत) बांध दो, रोक दो ।

यमुमी पुरोदधिरे ब्रह्माणमपभूतये ।
इन्द्र स ते अधस्पुदं तं प्रत्यस्यामि मृत्यवे ॥ ५ ॥

भा०—किसको कैद करके लाया जाय । (यम्) जिस (ब्रह्माणम्) चतुर्वेदवित् विद्वान् पुरुष को हे राजन् ! तेरे (अपभूतये) विनाश और पराजय करने के लिये (अमी) यह शत्रुगण (पुरो-दधिरे) पुरोहित बना कर रखे हैं । हे (इन्द्र) राजन् ! (सः) उसे भी (ते) तेरे (अधः-पदम्) पैरों के नीचे अधिकार के समक्ष ला खड़ा किया गया है । आज्ञा हो तो (तं) उसको भी (मृत्यवे) मौत के आगे (प्रति अस्यामि) डाल दूं ।

यदि प्रेयुर्देवपुरा ब्रह्म वर्माणि चक्रिरे ।
तनूपानं परिपाणं कृण्वाना यदुपोचिरे सर्वं तदरसं कृधि ॥ ६ ॥

अथर्व० ६ । १० । १७ ॥

भा०—राजा सेनापति को आज्ञा देता है कि—सेनापते ! (यदि) यदि (देवपुराः) देव—विद्वान् नगरवासी या विद्वान् ब्राह्मण शरीर, जो अपने (ब्रह्म) वेद ज्ञान की (वर्माणि चक्रिरे) अपना कवच बनाये हुए हैं वे (यदि प्र-ईयुः) यदि आवें तो उनको और जो (तनूपानं) अपनी शरीर की रक्षा के निमित्त कवच धारण करते हुए और (परिपाणं कृण्वानाः) मद्य आदि उत्तेजक पदार्थ का पान करते हुए (यद् उप-ऊचिरे) जो कुछ कहते और डींगें मारते हैं (तत् सर्वं) उस सब को (अरसं कृधि) निर्बल करो, उनका वश मत चलने दो ।

यानसावतिसरांश्चकार कृणवच्च यान् ।
त्वं तानिन्द्र वृत्रहन् प्रतीचः पुनरा कृधि यथामुं तृणहां जनम् ॥७॥

भा०—(यान्) जिन पुरुषों को (असौ) वह अमुक शत्रु (अतिसरान्) अपने तीव्र सुभट (चकार) बना चुका और (यान् च कृणवत्) जिन को अभी बना २ कर भेज रहा है । हे इन्द्र ! सेनापते हे वृत्रहन् ! आवरणकारी घेरने वाले पुरुषों को मारने वाले ! (त्वं) तू (तान्) उनको (पुनः) फिर (प्रतीचः आ कृधि) उससे विपरीत कर, उनको विरुद्ध कर दे, (यथा) जिससे (अमुम् जनम्) अमुक शत्रु जन को (मैं तृणहान्) मार लूं । राजा शत्रु की प्रबल सेना में फूट डाल दे और उसे निस्सहाय करके सेनापति द्वारा विजय करे ।

यथेन्द्र उद्वाचनं लब्ध्वा चक्रे अधस्पदम् ।
कृण्वेऽहमधरांस्तथामूञ्छश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥ ८ ॥

भा०—हे (इन्द्र) राजन् ! (यथा) जिस प्रकार (उद्वाचनं) उत्तेजित करने वाली वाणियों को कह कर उकसाने वाले इस पुरोहित को (लब्ध्वा) पकड़ कर (अधः-पदम् चक्रे) मैंने तेरे चरणों में ला (चक्रे) लाखड़ा किया है । इसी प्रकार (अमून्) उन शत्रुओं को भी (शाश्वतीभ्यः समाभ्यः) चिरकाल तक के लिये (अहम्) मैं (अधरान्) नीचे (कृण्वे) कर देता हूं, उनको दबा देता हूं ।

अत्रैनानिन्द्र वृत्रहन्नुग्रो मर्मणि विध्य ।
अत्रैवैनानभि तिष्ठेन्द्र मेद्य१हं तव ।
अनु त्वेन्द्रा रभामहे स्याम सुमतौ तव ॥ ९ ॥

भा०—अपराधकारी क़ैदियों से व्यवहार—हे (वृत्रहन्) विघ्नकारियों के विनाशकारी इन्द्र ! राजन् ! (अत्र) इस संग्राम के अवसर पर (एनान्)

इन्हों के तू (उग्रः) बलवान् , भयकारी होकर (मर्माणि विध्यं) मर्म देशों में प्रहार कर । और (अत्र) इसी अवसर पर (एनान्) इन शत्रुओं पर (अभि तिष्ठ) आक्रमण कर । क्योंकि (अहं मेदी तव) मैं तेरा मित्र हूं । हे इन्द्र ! और हम सब (अनु त्वा रभामहे) तेरे आज्ञानुसार कार्य करते हैं, इसलिये (तव सुमतौ स्याम) तेरी शुभ मति के अधीन होकर हम रहें ।

---

[६] स्वास्थ्य लाभ का उपाय ।

ब्रह्मा ऋषिः । वास्तोष्पतिर्देवता । १, ५ दैवीबृहत्यौ, २, ६ दैवीत्रिष्टुभौ, ३, ४ दैवीजगत्यौ, ७ विराडुष्णिक् बृहती पञ्चपदा जगती, ८ पुराकृतित्रिष्टुब्बृहतीगर्भा-चतुष्पदा त्र्यवसाना जगती । अष्टर्चं सूक्तम् ॥

दिवे स्वाहा ॥१॥ पृथिव्यै स्वाहा ॥२॥ अन्तरिक्षाय स्वाहा ॥३॥ अन्तरिक्षाय स्वाहा ॥४॥ दिवे स्वाहा ॥५॥ पृथिव्यै स्वाहा ॥६॥

भा०—स्वास्थ्य लाभ करने का उपदेश करते हैं। (दिवे स्वाहा) द्यौ सूर्य के लिये यह उत्तम आहुति समर्पित करता हूं। वह मुझे अपने शुद्ध जीवन प्रद प्रकाश से आरोग्यता प्रदान करे ॥ १ ॥ (पृथिव्यै स्वाहा) पृथिवी के लिये मैं उत्तम पदार्थों को आहुति देता हूं । वह भी मुझे स्वस्थता प्रदान करे ॥२॥ (अन्तरिक्षाय स्वाहा) अन्तरिक्ष, मध्य आकाश, वायु मण्डल की शुद्धि के लिये मैं उत्तम आहुति प्रदान करता हूं । उससे मैं स्वस्थता लाभ करूं ॥३॥ ४-६ पुनः वही तीन आहुतियां उलट कर दी गयी हैं ॥ सूर्य का सेवन पृथिवी पर लोटना, भ्रमण करना, वायु का सेवन करना इस के अतिरिक्त इन पदार्थों का वार २ यथा रीति सेवन करना स्वस्थता प्राप्त करने का उत्तम उपाय है ।

सूर्यो मे चक्षुर्वातः प्राणोऽन्तरिक्षमात्मा पृथिवी शरीरम् ।
अस्तृतो नामाहमयमस्मि स आत्मानं नि दधे
द्यावापृथिवीभ्यां गोपीथाय ॥ ७ ॥

भा०—मनुष्य अपने शरीर की प्रजापति के विराट् शरीर से तुलना करता है । (सूर्यः मे चक्षुः) जैसे प्रजापति के शरीर में विशाल तेजःपुञ्ज सूर्य है उसी प्रकार यह मेरे शरीर में चक्षु भी तेजोविकार है वह सब पदार्थों का प्रत्यक्ष करती और सूर्य के अंश से जीवित है । (वातः प्राणः) जिस प्रकार विशाल शरीर में यह वायु अन्तरिक्ष में गति करता है उसी प्रकार यह मेरे देह में उसी का अंश प्राण है । (अन्तरिक्षम् आत्मा) जिस प्रकार विराट् शरीर में अन्तरिक्ष का बड़ा भाग है उसी प्रकार यह मेरा शरीर का मध्य भाग आत्मा=देह है । (पृथिवी शरीरम्) जिस प्रकार विराट् शरीर में पृथिवी है उसी प्रकार यह मेरा अधः शरीर चरण भाग हैं । (अयम्) यह (अहम्) मैं जीवात्मा (अस्तृतः) कभी भी न मरने वाला, अमर हूं उसी प्रकार (सः) वह प्रजापति इस विराट् देह में भी कभी विनाश को प्राप्त नहीं होता । मानो (गोपीथाय) समस्त संसार की रक्षा के लिये (सः) उसने ही (द्यावापृथिवीभ्यां) द्यौ और पृथिवी, ज़मीन और आसमान दोनों द्वारा (आत्मानं) अपने को विराट् देह में स्थापित किया उसी प्रकार इस शरीर में भी उसने जीवात्मा को नियत किया है ।

उदायुरुद् बलमुत् कृतमुत् कृत्यामुन्मनीषामुदिन्द्रियम् ।
आयुष्कृदायुष्पत्नी स्वधावन्तौ गोपा मे स्तं गोपायतं मा ।
आत्मसदौ मे स्तं मा मा हिंसिष्टम् ॥ ८ ॥

भा०—(आयुः, उत्) आयु को उत्तम करो (बलम् उत्) बल को भी उत्कृष्ट बनाओ, (कृतम् उत्) कार्य भी उत्तम करो, (कृत्याम् उत्)

कर्तव्य भी उत्कृष्ट बनाओ, (मनीषाम् उत्) बुद्धि को उन्नत करो, (इन्द्रियम् उत्) इन्द्रिय सामर्थ्यों को उन्नत करो। (आयुः-कृत्) आयु के वृद्धि करने वाला यह सूर्य और (आयुः-पत्नी) आयु का पालन करने वाली यह पृथिवी दोनों (स्वधा-वन्तौ) अन्न बल पुष्टि और जीवन से पूर्ण हैं। ये दोनों (मे गोपास्तं) मेरे रक्षक रहें। (मा गोपायतम्) दोनों मेरी रक्षा किया करें। ये दोनों (मे) मेरे (आत्म-सदौ) शरीर में पूर्ण रूप से विराजमान (स्तं) हों। (मा मा हिंसिष्टं) मुझे कभी विनाश न करें।

[१०] मन को दृढ़ करने का उपाय।

ब्रह्मा ऋषिः। वास्तोष्पतिर्देवता। १–६ यवमध्या त्रिपदा गायत्री, ७ यवमध्या ककुप्, पुरोधृतिद्व्यनुष्टुब्गर्भा पराष्टित्र्यवसाना चतुष्पदाति जगती। अष्टर्चं सूक्तम्॥

अश्मवर्म मेसि यो मा प्राच्यां दिशोऽघायुरभिदासात्।
एतत् स ऋच्छात्॥ १॥

भा०—मन को दृढ करने का उपाय बतलाते हैं—हे मन! तू ही (मे) मेरा (अश्मवर्म) पत्थर का सा दृढ कवच (असि) है (यः) जो (मा) मुझ पर (प्राच्या दिशः) पूर्व सामने की ओर से (अघायुः) पापाचारी, विलासी, भोगी पुरुष (अभि-दासात्) मेरा विनाश करे। (सः) वह (एतत्) यह प्रहार (ऋच्छात्) पावे।

अश्मवर्म मेसि यो मा दक्षिणाया दिशो०।० ॥ २॥
अश्मवर्म मेसि यो मा प्रतीच्या दिशो०।० ॥ ३॥
अश्मवर्म मेसि यो मोदीच्या दिशो०।० ॥ ४॥

अश्मवर्म मेसि यो मा ध्रुवाया दिशो०।० ॥ ५ ॥
अश्मवर्म मेसि यो मोर्ध्वाया दिशो०।० ॥ ६ ॥
अश्मवर्म मेसि यो मा दिशामन्तर्देशेभ्योऽघायुरभिदासात्।
एतत् स ऋच्छात् ॥ ७ ॥

भा०—इसी प्रकार हे मेरे मन तू ही दृढ़ होकर (अश्मवर्म मे असि) मेरा शिलाके बने कवच के समान अभेद्य है (दक्षिणायाः दिशः) दक्षिण दिशा से या दायें से (प्रतीच्याः दिशः) पश्चिम से या पीछे से, (उदीच्याः दिशः) उत्तर दिशा से या बायें से, (ध्रुवायाः दिशः) पृथ्वी की ओर से या नीचे से, या (ऊर्ध्वायाः दिशः) ऊपर की दिशा से (दिशाम् अन्तर्देशेभ्यः) दिशाओं के बीच के भागों से (यः अघायुः अभिदासात्) जो पापाचारी दुष्ट पुरुष मेरा विनाश करने का यत्न करे (एतत् स ऋच्छात्) वह यह प्रबल प्रहार पावे या वह यह प्रहार खाकर पकड़ जाय ।

बृहता मन उप ह्वये मातरिश्वना प्राणापानौ ।
सूर्याच्चक्षुरन्तरिक्षाच्छ्रोत्रं पृथिव्याः शरीरम् ।
सरस्वत्या वाचमुप ह्वयामहे मनोयुजा ॥ ८ ॥

भा०—प्रजापति की विशाल शक्तियों से अपने अंगों में विशेष शक्ति को इस प्रकार प्राप्त करें । मैं (बृहता) उस महान् ब्रह्म या महान् महत्तत्व से अपने (मनः) मनन शक्ति, बुद्धितत्व को (उपह्वये) बलवान् रूप में प्राप्त करूं (मातरिश्वना) इस महान् वायु से अपने (प्राणापानौ) प्राण और अपान दोनों को बलवान् करूं । (सूर्यात् चक्षुः) सूर्य से चक्षु को (अन्तरिक्षात् श्रोत्रम्) अन्तरिक्ष से श्रोत्र को और (पृथिव्याः शरीरम्) पृथिवी से शरीर के स्थूल, अन्नमय भाग को पुष्ट करूं और (मनः-युजा) मन के साथ योग देने वाली बुद्धिपूर्वक समाहित (सरस्वत्या) सरस्वती

वेद-वाणी के साथ (वाचम्) अपनी वाणी को जोड़ कर (उप ह्वयामहे) बलवान् पुष्ट रूप में उपासना करें, प्राप्त करें ।

इति द्वितीयोऽनुवाकः ।

[तत्र सूक्तानि पञ्च, ऋचश्चैकोनपञ्चाशत् ।]

[११] ईश्वर के साथ २ राजा का वर्णन ।

अथर्वा ऋषिः । वरुणो देवता । १ भुरिक् अनुष्टुप् , ३ पंक्तिः, ६ पञ्चपदातिशक्वरी, ११ त्र्यवसाना षट्पदाऽष्टिः, २, ४, ५, ७-१० अनुष्टुभः । एकादशर्चं सूक्तम् ॥

कथं महे असुरायाब्रवीरिह कथं पित्रे हरये त्वेषनृम्णः ।
पृश्निं वरुण दक्षिणां ददावान् पुनर्मघ त्वं मनसाचिकित्सीः ॥ १ ॥

भा०—सम्पन्न होने का उपदेश करते हैं—(महे असुराय) बड़े भारी असुर=अन्यों को प्राण देने वाले उस परमात्मा के विषय में (कथं) किस प्रकार तू (अब्रवीः) उपदेश करता है और (त्वेष-नृम्णः) कान्ति, तेज से युक्त धन से सम्पन्न होकर (हरये) समस्त संसार के प्रणेता और सब दुःखों के हरण करने वाले उस (पित्रे) परमपालक पिता के विषय में तू (कथं) किस प्रकार (अब्रवीः) उपदेश करता है । हे (वरुण) सब दुःखों के वारक, परम श्रेष्ठ राजन् ! (पृश्निं) पृथिवी और अन्न की (दक्षिणां) दक्षिणा शक्ति रूप से (ददावान्) दान देता हुआ है (पुनर्मघ) पुनः २ नाना प्रकार की सम्पत्तियों के स्वामिन् ! (त्वं) आप (मनसा कथम् अचिकित्सीः) अपने चित्त से किस प्रकार विचार करता है ।

वरुणः साम्राज्यम् आदत्त । श० ११ । ४ । ३ । ३ । क्षत्रं वरुणः । कौ० ७ । १० ॥ क्षत्रं राजा वरुणोऽधिराजः । तै० ३ । १ । २ । ७ ॥

[११] १–'कथादिव असुराय मवामह कथा', (तृ०) 'पृश्निः' इति पैप्प० सं० ।

इन्द्र उ वै वरुणः स उ वै पयो भाजनः । गो० उ० १ । २२ ॥ वरुणोऽन्न-पतिः । श० १२ । ७ । २ । २० ॥ यो राजसूयः स वरुणसवः । तै० २ । ७ । ६ । १ ॥ वरुणः सम्राट्, सम्राट्पतिः । तै० २ । ५ । ७ । ३ ॥ पृश्निः—अन्नं वै देवा पृश्नीति वदन्ति । तां० १२ । १० । २४ ॥ इयं वै पृथिवी पृश्निः । तै० १ । ४ । १ । ५ ॥

न कामे॑न॒ पुन॑र्मघो भवामि॒ सं च॑क्षे॒ कं पृश्नि॑मे॒तामुपा॑जे ।
केन॒ नु त्वम॑थर्व॒न् काव्ये॑न॒ केन॑ जा॒तेना॑सि जा॒तवे॑दाः ॥ २ ॥

भा०—पूर्व प्रश्न का उत्तर वरुण स्वयं देता है कि—(कामेन) केवल इच्छा मात्र से ही मैं (पुनर्मघः) बहुत धन सम्पत्ति वाला (न भवामि) नहीं हो जाता हूं । प्रत्युत (पृश्निम् सं चक्षे) इस पृश्नी, पृथिवी रूप गौ को मैं खूब देख भाल करता हूं और (एताम् उपाजे [१]) इसके सदा समीप रह कर इसकी सेवा और पालन करता हूं । उत्तरार्ध भाग में विद्वान् वेदज्ञ से प्रश्न करते हैं कि—हे (अथर्वन्) विद्वन् ! अथर्वविद्या-ब्रह्म-विद्या के ज्ञाता ब्राह्मण (केन नु काव्येन) तू किस काव्य=ज्ञानमय ग्रन्थ से और (केन जातेन) किस विधान से (जात-वेदाः, असि) समस्त वेदों को जानने वाला और सब पदार्थों का ज्ञाता होगया है ।

स॒त्यम॒हं ग॑भी॒रः काव्ये॑न स॒त्यं जा॒तेना॑स्मि जा॒तवे॑दाः ।
न मे॑ दा॒सो नार्यो॑ महि॒त्वा व्र॒तं मी॑माय॒ यद॒हं ध॑रि॒ष्ये ॥ ३ ॥

भा०—विद्वान् धनी के प्रति उत्तर देता है—(सत्यम्) यह सत्य स्वरूप (काव्येन) वेद के ज्ञान से (अहम् गभीरः) मैं गभीर, गहरा विद्वान् हूं ।

२-(द्वि०) 'सम्पृच्छिकं' 'उपाजेत्' इति पैप्प० सं० ।

१. अज गतिपालनयोः । भ्वादिः ।

३-(प्र०) 'सत्यस [म] हं' (तृ०) 'महित्वं', (च०) 'हनिष्ये' इति पैप्प० सं० ।

और (सत्यं जातेन) सत्यरूप विधान से ही मैं (जात-वेदाः, अस्मि) समस्त पदार्थों का और वेदों का ज्ञाता होगया हूं (मे व्रतं) मेरे सत्यमय उस व्रत=दृढ संकल्प को (यद्-अहं) जिसको मैं (महित्वा धरिष्ये) अपने आत्म-सामर्थ्य से धारण कर लेता हूं (आर्यः न मीमाय) कोई श्रेष्ठ पुरुष विनाश नहीं कर सकता और (न दासः) न खल पुरुष ही उसका विनाश कर सकता है ।

न त्वदुन्यः कुवितरो न मेधया धीरतरो वरुण स्वधावन् ।
त्वं ता विश्वा भुवनानि वेत्थ स चिन्नु त्वज्जनो मायी बिभाय ॥४॥

भा०—हे वरुण ! सर्वश्रेष्ठ प्रभो ! (त्वद् अन्यः) तुझ से दूसरा (कवि-तरः न) तुझ से अधिक बड़ा विज्ञानवान् , मेधावी नहीं है । हे (स्वधा-वन्) स्वयं समस्त संसार को या राष्ट्र को धारण करने वाले अथवा प्रकृति के स्वामिन् ! या जीवों के स्वामिन् ! (मेधया) मेधा=धारणावती शक्ति के कारण (त्वद् अन्यः धीर-तरः न) तुझ से दूसरा अधिक धीर-विद्वान् धैर्यवान् , शक्तिशाली भी नहीं है । (त्वं) तू (ता) उन २ (विश्वा भुवनानि) समस्त लोकों को (वेत्थ) जानता है (स चिन् नु जनः) वह आदमी जो (मायी) माया प्रकृति में फंसा हुआ जीव या माया=कपट करने वाला पुरुष या जो बड़ा बुद्धिमान् भी है (सः) वह भी (त्वद् बिभाय) तुझ से भय कर रहता है । राजा, परमेश्वर दोनों पक्षों में स्पष्ट है ।

त्वं ह्य१ङ्ग वरुण स्वधावन् विश्वा वेत्थ जनिमा सुप्रणीते ।
किं रजस एना परो अन्यदस्त्येना किं परेणावरममुर ॥ ५ ॥

४–(प्र०) 'कवितरो नवेधा अनु ' (द्वि०) 'स्वधावः ' (तृ० च०) 'त्वमङ्ग विश्वा जनमानि वेत्थमह्नंनतुज्जनो मां विभायः' इति पैप्प० सं० ।
५–(प्र०) 'स्वधावः ', (द्वि०) 'जन्याश्रद्धधानीते किं येना रजसः परोऽस्ति किमवरेण अवरम् असूर ' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(अङ्ग वरुण) हे राजन् ! प्रभो परमेश्वर ! हे (स्वधावन्) स्व=स्वरूप से धारणा शक्ति से सम्पन्न जीव और प्रकृति के स्वामिन् ! हे (सुप्रणीते) समस्त संसार को उत्तम रीति से बनाने वाले या राजकार्यों में ठीक २ व्यवस्था करने वाले उत्तम नीतिमन् ! (त्वं हि) क्योंकि तू ही (विश्वा जनिमा) समस्त लोकों और जनों को (वेत्थ) जानता है । हे (असुर[1]) सर्वव्यापक असमर्थ ! (एना रजसः) इस रजः=प्रकृति के बने लोकों से या रजोगुण से (परः) सूक्ष्म (अन्यत् किम्) और क्या तत्व पदार्थ है ? और (एना परेण) इस परम सूक्ष्म प्रकृति-पदार्थ से (उत अवरम् किम्) अवर=स्थूल पदार्थ क्या है । रजांसि लोकाः शत० ॥

एकं रजस एना परो अन्यदस्त्येना पर एकेन दुर्णशं चिदर्वाक् ।
तत् ते विद्वान् वरुण प्र ब्रवीम्यधोवचसः पणयो भवन्तु
नीचैर्दासा उप सर्पन्तु भूमिम् ॥ ६ ॥

भा०—उक्त तत्व का रहस्य स्पष्ट करते हैं । (एना रजसः परः) इस समस्त लोक समूह से पर=परम सूक्ष्म पदार्थ (अन्यत्) इससे भिन्नरूप का (एकम् अस्ति) एक परब्रह्म है । (एना एकेन परः) और उस एक से भी अतिरिक्त (अर्वाक् चित्) उससे भी उतर कर एक सूक्ष्म तत्व प्रकृति है जो ब्रह्म की अपेक्षा स्थूल है और वह भी (दुर्णशम्) विनाश को प्राप्त नहीं होता । हे वरुण ! (ते) तेरे (तत्) उस स्वरूप को (विद्वान्)

१. असेरुरन् इति सूत्रस्थाने, अमेरुरन् इति क्षेमकरण वचनं चिन्त्यम् । वस्तुतो मन्दिवाशीति (उ० १ । ३८ ॥) उरन् अनुवृत्तौ मधुराद्यश्चेति निपात्यते ।

६–(तृ०) ' वरुणः ' इति ह्विटनिकामितः । (तृ०) ' अधोवर्चसः ' इति लैन्मनकामितः । ' यः एकमेना रजसः परोस्ति परोदेन दूडाह्यं त्यजनूसत् तत्वे अच्छो वचसो दासाया उपसर्पन्तु रिमा ' इति पैप्प० सं० ।

जानता हुआ मैं (प्र ब्रवीमि) कहता हूं कि (पणयः) लोकव्यवहार में पड़े हुए या अन्य स्तोतागण की (अधोवचसः भवन्तु) वाणियां उस परम तत्व से नीचे ही रह जाती हैं अर्थात् वे वाणी के गोचर न होने वाले उस रूप को वर्णन नहीं कर सकते। और सब जीव (दासाः) तेरे उपासक, तेरे सेवक या अज्ञान से अपने ज्ञान का नाश करने वाले लोग (नीचैः भूमिम् उपसर्पन्तु) और भी नीची भूमि=लोक में चले जाते हैं। राजा के पक्ष में स्पष्ट है।

त्वं ह्य१ङ्ग वरुण ब्रवीषि पुनर्मघेष्ववद्यानि भूरि ।
मो षु पणीँर॒भ्ये॒३॑तावतो भून्मा त्वा वोचन्नराधसं जनासः ॥७॥

भा०—(अङ्ग वरुण) हे राजन् ! (त्वं हि ब्रवीषि) आपका यह उपदेश है कि (पुनः मघेषु) पुनः २ धन प्राप्त करने वाले धनाढ्य पुरुषों में (भूरि) बहुत से (अवद्यानि) निन्दा योग्य दोष होते हैं। हे वरुण ! (एतावतः पणीन्) इतने व्यावहारिक पुरुषों के प्रति (मो सु अभिभूत्) तू कभी अपने सामर्थ्य को न्यून नहीं होने देता है। अर्थात् सब को तूने अपना अक्षय कोष दे रखा है। (जनासः) लोग (त्वा) तुझे (अराधसं) धनहीन, सम्पत्तिहीन (मा वोचन्) कभी नहीं कहे। इसी प्रकार राजा को खूब सम्पत्तिमान और दानशील होना चाहिये। वह धनियों के दोषों से युक्त न हो।

मा मा वोचन्नराधसं जनासः पुनस्ते पृश्निं जरितर्ददामि ।
स्तोत्रं मे विश्वमा याहि शचीभिरन्तर्विश्वासु मानुषीषु दिक्षु ॥८॥

भा०—हे पुरुष ! (जनासः) लोग (अराधसं मा मा वोचन्) मुझ को कभी निर्धन, धनहीन, दरिद्री न कहें। इसलिये मैं, हे (जरितः)

७–(तृ०) 'भूर्मा त्वा' इति ह्विटनि-रोथ-म्योरकामितः ।

८–(च०) 'मानुषीषुविक्षु' इति म्योररोथकामितः । (चं०) 'आयाहि जनेषु अन्तर्देवेषु मानुषेषु रिशा' इति पैप्प० सं० ।

स्तुतिशील, विद्वन् ! (ते) तुझे (पृश्निं) इस पृथिवीरूप गौ का (ददामि) दान करता हूं, सौंपता हूं । हे (स्तोत्र) स्तुतिशील विद्वन् पुरुष ! (मे) मेरी, (शचीभिः) विशाल शक्तियों से (विश्वासु मानुषीषु) समस्त मनुष्य प्रजाओं में और (दिक्षु) समस्त दिशाओं के (अन्तः) भीतर (विश्वम्) समस्त संसार को (आ याहि) प्राप्त कर और वश कर ।

आ ते स्तोत्राण्युद्यतानि यन्त्वन्तर्विश्वासु मानुषीषु दिक्षु ।
देहि नु मे यन्मे अदत्तो असि युज्यो मे सप्तपदः सखासि ॥ ९ ॥

भा०—याचक जिस प्रकार राजा से याचना करता है उस प्रकार परमात्मा से याचना करे । हे परमात्मन् ! (ते स्तोत्राणि) तेरी महिमा और स्तुतियें (विश्वासु मानुषीषु दिक्षु अन्तः) समस्त मनुष्य प्रजाओं और समस्त दिशाओं के भीतर (उत्-यतानि आ यन्तु) उच्च स्वर से गायी जावें । हे भगवन् ! (मे यत् अदत्तः) मुझे अभी तक जो कुछ नहीं दिया (देहि नु मे) वह भी मुझे दे दीजिये । आप ही (मे युज्यः) मेरे सदा साथ रहने वाले और (सप्तपदः) सात चरण चल कर बने मित्र के समान सात शीर्षण्य प्राणों रूप ज्ञान साधनों द्वारा ज्ञान करने योग्य सब प्रकार से (सखा असि) मेरे सखा, परम मित्र हैं ।

सुमा नौ बन्धुर्वरुण सुमा जा वेदाहं तद्यन्नावेषा सुमा जा ।
ददामि तद् यत् ते अदत्तो अस्मि युज्यस्ते सप्तपदः सखास्मि ॥१०॥

९–(तृ०) 'आदत्तो' इति रोथकामितः । 'देहि तं मह्यं यदित्वमस्ति यद्यो नः सप्तपदः सखासह ' इति पैप्प० सं० ।

१०–(प्र०) 'समानो बन्धुः' इति रोथकामितः । 'समोनौ' इति लैन्मनकामितः । (द्वि०) 'वद वैतद वयं समाजाः ' (तृ०) 'ददामितुभ्यं यदि तत्वमस्ति' इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे वरुण राजन्! (नौ) हम दोनों की (समा बन्धुः) समान ही बन्धुता है। और अपने दोनों की (जा) उत्पत्ति और रूप को मैं (समा वेद) समान ही जानता हूं। (तत् यत् नौ एषा समा जा) तो क्योंकि हम दोनों की समान उत्पत्ति है अतः (यत् ते अदत्तः) अभी तक जो पदार्थ तुझे नहीं दिया (तद् ददामि) वह भी मैं तुझे प्रदान करता हूं। (ते युज्यः सप्तपदः सखा अस्मि) मैं तेरे सदा संग रहने वाला या योग समाधि से गम्य सप्त शीर्षण्य प्राणों के संयम से जानने योग्य सप्तपद सखा हूं।

देवो देवाय गृणते वयोधा विप्रो विप्राय स्तुवते सुमेधाः।
अजीजनो हि वरुण स्वधावन्नथर्वाणं पितरं देवबन्धुम्।
तस्मा उ राधः कृणुहि सुप्रशस्तं सखा नो असि परमं च बन्धुः ११॥

भा०—(वयःधाः देवः) ज्ञान और अधिक आयु को धारण करने वाला, ज्ञानवृद्ध और वयोवृद्ध, देव परमात्मा (गृणते) स्तुतिशील (देवाय) इस जीव को और जिस प्रकार (वयोधाः सु-मेधाः विप्रः) वयोवृद्ध उत्तम मेधावान् विद्वान् (स्तुवते) उसकी स्तुति, उपासना करने वाले (विप्राय) दूसरे विद्वान् अल्प ज्ञानी जिज्ञासु को ज्ञान प्रदान करता और शक्ति देता है। हे वरुण! हे स्वधावन्! शक्तिमन्! आप (अथर्वाणं) ब्रह्मज्ञानी पुरुष को (पितरम्) सब का पालक और (देव-बन्धुम्) विद्वानों का बन्धु (अजीजनः) बना देते हो। और (तस्मा उ) उसको ही (सु-प्रशस्तं राधः) सब से उत्तम धन और ज्ञान (कृणुहि) प्रदान करते

११–(प०) 'परमश्च बन्धुः' इति लैन्मनः। (च०) 'विश्वदेवम्' (प्र०) 'उर्वायुः कृणुहि प्रशस्तं' (प०) 'सखा नोऽस्ति वरुणश्च बन्धुः' इति पैप्प० सं०।

हो आप ही (नः सखा असि) हमारे परम मित्र हो और (परमं च) परम (बन्धुः) बन्धु हो ।

[१२] विद्वानों द्वारा आत्मा और ईश्वर के गुणों का वर्णन ।

अंगिरा ऋषिः । जातवेदा देवता । आप्री सूक्तम् । १, २, ४—११ त्रिष्टुभः, ३ पंक्तिः । एकादशर्चं सूक्तम् ॥

समिद्धो अद्य मनुषो दुरोणे देवो देवान् यजसि जातवेदः ।
आ च वह मित्रमहश्चिकित्वान् त्वं दूतः कविरसि प्रचेताः ॥१॥

ऋ० १० । ११० । १ ॥ यजुः० २९ । २५ ॥

भा०—ऋग्वेदे जमदग्नी रामो वा ऋषिः । आप्रियो देवता । आप्री सूक्तम् । गृह में गार्हपत्य अग्नि और यज्ञ में आहवनीय और घर में गृहपति और शरीर में आत्मा इन सब का समान रूप से वर्णन करते हैं । (अद्य) आज (मनुषः) मनुष्य के (दुरोणे) घर में (समिद्धः) ज्ञान से प्रदीप्त (देवः) सब अर्थों का प्रकाशक होकर हे (जात-वेदः) वेदों का ज्ञान प्राप्त कर, ज्ञानवन् ! तुम (देवान् यजसि) देव-विद्वान् पुरुषों का आदर सत्कार करते हो । आप हे (मित्र-महः) मित्र-सूर्य के समान तेजस्वी ! तू (चिकित्वान्) ज्ञानवान् होकर (आ वह च) विद्वान् पुरुषों को घर पर लाकर उनकी सेवा शुश्रूषा कर । क्योंकि (त्वं दूतः) तू ही उनका सेवक, (कविः) क्रान्तदर्शी और (प्र-चेताः) उत्तम चित्त वाला है । अध्यात्म में—(मनुषः दुरोणे) मनुष्य के इस देह में यह जातवेदाः आत्मा सदा समिद्ध प्रदीप्त, जीवित रह कर देव-इन्द्रिय आदि प्राणगण को परस्पर संगत करता है और तृप्त करता है वह उन में सूर्य के समान उनका प्रकाशक है, वही उनका संदेशहर, उनका द्रष्टा, उत्कृष्ट ज्ञानवान् है और उनसे प्राप्त ज्ञान को भी जानने वाला होकर उन को स्वतः धारण करता है । इसी प्रकार

ब्रह्माण्ड में परमात्मा प्राकृतिक महत् तत्वादि विकार रूप देवों का वहन करता हुआ उन में परम ज्ञानवान् होकर उनका यज्ञ सम्पादन करता है ।

आप्रियः=तद् यदाप्रीणाति तस्मादाप्रियो नाम । कौ० १० । ३ ॥ प्राणाः वा आप्रियः । कौ० १८ । १२ ॥ यदेतान्याप्रियः आज्यानि भवन्ति आत्मानमेवैतैराप्रीणाति । ता० १५ । ८ । २ ॥

तनूनपात् पथ ऋतस्य यानान् मध्वा समञ्जन्त्स्वदया सुजिह्व ।
मन्मानि धीभिरुत यज्ञमृन्धन् देवत्रा च कृणुह्यध्वरं नः ॥ २ ॥

ऋ० १० । ११० । २ ॥ यजु० २८ । २६ ॥

भा०—हे (तनू-नपात्) शरीर को न गिरने देने वाले या इन्द्रियों को न गिरने देने वाले ! उनको विनष्ट होने से बचाने वाले अग्ने ! आत्मन्, योगिन् ! (ऋतस्य) सत्य ज्ञानमय परब्रह्म के (यानान्) जानने के साधन रूप (पथः) मार्गों को (मध्वा) आनन्द रस से (सम्-अञ्जन्) प्रकाशित करता हुआ तू हे (सु-जिह्व) शोभन आनन्द ग्रहण करने में चतुर शक्ति से युक्त ! तू (स्वदय) उस आनन्द रस का उपभोग कर । और (यज्ञम्) इस योगमय यज्ञ को (ऋन्धन्) और भी अधिक गुणों से समृद्ध करता हुआ अथवा (यज्ञम्) यज्ञमय प्रजापति को (ऋन्धन्) अपने में प्रगुणित करता हुआ, उसकी उपासना करता हुआ (धीभिः) धारणावती बुद्धियों से (मन्मानि) मनन करने योग्य ज्ञानों को (उत) भी सम्पादन करता हुआ (देवत्रा) देवों में, प्राणों में या ज्ञान प्रकाश करने वाले गुरुओं के समक्ष (नः) हमारे (अध्वरं) इस अहिंसामय निर्विघ्न यज्ञ को (कृणुहि) सम्पादित कर ।

आजुह्वान ईड्यो वन्द्यश्चा याह्यग्ने वसुभिः सजोषाः ।
त्वं देवानामसि यह्व होता स एनान् यक्षीषितो यजीयान् ॥ ३ ॥

ऋ० १० । ११० । ३ ॥ यजु० २९ । २८ ॥

भा०—हे अग्ने ! विद्वन् आत्मन् ! (आ-जुह्वानः) नित्य यज्ञ करता हुआ नित्य नये ज्ञानों का सम्पादन करता हुआ । (ईड्यः) स्तुति करने और (वन्द्यश्च) वन्दना करने योग्य है । तू (स-जोषाः) सप्रेम, हमारे प्रति, (वसुभिः) प्राणों सहित (आ याहि) आ, प्रकट हो । (त्वं) तू (देवानाम्) समस्त इन्द्रय आदि प्राणों का (होता असि) होता, उन में शक्ति का प्रदाता और उनको अपने में धारण करने हारा है । हे (यह्व) सब में महान् ! सब को अपने में धारण करने हारे ! (सः) वह आप (यजीयान्) सब से बड़े यजमान होकर (ईषितः) स्वयं इच्छावान् होकर या उनसे प्रार्थित होकर सब को (यक्षि) सुसंगत करते हो । ईश्वर और विद्वान् के पक्ष में भी स्पष्ट है ।

प्राचीनं बर्हिः प्रदिशा पृथिव्या वस्तोरस्या वृज्यते अग्रे अह्नाम् ।
व्यु/प्रथते वितरं वरीयो देवेभ्यो अदितये स्योनम् ॥ ४ ॥

ऋ० १० । ११० । ४ ॥ यजु० २९ । २८ ॥

भा०—विद्वान् लोग यज्ञ में वेदी के पूर्व की ओर कुशा बिछाते हैं कि उन पर देवगण आकर बैठें । परन्तु वह कुशा 'बर्हि' है, वह आदित्य का प्रतिनिधि है । विशाल विराड् देह में उसका वर्णन करते हैं । (अह्नाम्) दिनों के (अग्रे) पूर्व भाग, प्रातः समय में (अस्याः पृथिव्याः) इस पृथिवी के (प्र-दिशा) प्रकृष्ट तेजसा (वस्तोः) आच्छादन करने के लिये (प्राचीनं बर्हिः) प्राची दिशा में महान् आदित्य (आ वृज्यते) उसी प्रकार आ विराजता है जिस प्रकार यज्ञ में वेदि के पूर्व भाग में कुशा बिछाई जाती हैं । वह आदित्य (वरीयः) अति श्रेष्ठ, अति महान्, (वितरं) अत्यन्त विस्तृत होकर (विप्रथते उ) नाना दिशाओं में और नाना प्रकार से प्रकाश रश्मियों द्वारा फैल जाता है । और वह (अदितये) इस देव माता, अखण्डित,

[१२] ४–(द्वि०) 'वृज्यसे' इति क्वचित् ।

अदनि अदिति पृथिवी के लिये और (देवेभ्यः) चन्द्र, वायु, जल, विद्युत् आदि दिव्य पदार्थों और विद्वानों के लिये भी (स्योनं) सुखकारी शान्तिदायक होता है।

व्यचस्वतीरुर्विया वि श्रयन्तां पतिभ्यो न जनयः शुम्भमानाः ।
देवीर्द्वारो बृहतीर्विश्वमिन्वा देवेभ्यो भवत सुप्रायणाः ॥ ५ ॥

ऋ० १० । ११० । ५ ॥ यजु० २९ । ३० ॥

भा०—जमदग्नी रामो वा ऋषिः । द्वारो देवताः । गृह के द्वारों की शरीके द्वारों के साथ तुलना करते हुए उन को कैसा बनावें इसका उपदेश करते हैं। (शुम्भमानाः) सुन्दर सजी हुई आभूषणों से अलंकृत (जनयः) गृहपत्नियां (पतिभ्यो न) जिस प्रकार अपने पतियों के लिये सुखप्रद और उन को प्रसन्न करने वाली होती हैं उसी प्रकार हे (द्वाराः) घर के दरवाजो ! (तुम देवीः) प्रकाशवान् (व्यचस्वतीः) खूब विस्तृत, बड़े बड़े (उर्वियाः) विशाल और (शुम्भमानाः) खूब सजे हुए (विश्रयन्तां) नाना प्रकार से घर में जड़े हो । और वे (बृहतीः) बड़े २ (विश्वम्-इन्वाः) सब को सुन्दर लगने वाले, सब के लिये मनोहर होकर (सु-प्रायनाः) सुख से आने जाने के योग्य (भवत) होवो ।

आ सुष्वयन्ती यजते उपाके उषासानक्ता सदतां नि योनौ ।
दिव्ये योषणे बृहती सुरुक्मे अधि श्रियं शुक्रपिशं दधाने ॥ ६ ॥

ऋ० १० । ११० । ६ ॥ यजु० २९ । ३१ ॥

भा०—जमदग्नी रामो ऋषिः । अहोरात्रे देवते । (उषासानक्ता) दिन और रात जिस प्रकार परस्पर प्रेम से सदा एकत्र रह कर परस्पर शोभा धारण करते हुए समीप रहते और एकही स्थान सूर्य में आश्रित हैं उसी प्रकार पति और पत्नी दोनों दम्पति (दिव्ये योषणे) दिव्य गुणों से सम्पन्न

परस्पर प्रेम करते हुए, (बृहती) गुणों से महान् होकर, (सु-रुक्मे) सुन्दर कान्तिमान, सुन्दर सुवर्ण के आभूषण धारण करते हुए, (शुक्रपिशं) क्रम से पतिपत्नी अपने शरीरों में वीर्य और रज की पुष्टता की (श्रियं) शोभा को धारण करते हुए (यजते उपाके) परस्पर संगत होकर रहने के स्थान में समीप (आ सुष्वयन्ती) शयन करते हुए जब २ जहां २ मिलें वहां २ परस्पर प्रसन्न मुख से मुस्कराते हुए (योनौ) एक ही गृह में (नि षीदतां) निवास करें। गृहस्थ दम्पति के लिये यह उपदेश है। केवल रात दिन पर 'निषीदतां' आदि क्रियापद संगत नहीं है इसलिये उषसा मुख से दम्पति का ग्रहण करना ही उचित है।

दैव्या होतारा प्रथमा सुवाचा मिमाना यज्ञं मनुषो यजध्यै।
प्रचोदयन्ता विदथेषु कारू प्राचीनं ज्योतिः प्रदिशा दिशन्ता ॥७॥

ऋ० १० । ११० । ७ ॥ यजु० २९ । ३२ ॥

भा०—अग्निरादित्यौ देवते। विद्वांसो वा देवताः। (दैव्या होतारा) दिव्य गुणों से युक्त होता, यज्ञ करने वाले, (प्रथमा) श्रेष्ठ (सुवाचा) उत्तम वाणी को बोलने वाले, (यजध्यै) यज्ञ करने, देवार्चना करने के लिये (मनुषः यज्ञं) मनुष्य का यज्ञ (मिमाना) करते हुए (विदथेषु) ज्ञान कामों में अन्य यज्ञशील ऋत्विजों को (प्र-चोदयन्ता) प्रेरित करते हुए (कारू) स्वयं भी सब कामों का अनुष्ठान करने वाले (प्र-दिशा) उत्कृष्ट वेद ज्ञान से उपदिष्ट मार्ग से (प्राचीनं ज्योतिः) पूर्व दिशा में उत्पन्न सूर्य के समान तेजोमय, अति प्राचीन या अति विशुद्ध रूप में हृदय में प्रकाशित ब्रह्म ज्योति को (दिशन्तौ) साक्षात् कराते हैं। अध्यात्म पक्ष में—प्राण और उदान दोनों इस शरीर के दैव्य होता हैं। वे विदथ=ज्ञान कर्मों में इन्द्रियों को प्रेरित करते, और योग से ब्रह्म ज्योति का साक्षात् कराते हैं। वे ही मनुष्य के देह में यज्ञ का सम्पादन करते और वाणी को उच्चारण करते हैं।

आ नो यज्ञं भारती तूयमेत्विडा मनुष्वदिह चेतयन्ती ।
तिस्रो देवीर्बर्हिरेदं स्योनं सरस्वतीः स्वपसः सदन्ताम् ॥ ८ ॥

ऋ० १० । ११० । ८ ॥ यजु० २९ । ३३ ॥

भा०—(भारती) भरत=आत्मा की वह कान्ति 'पिंगला' (नः) हमारे (यज्ञ) यज्ञ में (तूयम्) शीघ्र ही (आ एति) आवे । और (इडा) ब्रह्म की स्तुति करने हारी इला नामक चेतना, (इह) इस देह में (मनुष्वत्) मनुष्य=आत्मा या मन के समान (चेतयन्ती) समस्त देह को चेतना युक्त करती हुई, या ज्ञान सम्पादन करती हुई इस देह में शीघ्र प्रकट हो । और (सरस्वतीः) अति आनन्द मय सुपुम्ना भी इस में शीघ्र प्रकट हो यह (तिस्रः देवीः) तीनों दिव्य नाड़ि गत प्राणधाराएं (इदं बर्हिः) इस देह में (सु-अपसः) शोभन, कर्म और प्रज्ञान युक्त होकर (स्योनं) सुख से (सदन्ताम्) सुप्रतिष्ठित रहें ।

य इमे द्यावापृथिवी जनित्री रूपैरपिंशद् भुवनानि विश्वा ।
तमद्य होतरिषितो यजीयान् देवं त्वष्टारमिह यक्षि विद्वान् ॥९॥

ऋ० १० । ११० । ९ ॥ यजु० २९ । ३४ ॥

भा०—त्वष्टा देवता । (यः) जो (त्वष्टा) समस्त संसार के गढ़ने वाला परमेश्वर (इमे) इन दोनों (जनित्री) सर्व पदार्थों की मातास्वरूप (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी को और (विश्वा भुवनानि) समस्त लोकों को (रूपैः अपिंशद्) रूपों द्वारा सुशोभित करता है, उनको नाना आकारों और नाना रूपों वाला बनाता है । हे (होतः) विद्वान् ! तू (इषितः) प्रार्थना किया हुआ (यजीयान्) शुभ यज्ञशील (विद्वान्)

८–(च०) 'सरस्वती' इति यजु०, ऋ० । 'सरस्वतीः' इति तै० ब्रा० ।

ज्ञानवान् होकर (इह) इस यज्ञ में (अद्य) आज (तं त्वष्टारं देवं) उस सर्व-कर्त्ता परम देव को (यक्षि) उपासना कर ।

अध्यात्म पक्ष में—त्वष्टा आत्मा, द्यौ, पृथिवी=प्राण, अपान, भुवन= इन्द्रिय ।

उपावसृज त्मन्या समञ्जन् देवानां पाथ ऋतुथा हवींषि ।
वनस्पतिः शमिता देवो अग्निः स्वदन्तु हव्यं मधुना घृतेन ॥ १० ॥

ऋ० १० । ११० । १० ॥ यजु० २९ । ३५ ॥

भा०—वनस्पतिरग्निर्वा देवता । हे होतः आत्मन् ! तू (ऋतु-था) प्रति ऋतु के अनुसार (देवानां पाथः) देवों इन्द्रियों के निमित्त अन्न, भोग्य विषय और (हवींषि च) ज्ञानों को (त्मन्या सम्-अञ्जन्) स्वयं प्रकट करता हुआ (उप-अवसृज) उनको प्रदान कर । (वनस्पतिः) वन-इन्द्रियों का स्वामि, जितेन्द्रिय, (शमिता) शम दमादि से युक्त, (देवः) विद्वान् योगी, (अग्निः) और ज्ञानी पुरुष ये तीनों (घृतेन) तेजोमय, प्रदीप्त ज्योति और (मधुना) मधुर आनन्द रस के साथ (हव्यं) ज्ञान का (स्वदन्तु) आस्वाद ग्रहण करें । यज्ञ पक्ष में—होता ऋतुओं के अनुसार सामग्री चरु आदि हवि तैयार करे और उसको अग्नि में, वनस्पति में, जीवों में भी वितरण करे ।

सद्यो जातो व्यमिमीत यज्ञमग्निर्देवानामभवत् पुरोगाः ।
अस्य होतुः प्रशिष्यृतस्य वाचि स्वाहाकृतं हविरदन्तु देवाः ॥ ११ ॥

ऋ० १० । ११० । ११ ॥ यजु० २९ । ३६ ॥

भा०—विद्वान् अग्निर्देवता । (अग्निः) ज्ञानमय विद्वान् (सद्यः जातः) शीघ्र ही प्रकट होकर (यज्ञं वि-अमिमीत) यज्ञ का अनुष्ठान करता

११–' अस्य होतुः प्रदिश्यृतस्य ' इति ऋ० ।

है। वही (देवानां पुरः-गाः अभवत्) समस्त विद्वानों का अग्रणी हो जाता है। (ऋतस्य) ब्रह्म ज्ञानमय (अस्य होतुः) इस होता के (प्रशिषि) उत्कृष्ट शासन में रह कर (वाचि) वाणि रूप वाङ्मय में (स्वाहा-कृतं हविः) उत्तम वचनों और सूक्तियों के रूप में प्रकट किये ज्ञान को (देवाः) विद्वान् लोग (अदन्तु) भोग करें।

[१३] सर्प-विष चिकित्सा।

गरुत्मान् ऋषिः । तक्षको देवता । १ ३, जगत्यौ, २ आस्तार पंक्तिः, ४, ७, ८ अनुष्टुभः, ५ त्रिष्टुप्, ६ पथ्यापंक्तिः, ९ भुरिक्, १०, ११ निचृद् गायत्र्यौ। एकादशर्चं सूक्तम् ॥

दुदिर्हि मह्यं वरुणो दिवः कविर्वचोभिरुग्रैर्नि रिणामि ते विषम्।
खातमखातमुत सक्तमग्रभमिरेव धन्वन्नि जजास ते विषम्॥१॥

भा०—(दिवः कविः) दिव्य पदार्थों और सूर्य के तत्त्व को जानने वाले (वरुणः) दुःख-निवारक विद्वान् ने (हि) निश्चय से (मह्यं ददिः) मुझे यह उपदेश दिया है जिसके अनुसार (उग्रैः) बलपूर्वक कहे गये (वचोभिः) वचनों से (ते विषम्) तेरे विष को (नि रिणामि) दूर करता हूं। (खातम्) चाहे सांपने गहरा दाँत गाड़ के घाव किया हो। या (अखातम्) या घाव न करके दन्तप्रहार मात्र से विष को शरीर में डाल दिया हो, (उत सक्तम्) और चाहे केवल विष का शरीर से सम्पर्क-मात्र ही हुआ हो। उस सब प्रकार के सर्प के काटे को मैंने (अग्रभम्) अपने वश कर लिया है। अब (धन्वन्) मरु भूमि में (इरा इव) जिस प्रकार जल सूख कर नष्ट हो जाता है उसी प्रकार मैं अपने उपचार से

(ते विषम्) शरीर में प्रविष्ट, तेरे विष को हे नाग ! (नि जजास) सर्वथा नष्ट करता हूं ।

यत् ते अपोदकं विषं तत् त एतास्वग्रभम् ।
गृह्णामि ते मध्यममुत्तमं रसमुतावमं भियसा नेशदादु ते ॥ २ ॥

भा०—हे तक्षक नाग ! (यत्) जो (ते) तेरा (अप-उदकं) जल से रहित, रुधिर को सुखाने वाला शुद्ध (विषं) विष है (तत् ते) उस तेरे विष को (एतासु) इन नाड़ियों में भी (अग्रभम्) मैंने पकड़ लिया है, ऐसा थाम लिया है कि वह शरीर में अधिक नहीं फैले । (ते उत्तमं, मध्यमं उत अवमं रसम्) तेरे प्रबल, तीव्र कोटि के, मध्यम कोटि के और निकृष्ट कोटि के रस=विष को भी (गृह्णामि) मैं वश कर लेता हूं । (आत् उ) इतने पर भी यदि विष का थोड़ा बहुत भी अंश न भी हो तो भी मनुष्य (ते भियसा) तेरे भयमात्र से भी (नेशत्) नष्ट हो जाता है ।

वृषा मे रवो नभसा न तन्यतुरुग्रेण ते वचसा बाध आदु ते ।
अहं तमस्य नृभिरग्रभं रसं तमस इव ज्योतिरुदेतु सूर्यः ॥ ३ ॥

भा०—(नभसा) मेघ से (तन्यतुः) फैलने वाले (वृषा) प्रबल (रवः) शब्द के समान (उग्रेण वचसा) प्रबल वचन से फैलने वाले शक्तिशाली रव=नाद से (ते) तेरे विष और (ते) तुझ को भी (बाधे) दूर करता हूं । (अस्य तं रसं) उसके विष को (नृभिः) कुछ आदमियों की सहायता से उस नाना प्रकार के विष को (अग्र-

---

[१३] २–(प्र०) 'पदक', (द्वि०) 'तत् ताभिः' इति पैप्प० सं० ।
३–(प्र०) 'नभसः', 'नभसम्' इति ह्विटनिकामितः । (द्वि०) 'ते वचसा बाधेतु ते' (तृ०) 'अभिरग्रं' (च०) 'ज्योतिषेव तमसो दयतु सार्यः' इति पैप्प० सं० ।

भम्) इस प्रकार वश कर लेता हूं जैसे (ज्योतिः तमसः इव) ज्योति अन्धकार का विनाश करता है और (सूर्यः उदेतु) सूर्य उदित हो जाता है उसी प्रकार विष के विनाश होने पर जीवन-ज्योति पुनः उदित हो जाती है ।

चक्षुषा ते चक्षुर्हन्मि विषेणं हन्मि ते विषम् ।
अहे म्रियस्व मा जीवीः प्रत्यगभ्ये/तु त्वा विषम् ॥ ४ ॥

भा०—सर्प को वश करने की साधना का उपदेश करते हैं । हे तक्षक नाग ! (चक्षुषा) आंख के बल से (ते चक्षुः हन्मि) तेरे आंख की शक्ति को नाश करती हूं । और (विषेण) विष के बल से (ते विषम् हन्मि) तेरे विष को भी विनष्ट करता हूं । हे (अहे) सर्प ! (म्रियस्व) तू मर जा, (मा जीवीः) अब तू प्राण धारण मत कर, (विषम्) यह विष (प्रत्यग्) फिर लौट कर तेरे पास ही (अभि-एतु) आ जावे । योगज शक्ति और चक्षु के अभ्यास से सांप को वश करके विषैले पदार्थ से उसके विष को नाश करें उस सांप को ही उस विष-प्रयोग से मार दे ।

कैरांत पृश्न उपतृण्य बभ्र आ मे शृणुतासिता अलीकाः ।
मा मे सख्युः स्तामानमपि ष्ठाताश्रावयन्तो नि विषे रमध्वम् ॥५॥

भा०—हे (कैरात पृश्ने उपतृण्य बभ्रो असिताः अलीकाः) कैरात, पृश्नि, उपतृण्य, बभ्रु, असित और अलीक इन नाम वाले सर्पगण ! आप

४–(तृ०) 'अहम्रि-' इति बहुत्र । (प्र०) 'बलेन ते बलं हन्मि' (द्वि०) अस्पष्टम् । (तृ०) 'अग्रणा हन्मि ते विदम् अहे मरिष्टा मा जिवि । प्रति अन्वेतवाविषम् [?] ' इति पैप्प० सं० ।

५–(तृ०) 'स्थामानं', 'स्तामाणं' इति ह्विटनिकामितः । (प्र०) 'उपतृणि बभ्रव' (द्वि०) 'असितलीका' (च०) 'निमिषे' 'रमध्वम्' इति च क्वचित् ।

लोग (मे सख्युः) मेरे मित्र इस मनुष्य के (स्तामानम्) अहाते में (मा अपि-स्थात) मत ठहरो और (आश्रावयन्तः) खटका सुनते हुए (विषे) विषैले स्थान में (नि रमध्वम्) सदा रमण किया करो ।

कैरात=काला नाग या कडैत या कीरा नाम का साँप, पृश्नि=चितकबरा, उपतृण्य=घास के रंग का, बभ्रू=पीला गोधूमी, असिताः=काले फनियर, अलीक=विना-रंग के सर्प ये सब मलिन स्थानों पर रहते हैं । उनको अहातों में नहीं आने देना चाहिये ।

असितस्य तैमातस्य बभ्रोरपोदकस्य च ।
सात्रासाहस्याहं मन्योरव ज्यामिव धन्वनो वि मुञ्चामि रथाँ इव ॥६॥

भा०—(असितस्य) असित, (तैमातस्य) तैमात, (बभ्रोः) भूरे, गोधुमें और (अपोदकस्य) अपोदक, सूखे रेगिस्तान के सर्प के विषवर्गों को (विमुञ्चामि) ऐसे दूर करता हूं जैसे (सात्रासाहस्य मन्योः) सेना विजयी राजा के (रथान्) पराक्रमी रथों को परे कर दिया जाय, (धन्वनः ज्यामिव अव) या जिस प्रकार धनुष से डोरी को उतार दिया जाता है ।

आलिगी च विलिगी च पिता च माता च ।
विद्म वः सर्वतो बन्ध्वरसाः किं करिष्यथ ॥ ७ ॥

भा०—(आ-लिगी च) सब प्रकार से चिपटने वाली, कानखजूरा (वि-लिगी) विपरीत रूप से चिपटने वाली जोंक और (पिता च माता च) इन जातियों के नर और मादा इन (वः सर्वतः बन्धु) तुम्हारे सब बन्धुओं को (विद्मः) हम खूब अच्छी प्रकार जानते हैं । ये सब

६–(तृ०) 'मन्युमव' इति ह्विट्निकामितः । (प्र०) 'तयिमातस्य' (तृ०) 'उपोदकस्य, मन्युमव' इति पैप्प० सं० ।

७–(प्र० द्वि०) 'आलका च व्यचा लुप्त्वा यस्ते माता' इति पैप्प० सं० ।

(अरसाः) निर्विष हैं इसलिये ये (किं करिष्यथ) मनुष्य का क्या विगाड़ सकेंगे ।

उरुगूलाया दुहिता जाता दास्यसिक्न्या ।
प्रतङ्कं दद्रुषीणां सर्वासामरसं विषम् ॥ ८ ॥

भा०—(उरुगूलायाः) बड़ी गुदा वाली सर्प जाति से (दुहिता जाता) 'दुहिता' नाम की सर्प जाति उत्पन्न होती है। और (असिक्न्याः) 'असिक्नी' नाम सर्प जाति से (दासी) काटने वाली सर्प जाति उत्पन्न होती है। अर्थात् मोटी गुदा वाली जाति के सांप रक्त चूसते हैं और काली 'असिक्नी' सर्प जाति के सांप एक झपट में काटते हैं। इसी प्रकार (दद्रुषीणां) वे सांप जिनके काटने से त्वचा पर दाद के समान दाफड़ उठ आवें उन सर्प जातियों में से (सर्वासाम्) सर्व सर्प जातियों के (प्रतङ्कं) अति कष्टदायी (विषम्) विष भी (अरसं) निर्बल, निर्विष होजाते हैं।

कर्णा श्वावित् तदब्रवीद् गिरेरवचरन्तिका ।
याः काश्चेमाः खनित्रिमास्तासामरसतमं विषम् ॥ ९ ॥

ऋ० १ । १९१ । १६ ॥

भा०—(कर्णा श्वावित्) इसी प्रकार कानों वाली साही (गिरेः) पर्वत से (अव चरन्तिका) नीचे उतरती हुई (तत् अब्रवीत्) यह बात बतलाती है कि (याः काः च इमाः) ये जो कोई जन्तु (खनित्रिमाः) भूमि खोदकर बिल बना कर रहते हैं (तासाम्) उनका भी (विषं) विष (अरसतमं) सर्वथा नीरस, निर्बल, विष-रहित होता है।

८–(द्वि०) 'दास्या असिक्न्याः' इति ह्विटनिकामितः ।

९–'कुपुम्भकस्तदब्रवीत् गिरेः प्रवर्त्तमानकः । वृश्चिकस्यारसं विषम्' इति ऋ० । (प्र०) 'कर्णा श्वावित्' इति पैप्प० सं० ।

तावुवं न तावुवं न घेत् त्वमसि तावुवम् ।
तावुवेनारसं विषम् ॥ १० ॥

भा०—(तावुवं तावुवं न) तावुवं नामक सर्प वस 'तावुव' नाम ओषधि के समान ही है (त्वम् तावुवं न घ इत् असि) पर तू तावुव भी नहीं है । क्योंकि (तावुवेन) 'तावुव' नामक ओषधि से (ते विषम् अरसम्) तेरा विष भी निर्बल होजाता है । 'तावुव' ओषधि कदाचित् कड़वा तूम्बा है । कौशिक सूत्र में इस मन्त्र से उसका जल पान करना लिखा है ।

तस्तुवं न तस्तुवं न घेत् त्वमसि तस्तुवम् ।
तस्तुवेनारसं विषम् ॥ ११ ॥

भा०—(तस्तुवं न तस्तुवं) तस्तुव=हिंसक औषध के समान 'तस्तुव' नामक सर्प भी अपनी जाति का एक ही है । (न घ इत् त्वम् तस्तुवम् असि) तस्तुव भी तू अब नहीं क्योंकि (तस्तुवेन विषम् अरसम्) तस्तुव नामक औषध से इसका विष भी निर्बल पड़ जाता है ।

अथवा इन विषधरों की चिकित्सा भी इनके विषों से ही होती है ।

१०–'तावुचं न तावुचं न अहेरसिर्क्त तावुचेना रसं विषम्', 'ताथुवं' इति वेबरकामितः ।

११–(प्र० द्वि०) 'तस्तुवं न हरिसिक्तम् तस्तुवम्' इति पैप्प० सं० । 'तस्तुवेषं' इति ह्विटनिकामितः ।

[१४] दुष्टों के विनाश के उपाय ।

शुक्र ऋषिः । वनस्पतिर्देवता । कृत्याप्रतिहरणं सूक्तम् । १, २, ४, ६, ७, ९ अनुष्टुभः, ३, ५, १२ भुरिजः, ८ त्रिपादा विराट्, १० निचृद् बृहती, ११ त्रिपदा-साम्नी त्रिष्टुप्, १३ स्वराट् । त्रयोदशर्चं सूक्तम् ॥

सुपर्णस्त्वान्वविन्दत् सूकुरस्त्वाखनन्नसा ।
दिप्सौषधे त्वं दिप्सन्तमव कृत्याकृतं जहि ॥ १ ॥

पूर्वार्धः अथर्व० २ । २७ । २ प्र० द्वि० ॥

भा०—हिंसक षड्यन्त्रकारी दुष्टों के विनाश के लिये उपायों का प्रयोग दर्शाते हैं । हे ओषधे ! तापकारिन् ! (सु-पर्णः) गरुड़पक्षी (त्वा अनु अविन्दत्) तुझे प्राप्त करता है । और (सूकरः त्वा नसा अखनत्) सूकर तुझे अपनी नाक से खोदता है । अर्थात् वह उपाय जिससे बाज झपटता है और या शूकर मूल से नाक के हुलारे से उखाड़ता है ये दोनों ही उपाय रूप ओषधि=संतापकारक उपाय हैं जिन से हे राजन् ! तू (दिप्सन्तं) पर जीव=हिंसक प्राणि को भी (दिप्स) विनाश कर और (कृत्या-कृतं अव जहि) दूसरे पर हत्याकारी प्रयोग करने वाले को भी नाश कर अथवा (सु-पर्णः) ज्ञानी लोग भी तुझे प्राप्त करता है और (सूकरः) सुकृत कर्मकर्ता भी तुझे अपनी कर्म शक्ति से उत्तेजित करता है । तू दुष्टों का विनाश कर ।

अव जहि यातुधानानव कृत्याकृतं जहि ।
अथो यो अस्मान् दिप्सति तमु त्वं जह्योषधे ॥ २ ॥

भा०—(यातु-धानान्) पीड़ा देने वाले जीवों को (अव जहि) उनकी चेतना गिरा कर मार डाल और (कृत्या-कृतं) पर-प्राणघात करने वाले को भी

[१४] १–‘ प्रति कृत्याकृतो दह ’ इति पैप्प० सं० ।

(अव जहि) विनाश कर। (अथो) और (यः) जो (अस्मान् दिप्सति) हमें विनाश करना चाहता है। (तम् उ) उस जीव को भी हे (ओषधे) ओषधे ! तापकारिन् ! (त्वं जहि) तू विनाश कर ।

रिश्यस्येव परीशासं परिकृत्य परि त्वचः ।
कृत्यां कृत्याकृते देवा निष्कमिव प्रति मुञ्चत ॥ ३ ॥

भा०—हे (देवाः) विद्वान् पुरुषो ! (रिश्यस्य) जिस प्रकार हिंसक जन्तु के (त्वचः परि) त्वचा के चारों ओर (परिशासं) चारों ओर से उसको चुभने वाली बर्छियां सी (परि कृत्य) लगा कर या (परिशासं) उसको चारों तरफ़ से चोट पहुंचाने वाले छड़ लगाकर वश कर लिया जाता है उसी प्रकार (कृत्या-कृते) दूसरों की जीवहत्या करने वाले पुरुष के चारों ओर भी (कृत्यां परि कृत्य) उसी प्रकार का कष्टदायी उपाय करके उसको (निष्कम्[1] इव) नीचे दबा कर, निश्चेष्टसा करके (अव मुञ्चत) छोड़ो । अर्थात् मारे मृत्यु के और कष्टों की पीड़ा के उसे दबा कर सिर मत उठाने दो ।

पुनः कृत्यां कृत्याकृते हस्तगृह्य परा णय ।
समक्षमस्मा आ धेहि यथा कृत्याकृतं हनत् ॥ ४ ॥

भा०—(कृत्या-कृते) पर-प्राणघाती उपाय करने वाले की (कृत्यां) कृत्या, साजिश को (पुनः) वार वार (हस्त-गृह्य) हाथों से पकड़ २ कर अर्थात् उन साजिश करने वालों को अपराध करते २ पकड़ कर (परा नय)

३–' ऋश्यस्येव ' इति क्वचित् ।

१. निष्कम् । नौसदेर्डिच्चेति कन् । निषीदतीति निष्कः । नीचैर्निषण्णः । इति उणादिव्या० दया० ।

४–(द्वि०) ' प्रतिहरणं न हरामसि ' इति पैप्प० सं० ।

उनको समाज से (पृथक्) बन्दी-घर या दूर स्थान पर रख । और (अस्मै) उसके (समक्षम्) आंखों के आगे (आ-धेहि) यह साफ तौर पर ला दिखा कि (यथा) किस प्रकार से (कृत्या-कृतं) साजिश करने वाले पर-प्राण-द्वेषियों को (हनत्) मारा जाता है । अपराधियों को (रेड्-हैण्ड) सापराध पकड़े । और अलग करके उनको वे भय दर्शावें जो साजिशकारियों को दिये जाते हैं ।

कृत्याः सन्तु कृत्याकृते शपथः शपथीयते ।
सुखो रथ इव वर्ततां कृत्या कृत्याकृतं पुनः ॥ ५ ॥

भा०—अपराधकारी को दण्ड किस नियम से दें इसका उपदेश करते हैं । (कृत्या-कृते) दूसरों पर हत्या का षड्यन्त्र रचने वालों को (कृत्याः सन्तु) उसी प्रकार की पीड़ाएं दण्डरूप में हों । (शपथीयते) पर-निन्दाकारी के लिये (शपथः) उसको जनता के समक्ष निन्दाजनक दण्ड ही दिया जाय । (रथ इव सुखः) जिस प्रकार रथ, गाड़ी सब को सुखकारी है उसी प्रकार वह भी दण्ड के भय से (सुखः वर्तताम्) सब को सुखकारी सीधा हो कर रहे । और (पुनः कृत्या) उसे फिर वैसी ही पीड़ा दी जाय ।

यदि स्त्री यदि वा पुमान् कृत्यां चकार पाप्मने ।
तामु तस्मै नयामस्यश्वमिवाश्वाभिधान्या ॥ ६ ॥

भा०—न्यायपूर्वक स्त्री पुरुष दोनों को दण्ड देना चाहिये । (यदि) चाहे (स्त्री) स्त्री हो (यदि वा पुमान्) चाहे पुरुष हो । यदि वह (पाप्मने) अपने पाप के भाव से (कृत्यां चकार) दूसरे पर हत्या या षड्यन्त्र का करता है । (तस्मै ताम् उ) तो उस पर उसी प्रकार का प्रयोग (नयामसि) दण्ड रूप में हम प्रयोग करें तब जिस प्रकार (अश्व-अभि-धान्या) घोड़े को बांधने की रस्सी से (अश्वम् इव) घोड़े को बांध कर काबू कर लिया जाता है उसी प्रकार वह भी काबू आ जाता है ।

यदि वासि देवकृता यदि वा पुरुषैः कृता ।
तां त्वा पुनर्णयामसीन्द्रेण सयुजा वयम् ॥ ७ ॥

भा०—जीवों पर प्राणसंहारी विपत्ति के प्रतिकार का उपदेश करते हैं । (यदि वा) यदि प्राणसंहारी विपत्ति (देवकृता) आधिदैविक, ईश्वरीय शक्तियों से अपने आप घटित होगई है (यदि वा पुरुषैः कृता) और चाहे वह पुरुषों द्वारा की गई हो अर्थात् उस विपत्ति को ला डालने वाले मनुष्य ही हों तो भी (तां त्वा) हे विपत्ते ! तुझ उसको (वयम्) हम लोग (इन्द्रेण सयुजा) अपने सहायक इन्द्र=राजा के बल पर (पुनः नयामसि) वार वार हटादें ।

अग्ने पृतनाषाट् पृतनाः सहस्व ।
पुनः कृत्यां कृत्याकृते प्रतिहरणेन हरामसि ॥ ८ ॥

भा०—हे (अग्ने) राजन् ! हे (पृतनाषाट्) सेनाओं प्रजाओं को वश करने वाले ! तू (पृतनाः) समस्त सेनाओं को वश कर । (पुनः) तब (कृत्या-कृते) राष्ट्रवासियों पर विपत्तियों को लाने वाले पर (प्रतिहरेण) प्रतिहरण विधि से (कृत्यां) उस घातक्रिया को हम (हरामसि) उसी पर डालते हैं । अर्थात् यदि सेनापति अपनी सेनाओं को वश करके बाहर की सेनाओं पर वश कर ले तो भीतरी षड्यन्त्रकारियों को पकड़ कर उनको वही दण्ड भुगतावे जो कष्ट वे औरों पर डालना चाहते थे ।

कृतव्यधनि विध्य तं यश्चकार तमिज्जहि ।
न त्वामचक्रुषे वयं वधाय सं शिशीमहि ॥ ९ ॥

७–' या कृत्ये देवकृता या वा मनुष्यजासि । तां त्वा प्रत्यङ् प्रतिरामसि प्रतीची नयन[?]ब्रह्मणा ' इति पैप्प० सं० ।

८–(तृ०) ' प्रति कृत्यां ' इति पैप्प० सं० ।

९–' वधाय शंसमीमहे ' इति पैप्प० सं० ।

भा०—कैसे अपराधियों को कैसा दण्ड दिया जाय इसका उपदेश करते हैं। हे (कृतव्यधनि [1]) जिस पुरुष ने किसी को बाण आदि शस्त्र से मारा है उसी को ताड़ने वाली शक्ति ! तू उसको भी (विध्य) उसी प्रकार बेध (यः-चकार) जो जैसा करे (तमित् जहि) और उसको वैसा ही दण्ड देकर नाश कर। हे राजन् ! (त्वाम्) तुझको (अचक्रुषे) अपराध न करने वाले के (वधाय) वध करने के लिये हम (न संशिशीमहि) उत्तेजित नहीं करते।

पुत्र इव पितरं गच्छ स्वज इवाभिष्ठितो दश।
बन्धमिवावक्रामी गच्छ कृत्ये कृत्याकृतं पुनः ॥ १० ॥

भा०—हे (कृत्ये) हिंसाकारिणी शक्ति ! (पुत्र इव पितरं गच्छ) जैसे पुत्र पिता के पास जाता है उसी प्रकार तू भी पीड़ा रूप होकर उसको प्राप्त हो, जो तुझे अन्यों के प्रति प्रयोग करता है। (स्वजः इव अभिष्ठितः दश) लिपट कर काटने वाले सांप के समान तू उस अपराधी को वश करके काट, कष्ट दे। और (बन्धम् इव) बन्धन के समान (अवक्रामीः) समस्त प्रजापर फैला रह। परन्तु हे कृत्ये ! (पुनः) पुनः तू (कृत्याकृतं गच्छ) हिंसाकारी अपराधी को ही वार २ पकड़।

उदेणीव वारण्यभिस्कन्दं मृगीव।
कृत्या कर्तारमृच्छतु ॥ ११ ॥

भा०—दण्ड किस निश्चित विधि से दिया जावे इसका उपदेश करते हैं। वही (वारणी कृत्या) अपराधों को रोकने वाली पीड़ा जो अपराधी ने की है (कर्त्तारम् ऋच्छतु) पीड़ाकारी को इस प्रकार प्राप्त हो (अभिस्कन्दं

---

१. ओषधिनामेति ह्विट्निः।

१०–(तृ० च०) 'तन्तुरिवाव्ययं निदे कृत्ये कृत्या कृतं कृतः' इति पैप्प० सं०।

एणी इव उत्) हिरणी जिस प्रकार अपने आक्रमण कारी पर कूद कर झपटती है या (वारणी) सेना या हथिनी जिस प्रकार अपने पर पड़े घेरे पर झपटती है या (मृगी इव) बाघनी जिस प्रकार शिकारी पर टूटती है।

इष्वा ऋजीयः पततु द्यावापृथिवी तं प्रति ।
सा तं मृगमिव गृह्णातु कृत्या कृत्याकृतं पुनः ॥ १२ ॥

भा०—हे (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी ! राजा और प्रजा ! (इष्वा) बाण के समान (ऋजीयः) अत्यन्त सीधी होकर विना चूके वह (कृत्या) पीड़ा (तं प्रति पततु) उसी करने वाले पर आकर पड़े । और (सा) वह (तं) उस अपराधी को (मृगम् इव) मृग के समान (गृह्णातु) पकड़ ले। अर्थात् ताक कर निशाना लगाने से जिस प्रकार शिकारी का बाण हरिण पर ही जाता है और नहीं चूकता उसी प्रकार राजा का दण्ड भी अपराधी पर वैसे ही विना चूक पड़े । और इस प्रकार (कृत्याकृतं पुनः कृत्या गृह्णातु) पीड़ाकारी पुरुष को वह पीड़ा पुनः पकड़ ले ।

अग्निरिवैतु प्रतिकूलमनुकूलमिवोदकम् ।
सुखो रथ इव वर्ततां कृत्या कृत्याकृतं पुनः ॥ १३ ॥

भा०—(कृत्या) वही पीड़ा जो अपराधी ने औरों को दी है वह (पुनः कृत्या-कृतम्) फिर उस पीड़ाकारी पर ऐसे प्रतिकूल होकर पड़े जैसे (अग्निः इव प्रतिकूलम्) आग प्राणियों को सदा प्रतिकूल होकर कष्टदायी होता है । और राष्ट्र के लिये (अनुकूलम् उदकम् इव) अनुकूल जल के समान सुखदायी हो (रथ इव सुखः वर्तताम्) अपराधी को अपराध का दण्ड मिलने पर वह सब त्रासकारी पुरुष भी रथ के समान सब के बीच में सुखकारी पुरुष के समान होकर रहे ।

१२–' सा तं मृगमिव विदतु कृत्याकृत्याकृतं कृता ' इति पैप्प० सं० ।

[१५] निन्दकों पर वश प्राप्त करने की साधना ।

विश्वामित्र ऋषिः । वनस्पतिर्देवता । १–३, ६, १०, ११ अनुष्टुभः, ४ पुरस्ताद् बृहती, ५, ७, ८, ९ भुरिजः । एकादशर्चं सूक्तम् ॥

एका च मे दश च मेपवक्तारं ओषधे ।
ऋतंजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः ॥ १ ॥

भा०—हे (ऋतजाते) सत्य रूप में उत्पन्न हुई और हे (ऋतावरि) सत्य में सदा वर्तमान रहने वाली (ओषधे) बलकारिणी सत्य वाणि ! तू (मधुला) आनन्दरस को प्राप्त कराने वाली मधुमयी होकर (एका च मे) मेरी अकेली भी (मे मधु करः) मेरे लिये अमृतमय आनन्द ही उत्पन्न कर जब कि (ये) मेरे (अप-वक्तारः) अपवाद करने वाले, विरोधी, निन्दक गण (दश च) दश भी क्यों न हों । अर्थात् मेरे निन्दा करने वाले १० मुख क्यों न हो तो भी मेरी एक सत्यवाणी मुझे पूरा बल और आनन्द दे ।

द्वे च मे विंशतिश्च मे० । ० ॥ २ ॥

भा०—(मे) मेरे (अप-वक्तारः) निन्दाकारी (विंशतिः च) बीस भी क्यों न हों तो भी (द्वे च मे) हे ओषधे ! मेरी तुम दो अर्थात् दुगुणी बल वाली सत्य वाणी होकर मुझे आनन्द प्रदान कर ।

तिस्रश्च मे त्रिंशच्च मे०।० ॥३॥ चतस्रश्च मे चत्वारिंशच्च मे०।० ॥४॥
पञ्च च मे पञ्चाशच्च मे०।० ॥५॥ षट् च मे षष्टिश्च मे०।० ॥६॥
सप्त च मे सप्ततिश्च मे०।० ॥७॥ अष्ट च मेशीतिश्च मे०।० ॥८॥
नव च मे नवतिश्च मे०।० ॥९॥ दश च मे शतं च मे०।० ॥१०॥

---

[१५] १–' दशचापत्रं० ' इति सर्वत्र द्वितीयं पदं लुप्यत पैप्प० सं० । (च०) ' मधु त्वा मधुला करत् ' इति पैप्प० सं० ।

शतं च मे सहस्रं चापवक्तार ओषधे ।
ऋतंजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः ॥ ११ ॥

भा०—(तिस्रश्च मे त्रिंशत् च अप-वक्तारः०) यदि तीस मेरी निन्दा करने वाले हों तो मेरी सत्य वाणी तीन गुणी होकर मुझे बल दे । (चतस्रः च मे, चत्वारिंशत् च०) यदि ४० (चालीस) पुरुष मेरी निन्दा करने वाले हों तो मेरी चार गुणी वाणी मुझे आनन्द और बल दे । (पञ्च च मे पञ्चाशत् च मे) यदि पचास निन्दक हों तो पांच गुणा शक्तिमती होकर मुझे आनन्द दे । (षष्टिः च मे अपवक्तारः षट् च मे) यदि मेरे ६० निन्दक हों तो मेरी वाणी ६ गुणा होकर मुझे बल और आनन्द दे । (सप्ततिः च मे०, सप्त च मे०) यदि मेरे निन्दक ७० होजावें तो मेरी वाणी ७ गुणा होकर मुझे बल दे । (अशीतिः च मे० अष्ट च मे०) यदि मेरे अपवादक ८० हो जांय तो मेरी सत्य वाणी भी ८ गुणा होकर मुझे बल दे । (नवतिः च मे० नव च मे०) मेरे अपवादक नव्वे हो जांय तो मेरी वाणी नव-गुणी होकर मुझे बल दे । (शतं च मे अप०, दश च मे०) यदि मेरे अपवादक सौ हो जांय तो मेरी सत्य वाणी दस गुणा होकर मुझे बल दे । (सहस्रं च मे अप-वक्तारः) यदि मेरे हज़ार अपवादक निन्दक हों तो हे ओषधे ! सत्य वाणी ! तू (शतं च मे०) सौ गुणा होकर मुझे बल और आनन्द प्रदान कर ।

दुष्ट वक्ताओं का मुख बांधने के लिये इस मन्त्र=विचार का मनन करना चाहिये इससे शक्ति बढ़ेगी और साहस उत्पन्न होगा । अध्यात्म में दशों इन्द्रियां प्रलोभन से गिरावें तो एक सत्यमति से उन पर वश करे । यदि दुनियां में प्रलोभन बढ़े तो अपनी शक्ति को और बढ़ावे ।

इति तृतीयोऽनुवाकः ।

[तत्र सूक्तानि पञ्च, ऋचश्च सप्तपञ्चाशत् ।]

[१६] आत्मा की शक्ति-वृद्धि करने का उपदेश ।

विश्वामित्र ऋषिः । एकवृषो देवता । १, ४, ५, ७–१०, साम्न्युष्णिक्, २, ३, ६ आसुरी अनुष्टुप्, ११ आसुरी गायत्री, एकादशर्चं सूक्तम् ।

यद्येकवृषोसि सृजारसोसि ॥ १ ॥

भा०—आत्मा देवता ! (यदि एकवृषः असि) हे आत्मन् ! यदि तू (एकवृषः) अर्थात् एक ही इन्द्रिय है तो भी (सृज) और उत्पन्न कर नहीं तो (अरसः असि) निर्बल ही रहेगा ।

यदि द्विवृषोसि० ॥ २ ॥ यदि त्रिवृषोसि० ॥ ३ ॥
यदि चतुर्वृषोसि० ॥ ४ ॥ यदि पंचवृषोसि० ॥ ५ ॥
यदि षड्वृषोसि० ॥ ६ ॥ यदि सप्तवृषोसि० ॥ ७ ॥
यद्यष्टवृषोसि० ॥ ८ ॥ यदि नववृषोसि० ॥ ९ ॥
यदि दशवृषोसि सृजारसोसि ॥ १० ॥
यद्येकादशोसि सोपोदकोसि ॥ ११ ॥

भा०—(यदि द्विवृषः असि) यदि द्विवृष=दो प्राणों से युक्त है तो भी और शक्ति उत्पन्न कर, अभी भी निर्बल है । (यदि त्रिवृषः असि०) यदि तीन प्राणों से युक्त भी है तो भी और शक्ति पैदा कर अभी भी निर्बल है । (यदि चतुर्वृषः असि०) चार प्राणों से युक्त है तो भी और शक्ति उत्पन्न कर, अभी भी निर्बल है । (यदि पञ्चवृषः असि०) पांच प्राणों से युक्त है तो भी और पैदा कर अभी भी निर्बल है । (यदि षड्-वृषः असि०) छः प्राणोंसे युक्त हैं तो भी और पैदा कर अभी भी निर्बल है । (यदि सप्तवृषः असि)

[११] १-११–' यदि ' स्थाने सर्वत्र ' यः ' इति पैप्प० सं० ।

यदि सात प्राणों से युक्त है तो भी और पैदा कर, अभी भी तू निर्बल है। (यदि अष्ट-वृषः असि०) यदि आठ प्राणों से युक्त है तो भी और पैदा कर, अभी भी निर्बल है। (यदि नव-वृषः असि०) यदि नव प्राणों से युक्त है तो भी अभी और पैदा कर, अभी भी निर्बल है। (यदि दश-वृषः असि) यदि दश प्राणों से युक्त है तो भी (सृज, अरसः असि) और अपनी शक्ति को बढा क्योंकि निर्बल है। यदि तू (एक दशः असि) तू उन दश प्राणों के अतिरिक्त स्वयं आत्मा ग्यारहवां है तब (सः) वह (अप उदकः असि) तू आत्मा दुःखों में तड़फने से मुक्त हो सकता है । अथवा तब तू स्वयं (अप-उदकः) असङ्ग है, तू इन्द्रियों के भोग=रस के सङ्ग से परे है। अर्थात् जब तक आत्मा दश इन्द्रियों से कुछ एक को अपना रूप समझता है तब तक भी वह अरस=निर्बल एवं परमानन्दरस से शून्य रहता है और जब दशों इन्द्रियों के संग से रहित होजाता है तब वह इन तृष्णा जल से मुक्त होकर के बली, आनन्दी, मुक्त होजाता है।

[१७] ब्रह्मजाया या ब्रह्मशक्ति का वर्णन।

मयोभूर्ऋषिः । ब्रह्मजाया देवता । १-६ त्रिष्टुभः, ७-१८ अनुष्टुभः ।
अष्टादशर्चं सूक्तम् ॥

ते॑ऽवदन् प्रथ॒मा ब्र॑ह्मकिल्बि॒षेऽकू॑पारः सलि॒लो मा॑त॒रिश्वा॑ ।
वी॒डुह॑रा॒स्तप॑ उ॒ग्रं म॑यो॒भूरापो॑ दे॒वीः प्र॑थम॒जा ऋ॒तस्य॑ ॥ १ ॥

ऋ० १० । १०९ । १ ॥

[१७] १-(तृ०) 'उग्रं' (च०) 'ऋतेन' इति ऋ० ।

भा०—ऋग्वेदे जुहूर्नाम ब्रह्मजाया ब्रह्मवादिनी ऊर्ध्वनामा ब्रह्मपुत्रो वा ऋषिः । विश्वेदेवाः देवताः । ब्रह्मजाया वेदवाणी का वर्णन करते हैं । (ते) वे (प्रथमाः) विशाल, सर्वश्रेष्ठ, अतिविस्तृत देवगण (अकूपारः) वह दूर वर्त्तमान, सूर्य (सलिलः) जल और (मातरिश्वा) वायु ये तीनों देवगण (ब्रह्म-किल्विषे) ब्रह्म परमात्मा की रचना के विषय में (अवदन्) हमें सब रहस्यों का उपदेश करते हैं । और (ऋतस्य) उस सर्वशक्तिमान्, ज्ञानस्वरूप महान् देव से (प्रथम-जाः) प्रथम उत्पन्न हुई (देवीः) दिव्य गुणों से युक्त तीन शक्तियां हैं जो (वीडु-हराः) अति प्रबल तेजः-सामर्थ्य से सम्पन्न हैं । उनमें से प्रथम अग्नि (तपः उग्रं) अपने तपनगुण से बलवान्, उग्र तेजस्वी है, द्वितीय सोम (मयो-भूः) सुखशान्ति का उत्पादक और जीवन का उत्पादक है । तृतीय (आपः) सर्वव्यापक जल है ।

सोमो राजा प्रथमो ब्रह्मजायां पुनः प्रायच्छदहृणीयमानः ।
अन्वर्तिता वरुणो मित्र आसीदग्निर्होता हस्तगृह्या निनाय ॥२॥

भा०—(प्रथमः) सब से प्रथम विद्यमान्, आदिगुरु (राजा) सर्वत्र प्रकाशस्वरूप (सोमः) सब के उत्पादक परमात्माने (अहृणीयमानः) विना संकोच और क्रोध के सब पर अनुग्रह करते हुए (पुनः) बार २ सृष्टि के आदि में (ब्रह्म-जायां प्र-अयच्छत्) ब्रह्म=ब्रह्माण्ड के उत्पन्न करने की प्रकृति शक्ति को प्रदान किया । और (वरुणः) सर्वव्यापक जल (मित्रः) और सर्वस्नेही आदित्य (अनु-अर्तिताः) उसके बाद प्रकट हुए । इस विश्व रचना को (होता) सब को अपने में ले लेने वाले (अग्निः) अग्नि तत्व ने या ज्ञानमय आत्मा ने स्वयं (हस्त-गृह्य) अपने आघातकारी गढ़ने के साधन-शक्ति से वश करके वा जिस प्रकार वर अपनी वधू को हाथ पकड़ कर ले आता है उस प्रकार इस प्रकट रूप में (आ निनाय) ला दिया ।

हस्तेनैव ग्राह्य/आधिरस्या ब्रह्मजायेति चेदवोचत् ।
न दूताय प्रहेया तस्थ एषा तथा राष्ट्रं गुपितं क्षत्रियस्य ॥३॥
ऋ० १० । १०९ । ३ ॥

भा०—(अस्याः) इस महाप्रकृति का (आधिः) समस्त शरीर जिसमें परमेश्वर ने अपनी शक्ति का आधान किया वह (हस्तेन एव) हाथ, व्यापक शक्ति, गतिदायक शक्ति से ही (ग्राह्यः) व्याप्त करने योग्य है । (इति चेत्) इसीलिये यह (ब्रह्म-जाया) ब्रह्म की जाया, पत्नी, शक्तिरूप से विख्यात है । (एषा) वह परम प्रकृति (दूताय) अन्य किसी अवान्तर कारक द्वारा (प्र-हेया न) प्रेरणा करने योग्य नहीं है । सिवाय इस सर्व शक्तिमान् ईश्वर के वह और किसी के लिये अपने आपको समर्पित और प्रकट नहीं करती । जिस प्रकार (राष्ट्रं) राज्यसत्ता (क्षत्रियस्य) क्षत्रिय= प्रजा को विनाश होने से बचाने वाले राजा के द्वारा ही (गुपितम्) सुरक्षित रहता है (तथा) उस प्रकार यह समस्त प्रकृति की सत्ता भी उसी प्रभु के लिये सुरक्षित है । इस पर और किसी कारक का वश नहीं है ।

राष्ट्रपक्ष में—इस ब्रह्मजाया की सब सम्पत्ति को राजा अपने हाथ में ही रखे । कहने भर को वह ब्रह्मजाया अर्थात् ब्राह्मण की स्त्री के समान भोग्य है, ब्राह्मण के और उसके बीच में तीसरा कोई साधक नहीं तभी क्षत्रिय का राष्ट्र सुरक्षित रह सकता है । अन्यथा सदा लड़ाइयां होती रहेंगी ।

यामाहुस्तारकैषा विकेशीति दुच्छुनां ग्राममवपद्यमानाम् ।
सा ब्रह्मजाया वि दुनोति राष्ट्रं यत्र प्रापादि शश उल्कुषीमान् ॥ ४ ॥
ऋ० १० । १०९ । ४ ॥

३-(द्वि०) 'ब्रह्मजायेयमिति चेदवोचन्' (तृ०) 'प्रेह्य तस्थ एषा' इति ऋ० । (प्र०) 'ग्राह्या' इति क्वचित् । (तृ०) 'न दूत्याय' इति ह्विटनिकामितः । (प्र०) 'ग्राह्य आदिरस्या' इति पैप्प० सं० ।
४-(प्र०) 'तारकांविके' (तृ०) 'वितिनोति' इति पैप्प० सं० ।

भा०—ब्राह्मणों विद्वानों की ब्रह्मशक्ति विद्या वास्तव में उस धूम-केतु के समान है जो राष्ट्र पर उदित होकर उसका विनाश करे या उस उल्का-पात के समान है जो वस्तियों पर बरस जाने पर उनका नाश करे (दुच्छुनाम्) दुःख प्राप्त कराने वाली, दुर्लक्षणा, (ग्रामम् अव पद्यमानाम्) जन समूहों की वस्ती पर गिरने वाली (याम्) जिस धूमकेतुमयी विपत्ति या उल्का को (तारका एषा) यह 'तारका' धूमतारा या उल्का तारा या (विकेशी) विशेष जटा वाली तारा (इति आहुः) के नाम से पुकारते हैं वास्तव में वह इतनी नाशकारी नहीं जितनी यह (ब्रह्मजाया) ब्रह्म-ब्राह्मण, विद्वान् पुरुषों की विद्यारूप विज्ञान शक्ति है, इसलिये वास्तव में राष्ट्र-विध्वंस करने वाली सच्ची उल्का तो (सा ब्रह्मजाया) वह यह ब्रह्मजाया है। (विदुनोति राष्ट्रम्) जो राष्ट्र को नाना प्रकार से कष्ट देने में समर्थ हैं (यत्र) जहां (उल्कुषीमान्) उल्काओं के कोषों से युक्त, सहस्रों उल्काओं को बरसाने वाला (शशः) शश नामक उल्का प्रवाह (प्र-अपादि) आ पड़ता है। उल्का-विज्ञान के अनुसार तारका जिस राष्ट्र पर उदय होजाती हैं वहां की वस्ती विनष्ट होजाती है। उसकी उपमा से ब्रह्मजाया या विद्वानों की विज्ञानशक्ति का वर्णन किया है।

उल्कुषीमान् शश=यह सिंहराशि में स्थित वर्त्तमान में 'सिंहोल्का' है।

ब्रह्मचारी चरति वेविषद् विषः स देवानां भवत्येकमङ्गम्।
तेन जायामन्वविन्दद् बृहस्पतिः सोमेन नीतां जुह्वं न देवाः ॥५॥

ऋ० १०। १०९। ५॥

भा०—हे (देवाः) विद्वान् पुरुषो ! जो पुरुष (वेविषद्) सर्वत्र व्यापक, सर्वत्र समान भाव से सब के हृदयों में विराजमान, सब का प्रिय होकर (विषः) समस्त प्रवेश करने योग्य, व्याप्त करने योग्य राष्ट्र-प्रजाओं में (ब्रह्मचारी) ब्रह्मज्ञान में विचरणशील होकर (चरति) विचरता है,

(सः) वह (देवानां) राष्ट्र के सब अधिकारियों का भी (एकम् अङ्गम्) एक मुख्य अङ्ग होकर रहता है । हे (देवाः) विद्वान् पुरुषो (तेन) इसी कारण से (बृहस्पतिः) वह वेदविद्या का स्वामी, (सोमेन नीतां) सोम राजा द्वारा प्राप्त की गई (जायाम्) अपनी स्त्री के समान भोग्यरूप में इस समस्त पृथिवी को (जुह्वं न) ले लेने वाली अग्निज्वाला के समान शक्ति या वीर्य धारण में समर्थ (अनुअविन्दत्) वश में करलेता है ।

देवा वा एतस्यामवदन्त पूर्वे सप्त ऋषयस्तपसा ये निषेदुः ।
भीमा जाया ब्राह्मणस्यापनीता दुर्धां दधाति परमे व्यो/मन् ॥ ६ ॥

भा०—हे (देवाः) दिव्य गुणों से युक्त, परमप्रकाशस्वरूप या एक दूसरे को अपनी शक्ति देने वाले, संसार के घटक तत्वो ! (एतस्यां) इस ब्रह्म-शक्ति में (ये) जो (पूर्वे सप्त-ऋषयः , पूर्व के प्राणरूप सात ऋषि (तपसा) तप से अपने तपन शक्ति के रूप से (निषेदुः) विराजमान हैं वे उसके विषय में (अवदन्त) इस प्रकार का उपदेश करते हैं, वे उसका परमरहस्य बतलाते हैं कि—(ब्राह्मणस्य) ब्रह्मस्वरूप आदि पुरुष की (भीमा) अति भयंकर अतिशक्तिशालिनी (जाया) उत्पादक शक्ति (अप-नीता) उससे निकल कर (परमे वि-ओमन्) उस परम रक्षा स्थान, परम ब्रह्म में ही (दुः-धाम् दधाति) भारी धारण शक्ति को धारण करती है ।

ये गर्भा अवपद्यन्ते जगद् यच्चापलुप्यते ।
वीरा ये तृह्यन्ते मिथो ब्रह्मजाया हिनस्ति तान् ॥ ७ ॥

६–(तृ०) 'ब्राह्मणस्योपनीता' (द्वि०) 'तपसे' इति ऋ० । 'ब्राह्मणस्यापनिहिता' इति पैप्प० सं० ।

७–(तृ०) 'नृत्यन्ते' 'तृह्यते' 'नुह्यन्ते' इत्यादि नाना विकल्पाः । (प्र०) 'गर्भाव-' (द्वि०) 'यच्चाभिलुप्यते' इति पैप्प० सं० ।

भा०—उसी ब्रह्मशक्ति का पुनः वर्णन करते हैं। (ये) जो (गर्भाः) नाना हिरण्य गर्भ-(ब्रह्माण्ड=ब्रह्म, अण्ड=गर्भ) अवपद्यन्ते विनष्ट होते हैं होकर नहीं से होजाते हैं, और (यत् च) जो यह (जगत्) जगत्-समस्त विश्व (अपलुप्यते) एक बार ही प्रलय काल में कहीं लोप को प्राप्त हो जाता है और (ये) जो (वीराः) नाना बलवान्, वेग से आकाश में गति करने वाले सूर्य-मण्डल (मिथः तृह्यन्ते) आपस में टकराकर एक दूसरे का विनाश करते हैं (तान्) उन सब को वह (ब्रह्म-जाया) ब्रह्म की विशाल शक्ति जिससे जगत् उत्पन्न होता है वही उन को (हिनस्ति) विनाश करती है। राष्ट्रपक्ष में—जो गर्भहत्याएं नाजायज, पापोत्पन्न बालकों की लोग किया करते हैं या प्राणियों का विनाश होता है। और क्षत्रिय लोग घोर संग्राम करते हैं उन सब के विनाश में वह ब्राह्मण की शक्ति ही कारण है। जब वह अपमानित होती है। तब ये सब उत्पात होते हैं।

उत यत् पतयो दश स्त्रियाः पूर्वे अब्राह्मणाः।
ब्रह्मा चेद्धस्तमग्रहीत् स एव पतिरेकधा ॥ ८ ॥

भा०—(उत) और (यत्) यदि (स्त्रियाः) स्त्री के (पूर्वे) पहले (दश पतयः) दश पालक, पति (अब्राह्मणाः) ब्राह्मण न हों और ऐसी कन्या का (हस्तं) हाथ पाणिग्रहण की विधि से (चेत्) यदि (ब्रह्मा अग्रहीत्) ब्राह्मण ने ही ग्रहण किया हो तो उनमें (सः एव) वह ही (एकधा पतिः) उसका एकमात्र पति है। ब्रह्मपक्ष में—प्रकृति रूप स्त्री के परिपालक इन्द्र आदि दश लोकपाल-दश दिव्य शक्तियां जो ब्रह्म से भिन्न हैं वे उसके पति नहीं, प्रत्युत वह परमात्मा ही उस प्रकृति का मुख्य स्वामी है जिसने उसका हाथ अपने हाथ में लिया है अर्थात् उसकी मुख्य क्रिया-शक्ति को अपनी शक्ति से वश किया है।

ब्राह्मण एव पतिर्न राजन्यो३ न वैश्यः ।
तत् सूर्यः प्रब्रुवन्नेति पञ्चभ्यो मानवेभ्यः ॥ ६ ॥

भा०—(ब्राह्मणः एव पतिः) स्त्री का पति ब्राह्मण ही है (न राजन्यः न वैश्यः) न क्षत्रिय है और न वैश्य है । (सूर्यः) वह सूर्य, सर्वप्रकाशक परमात्मा (पञ्चभ्यः) पांचों प्रकार के (मानवेभ्यः) मानवों को (तत् प्रब्रुवन् एति) इस प्रकार उपदेश करता है । अर्थात् यदि कोई स्त्री अपने यौवन काल में सब वर्णों में से प्रथम ब्राह्मण को वरती है तो ऐसी दशा में बलपूर्वक हरण करने में या ऐश्वर्य में महान् राजा, धनादि से सम्पन्न वैश्य भी उस स्त्री का पति नहीं हो सकता है ।

पुनर्वै देवा अंददुः पुनर्मनुष्या/अददुः ।
राजानः सत्यं गृह्णाना ब्रह्मजायां पुनर्ददुः ॥ १० ॥

ऋ० १० । १०९ । ६ ॥

भा०—कन्या के पुनः दान का उपदेश करते हैं । (देवाः) देव विद्वान् लोग कन्या का (पुनः अददुः) पुनः दान कर देते हैं । (मनुष्याः पुनः अददुः) विचारशील मनुष्य भी कन्या का पुनः दान करते हैं । (राजानः) राज्य कर्त्ता व्यवस्थापक लोग भी (सत्यं गृह्णानाः) सत्य, यथार्थ का निर्णय करके (ब्रह्म-जायाम्) ब्राह्मण की पत्नी को भी (पुनः ददुः) पुनः दान करने की आज्ञा देते हैं । यह पुनः दान का विधान पूर्व अयोग्य पति के हो जाने पर है—जैसा कात्यायन ने लिखा है—

स तु यद्यन्यजातीयः पतितः क्लीव एव वा ।
विकर्मस्थः सगोत्रो वा दासो दीर्घामयोऽपि वा ॥
ऊढापि देया साऽन्यस्मै सहाभरणभूषणा ॥

१०-(प्र०) 'पुनः वै देवा उत पुनर्म' (तृ०) कृण्वानाः इति ऋ० ।

पुनर्दायं ब्रह्मजायां कृत्वा देवैर्निकिल्बिषम् ।
ऊर्जं पृथिव्या भक्त्वोरुगायमुपासते ॥ ११ ॥

ऋ० १० । १०६ । ७ ॥

भा०—(देवैः) देव लोग (ब्रह्म-जाया) ब्रह्म=कन्या को पुनः (नि-किल्विषम्) निर्दोष, निष्पाप (कृत्वा) करके और उस को योग्यपति के हाथों (पुनःदाय) पुनः दान करके और (पृथिव्याः) पृथिवी–क्षेत्र-भूमि, के (ऊर्जं) बल को (भक्त्वा) विभाग करके प्रथम स्त्री को क्षेत्र मान कर यदि पुत्रों वाली स्त्री हो तो उसके (ऊर्जं) रस, बल रूप सन्ततियों का पूर्व पतियों में विभाग करके, (उरुगायम् उपासते) उस महान् यशस्वी या वेदवक्ता परमात्मा की उपासना करते हैं, उसी की आज्ञा का पालन करते हैं ।

नास्य जाया शतवाही कल्याणी तल्पमाशये ।
यस्मिन् राष्ट्रे निरुध्यते ब्रह्मजायाचित्त्या ॥ १२ ॥

भा०—(यस्मिन् राष्ट्रे) जिस राष्ट्र में (अचित्या) बिना ज्ञान के, मूर्खता से (ब्रह्मजाया) ब्रह्म की विज्ञानमयी कल्पक और उत्पादक शक्ति को (नि-रुध्यते) रोक दिया जाता है उस पर नियन्त्रण रखा जाता है, उस राष्ट्र में (अस्य जाया) मनुष्य की (जाया) स्त्री भी (शत-वाही) सहस्रों कार्य करने में समर्थ (कल्याणी) सुख कल्याण की देने हारी सौभाग्यवती स्त्री (तल्पं) भोग्य स्थान, सेज पर (न आशये) नहीं विराजती है ।

न विकर्णः पृथुशिरास्तस्मिन् वेश्मनि जायते ।
यस्मिन्० ॥ १३ ॥

११–(द्वि०) 'कृत्वी' (च०) 'भावत्वावयोरु' इति पाठभेदः, ऋ० ।

भा०—(यस्मिन् राष्ट्रे अचित्या ब्रह्म-जाया नि-रुध्यते) जिस घर में मूर्खता वश ब्रह्म. वेद से प्राप्य ज्ञानशक्ति या ब्राह्मण=ब्रह्म ज्ञानियों की वैदिक विद्या को रोक दिया जाता है (तस्मिन् वेश्मनि) उस घर में (वि-कर्णः पृथु-शिराः) विशेष कर्ण-शक्ति से सम्पन्न श्रुतिशील, विशाल मस्तक वाले विचारवान् पुरुष (न जायते) नहीं उत्पन्न होते । घरों में ब्रह्मजाया अर्थात् ब्राह्मणों की वैदिक वाणी का ज्ञानपूर्वक घोष होना चाहिये । इससे सन्तति बहुश्रुत विचारवान् होगी ।

नास्यं क्षत्ता निष्कग्रींवः सूनानामेत्यग्रतः ।
यस्मिन्० ॥ १४ ॥

भा०—(यस्मिन् राष्ट्रे अचित्या ब्रह्म-जाया नि रुध्यते) जिस राष्ट्र में मूर्खता से ब्रह्म. वेद विद्या के प्रसार को रोक दिया जाय । (अस्य क्षत्ता) इस देश का मन्त्री भी (निष्क-ग्रीवः) स्वर्ण के आभूषण पहन कर (सूनानाम्) ऐश्वर्यवान् राजाओं के (अग्रतः) समक्ष (न एति) आने योग्य नहीं होता । अर्थात् विद्या ही के बल से सचिव राजाओं के समक्ष सदा सलाह देने योग्य होते हैं ।

नास्यं श्वेतः कृष्णकर्णो धुरि युक्तो महीयते ।
यस्मिन्० ॥ १५ ॥

भा०—(यस्मिन् राष्ट्रे अचित्या ब्रह्म-जाया निरुध्यते) जिस राष्ट्र में मूर्खता से ब्राह्मण विद्वान् पुरुषों की (जाया) शक्ति, विद्या मूर्खतावश कुण्ठित हो जाती है उस राष्ट्र के (अस्य) राजा का (श्वेतः) श्वेत (कृष्ण-कर्णः) श्यामकर्ण घोड़ा (धुरि युक्तः) अपने उचितस्थान पर नियुक्त होकर (न महीयते) महत्व को प्राप्त नहीं होता । अर्थात् उस राष्ट्र में श्यामकर्ण द्वारा अश्वमेध नहीं होता ।

नास्य क्षेत्रे पुष्करिणी नाण्डीकं जायते बिसम् ।
यस्मिन्० ॥ १६ ॥

भा०—जिस राष्ट्र में ब्रह्मजाया, ब्रह्म शक्ति ब्राह्मणों के विद्या बल को मूर्खतावश रोक दिया जाता है (अस्य क्षेत्रे) उस राष्ट्र के राजा के क्षेत्र में (पुष्करिणी) पुखरिनी, (आण्डीकं) बड़ा कमल और (बिसम्) भिस आदि कमलकन्द भी (न जायते) उत्पन्न नहीं होते । अर्थात् उस देश में राष्ट्र के शोभाजनक ताल सरोवर भी नहीं बनते ।

नास्मै पृश्निं वि दुहन्ति ये/स्या दोहमुपासते ।
यस्मिन् राष्ट्रे निरुध्यते ब्रह्मजाया चित्त्या ॥ १७ ॥

भा०—(यस्मिन् राष्ट्रे अचित्या ब्रह्म-जाया निरुध्यते) जिस राष्ट्र में मूर्खता वश विद्वान् ब्राह्मण, वेदज्ञों की विद्या-शक्ति रुक जाती है वहां (अस्मै) इस राष्ट्रपति राजा के राष्ट्र के अधिकारी और प्रजाजन (ये) जो (अस्याः) इस पृथिवीरूप धेनु के (दोहम्) सारवान् अन्न आदि पदार्थों को (उपासते) भोग करते हैं वे (अस्मै) फिर इस राजा के लिये (पृश्निं) इस नाना पदार्थदायी कामधेनु को (न वि दुहन्ति) नाना प्रकार से नहीं दोहते ।

नास्य धेनुः कल्याणी नानड्वान्त्सहते धुरम् ।
विजानिर्यत्र ब्राह्मणो रात्रिं वसति पापया ॥ १८ ॥

भा०—(यत्र) जहां (ब्राह्मणः) विद्वान्, वेदवेत्ता, ब्राह्मण लोग (वि-जानिः) अपनी भार्या के समान सब अर्थों की उत्पादक विद्यारूप शक्ति से रहित होकर (पापया) पापाचार बुद्धि से युक्त होकर (रात्रिं) समस्त

१७–(द्वि०) 'योऽस्या' इति क्वचित् ।
१८–(प्र०) 'न तत्र धेनुर्दोहिन' इति पैप्प० सं० ।

जीवन को रात के समान आलस्य, प्रमाद और निद्रा में (वसति) विताता है (अस्य) उस राष्ट्र की (धेनुः) गाय (कल्याणी न) सुखपूर्वक दूध देने वाली नहीं होती और (अनड्वान्) बैल भी (धुरम् न सहते) गाड़ियों में नहीं जुतते। अर्थात् विद्वानों के अभाव में न पशुओं की वृद्धि होती है, न गो-पालन होता है और न व्यापारार्थ बैल आदि का सत् उपयोग होता है।

[१८] ब्रह्म गवी का वर्णन।

मयोभूर्ऋषिः। ब्रह्मगवी देवता। १-३, ६, ७, १०, १२, १४, १५ अनुष्टुभः, ४, ५, ८, ९, १३ त्रिष्टुभः, ४ भुरिक्। पञ्चदशर्चं सूक्तम्॥

नैतां ते देवा अददुस्तुभ्यं नृपते अत्तवे।
मा ब्राह्मणस्य राजन्य गां जिघत्सो अनाद्याम्॥ १॥

भा०—विद्या, प्रजा, पृथ्वी और गौ ये सब ब्राह्मण, विद्वान् पुरुष की गौ है। उसका मारना, खा लेना आदि किसी को करना उचित नहीं, इसी विषय का इस सूक्त में उपदेश करते हैं—हे (नृपते) समस्त नरों, मनुष्यों के परिपालक राजन्! (ते देवाः) वे विद्वान् लोग (ते) तुझे राज्याभिषेक करते समय (एताम्) इस ब्राह्मण की गौ=पृथिवी और उस पर रहने वाली प्रजा और उनके गौ आदि पशु सब को (अत्तवे) खा डालने के लिये (न ददुः) नहीं देते हैं। हे (राजन्य) राजन्! (अनाद्याम्) न खाने योग्य (ब्राह्मणस्य गां) ब्राह्मण की गौ को (मा जिघत्सः) मत खा, मत मार। राजा लोक-प्रजा की रक्षा करे न कि उनका खून चूसे और न उनको मृगों को सिंह के समान मार कर खावे।

---

[१८] २-'पापात्ममपराजितः' इति पैप्प० सं०।

अक्षद्रुग्धो राजन्यः पाप आत्मपराजितः ।
स ब्राह्मणस्य गामद्यादद्य जीवानि मा श्वः ॥ २ ॥

भा०—जो राजा अपने विषय-सुखों के लिये प्रजा को कुर्बान कर देता है वह चिरकाल तक नहीं रहता। (अक्ष-द्रुग्धः) इन्द्रियों के लोभ के कारण प्रजा में नाना प्रकार के द्रोह उत्पन्न करने वाला, अथवा जूओं के कारण अपने बहुतसों का शत्रु बना हुआ (राजन्यः) राजा (आत्म-पराजितः) अपने ही व्यसनों से अपने आप पछाड़ खा कर (पापः) पापी होकर यदि (सः) वह (ब्राह्मणस्य) ब्राह्मण=वेदवेत्ता की (गाम्) गौ, भूमि, प्रजा तक को (अद्यात्) खा डाले, विनाश करे तो (अद्य जीवानि) वह यह भी समझले कि 'मैं आज भर ही जीता हूं (न श्वः) कल को मेरा जीवन नहीं है। अर्थात् अत्याचारी का राज एक पुश्त से दूसरी पुश्त तक नहीं जा सकता।

आविष्टिताघविषा पृदाकूरिव चर्मणा ।
सा ब्राह्मणस्य राजन्य तृष्टैषा गौरनाद्या ॥ ३ ॥

भा०—पूर्वोक्त ब्राह्मण को गौ के खाने का दुष्परिणाम बतलाते हैं—हे (राजन्य) राजन् ! (एषा) यह (ब्राह्मणस्य) ब्राह्मण की (गौः) गौ (अनाद्या) खाने योग्य नहीं, यह हजम नहीं होगी क्योंकि (सा) वह तो (तृष्टा) प्यासी, (पृदाकूः इव) नागिन के समान, (अघ-विषा) पाप मय विष से भरी (चर्मणा) कांचुली से (आविष्टिता) ढकी है, इस पर मुंह मत मार। अर्थात् ब्राह्मण प्रजा पर और ब्राह्मणों की सम्पत्ति और उनकी विद्या पर आघात मत कर।

निर्वै क्षत्रं नयति हन्ति वर्चोऽग्निरिवारब्धो वि दुनोति सर्वम् ।
यो ब्राह्मणं मन्यते अन्नमेव स विषस्य पिबति तैमातस्य ॥ ४ ॥

४-(द्वि०) 'आलब्धः पृतन्नतो राष्ट्रम्' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(यः) जो (ब्राह्मणं) ब्राह्मण या विद्वान् सदाचारी तपस्वी पुरुष को (अन्नम् एव मन्यते) दाल-भात का गस्सा समझ लेता है, (सः) वह (तैमातस्य) फनियर नाग के (विषस्य) विषकी घूंट (पिवति) पी लेता है । क्योंकि ब्राह्मण के ऊपर आघात करने से ब्रह्मतेज राजा को (वै) निश्चय से (क्षत्रं निः नयति) निर्वीर्य कर देता है, (वर्चः हन्ति) उसके तेज को नष्ट कर देता है, और (आ-रब्धः) राजा के पीछे लग जाय तो (अग्निः इव) आग के समान भड़क कर (सर्वम्) उसके सर्वस्व राज पाट को (विदुनोति) नाना प्रकार से नाश कर डालता है ।

य एनं हन्ति मृदुं मन्यमानो देवपीयुर्धनकामो न चित्तात् ।
सं तस्येन्द्रो हृदयेऽग्निमिन्ध उभे एनं द्विष्टो नभसी चरन्तम् ॥५॥

भा०—(यः) जो (एनं) इस ब्राह्मण को (मृदुम्) कोमल स्वभाव, निर्बल, दबने वाला (मन्यमानः) मान कर (धन-कामः) धन के लोभ से (देव-पीयुः) इस लोक के देव, विद्वान् ब्राह्मणों का विनाशक होकर (हन्ति) ब्राह्मण को कष्ट देता और उस को मारता है, और (न चित्तात्) नहीं चेतता, अपनी करतूत से बाज नहीं आता, (तस्य) उसके (हृदये) हृदय में (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् परमात्मा (अग्निम्) आग (इन्धे) सुलगा देता है । (उभे) वह सन्ताप और परमेश्वर (उभे) या दोनों राजा प्रजा (नभसि चरन्तम्) अपने ख़याल में, आकाश में निरालम्ब विचरते हुए, गर्वीले (एनं) उस को (द्विष्टः) द्वेष करने लगते हैं ।

न ब्राह्मणो हिंसितव्योऽग्निः प्रियतनोरिव ।
सोमो ह्यस्य दायाद इन्द्रो अस्याभिशस्तिपाः ॥ ६ ॥

५—(प्र०) 'य एनाम्' इति पैप्प० सं० ।
६—'अग्नेः प्रियातनूरिवेति' पेद० लक्ष० कामितः । अग्नेः प्रियतमा तनूः' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(प्रियतनोः अग्निः इव) अपने प्यारे शरीर के समान (ब्राह्मणः अग्निः) ब्राह्मण को जान कर (न हिंसितव्यः) उसका वध न करना चाहिये क्योंकि वह (अग्निः) अग्नि के समान है (सोमः) सब का प्रेरक, एवं सब के आल्हादकारी परमात्मा (अस्य दायादः) इसका मात्र बन्धु है और (इन्द्रः) वही परमेश्वर इसका (अभि-शास्तिपाः) चारों ओर से पड़ने वाले निन्दा, अपवाद एवं शस्त्र-आघातों से बचाने वाला है।

शतापाष्ठां नि गिरति तां न शक्नोति निःखिदन्।
अन्नं यो ब्रह्मणां मल्वः स्वाद्वद्मीति मन्यते ॥ ७ ॥

भा०—(यः) जो (मल्वः) मलिन हृदय वाला, नीच पुरुष, (ब्राह्मणाम्) ब्राह्मणों, वेदवेत्ताओं, ज्ञानी पुरुषों के (अन्नं) अन्न, जीवन, वृत्ति को (स्वादु अद्मि) खूब मजे में खा जाता हूं (इति) ऐसा (मन्यते) मानता है वह परिणाम में (शत-अपाष्ठाम्) सैकड़ों प्रकार की दुर्गति को (नि-गिरति) प्राप्त होता है और (निःखिदन् तां न शक्नोति) सब प्रकार से ताड़ित होकर उस को पार नहीं कर सकता।

जिह्वा ज्या भवति कुल्मलं वाङ्नाडीका दन्तास्तपसाभिदिग्धाः।
तेभिर्ब्रह्मा विध्यति देवपीयून् हृद्बलैर्धनुर्भिर्देवजूतैः ॥ ८ ॥

भा०—ब्राह्मण की शक्तियों का वर्णन करते हैं। ब्राह्मण की (जिह्वा) जीभ (ज्या भवति) धनुष की डोरी होजाती है। और (वाग्) वाणी, (कुल्मलं) धनुष का दण्ड होजाता है और (तपसा) तेज, और तपस्या से (अभि-दिग्धा) लिपे हुए, (दन्ताः) दांत (नाड़ीकाः) नालीक नाम के बाण, छूरें और तीरों के समान होजाते हैं। (ब्रह्मा) ब्रह्मवेद का ज्ञाता विद्वान् तपस्वी, पुरुष (तेभिः) उन (देवजूतैः) विद्वानों से या दिव्य-शक्तियों से युक्त, (हृद्बलैः) हृदय, मन की शक्ति से सम्पन्न (धनुर्भिः) ज्ञानमय

७–(द्वि०) 'निखिदन्' इति क्वचित्।

धनुषों, अस्त्रों से (देव-पीयून) विद्वानों के शत्रुओं को (विध्यति) प्रहार करता है ।

तीक्ष्णेषवो ब्राह्मणा हेतिमन्तो यामस्यन्ति शरव्यां३ न सा मृषा ।
अनुहाय तपसा मन्युना चोत दूरादव भिन्दन्त्येनम् ॥ ९ ॥

भा०—(ब्राह्मणाः) ब्रह्मवेत्ता, विद्वान्, ब्राह्मण लोग (तीक्ष्ण-इषवः) तीक्ष्ण बाणों से युक्त, एवं तीक्ष्ण इच्छा शक्ति से सम्पन्न और (हेति-मन्तः) अस्त्रों से युक्त होकर (यां शरव्याम्) जिस बाणधारा को (अस्यन्ति) फेंकते हैं (सा) वह (न मृषा) असत्य नहीं है । वे (तपसा) तप और (मन्युना) क्रोध या ज्ञान से (अनु-हाय) शत्रु का पीछा कर के (एवं) इस को (दूरात्) दूर से ही (भिन्दन्ति) भेद डालते हैं ।

ये सहस्रमराजन्नासन् दशशता उत ।
ते ब्राह्मणस्य गां जग्ध्वा वैतहव्याः पराभवन् ॥ १० ॥

भा०—(ये) जो (वैत-हव्याः) दान योग्य हवि पदार्थों को स्वयं खा जाने वाले पुरुष पहले (सहस्रम्) सहस्रों प्रकार के बलों से (अराजन्) वैभव को प्राप्त कर लेते हैं (उत) और चाहे (दश-शताः आसन्) वे दसों, सैकड़ों, हज़ारों भी क्यों न हों तो भी (ते) वे (ब्राह्मणस्य गां) ब्राह्मण की गौ, भूमि, सम्पत्ति, विद्या, देह-वृत्ति आदि को (जग्ध्वा) खाकर, हड़प कर (परा अभवन्) पराजय को ही प्राप्त हो जाते हैं ।

गौरेव तान् हन्यमाना वैतहव्याँ अवातिरत् ।
ये केसरप्रावन्धायाश्चरमाजामपेचिरन् ॥ ११ ॥

९–‘ भिन्दन्ति ते तया ’ इति पैप्प० सं० ।

१०–‘ तेभ्यः प्र ब्रवीमि त्वा ’ इति पैप्प० सं० ।

भा०—(तान् वैत-हव्यान्) उन दान योग्य पदार्थों के स्वयं भोक्ता, असुर लोगों को वह ब्राह्मण की गौ ही (हन्यमाना) मारी जा कर, (अव तिरत्) विनाश कर डालती है क्योंकि (ये) जो वे, (केसरं-प्राबन्धायाः[1]) केसर-प्राबन्धा, मोक्षाभिलाषिणी चिति शक्ति की (चरम-अजाम्) अन्तिम अजा, अमर आत्म शक्ति को भी (अपेचिरन्) विनाश कर डालते हैं ।

एकशतं ता जनता या भूमिर्व्यधूनुत ।
प्रजां हिंसित्वा ब्राह्मणीमसंभव्यं पराभवन् ॥ १२ ॥

भा०—ब्राह्मण की गौ का स्वरूप बतलाते हैं—(ताः जनताः) वे लोग राष्ट्र के कलंकरूप (एक-शतं) एक सौ एक हैं (याः) जिनको (*भूमिः*) *माता भूमि उन्हें स्वयं धुन देती है, कंपा देती है।* जो (*ब्राह्मणीम्*) विद्वान् ब्राह्मणों की (प्रजां) प्रजा, सन्तति को (हिंसित्वा) मार कर (असम्-भव्यम्) आशातीत रूप से, विना सम्भावना के ही (परा-भवन्) विनाश को प्राप्त होते हैं ।

देवपीयुश्चरति मर्त्येषु गरगीर्णो भवत्यस्थिभूयान् ।
यो ब्राह्मणं देवबन्धुं हिनस्ति न स पितृयाणमप्येति लोकम् ॥१३॥

भा०—(देव-पीयुः) विद्वान् पुरुषों को सताने वाला पुरुष (मर्त्येषु) मनुष्यों के बीच में (गर-गीर्णः चरति) मानो जहर पिये घूमता है ।

१. केसरप्राबन्धा=के मोक्षसुखे, प्रजापतौ ब्रह्मणि सरः गमनं तत्र प्रबन्धः प्रकृष्ट आग्रहो यस्याः सा केसरप्राबन्धा मोक्षाभिलाषिणी चितिशक्तिः तस्या या चरमा अन्तिमा व्यापिनी वा अजा, न जायते इत्यजा । अमृता उत्पादविनाशरहिता या आत्मशक्तिः तामपि ते वैतहव्याः 'अपेचिरन्' विषयाग्नौ अपाचयन् ।

१२–'एकशतं वै,' 'भूमिर्या' इति पैप्प० सं० ।

१३–(च०) 'सस्थपितृणामप्येतुलोकम्' इति पैप्प० सं० ।

(अस्थिभूयान् भवति) केवल बड़े २ हाड़ उठाये रहता है । (यः) जो (देवबन्धुम्) देव,-विद्वान् और ईश्वर की दिव्य शक्तियों या ईश्वर को मात्र बन्धु मानने वाले (ब्राह्मणम्) ब्रह्मज्ञ, ब्राह्मण को (हिनस्ति) पीड़ा देता है (सः) वह (पितृयाणम् लोकम् अपि) पितृयाण लोक को भी (न एति) प्राप्त नहीं होता । दो यान हैं देवयान और पितृयाण ।

अ॒ग्निर्वै नः॑ पद॒वायः॒ सोमो॑ दाया॒द उ॑च्यते ।
ह॒न्ताभिश॒स्तेन्द्र॒स्तथा॒ तद् वे॒धसो॑ वि॒दुः ॥ १४ ॥

भा०—(अग्निः) अग्नि=ज्ञानवान् ही (नः) हमारा (पद-वायः) मार्गदर्शक है । (सोमः) सोम=शान्तिदायक एवं शुभ मार्ग में प्रेरक ही हमारा (दायादः) समस्त धनों का दाता स्वामी, (उच्यते) कहा जाता है । (इन्द्रः) वह बलशाली, परमैश्वर्यवान् प्रभु (अभिशस्ता हन्ता) आक्षेपों और शस्त्र-प्रहारों से सताने वाले पुरुषों का विनाशक है । (तथा) इसी प्रकार से (वेधसः) विद्वान् लोग (तद्) उस पर-ब्रह्म के विषय में (विदुः) जानते हैं ।

इषु॑रिव दि॒ग्धा नृ॑पते पृदा॒कूरि॑व गोपते ।
सा ब्रा॑ह्म॒णस्येषु॒र्घोरा तया॑ विध्यति॒ पीय॑तः ॥ १५ ॥

भा०—हे (नृपते) राजन् ! (ब्राह्मणस्य) ब्राह्मण की (सा) वह (घोरा) घोर, भयानक (इषुः) मनःकामना रूप बाण है जो (दिग्धा इषुः,-इव) विष में बुझे तीर और (पृदाकूः,-इव) नागिन के समान है । हे (गोपते !) गो, वाणी, वेद, भूमि के प्रतिपालक राजन् ! ब्राह्मण

१४–(तृ० च०) 'जयताभिशस्त इन्द्रस्तत् सत्यं देवसंहितम्' इति पैप्प० सं० । 'अभिशस्तम्' इति निम्मरकामितः ।

१५–' पुदिग्धा ' इति पैप्प० सं० ।

(पीयतः) अपने शत्रु हिंसकों को (तया विध्यति) उस घोर बाण से निशाना करता और वेधता है ।

[१९] ब्रह्मगवी का वर्णन ।

मयाभूर्ऋषिः । ब्रह्मगवी देवता । २ विराट् पुरस्ताद् बृहती, ७ उपरिष्टाद् बृहती, १-३-६, ७-१५ अनुष्टुभः । पञ्चदशर्चं सूक्तम् ॥

अतिमात्रमवर्धन्त नोदिव दिवमस्पृशन् ।
भृगुं हिंसित्वा सृञ्जया वैतहव्याः पराभवन् ॥ १ ॥

भा०—ब्राह्मणों को मारने उनको कष्ट पहुंचाने के बुरे परिणामों का निर्देश करते हैं । (सृञ्जयाः) प्रसरणशील, इन्द्रियों को विजय करने वाले, जितेन्द्रिय (वैत-हव्याः) दान योग्य पदार्थों को भी स्वयं खा जाने वाले असुर लोग (न उत् इव) न केवल (अति-मात्रम्) बहुत अधिक (अवर्धन्त) बलशाली, उन्नत हो जाते हैं । प्रत्युत (दिवम्) स्वर्ग-लोक को भी (अस्पृशन्) छू लेते हैं, इतने पर भी वे (भृगुं) समस्त पापों के भून डालने वाले अग्नि-स्वरूप ब्राह्मण को (हिंसित्वा) विनाश करके (परा अभवन्) पराजय को ही प्राप्त हो जाते हैं ।

ये बृहत्सामानमाङ्गिरसमार्पयन् ब्राह्मणं जनाः ।
पेत्वस्तेषामुभयादमविस्तोकान्यावयत् ॥ २ ॥

भा०—(ये जनाः) जो पुरुष (आङ्गिरसम्) अङ्गों में रस के समान बहने वाले, प्राण के समान या प्रज्वलित अंगारों के समान, तेजस्वी, राष्ट्र

[१९] १–' भृगुं हिंसित्वा ब्राह्मणीम् सम्भाव्यं पराभवन् ' इति पैप्प० सं० ।
२–(तृ०) ' उभयादन् ' इति ह्विटनिकामितः । अस्पष्टः पैप्पलादपाठः ।

के विद्वान्, (बृहत्-सामानम्) बड़े विशाल, आदित्य ब्रह्मचारी (ब्राह्मणं) ब्राह्मण को (आर्पयन्) विनाश करते हैं (तेषां) उनके (तोकानि) अगली सन्तानों को (अविः) वही सर्वरक्षक (पेत्वः) परिपालक प्रभु ही (उभयादम्) अपने दोनों जबाड़ों के बीच में (आवयत्) चबा डालता है। परमात्मा को दोनों जबाड़े द्यौ और पृथ्वी हैं। इन दोनों तरफ़ से उन दुष्ट पुरुषों पर नाना आपत्तियां पड़ती हैं और वे नष्ट हो जाते हैं।

ये ब्राह्मणं प्रत्यष्ठीवन् ये वास्मिञ्छुल्कमीषिरे ।
अस्नस्ते मध्ये कुल्यायाः केशान् खादन्त आसते ॥ ३ ॥

भा०—(ये) जो पुरुष (ब्राह्मणम्) ब्राह्मण की ओर (प्रति अष्ठीवन्) घृणा से थूकते और उसका अपमान करते हैं और (ये वा) जो लोग (अस्मिन्) इस वेदवित् ब्राह्मण पर (शुल्कम् ईषिरे) किसी प्रकार का कर बैठाते हैं (ते) वे गर्वी और लोभी पुरुष (अस्नः) रुधिर की (कुल्यायाः) धारा के (मध्ये) बीच में (केशान्[1] खादन्तः) क्लेशों को भोगते (आसते) रहते हैं। अर्थात् ब्राह्मण का अपमान करके वे परस्पर की लड़ाइयों से एक दूसरों का गला काटते रहते हैं और नाना क्लेश भोगते हैं।

ब्रह्मगवी पच्यमाना यावत् साभि विजङ्गहे ।
तेजो राष्ट्रस्य निर्हन्ति न वीरो जायते वृषा ॥ ४ ॥

भा०—(सा) वह (ब्रह्मगवी) ब्रह्मशक्ति, विद्या और ब्राह्मणों की वाणी या ब्राह्मणरूप स्वयं गौ (पच्यमाना) दुःख पाती हुई (यावत्) जब

३–(द्वि०) 'अस्मै' (च०) 'भासते' इति पैप्प० सं० ।

१. क्लिशेरन्लो लोपश्च केशः । उ० पा० ५ । ३३ ॥ क्लिश्यते येन सकेशः । इति दया० उ० ॥

४–(च०) 'न वीरो जायते पुमान्' इति पैप्प० सं० ।

तक (अभि वि-जंगहे) तड़फती रहती है तब तक वह (राष्ट्रस्य तेजः) राजा के राष्ट्र के तेज को (निर्हन्ति) समूल नाश किया करती है यहांतक कि (वीरः वृषा न जायते) वीर, धार्मिक पुष्ट पुरुष उस राष्ट्र में उत्पन्न होना बन्द हो जाता है राष्ट्र में सच्चे धार्मिक उत्पन्न नहीं होते ।

क्रूरमस्या आशसनं तृष्टं पिशितमस्यते ।
क्षीरं यदस्याः पीयते तद् वै पितृषु किल्बिषम् ॥ ५ ॥

भा०—(अस्याः) इस ब्रह्म-गौ का (आशसनम्) मारना भी (क्रूरं) बड़ा क्रूरता का कार्य है । उसका (पिशितम्) मांस भी (तृष्टं अस्यते=अश्यते) खूब प्यास लगाने वाला होकर भी पेट में डाल लिया जाता है । और (यद्) जो (अस्याः) इस प्रकार पीड़ित हुई गौ का (क्षीरं पीयते) दूध पिया भी जाता है वह (पितृषु) राष्ट्र के पालक शासकों के लिये (किल्बिषम्) भारी पापजनक होता है । अर्थात् ब्राह्मण की भूमि और सम्पत्ति का छीनना बड़ी क्रूरता का कार्य है उसकी उपज लेना केवल लोभ तृष्णा का जनक है, और उससे जो कुछ कर आदि सार पदार्थ ले भी लिया जाता है वह अधिकारियों के लिये पापजनक है ।

उग्रो राजा मन्यमानो ब्राह्मणं यो जिघत्सति ।
परा तत् सिच्यते राष्ट्रं ब्राह्मणो यत्र जीयते ॥ ६ ॥

भा०—(यः) जो (उग्रः राजा) बलशाली राजा (मन्यमानः) अभिमानी होकर (ब्राह्मणं) वेदवित्, विद्वान् ब्राह्मण को (जिघत्सति) खा जाना चाहता है-हड़प जाना चाहता है (तत्) उसका राष्ट्र (परा सिच्यते) सम्पत्ति से शून्य हो जाता है, इसी प्रकार (यत्र) जहां (ब्राह्मणः

५–(द्वि०) ' अश्यते ' इति ह्विटनिजिम्मरकामितः ।
६–' यज्जिघत्सति ' इति प्रामादिकः क्वचित् पाठः ।

जीयते) ब्राह्मण कष्ट को प्राप्त होता है वह राष्ट्र भी (परा सिच्यते) शत्रु से पराजित होता और निर्धन हो जाता है । उसको शत्रु गण लूट ले जाते हैं ।

अष्टापदी चतुरक्षी चतुःश्रोत्रा चतुर्हनुः ।
द्व्यास्या द्विजिह्वा भूत्वा सा राष्ट्रमवं धूनुते ब्रह्मज्यस्य ॥७॥

भा०—प्रकुपित ब्राह्मणरूप गौ का स्वरूप दर्शाते हैं । (सा) वह ब्राह्मणरूप गौ (अष्टा-पदी) आठ पैरों, (चतुरक्षी) चार आंखों और (चतुः श्रोत्रा) चार कानों और (चतुर्हनुः) चार दाढ़ों, (द्व्यास्या) दो मुहों और (द्विजिह्वा) दो जीभों वाली (भूत्वा) होकर (ब्रह्मज्यस्य) ब्रह्मज्य=ब्राह्मण के विनाशकारी राजा के (राष्ट्रं) राष्ट्र को (अवधूनुते) धुन डालती है । आठ अमात्य उसके पैर हैं, चार वर्ण उसके चार आंख, चार आश्रम उसके कान हैं, चारों प्रकार की सेना चार हनु हैं, भीतरी और बाह्य शत्रु दो मुख हैं. उभयपक्ष के दूत उसकी दो जिह्वाएं हैं । वे सब उस राष्ट्र को नष्ट कर देते हैं ।

तद् वै राष्ट्रमा स्रवति नावं भिन्नामिवोदकम् ।
ब्रह्माणं यत्र हिंसन्ति तद् राष्ट्रं हन्ति दुच्छुना ॥ ८ ॥

भा०—(यत्र) जिस राष्ट्र में (ब्राह्मणं) विद्वान् ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण को (हिंसन्ति) विनाश करते हैं (तद् राष्ट्रं) उस राष्ट्र को (दुच्छुना) दुष्ट विपत्ति, आधि व्याधि (हन्ति) विनाश कर डालती है और (भिन्नां इव नावम्) जिस प्रकार टूटी फूटी नाव में (उदकं आ स्रवति) पानी तह

७—' द्विजिह्वा द्विप्राणा भूत्वा ' इति पैप्प० सं० ।

८—(द्वि०) ' भिन्नां नावमि- ' (तृ०) ' ब्राह्मणो यत्र जीयते ' इति पैप्प० सं० ।

फोड़ कर भीतर आ जाता है उसी प्रकार (तद् राष्ट्रं) उस राष्ट्र को फोड़ कर शत्रु भी भीतर आ घुसता है और नाश कर डालता है।

तं वृक्षा अप सेधन्ति छायां नो मोपंगा इति।
यो ब्राह्मणस्य सद्धनमभि नारद मन्यते ॥ ९ ॥

भा०—हे (नारद) मनुष्यों को आश्रय देने हारे पालक ! राजन् ! (यः) जो (ब्राह्मणस्य) विद्वान् ब्राह्मण के (सत् धनम्) सत् धन और विद्या और तप को (अभि मन्यते) हथियाना चाहता है (वृक्षाः) वृक्ष या क्षत्रियगण भी (तम् अप सेधन्ति) उसको दुरदुरा देते हैं कि (नः) हमारी (छायां) छाया, शरण में भी (मा उपगाः इति) तू मत आ।

विषमेतद् देवकृतं राजा वरुणोब्रवीत्।
न ब्राह्मणस्य गां जग्ध्वा राष्ट्रे जागार कश्चन ॥ १० ॥

भा०—(वरुणः) सब से श्रेष्ठ (राजा) राजा (अब्रवीत्) यह उपदेश करता है कि (एतद्) यह ब्राह्मण का धन (देव-कृतं) विद्वानों के निर्णय के अनुसार (विषम्) विष ही है। (ब्राह्मणस्य) इसलिये ब्राह्मण की (गां) सम्पत्ति, भूमि, गौ, धन, वृत्ति आदि को (जग्ध्वा) हड़प कर (कः-चन) कोई भी (राष्ट्रे) राष्ट्र में (न जागार) कोई जीवित जागृत नहीं रह सकता है। 'न विषं विषमित्याहुर्ब्रह्मस्वं विषमुच्यते।' विष विष नहीं, ब्राह्मण का धन विष है। इसको खाकर कोई जी नहीं सकता।

नवैव ता नवतयो या भूमिर्व्यधूनुत।
प्रजां हिंसित्वा ब्राह्मणीमसंभव्यं पराभवन् ॥ ११ ॥

अथर्व० ५ । १८ । १२ ॥

९–(तृ०) 'तद्धनम्' इति पाठाभिलाषा निराधारा केषांचित्।
१०–'गां दग्ध्वा राष्ट्रे जागर' इति पैप्प० सं०।

भा०—(नव नवतयः) ६६ निन्यानवें वे पापी पुरुष हैं (याः) जिनको (भूमिः) भूमि स्वयं (वि-अधूनुत) विनाश कर डालती है । वे सब (ब्राह्मणीम्) ब्राह्मण की (प्रजां) प्रजा को (हिंसित्वा) विनाश करके (असम्-भव्यं) बुरी तरह से (परा अभवन्) पराजित होते हैं ।

यां मृतायांनुबध्नन्ति कूद्यं पदयोपंनीम् ।
तद् वै ब्रह्मज्य ते देवा उपुस्तरंणमब्रुवन् ॥ १२ ॥

भा०—(यां) जिस (पदयोपनीं) पैरों को मिटा देने वाली (कूद्यं) झाड़ू या कांटेदार झाड़ी को (मृताय) मरे हुए शव को (अनुबध्नन्ति) बांधते हैं । हे ब्रह्मज्य ! ब्राह्मण के नाशक ब्रह्मशत्रो ! (देवाः) विद्वान् लोग (तद् वै) उन कांटों वाली डाल को ही (ते उप-स्तरणम्) तेरा सेज बनाने का (अब्रुवन्) उपदेश करते हैं ।

अश्रूणि कृपंमाणस्य यानिं जीतस्यं वावृतुः ।
तं वै ब्रह्मज्य ते देवा अपां भागमंधारयन् ॥ १३ ॥

भा०—हे ब्रह्मज्य ! ब्राह्मण के नाश करने वाले ! (यानि) जो (अश्रूणि) आंसू (कृपमाणस्य) कलपते हुए (जीतस्य) दुःखित पुरुष के (वावृतुः) निकलते हैं (देवाः) विद्वान् लोग (तं वै) उसको (ते अपां भागम् अधारयन्) तेरा जलों का हिस्सा बतलाते हैं । ब्रह्मघाती पुरुष को कलपते, रोते लोगों के आंसु ही पीने को मिलते हैं, सुख नहीं ।

येनं मृतं स्नपयन्ति श्मश्रूणि येनोन्दतें ।
तं वै ब्रह्मज्य ते देवा अपां भागमंधारयन् ॥ १४ ॥

भा०—(येन) जिससे (मृतं स्नपयन्ति) मरे मुर्दे को निहलाते हैं और (येन) जिससे मुर्दे की मोंछ दाढ़ी के बाल (उन्दते) गीले किये जाते हैं । हे (ब्रह्मज्य) ब्रह्मघातिन् ! (देवाः) देव विद्वान् लोग (तं)

उस जल को (ते अपां भागं) तेरे लिये जल का भाग (अधारयन्) बतलाते हैं । अर्थात् ब्रह्मघाती को वह पानी दिया जाय जिससे मुर्दा निहलाया जाय और उसके बाल मूंडे जांय ।

न वर्षं मैत्रावरुणं ब्रह्मज्यमभि वर्षति ।
नास्मै समितिः कल्पते न मित्रं नयते वशम् ॥ १५ ॥

भा०—(ब्रह्मज्यं) ब्रह्म हत्यारे के राष्ट्र में (मैत्रावरुणं वर्षं) मित्र और वरुण सूर्य और समुद्र से उठने वाली वर्षाएं (न अभि वर्षति) नहीं बरसतीं । (अस्मै) इस ब्रह्म-द्रोही की (समितिः) राज-सभा भी (न) नहीं (कल्पते) बनती । और (मित्रं) मित्र भी (वशं) उसकी इच्छा के अनुकूल (न नयते) कार्य नहीं करते । अर्थात् ब्रह्म-घाती के फसल नहीं होती, राज-सभा टूट जाती है और मित्र फूट जाते हैं ।

[२०] दुन्दुभि या युद्धवीर राजा का वर्णन ।

ब्रह्मा ऋषिः । वानस्पत्यो दुन्दुभिर्देवता । सपत्नसेनापराजयाय, देवसेनाविजयाय च दुन्दुभिस्तुतिः । १ जगती, २-१२ त्रिष्टुभः । द्वादशर्चं सूक्तम् ॥

उच्चैर्घोषो दुन्दुभिः सत्वनायन् वानस्पत्यः संभृत उस्रियाभिः ।
वाचं क्षुणुवानो दमयन्त्सपत्नान्त्सिंह इव जेष्यन्नभि तंस्तनीहि ॥ १ ॥

भा०—नगारे के दृष्टान्त से राजा को विजय करने का उपदेश करते हैं । जिस प्रकार (वानस्पत्यः) वनस्पति काठ का बना हुआ (उच्चैर्घोषः) ऊंचे २ आवाज़ वाला (उस्रियाभिः संभृतः) गाय के चमड़ों से मढ़ा हुआ (दुन्दुभिः) बड़ा नगारा (सत्वना-यन्) बलवान् , शूरवीर के समान गर्जता है और शत्रुओं के दिल दहलाता है, उसी प्रकार हे राजन् ! तू (वानस्पत्यः)

१५–' ब्राह्मज्यामभि ' इति पैप्प० सं० ।

वन=सेवन करनेहारी प्रजाओं के पालकों में से सेनापति पद पर प्राप्त होकर तू (उस्त्रियाभिः) वास करने वाली प्रजाओं से कर आदि द्वारा (संभृतः) परिपुष्ट होकर नगारे के समान (उच्चैः घोषः) ऊंचे २ विजय की घोषणा करता हुआ, (सत्वना-यन्) बलवान शूर-वीर के समान, (वाचं चुणुवानः) अपनी आज्ञाएं देता हुआ, और (स-पत्नान् दमयन्) शत्रुओं को दमन करता हुआ (सिंह-इव) शेर के समान (जेष्यन्) विजय चाहता हुआ (अभितः स्तनीहि) खूब घोर गर्जना कर।

सिंह इवास्तानीद् द्रुवयो विबद्धोभिक्रन्दन्नृषभो वासितामिव।
वृषा त्वं वध्रयस्ते सपत्ना ऐन्द्रस्ते शुष्मो अभिमातिषाहः ॥ २ ॥

भा०—हे दुन्दुभे! नगारे! तू (द्रुवयः) काष्ठमय होकर एवं (वि-बद्धः) विविध प्रकार से बंध कर भी (सिंह इव अस्तानीद्) शेर के समान गर्जना करता है, हे राजन् उसी प्रकार तू भी हथियारों से बंध कर शीघ्र (द्रुवयः) वेगवान् होकर सिंह के समान गर्जना कर। जिस प्रकार (वासिताम्) रजो गन्ध से युक्त गौ पर (वृषभ इव) वीर्य सेचन में समर्थ निर्भीक सांड (अभिक्रन्दन्) गहराता हुआ जाता है उसी प्रकार गर्जता हुआ ही (त्वं) तू (वृषाः) बलवान्, सर्वश्रेष्ठ है। (ते सपत्नाः) तेरे सपत्न शत्रुगण तेरे सामने (वध्रयः) वधिया बैलों के समान निर्वीर्य, नपुंसक हैं, (ते शुष्मः) तेरा बल, पराक्रम (अभिमातिषाहः) अभिमान से सिर उठाने वाले शत्रुओं को पराजय करने वाला (ऐन्द्रः) साक्षात् इन्द्र परमेश्वर का या राजा का ही दिया हुआ है।

वृषेव यूथे सहसा विदानो गव्यन्नभि रुव सन्धनाजित्।
शुचा विध्य हृदयं परेषां हित्वा ग्रामान् प्रच्युता यन्तु शत्रवः ॥३॥

[२०] २-(प्र०) 'सिंहवास्तानि भुवया' (च०) 'शुषताभि' इति पैप्प० सं०।
३-(प्र०) 'वृषं सहस', (च०) 'विद्धि' इति पैप्प० सं०।

भा०—नगारा बजाने का प्रयोजन दर्शाते हुए क्षत्रिय के कर्त्तव्य का उपदेश करते हैं। हे नगारे! तू गहराते हुए सांड के समान घोर भयंकर शब्द कर और शत्रुओं के हृदय को बेध डाल, जिससे कि शत्रुगण अपने गांव छोड़ २ कर भाग जांय। उसी प्रकार हे शूरवीर तू (यूथे वृषा इव) गौओं के रेवड़े में बड़े सांड के समान (गव्यन्) गौओं की कामना करता हुआ (सहसा) अपने बल से गहराता है उसी प्रकार तू शूरवीर (संधनाजित्) समस्त धनों को विजय करके (सहसा) अपने प्रबल आघातकारी बल से (विदानः) विजय लक्ष्मी को प्राप्त करता हुआ (अभि रुव) सब तरफ़ गर्जना कर और (परेषां हृदयम्) शत्रुओं के हृदयों को (शुचा) शोक से बेध डाल जिससे (शत्रवः) शत्रु-गण (प्रच्युताः) अपने राज्य सिंहासन से भ्रष्ट होकर (ग्रामान्) अपने ग्रामों को (हित्वा) छोड़ कर (यन्तु) चले जावें।

संजयन् पृतना ऊर्ध्वमायुर्गृह्या गृह्णानो बहुधा वि चक्ष्व।
दैवीं वाचं दुन्दुभ आ गुरस्व वेधाः शत्रूणामुप भरस्व वेदः ॥ ४ ॥

भा०—हे (दुन्दुभे) नक्कारे! उसके समान गर्जना करने वाले राजन्! तू (दैवीं वाचं) देवों की वाणी को (आ गुरस्व) सब तरफ़ आघोषित कर और तू (वेधाः) सब कार्यों को स्वयं करने हारा होकर (शत्रूणाम्) शत्रुओं का (वेदः) धन (उपभरस्व) हमारे समीप ले आ। और तू (ऊर्ध्व-मायुः) उच्च नाद करता हुआ (पृतनाः सं-जयन्) शत्रु सेनाओं का विजय करता हुआ (गृह्या गृह्णानः) ग्रहण करने योग्य सब पदार्थों को ग्रहण करता हुआ (बहुधा वि-चक्ष्व) नाना प्रकार से सब का निरीक्षण कर।

४–(तृ०) 'वेधाः' शब्दो व्यर्थः इति ह्विट्निः।

दुन्दुभेर्वाचं प्रयतां वदन्तीमाशृण्वती नाथिता घोषबुद्धा।
नारी पुत्रं धावतु हस्तगृह्यामित्री भीता समरे वधानाम् ॥ ५ ॥

भा०—विजय-दुन्दुभि का क्या प्रभाव है सो बतलाते हैं। हे राजन् ! (दुन्दुभे) विजय घोषणा करने वाली दुन्दुभि की एवं विजयी राजा की, (प्र-यताम्) आगे बढ़ने वाले सेनापतियों को (वदन्तीं) आज्ञा करने वाली, या लड़ाई में उत्साह बचन बोलती हुई (वाचं) वाणी को (आ शृण्वती) सुनती हुई (घोष-बुद्धा) विजय दुन्दुभि के विजय घोष से जग कर (नाथिता) घबराहट और विपत्ति में पड़ी (अमित्री नारी) शत्रुओं की स्त्री (पुत्रं) अपने पुत्र को (हस्त-गृह्य) हाथ में पकड़ कर (समरे वधानाम् भीता) युद्ध काल में होने वाले शस्त्र प्रहारों से भयभीत होकर (धावतु) दौड़े।

पूर्वो दुन्दुभे प्र वदासि वाचं भूम्याः पृष्ठे वद रोचमानः।
अमित्रसेनामभिजञ्जभानो द्युमद् वद दुन्दुभे सूनृतावत् ॥ ६ ॥

भा०—हे (दुन्दुभे) विजय के नक्कारे ! (पूर्वः) तू सब युद्ध से पूर्व बजाया जाता है, तू (भूम्याः पृष्ठे) भूमि की पीठ पर (वाचं) वाणी (प्रवदासि) बोलता है, आज्ञाएं देता है। तू (रोचमानः) अति शोभायमान होकर (वद) आज्ञा दे। और हे दुन्दुभे ! तू अपने विजय-घोष से (अमित्र-सेनाम्) शत्रु की सेना को (अभि-जञ्जभानः) तोड़ता फोड़ता हुआ, (द्युमत्) चमत्कारकारी, (सूनृता-वत्) मनोहर वाणियों से युक्त संदेश को (वद) बतला।

६—'पूर्वो दुन्दुभे विषहस्व शत्रून्', 'भूम्याः पृष्ठे वद बहुरोचमानः' इति पैप्प० सं०।

अन्तरेमे नभसी घोषो अस्तु पृथक् ते ध्वनयो यन्तु शीभम् ।
अभि क्रन्द स्तनयोत्पिपानः श्लोककृन्मित्र तूर्याय स्वर्धी ॥ ७ ॥

भा०—हे दुन्दुभे ! विजय के नक्कारे ! (इमे नभसी अन्तः) इन दोनों द्यौ और पृथिवी, ज़मीन और आस्मान के बीच में (ते घोषः अस्तु) तेरा विजय-घोष हो । (ते ध्वनयः) तेरी आवाजें (पृथक्) अलग २ नाना दिशाओं में (शीभम् यन्तु) शीघ्रता से फैल जावें, तू (उत्पिपानः) बढ़ २ कर (श्लोककृत्) यश को बढ़ाने वाला (मित्र तूर्याय) अपने मित्र राजाओं की भेरी के लिये (स्वर्धी) उत्तम रीति से सुसम्पन्न होकर (स्तनय) गर्जना कर और (अभिक्रन्द) खूब आवाज कर ।

धीभिः कृतः प्र वदाति वाचमुद्धर्षय सत्वनामायुधानि ।
इन्द्रमेदी सत्वनो नि ह्वयस्व मित्रैरमित्राँ अव जङ्घनीहि ॥ ८ ॥

भा०—(धीभिः) धारणामयी बुद्धियों या धारण शक्तियों से (कृतः) सुसम्पादित होकर (वाचम् प्र वदाति) उत्तम २ वाणियों और आज्ञाओं का प्रदान करता है । तू (सत्वनाम्) सत्वशील बलवान् सात्विक पुरुषों के (आयुधानि) हथियारों को (उद्-हर्षय) हर्षित कर, उनमें जान फूंक दें । और तू (इन्द्र-मेदी) राजा के स्नेही होकर (सत्वनः) वीरों को (निह्वयस्व) युद्ध में आ जुटने के लिये निमन्त्रण दे, और (मित्रैः) अपने मित्र राजाओं से (अमित्रान्) शत्रुओं को (अव जंघनीहि) विनाश कर डाल ।

संक्रन्दनः प्रवदो धृष्णुषेणः प्रवेदकृद् बहुधा ग्रामघोषी ।
श्रेयोवन्वानो वयुनानि विद्वान् कीर्तिं बहुभ्यो वि हर द्विराजे ॥९॥

७–(च०) ' तुर्याय श्रद्धी ' इति पैप्प० सं० ।

८–(प्र०) ' वदासि ' इति ह्विटनिकामितः । 'प्रघरस्व' इति पैप्प० सं० ।

९–(प्र०) 'सं क्रन्दनः प्रस्रवेण' (च०) ' विभजद्विराजे ' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(सं-क्रन्दनः) गर्जता हुआ, (प्र-वदः) उत्कृष्ट आज्ञाएं बोलता हुआ, (धृष्णु-सेनः) शत्रु का धर्षण करने वाली सेना को साथ लिये, (प्रवेद-कृद्) उत्तम ज्ञान और धनों को प्राप्त करता हुआ (बहुधा) बहुत से प्रकारों में (ग्राम-घोषी) ग्रामों में अपने नाद की घोषणा करता है । तू (वयुनानि) नाना कर्मों और ज्ञानों को स्वयं (विद्वान्) जानता हुआ, (श्रेयः वन्वानः) अति श्रेष्ठ फल प्राप्त करता हुआ, (द्वि-राजे) दो राजाओं के संग्राम में (बहुभ्यः) बहुत से वीरों को (कीर्तिं वि हर) नाना प्रकार से कीर्ति प्राप्त कर ।

श्रेयःकेतो वसुजित् सहीयान्त्संग्रामजित् संशितो ब्रह्मणासि ।
अंशूनिव ग्रावाधिषवणे अद्रिर्गव्यन् दुन्दुभेऽधि नृत्य वेदः ॥ १० ॥

भा०—(श्रेयः-केतः) श्रेय, अति श्रेष्ठ पद का ज्ञान कराने वाला, (वसु-जित्) राष्ट्रों और धनों और जनों का विजय करने वाला, (सहीयान्) शत्रुओं का वशकारी होने के कारण (संग्राम-जित्) संग्राम विजयी होता हुआ भी तू (ब्रह्मणा) ब्रह्म, वेद और वेद के विद्वान् द्वारा (संशितः असि) अपनी शक्ति में बड़ा तीक्ष्ण है । (ग्रावा) प्रस्तर, लोढा, जिस प्रकार (अधि-सवने) शिला पर (अंशून्) सोमलता के खण्डों को स्वयं (अद्रिः) बिना टूटे कुचल डालता है उसी प्रकार हे (दुन्दुभे) नक्कारे ! या उसके समान गर्जने वाले राजन् ! तू (गव्यन्) विजय करता हुआ, (वेदः) धन पर (अधि नृत्य) वश कर, हमें प्राप्त करा ।

शत्रूषाण्नीषाडभिमातिषाहो गवेषणः सहमान उद्भित् ।
वाग्वीव मन्त्रं प्र भरस्व वाचं सांग्रामजित्यायेषमुद् वदेह ॥ ११ ॥

१०–(च०) 'अभिः' (द्वि०) 'मित्रं दधानस्त्विषितो विपश्चित्' इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे दुन्दुभे ! हे राजन् ! (शत्रूषाड्) शत्रुओं के विजय कराने द्वारा (नीषाड्) उन्हें सर्वथा पराजित करने वाला, (अभिमाति-सहः) अभिमानी शत्रुओं के अभिमान को चूर करने वाला, (गो-एषणः) शत्रुओं का खोज लगाने वाला, (सहमानः) उनका प्रहार सहने वाला, और (उत्-भित्) उन को उखेड़ डालने वाला है, (वाग्वी-इव) जिस प्रकार विद्वान् वाग्मी पुरुष (मन्त्रं) राजसभा में अपना विचार प्रकट करता है उस प्रकार तू (वाचस्) शुभ वाणी को (प्र-भर) प्रस्तुत कर और (इह) इस संग्राम के अवसर पर (संग्राम-जित्याय) संग्राम के विजय के लिये (इषम्) प्रेरक शक्ति, आज्ञा को (उद् वद) उत्तेजित कर दे ।

अच्युतच्युत् समदो गमिष्ठो मृधो जेता पुरएता अयोध्यः ।
इन्द्रेण गुप्तो विदथा निचिक्यद्धृद्द्योतनो द्विषतां याहि शीभम् ॥१२॥

भा०—हे राजन् ! (अच्युत च्युत्) न चूकने वाले, स्थिर, दृढ शत्रुओं को भी पैर उखाड़ देने, उन को विचलित करने वाला होकर, तू (स-मदः) सहर्ष (गमिष्ठः) यात्रा करने में सब से बढ़ा चढ़ा है । इसलिये तू (मृधो जेता) शत्रुओं को विजयी और (अयोध्यः) दुर्योधन होकर (पुरः एता) सामने मैदान में निकल आता है । तू (इन्द्रेण गुप्तः) इन्द्र, राजा सेनापति से सुरक्षित (विदथा) समस्त जानने योग्य कर्मों को (नि-चिक्यत्) भली प्रकार जानता हुआ, (द्विषतां हृत्-द्योतनः) शत्रुओं के हृदयों को चौंकाने वाला होकर (शीभम्) शीघ्रता से (याहि) युद्ध यात्रा कर ।

१२–(द्वि०) 'जेता पृतनाषाड्' (तृ०) 'इन्द्रेण वल्गुस' इति पैप्प० सं० ।

[२१] युद्ध विजयी राजा को उपदेश ।

ब्रह्मा ऋषिः । वानस्पत्यो दुन्दुभिर्देवता । आदित्यादि देवप्रार्थना च । १, ४, ५ पथ्यापंक्तिः, ६ जगती, ११ बृहतीगर्भा त्रिष्टुप्, १२ त्रिपदा यवमध्या गायत्री । २, ३, ७–१०, अनुष्टुभः । द्वादशर्चं सूक्तम् ॥

विहृदयं वैमनस्यं वदामित्रेषु दुन्दुभे ।
विद्वेषं कश्मशं भयममित्रेषु नि दध्मस्यवैनान् दुन्दुभे जहि ॥ १ ॥

भा०—हे (दुन्दुभे) द्वन्द्व=संग्राम में चमकने वाले राजन् ! तू (अमित्रेषु) शत्रुओं में (वि-हृदयं) विरुद्ध हृदयता और (वैमनस्यम्) विरुद्ध चित्तता, फूट का (वद) उपदेश कर । हम (अमित्रेषु) शत्रुओं के बीच में (वि-द्वेषं) भेद, फूट, (कश्मशं) मनमुटाव और (भयम्) डर को (नि दध्मसि) पैदा करें, डाल दें और तू (एनान्) इन शत्रुओं को (अव जहि) नीचे गिरा कर मार, उनके दिल तोड़ ।

उत्-वेपमाना मनसा चक्षुषा हृदयेन च ।
धावन्तु बिभ्यतोमित्राः प्रत्रासेनाज्ये हुते ॥ २ ॥

भा०—(आज्ये हुते) अग्नि में घी की आहुति पड़ जाने पर अर्थात् युद्ध में, परस्पर की द्वेषाग्नि में एक वार शस्त्र उठ जाने या धावा बोले जाने पर ही (अमित्राः) शत्रु लोग (प्र-त्रासेन) खूब डर के कारण, (बिभ्यतः) भयभीत और (मनसा) मन से (चक्षुषा) आंखों से और (हृदयेन) हृदय से (उद्वेपमानाः) थर थर कांपते हुए (धावन्तु) रण से भाग जांय ।

तेजो वा आज्यम्, तै० ३ । ६ । ४ । ६ ॥ वज्रो वा आज्यम्, श० ३ । ६ । ४ । १५ ॥ यदाजिमायन् तदाज्यानामाज्यत्वम् । ता० ७ । २ ।

[२१] १–(तृ०) ' कश्मशं कश्मलम् ' इति ह्विट्निः ।

१ । इत्यादि-ब्राह्मण निर्वचनों से आज्य=राजा का तेज, वीर्य । वज्र=तलवार और आजिधावन, अर्थात् रण में शत्रु पर आक्रमण ये आज्य के शब्दार्थ हैं जिनका प्रतिनिधि भूत मुहावरा 'आग में आहुति पड़ना' मात्र है ।

वानस्पत्यः संभृत उस्रियाभिर्विश्वगोत्र्यः ।
प्रत्रासममित्रेभ्यो वदाज्येनाभिघारितः ॥ ३ ॥

भा०—हे दुन्दुभे ! नक्कारे ! तू जिस प्रकार (वानस्पत्यः) लकड़ी का बना हुआ होकर भी (उस्रियाभिः संभृतः) चाम के तस्मों से जकड़ा हुआ (विश्वगोत्र्यः) समस्त जन का बन्धु है । वह (अमित्रेभ्यः) शत्रुओं के लिये (आज्येन अभि-घारितः) घृत द्वारा अभिषिक्त होकर (प्रत्रासं वद) भय और आतङ्क बतला ।

राजा पक्ष में—हे राजन् ! तू (वानस्पत्यः) अग्निमय है । और (उस्रियाभिः सम्भृतः) अपने में वास करने वाली किरणों के समान अथवा उत्सर्पणशील, उन्नतिशील, प्रजाओं और सेनाओं से पुष्ट होकर ही (विश्वगोत्र्यः) समस्त गोत्रों और वंशों के प्रति एक समान है । तू (आज्येन अभिघारितः) तेज और शस्त्रों से प्रकाशमान होकर (अमित्रे-भ्यः प्र-त्रासं वद) शत्रुओं को भयंकर भय दिलाने वाला संदेश सुना ।

यथा मृगाः संविजन्त आरण्याः पुरुषादधि ।
एवा त्वं दुन्दुभेमित्रानभि क्रन्द प्र त्रासयाथो चित्तानि मोहय ॥४॥

भा०—हे दुन्दुभे ! विजय का नाद करने वाले मारू बाजे ! राजन् ! (यथा आरण्याः मृगाः) जिस प्रकार जंगल के मृग (पुरुषाद् अधि) पुरुष से (संविजन्ते) भय से व्याकुल होकर भागते हैं । (एवा) इसी प्रकार (त्वं) तू (अमित्रान्) शत्रुओं को (अभिक्रन्द) अपनी आवाज़ सुना, (प्र त्रासय) और उनको खूब भय दिला, (अथो) और (चित्तानि) उनके चित्तों को (मोहय) मोह में डाल दे ।

यथा वृकांदजावयो धावंन्ति बहु बिभ्यंतीः ।
एवा० ॥ ५ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (अज-अवयः) भेड़ बकरियां (वृकाद्) भेड़िये से (बहु बिभ्यतीः) खूब भयभीत होकर (धावन्ति) भागती हैं (एवा त्वं दुन्दुभे०) इसी प्रकार हे नक्कारे ! तू शत्रुओं को अपनी आवाज़ सुना, उनको भयभीत कर और उनके चित्तों को मोहित कर दे ।

यथां श्येनात् पंतत्रिणः संविजन्ते अहंर्दिवि सिंहस्यं स्तनथोर्यथां ।
एवा त्वं दुन्दुभे मित्रांनभि क्रन्द प्र त्रांसयाथों चित्तानि मोहय ॥ ६ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (पतत्रिणः) पक्षिगण (श्येनात्) बाज़ से (सं-विजन्ते) भयभीत होकर व्याकुल हो जाते हैं । या (अहः-दिवि) दिनों दिन (यथा) जिस प्रकार पशुगण (सिंहस्य) शेर की (स्तनथोः) दहाड़ से भय व्याकुल होकर जान लेकर भागते हैं । हे (दुन्दुभे) नक्कारे के समान गर्जनशील वीर ! (एवा त्वं मित्रान् अभिक्रन्द) उसी प्रकार तू अपने शत्रुओं तक अपनी गर्जना सुना । (प्र त्रासय अथो चित्तानि मोहय) उनको खूब भयभीत कर और उनके चित्तों को मूढ़ कर दे ।

परामित्रान् दुन्दुभिना हरिणस्याजिनेन च ।
सर्वे देवा अतित्रसन् ये संग्रामस्येशते ॥ ७ ॥

भा०—नक्कारा बजाने के प्रकार का उपदेश करते हैं—(ये) जो (संग्रामस्य) संग्राम करने में (ईशते) समर्थ हैं वे (सर्वे देवाः) समस्त देव विद्वान्, दिव्य, संग्राम-क्रीड़ा में चतुर पुरुष (हरिणस्य अजिनेन) हरिण के चर्म के बने (दुन्दुभिना) नक्कारे से (च) ही (अमित्रान् परा अति-त्रसन्) शत्रु लोगों को दूर से डरा भगाते हैं ।

यैरिन्द्रः प्र क्रीडते पद्घोषैश्छायया सह ।
तैरमित्रास्त्रसन्तु नोमी ये यन्त्यनीकशः ॥ ८ ॥

भा०—(इन्द्रः) सेनापति, इन्द्र (यैः पत्-घोषैः) चरणों के जिन घोर घोषों से और (छायया) छाया, आच्छादन शक्ति, आवरणकारी साधनों, मोर्चा-बन्दियों से (प्र-क्रीड़ते) रण-क्रीड़ा करता है (तैः) उनसे (नः, अमित्राः) हमारे शत्रु लोग (ये अनीक-शः यन्ति) जो सेनाओं के दस्ते बना २ कर चलते हैं (त्रसन्तु) वे भी भय खावें। सेना के दस्ते ले २ कर चढ़ाई करने वाले शत्रुओं को राजा नाना प्रकार के चरणाघात के शब्दों से और भ्रमजनक छाया अथवा अपने मोर्चों से भयभीत करे।

ज्याघोषा दुन्दुभयोभि क्रोशन्तु या दिशः ।
सेनाः पराजिता यतीरमित्राणामनीकशः ॥ ९ ॥

भा०—हमारी (ज्या घोषाः) धनुष की डोरियों की आवाज़ें और (दुन्दुभयः) भेरियां (याः दिशः) जिन दिशाओं में भी (अभि क्रोशन्ति) शत्रुओं को ललकारें उन्हीं दिशाओं में (अमित्राणां) शत्रुओं की (अनीकशः) दस्तों की दस्तें (सेनाः) सेनाएं (यतीः) जाती २ (परा-जिताः) पराजित हो जांय।

आदित्य चक्षुरादत्स्व मरीचयोनु धावत ।
पत्सङ्गिनीरा सजन्तु विगते बाहुवीर्ये ॥ १० ॥

भा०—हे आदित्य ! सूर्य ! तू (चक्षुः आदत्स्व) शत्रुओं की चक्षुको हर ले, और हे (मरीचयः) किरणो ! या सुभटो ! तुम शत्रुओं के (अनु धावत) पीछे जाओ। और (बहु-वीर्ये वि-गते) जब बाहु का बल टूट जाय तब (पत् सङ्गिनीः) पैरों में पड़ने वाली रस्सियां, शत्रुओं के पैरों में (आ सजन्तु) लिपट जावें।

शत्रु के आंखों को सूर्य की किरणों से चकाचौंध करदे, और उसकी किरणों का या विद्युत् की धाराओं को या किरणों के समान तीव्र गति वाले सुभटों को भागती सेना पर छोड़े जब उनके बाहु केवल टूट जांय तब उनके पैरों में बेड़ियां बन्धन बांध कर उनकी मुश्कें कस ले ।

यूयमुग्रा मरुतः पृश्निमातर इन्द्रेण युजा प्र मृणीत शत्रून् ।
सोमो राजा वरुणो महादेव उत मृत्युरिन्द्रः ॥ ११ ॥

उत्तरार्धः अथर्व० १३ । १ । ३ प्र० द्वि० ॥

भा०—हे (उग्रा मरुतः) प्रबल वायुओं के समान मृत्यु के लाने वाले हे (पृश्निमातरः) आदित्य सूर्य समान तेजस्वी सेनापति को अपना मुखिया बनाने वाले वीर पुरुषो, आप लोग (इन्द्रेण) अपने ऐश्वर्यशील सेनापति इन्द्र को (युजा) साथी बना कर (शत्रून् प्रमृणीत) अपने शत्रुओं को खूब कुचल डालो । वह (राजा सोमः) राजा सोम है वही (वरुणः) वरुण है, (महादेवः इन्द्रः उत मृत्युः) वही महादेव इन्द्र और वही साक्षात् मृत्यु है ।

एता देवसेनाः सूर्यकेतवः सचेतसः ।
अमित्रान् नो जयन्तु स्वाहा ॥ १२ ॥

भा०—(एताः) ये (देव-सेनाः) विद्वान्, क्रीड़ा करने वाले वीर पुरुषों की सेनाएं (स-चेतसः) समान चित्त होकर युद्ध करने वाली (सूर्य-केतवः) सूर्य की ध्वजा वाली, अथवा सूर्य की किरणों के समान तीव्र गति वाली होकर (नः अमित्रान्) हमारे शत्रुओं को (जयन्तु) जीतें (स्वाहा) यही हमारी उत्तम यज्ञाहुति है ।

इति चतुर्थोऽनुवाकः ।

[तत्र सूक्तानि षट्, त्र्यशीतिश्चर्चः ।]

[२२] ज्वर का निदान और चिकित्सा ।

भृग्वङ्गिरसो ऋषयः । तक्मनाशनो देवता । १, २ त्रिष्टुभौ, (१ भुरिक्), ५ विराट् पथ्याबृहती । चतुर्दशर्चं सूक्तम् ॥

**अ॒ग्निस्त॒क्मान॒मप॑ बाधतामि॒तः सोमो॒ ग्रावा॒ वरु॑णः पू॒तद॑क्षाः ।
वेदि॑र्ब॒र्हिः स॒मिधः॒ शोशु॑चाना॒ अप॒ द्वेषां॑स्यमु॒या भ॑वन्तु ॥ १ ॥**

भा०—(अग्निः) अग्नि, (सोमः) सोम, (ग्रावा) सोम को कूटने वाले प्रस्तर, (वरुणः) वरुण ये सब (पूत-दक्षाः) पवित्र बल वाले हों और (वेदिः) यज्ञमय वेदि, (बर्हिः) धान्य या कुशा, (समिधः) काष्ठ, लकड़ियें (शोशुचानाः) देदीप्यमान होकर (तक्मानम्) ज्वर को (अप बाधताम्) दूर करें, आने से रोकें और हमारे (द्वेषांसि) द्वेष के पात्र जिन को हम अच्छा नहीं समझते वे (अप भवन्तु) दूर रहें ।

अग्नि=उष्ण गुण के पदार्थ, सोमः=शीत गुण के पदार्थ, ग्रावा=वह पदार्थ जो इन दोनों पदार्थों को अपने में घोल लें, वरुणः=जलमय पदार्थ, वेदिः=शरीर स्वतः, बर्हिः=ओषधियां और समिधः=काष्ठ इन सब तेजस्वी पदार्थों के समुचित प्रयोग से ज्वर का विनाश करना चाहिये ।

**अ॒यं यो वि॒श्वान् हरि॑तान् कृ॒णोष्यु॑च्छो॒चय॑न्न॒ग्निरि॑वाभिदु॒न्वन् ।
अधा॒ हि त॑क्मन्नर॒सो हि भू॒या अधा॒ न्य॑ङ्ङध॒राङ् वा॒ परे॑हि ॥२॥**

भा०—ज्वर का रूप बतलाते हैं—(अयं) यह ज्वर जो तू (विश्वान्) सब पुरुषों को (हरितान्) पीला (कृणोषि) कर देता है, उन पर चढ़ कर उनकी कान्ति का नाश कर डालता है, और (उत्-शोचयन्) उनको

[२२] १–(द्वि०) 'मरुतः पूतदक्षात्' (तृ०) 'सन्नभः संशिशानो अपरक्षांसि' इति पैप्प० सं० ।

तपा २ कर (अग्निः-इव) आग के समान (अभि-दुन्वन्) सब प्रकार से कष्ट देता हुआ सब की कान्ति नष्ट कर देता है। (अधा) इस लिये हे (तक्मन्) ज्वर ! पीड़ादायक (अरसः हि भूयाः) तू रस=बल से हीन ही हो जा (अधा न्यङ् एहि) और नीचे हो जा, (अधराङ्-एहि) उतर जा (वा) और (परा-इहि) दूर ही हो जा। ज्वर अग्नि के समान तपाकर मनुष्यों की कान्ति को नष्ट करता है इसलिये उस ज्वर के जोर का नष्ट करके उसे दबावे और सर्वथा तापांश को नीचा करके दूर करे।

यः परुषः पारुषेयोऽवध्वंस इवारुणः।
तक्मानं विश्वधावीर्याधराञ्चं परा सुवा ॥ ३ ॥

अथर्व० १९ । ३९ । १० तृ० च० ॥

भा०—हे (विश्वधा-वीर्य) सब प्रकार के वीर्य को धारण करने वाले वैद्य अथवा ओषधे ! तू (तक्मानं) ज्वर को (अधराञ्चं) नीचे (परासुव) करके दूर भगादे। (यः) जो ज्वर (परुषः) पर्व २ में शरीर के पोरु २ में बसा हुआ है। (पारुषेयः) या पर्व २ में बसे कारणों से उत्पन्न होता है (अरुण इव) और अरुण=अग्नि के समान (अव-ध्वंसः) देह को जला कर नष्ट करने वाला है। उसको विश्ववीर्या ओषधि से नाश करो।

विश्वधा वीर्या ओषधि–'विश्वा' है, इस नाम से सूर्य और अतिविषा (अतीस) दोनों का ग्रहण होता है।

अधराञ्चं प्र हिणोमि नमः कृत्वा तक्मने।
शकम्भरस्य मुष्टिहा पुनरेतु महावृषान् ॥ ४ ॥

३–' तक्मं साक्तिनमिच्छस्व वशी सन् मृडयासि नः। यथेहात्र ते गृहान् यत् पूर्वेषु दमयतु ' इति पैप्प० सं०।

४–(द्वि०) ' नमः कृत्वाय ' इति पैप्प० सं०।

भा०—मैं वैद्य (तक्मने) ज्वर के (नमः कृत्वा) नमाने, नीचे कर देने और दबा देने वाली ओषधि से दवा कर (अधराञ्चं प्र हिणोमि) नीचे ही उतारता हूं। (शकम्-भरस्य) शक्ति को धारण करने वाले बलवान् पुरुष को भी (मुष्टि-हा) मानों मुक्कों से मारने वाला यह ज्वर (महा-वृषान्) बड़े २ वीर्यवान् पुरुषों को (पुनः एतु) वार वार आ जाता है।

ओको॑ अस्य॒ मूज॑वन्त॒ ओको॑ अस्य महावृ॒षाः ।
याव॑ज्जा॒तस्त॑क्मँ॒स्तावा॑नसि॒ बल्हि॑केषु न्योच॒रः ॥ ५ ॥

भा०—(अस्य) इस ज्वर के (ओकः) स्थान (मूज-वन्तः) मूंज वाले प्रदेश हैं और (अस्य) इसके (ओकः) स्थान (महा-वृषाः) अधिक वर्षा के प्रदेश हैं। अथवा (अस्य ओकः मूज-वन्तः[१]) इसके निवास के स्थान कमज़ोर देहधारी भी हैं और (अस्य ओकः महावृषाः) इसके निवास-स्थान बलवान् लोग भी हैं। हे (तक्मन् यावत् जातः) जितना २ तू होता जाता है (तावान्) उतना २ तू (बल्हिकेषु) बली पुरुषों में भी (नि-ओचरः[२] असि) शनैः २ जमता चला जाता है। ऐतिहासिक लोग मूंजवान् पर्वत 'महावृष' बल्हिक इन शब्दों से जनपदों का ग्रहण करते हैं। सो उनकी भूल है।

तक्म॒न् व्या॑ल॒ वि ग॑द॒ व्य॑ङ्ग॒ भूरि॑ याव॒य ।
दा॒सीं नि॒ष्टक्व॑रीमिच्छ॒ तां वज्रे॑ण॒ सम॑र्पय ॥ ६ ॥

---

१. उच समवाये इत्यतः औणादिक अर् प्रत्ययः ।

२. मुच्यतेर्मुञ्जो (नि० ९ । १ । ८) देहः, तद्वन्तः प्राणिनो जरामरण-वन्तः ।

६–(प्र०) 'व्यालक्कद' इति पैप्प० सं० । 'भूर्यावय' इति ह्विटनि-कामितः ।

भा०—हे (तक्मन्) दुःखदायक ज्वर ! हे (व्याल) सर्प के समान विष रूप से शरीर में फैलने वाले ! हे (वि-गद) विषम ज्वर ! हे (वि-अङ्ग) शरीर को विकृत करने वाले ज्वर ! (भूरि यवय) तू हम से बहुत दूर रह । तू (निः-तक्रीम्) खूब ज्वर को फैलाने वाली, खूब पीड़ादायक (दासीम्) काटने वाली, मच्छर जाति को (इच्छ) चाहता है और (तां) उसी को (वज्रेण) अपने रोग पीड़ादायक हथियार से (सम्-अर्पय) समृद्ध करता है ।

तक्मन् मूजवतो गच्छ बल्हिकान् वा परस्तराम् ।
शूद्रामिच्छ प्रफर्व्यं१ तां तक्मन् वी/व धूनुहि ॥ ७ ॥

भा०—हे (तक्मन्) ज्वर ! तू (मूजवतः गच्छ) प्रथम निर्बल, छोटे छोटे प्राणियों को (गच्छ) प्राप्त होता है । अथवा (बल्हिकान्) बलवानों को और (परः-तराम्) उनसे भी अधिक शक्ति वालों को भी प्राप्त होता है । तू (प्र-फर्व्यं) नव युवति (शूद्राम्) काटने वाली कीट जाति को (इच्छ) प्राप्त होकर (तां वि-इव धूनुहि) उसको मानो सदा चञ्चल बनाये रखता है । वह जगह २ उड़ २ कर बैठती, काटती और विष फैलाती रहती है ।

महावृषान् मूजवतो बन्ध्वद्धि परेत्य ।
प्रैतानि तक्मने ब्रूमो अन्यक्षेत्राणि वा इमा ॥ ८ ॥

भा०—(महा-वृषान्) बड़े बलवान् (मूज-वतः) देहधारियों को (बन्धु) अपना बन्धु बना कर (अद्धि) तू खा डालता है और (परा-इत्य)

७–गिरिं गच्छ गिरिजासि मायुषो गृहाः । दासी मृत्यच्छ प्रफर्व्यम् तांस्तक्मन्नीव धूनुहि ’ इति पैप्प० सं० ।

८–(च०) ‘न्यक्षेत्राणि वायसाम्’ इति पैप्प० सं० । ‘ नार्कविन्दां नार्विदालाम् । प्रजानि तक्मने ब्रूमो न्यक्षेत्राणि वायुमान् ’ इत्यधिकः पाठः । ‘तक्मन्निमं ते क्षेत्रभागं अपाभजं पृथिव्याः पूर्वे अर्धे’ इत्यन्यत्र पैप्प० सं० ।

उनसे भी आगे बढ़ कर प्राणियों का नाश करता है । (एतानि) ये तो तक्म ने ज्वर के क्षेत्र हैं ही । इनसे (अन्य-क्षेत्राणि) अन्य स्थान या देह भी (इमा) ये जीव हैं इनको भी ज्वर के क्षेत्र ही (प्र ब्रूमः) हम बतलाते हैं ।

अन्यक्षेत्रे न रमसे वशी सन् मृडयासि नः ।
अभूदु प्रार्थस्तक्मा स गमिष्यति बल्हिकान् ॥ ९ ॥

भा०—(अन्य-क्षेत्रे) मनुष्य से अतिरिक्त शरीर में (न रमसे) तू बहुत क्रीड़ा नहीं करता । (वशी सन्) जब तू वश में कर लिया जाता है (नः मृडयासि) तब तू हमें सुख भी देता है । जब तू (तक्मा) कष्ट-दायी ज्वर (प्र-अर्थः अभूत् उ) प्रबल हो जाता है । तब (सः) वह तू (बल्हिकान्) बल्हिक—बलवान् देहों में भी (गमिष्यति) चला जाता है, प्रवेश कर जाता है ।

यत् त्वं शीतोथो रूरः सह कासावेपयः ।
भीमास्ते तक्मन् हेतयस्ताभिः स्म परि वृङ्ग्धि नः ॥ १० ॥

भा०—(यत्) जब (त्वं शीतः) तू शीत है, सर्दी देकर आता है (अथो रूरः) तब अधिक पीड़ादायक या तापदायक होता है । और (कासा सह) और खांसी के साथ तू शरीर को (अवेपयः) कँपा डालता है । हे (तक्मन्) ज्वर (ते हेतयः) तेरे शस्त्र (भीमाः) बड़े भयानक हैं । (ताभिः) उनसे (नः) हमें (परि वृङ्धि स्म) बचाये रख । अभिर्वै-रूरः । तां० ७ । ५ । १० ॥

मास्मै तान्त्सखीन् कुरुथा बलासं कासमुद्युगम् ।
मा स्मातोर्वाङैः पुनस्तत् त्वा तक्मन्नुप ब्रुवे ॥ ११ ॥

१०–' यस्त्वं शीतो अथो ' इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे (तक्मन्) ज्वर ! तू (बलासं) कफ़, (कासम्) खांसी और (उत्-युगम्) क्षयी (एतान्) इन रोगों को (सखीन्) अपना साथी, संगी, मित्र (मा स्म कुरुथाः) मत बना । (अतः अर्वाङ्) अब से आगे (मा स्म ऐः) तू मत आ । हे (तक्मन्) ज्वर ! (तत् त्वा) यह तुझे (पुनः उप ब्रुवे) मैं बार बार कहता हूं ।

तक्म॑न् भ्रात्रा॑ ब॒लासे॑न॒ स्वस्रा॑ कासि॑कया स॒ह ।
पा॒प्मा भ्रातृ॑व्येण स॒ह गच्छा॒मुमर॑णं॒ जन॑म् ॥ १२ ॥

भा०—हे (तक्मन्) ज्वर ! (भ्रात्रा) तुझे पुष्ट करने वाले (बलासेन) कफ़ और (स्वस्रा) भगिनी के समान कफ के साथ २ स्वयं आ जाने वाली (कासिकया सह) खांसी के साथ और (भ्रातृव्येन) अपने परिपोषक भाई के समान कफ से उत्पन्न होने वाले अन्य (पाप्मा=पाप्मना पाम्नावा) दुःखकारी, चर्म-रोग के साथ भी (अमुम्) फलाने २, नाना प्रकार के (अरणं) मलिन, गन्दे (जनम्) पुरुष को (गच्छ) प्राप्त होता है ।

नाना व्याधियों के सहित अस्वच्छ आदमी को चिपटता है । उसी को खांसी, कफ़ और चर्मरोग खुजली भी उत्पन्न करता है ।

तृ॒तीय॒कं वि॑तृ॒तीयं॑ सद॒न्दिमु॒त शा॑र॒दम् ।
त॒क्मानं॑ शी॒तं रू॒रं ग्रैष्मं॑ नाशय॒ वार्षि॑कम् ॥ १३ ॥

१२–(तृ० च०) 'अपां भ्रात्रातृव्येन नश्येतो मरणमभि' इति पैप्प० सं० । (तृ०) ' पाम्ना ' इति क्वचित् , 'पाप्मा' इत्यपि क्वचित् । 'पाम्ना' इति ह्विटनिसम्मतः ।

१३–(द्वि०) ' उत हापनम् ' (तृ०) ' तक्मानं विश्वशारदन् ' इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे पुरुष ! तू (तृतीयकम्) तीसरे दिन आने वाले (वितृतीयकम्) दो दिन का अन्तर देकर आने वाले (सदन्दिम्) निरन्तर रहने वाले (उत शारदम्) या शरत् काल में होने वाले, (शीतं) या शीत देकर आने वाले (रूरं) पीड़ा या तीव्र ताप, जलन उत्पन्न करके देह तोड़ने वाले या (ग्रैष्मं) गर्मी से उत्पन्न होने वाले या (वार्षिकम्) वर्षा काल में होने वाले (तक्मानं) ज्वर को (नाशय) विनाश कर ।

गन्धारिभ्यो मूजवद्भ्योऽङ्गेभ्यो मगधेभ्यः ।
प्रैष्यन् जनमिव शेवधिं तक्मानं परि दद्मसि ॥ १४ ॥

भा०—(जनम् प्र-एष्यम् इव) जिस प्रकार एक देश से दूसरे देश को आदमी भेज दिया जाता है या (शेवधिम्) ख़ज़ाना जिस प्रकार एक के पास से दूसरे के पास पहुंच जाता है उसी प्रकार हम लोग (तक्मानं) इस ज्वर को (गन्धारिभ्यः) बदबू वाले (मूजवद्भ्यः) निर्बल शरीरों वाले, (मगधेभ्यः) दोष युक्त कुपथ्यकारियों के पास और (अंगेभ्यः) पराश्रय जीवन बिताने वाले दुर्बलों के पास (परि दद्मसि) दे दिया करते हैं । अर्थात् रोग उक्त प्रकार के लोगों में संक्रमित हो जाता है ।

[२३] रोगकारी जन्तुओं के नाश का उपदेश ।

कण्व ऋषिः । क्रिमिजम्भनाय देवप्रार्थना । इन्द्रो देवता । १–१२ अनुष्टुभः, १३ विराट् । त्रयोदशर्चं सूक्तम् ॥

ओते मे द्यावापृथिवी ओता देवी सरस्वती ।
ओतौ म इन्द्रश्चाग्निश्च क्रिमिं जम्भयतामिति ॥ १ ॥

अथर्व० ६ । ९४ । ३ प्र० द्वि० तृ० ॥

[२३] १–' कृमिं ' इति बहुत्र ।

भा०—रोगकारी कीटों के नाश करने का उपदेश करते हैं—(द्यावा-पृथिवीं) द्यौः=सूर्य और पृथिवी (आ-उते) सब प्रकार परस्पर सम्मिलित होकर और (देवी) दिव्य गुण वाली (सरस्वती) यह वाणी या जलधारा या नदी (आ-उता) संगत होकर और (इन्द्रः च अग्निः च) इन्द्र-विद्युत् और अग्नि ये दोनों भी (आ-उतौ) परस्पर मिलकर (क्रिमिं) रोगकारी जन्तुओं का (मे, मे) मेरे लिये (जम्भयताम्) विनाश करें। सूर्य की किरण, मिट्टी, तीव्र वाणी या जल धारा, बिजुली, अग्नि, ये सब परस्पर मिल कर नाना प्रकार से रोग कीटों का नाश करते हैं।

अस्येन्द्र कुमारस्य क्रिमीन् धनपते जहि ।
हता विश्वा अरातय उग्रेण वचसा मम ॥ २ ॥

भा०—हे (धनपते) समृद्धिसम्पन्न ऐश्वर्यवन् ! (इन्द्र) सूर्य ! वायो ! विद्युत् ! (अस्य) इस (कुमारस्य) बालक के (क्रिमीन्) रोगकारी जन्तुओं को (जहि) तू नाश कर। (मम) मेरे (उग्रेण) बलपूर्वक कहे गये (वचसा) उपदेश या वचन बल से (विश्वाः अरातयः) सब दुःखकारी पीड़ाएं (हताः) विनष्ट होती हैं।

यो अक्ष्यौ परिसर्पति यो नासे परिसर्पति ।
दतां यो मध्यं गच्छति तं क्रिमिं जम्भयामसि ॥ ३ ॥

भा०—(यः) जो कीट (अक्ष्यौ) आँखों पर (परि-सर्पति) आक्रमण करता है, (यः) और जो (नासे) नाक में (परि-सर्पति) घुस जाता है। (यः) और जो (दतां मध्यं गच्छति) दांतों के बीच में चला जाता है, (तं क्रिमिम्) उस क्रिमि=कीट को (जम्भयामसि) हम विनाश करें।

२–(द्वि०) 'क्रिमिम्' (तृ० च०) 'विश्वारातयोग्रेण वचसामिमा' इति पैप्प० सं०।

३–(प्र०) 'अक्षौ' (द्वि०) 'नासौ' इति पैप्प० सं०।

सरूपौ द्वौ विरूपौ द्वौ कृष्णौ द्वौ रोहितौ द्वौ ।
बभ्रुश्च बभ्रुकर्णश्च गृध्रः कोकश्च ते हताः ॥ ४ ॥

भा०—कीटों के रूपों की पहचान बतलाते हैं । समान रूपवाले दो, और (विरूपौ द्वौ) भिन्न २ रूप वाले दो, (कृष्णौ द्वौ) काले या काटने वाले दो, (रोहितौ द्वौ) लाल रंग के या बढ़ने वाले दो, (बभ्रुः च) भूरे वर्ण के या पेट भरने वाले (बभ्रु-कर्णः च) और भूरे कान वाले, (गृध्रः) मांस के लोभी और (कोकः च) और भेड़िया के स्वभाव के (ते हताः) ये सब विनाश किये जांय ।

ये क्रिमयः शितिकक्षा ये कृष्णाः शितिबाहवः ।
ये के च विश्वरूपास्तान् क्रिमीन् जम्भयामसि ॥ ५ ॥

भा०—(ये) जो (क्रिमयः) क्रिमि, कीट (शिति-कक्षाः) श्वेत कोख वाले हैं और (ये कृष्णाः) जो काले हैं, और जो (शिति-बाहवः) सफेद पैरों वाले हैं और (ये के च विश्व-रूपाः) जो कोई नाना रूप हैं । (तान् क्रिमीन्) उन क्रिमियों को हम (जम्भयामसि) विनाश करें ।

उत पुरस्तात् सूर्य एति विश्वदृष्टो अदृष्टहा ।
दृष्टांश्च घ्नन्नदृष्टांश्च सर्वांश्च प्रमृणन् क्रिमीन् ॥ ६ ॥

ऋ० द्वि० ऋ० १ । १९१ । ८ ॥

४–(च०) ' कोकाश्च ' इति पैप्प० सं० ।

५–(प्र०) ' सितवक्षाः ', (द्वि०) ' सितबाहवः ' इति पैप्प० सं० ।

६–' अदृष्टान्त्सर्वान् जम्भयन्त्सर्वाश्च यातुधान्यः ' इति ऋ० । ऋग्वेदे अगस्त्यऋषिः, अबोषधिसूर्या देवताः । ' उदसौ सूर्या अगात् ' (द्वि०) ' विश्वदृष्टो अदृहा ' इति पैप्प० सं० ।

भा०—सूर्य चिकित्सा का उपदेश करते हैं । (सूर्यः) सूर्य (उत) भी (पुरस्तात्) ठीक सामने से (एति) आवे और अपना प्रकाश डाले तो वह सूर्य स्वयं (विश्व-दृष्टः) सब के दर्शनगोचर होकर भी (अदृष्ट-हा) न दीखने वाले रोग कीटों को नाश करता है । क्योंकि वह अपनी तीक्ष्ण किरणों से तो (दृष्टान् च) दीखने वाले और (अदृष्टान् च) न दीखने वाले (सर्वान् च) और सब (क्रिमीन्) कीटों को (घ्नन्) विनाश करता और (प्र-मृणन्) उच्छेद करता है ।

येवाषासः कष्कषास एजत्काः शिपवित्नुकाः ।
दृष्टश्च हन्यतां क्रिमिरुतादृष्टश्च हन्यताम् ॥ ७ ॥

भा०—(येवाषासः) येवाप, (कष्कषासः) कष्कष, (एजत्काः) एजत्क, और (शिपविस्तुकाः) शिपिवित्नुक, ये नाना प्रकार की रोगकीट जातियां और (दृष्टः च) दिखाई देने वाला (उत) और (अदृष्टः च) न दीखने वाला रोगकीट भी (हन्यताम्) मार दिया जाय ।

येवाप=सरक सरक कर चलने वाले, जैसे गिण्डोये, कष्कषासः=देह को घिस २ कर चलने वाले, (एजत्काः) थोड़ा कांपने वाले (शिपिवित्नुकाः) मूल भाग, जघन भाग से वस्तु को पकड़ने वाले जैसे मशरूम आदि ।

हतो येवाषः क्रिमीणां हतो नंदनिमोत ।
सर्वान् नि मंष्मषाकरं दृषदा खल्वाँ इव ॥ ८ ॥

भा०—उक्त प्रकार के विषैले जन्तुओं के नाश का उपदेश करते हैं । (क्रिमीणां) रोगकारक क्रिमियों में से (येवापः) सरक सरक कर

७–(प्र० द्वि०) 'यवायवाखासष्किरयामोभूक्षामश्च परिवृक्णवः' (तृ०) 'अदृष्टश्चोत हन्यताम्' इति पैप्प० सं० ।

८–'हतो यवाखो हतश्च पविहतो पमगणवान् उत हता विश्वा रातय अमेन वचसा मम' इति पैप्प० सं० ।

चलने वाला कृमि (हतः) मार दिया जाता है । (उत) और (नदनिमा) शब्द करने वाला, चिर-चिराने वाला जन्तु भी (हतः) मार दिया जाता है । (दृषदा) शिला या चक्की के पाट से (खल्वान् इव) चनों को जिस प्रकार दल दिया जाता है उसी प्रकार मैं रोग जन्तुओं का नाशक वैद्य भी उन रोगकारी (सर्वान्) समस्त कीटों को (मष्मषा करम्) विनष्ट कर डालूं ।

त्रिशीर्षाणं त्रिककुदं क्रिमिं सारङ्गमर्जुनम् ।
शृणाम्यस्य पृष्टीरपि वृश्चामि यच्छिरः ॥ ९ ॥

द्वि० तृ० च० अथर्व० २ । २३ । २ द्वि० च० ॥

भा०—(त्रि-शीर्षाणम्) तीन शिरों वाले (त्रि-ककुदं) तीन कुदान वाले, (सारंगम्) सारंग चित्रवर्ण वाले या खाखी रंग के (अर्जुनं) और श्वेत वर्ण के (क्रिमिं) जन्तु को (शृणामि) विनाश करूं और (अस्य) इस प्रकार के रोगकीट की (पृष्टीः अपि) पसुलियों को भी (शृणामि) विनष्ट करूं और (यत् शिरः) इस का जो शिर है उस को भी (वृश्चामि) उस के धड़ से पृथक् काट दूं । ऐसे कीड़े कुचलने और सिर काट देने से नष्ट होते हैं ।

अत्रिवद् वः क्रिमयो हन्मि कण्ववज्जमदग्निवत् ।
अगस्त्यस्य ब्रह्मणा सं पिनष्म्यहं क्रिमीन् ॥ १० ॥

भा०—हे (क्रिमयः) रोग जनक कीड़ो ! (अत्रि-वद्) अत्रि के समान (कण्व-वत्) मेधावी पुरुष के समान (जमदग्नि-वत्) प्रज्वलित अग्नि के समान मैं (वः हन्मि) तुम को विनाश करता हूं और (अगस्त्यस्य) सूर्य के (ब्रह्मणा) विशाल शक्ति या ज्ञान से (क्रिमीन् सं-पिनष्मि) इन क्रिमियों

९–' यो द्विशीर्षश्चतुरक्षः क्रिमिश्शाङ्गो अर्जुनः ' इति पैप्प० सं० ।

को विनष्ट करता हूं । अथवा अत्रि=अग्नि, कण्व=वायु, जमदग्नि आदित्य इनके शक्ति से सम्पन्न होकर रोग जन्तुओं का नाश करूं ।

हतो राजा क्रिमीणामुतैषां स्थपतिर्हतः ।
हतो हतमाता क्रिमिर्हतभ्राता हतस्वसा ॥ ११ ॥

भा०—(क्रिमीणां राजा) रोगकारक क्रिमियों का (राजा) मुख्य क्रिमि (हतः) विनाश कर दिया जाय, (उत) और (एषां) इन का (स्थ-पतिः) निवासस्थान का पालक और निर्माता भी (हतः) मार दिया जाय, (हत-माता) उत्पादक क्रिमि के मर जाने पर (हत-भ्राता) उन को पोषण करने वाले क्रिमियों के मर जाने पर अथवा उनके सहचर कीटों के मर जाने पर, (हत-स्वसा) मादा कीटों के नष्ट होजाने पर (क्रिमिः हतः) वह समस्त रोग कीटों की नसल नष्ट हो जाती है । शत्रु राजा का विनाश करने के लिये शत्रु राजा को, उस की माता, भाई और बहनों के मारे जाने पर वह शत्रु भी नष्ट हो जाता है ।

हतासो अस्य वेशसो हतासः परिवेशसः ।
अथो ये क्षुल्लका इव सर्वे ते क्रिमयो हताः ॥ १२ ॥

भा०—(अस्य) इस रोगजनक कीट के (वेशासः) प्रवेश करने के स्थानों को अथवा उसके सेवकों को (हतासः) विनाश कर दिया जाय, और (परिवेशसः) उसके समीपवर्ती अन्य जन्तुओं को भी (हतासः) मार दिया जाय (अथो) और (ये) जो (क्षुल्लका इव) और भी छोटे २ कच्चे बच्चे हों (ते सर्वे) वे सब (क्रिमयः) विकार उत्पन्न करने वाले रोग जन्तु (हताः) मार दिये जांय ।

सर्वेषां च क्रिमीणां सर्वासां च क्रिमीणाम् ।
भिनद्म्यश्मना शिरो दहाम्यग्निना मुखम् ॥ १३ ॥

१३–(तृ०) 'भिनद्म्यश्मिना' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(सर्वेषां च क्रिमीणाम्) सब नर कीटों और (सर्वासां च क्रिमीणाम्) सब मादा कीटों के (अश्मना भिनद्मि) प्रस्तर या चकमक के बने तीक्ष्ण शस्त्र से (शिरः भिनद्मि) शिर तोड़ डालूं। और (अग्निना) अग्नि से या तेज़ाब से (मुखम् दहामि) उन का मुख जला दूं।

[२४] परमेश्वर से धर्म कार्य में रक्षा की प्रार्थना।

अथर्वा ऋषिः। ब्रह्मकर्मात्मा देवता। १–१७ चतुष्पदा अतिशक्कर्यः। ११ शक्करी १५–१६ त्रिपदा। १५, १६ भुरिक् अतिजगती। १७ विराड् अतिशक्करी। सप्तदशर्चं सूक्तम् ॥

स॒वि॒ता प्र॑स॒वाना॒मधि॑पति॒: स: मा॑वतु।
अ॒स्मिन् ब्रह्म॑ण्य॒स्मिन् कर्म॑ण्य॒स्यां पु॑रो॒धाया॑म॒स्यां प्र॑ति॒ष्ठाया॑म॒स्यां चि॒त्त्या॑म॒स्यामाकू॑त्याम॒स्यामा॒शिष्य॒स्यां दे॒वहू॑त्यां॒ स्वाहा॑ ॥ १ ॥

भा०—(सविता) सब का उत्पादक परमात्मा (प्रसवानाम् अधिपतिः) सब पदार्थों के उत्पन्न होने के कार्यों का स्वामी है, (सः) वह (अस्मिन् ब्रह्मणि) इस ब्रह्मयज्ञ में, (अस्मिन् कर्मणि) इस यज्ञ कर्म में, (अस्यां पुरोधायाम्) इस पुरोहित के कार्य में, (अस्यां प्रतिष्ठायाम्) इस प्रतिष्ठा में, (अस्यां चित्त्याम्) इस चितियाग में, इस ज्ञानमय स्थिति में, (अस्यां आकूत्यां) इस आकूति, मन की सद्भावना में (अस्यां आशिषि)

[२४] १–१७–प्रायः गृह्यसूत्रेषु विवाहकर्मणि एतेमन्त्राः आज्याहुतौ विनियुक्ताः। प्रायः सर्वत्र ब्रह्मकर्म-पुरोधा-देवहूति-आकूति-आशिष्-एतेसप्तम्यन्ताः। इति पैप्प० सं०। ब्रह्म-क्षत्राशिष्-पुरोधा-कर्म-देवहूतयः। पा० गृ० सू०। ब्रह्म-पुरोधा-कर्माशिष्-देवहूतयः। मै० सं०। ब्रह्मक्षत्र-कर्माशिष्-प्रतिष्ठादेवहूतयः। शा० श्रौ० सू०।

इस शुभ आशाजनक कार्य में (अस्यां देवहूत्यां) इस देव परिषद् में जिस में विद्वानों को बुलाया गया है (सः) वह परमात्मा (मा अवतु) मेरी रक्षा करे, (स्वाहा) यही मेरी उत्तम कामना सफल हो ।

अग्निर्वनस्पतीनामधिपतिः स मावतु । ० ॥ २ ॥

भा०—जिस प्रकार सब (वनस्पतीनाम् अधि-पतिः) वनस्पतियों का स्वामी (अग्निः) अग्नि है, उनको काष्ठरूप में जलाता और रस रूप से पुष्ट करता है उसी प्रकार वह प्रकाशरूप परमात्मा भी सब (वनस्पतीनाम्) भोग साधन इन्द्रियों के पति जीवात्माओं का (अधि-पतिः) स्वामी परमेश्वर है (सः) वह (माम् अवतु) मेरी (अस्मिन् ब्रह्मणि०) इस वेदाध्ययन ब्रह्मोपसना आदि कार्यों में रक्षा करे यह मेरी शुभ प्रार्थना है ।

द्यावापृथिवी दातॄणामधिपत्नी ते मावताम् । ० ॥ ३ ॥

भा०—(दातॄणां) दानशील पुरुषों के (अधि पत्नी) अधिपति, मुख्य दाता (द्यावापृथिवी) ज़मीन और आसमान या सूर्य और पृथिवी दोनों (माम्) मुझे (अस्मिन् ब्रह्मणि इत्यादि) इस ब्रह्मोपासना, वेदाध्ययन आदि पूर्वोक्त शुभ कार्यों में (अवताम्) रक्षा करें ।

वरुणोपामधिपतिः स मावतु । ० ॥ ४ ॥

भा०—जैसे समस्त जलों का स्वामी (वरुणः) महान् समुद्र है । उसी प्रकार (अपां) व्यापक लोकों का और प्रजाओं का (अधि-पतिः) स्वामी (वरुणः) सर्वव्यापक, सर्वश्रेष्ठ प्रभु है । (सः) वह (अस्मिन् ब्रह्मणि० इत्यादि) इन ब्रह्मोपासना वेदाध्ययन आदि शुभ कार्यों में (मा अवतु) मेरी रक्षा करे ।

२–‘ अग्निर्भूतानामधिपतिः ’ शा० औ० सू० ।

४–‘ वरुणो धर्माणामधिपतिः ’ शा० औ० सू० ।

मित्रावरुणौ वृष्ट्याधिपती तौ मावताम् । ०॥ ५ ॥

भा०—(मित्रावरुणौ) मित्र=सूर्य और वरुण=समुद्र दोनों (वृष्ट्याः) वृष्टि के (अधि-पती) स्वामी हैं, वे दोनों भी (मा) मुझ को उक्त शुभ कार्यों में (अवताम्) रक्षा करें । यही हमारी शुभ प्रार्थना है ।

मरुतः पर्वतानामधिपतयस्ते मावन्तु । ० ॥ ६ ॥

भा०—(मरुतः) वायुएं जिस प्रकार (पर्वतानाम्) उच्च शिखरों वाले पर्वतों या मेघों के (अधि-पतयः) अधिपति हैं अपने वेग से उन तक वर्षा के जल पहुंचाने वाले और मेघों को सर्वत्र उड़ा ले जाने वाले हैं उसी प्रकार पर्व=पोरुओं के बने देहों के अधिपति ये प्राण हैं । ये पूर्वोक्त शुभ कार्यों में (मा अवन्तु) मेरी रक्षा करें ।

सोमो वीरुधामधिपतिः स मावतु । ० ॥ ७ ॥

भा०—(सोमः) सब का उत्पादक, सौम्यगुण से युक्त ओषधिरस सोमलता, जिस प्रकार सब से श्रेष्ठ होने से (वीरुधाम्) नाना प्रकार से उगने वाली लताओं का (अधि-पतिः) पालक है उसी प्रकार सौम्यगुण युक्त राजा नाना प्रकार से फलने फूलने वाली प्रजाओं का अधिपति है । (सः) वह उक्त शुभ कार्यों में (मा अवतु) मेरी रक्षा करे ।

वायुरन्तरिक्षस्याधिपतिः स० । ० ॥ ८ ॥

६—' विष्णुः पर्वतानामधिपतिः ' इति पैप्प० सं० । 'मरुतो गणानामधिपतिः' इति तै० सं० ।

७—' सोमः पयसामधिपतिः ' इति पैप्प० सं० । ' ओषधीनामधिपतिः ' इति तै० सं० ।

८—' सूर्यो दिवाधिपतिः ' इति पैप्प० सं० । ' नक्षत्राणामधिपतिः ' शा० श्रौ० सू० ।

भा०—(वायुः) सर्वत्र व्यापक, गतिशील वायु जिस प्रकार (अन्तरिक्षस्य) अन्तरिक्ष का (अधि-पतिः) स्वामी है उसी प्रकार वह प्राण रूप शक्ति देह की अधिपति है। (सः) वह उक्त शुभ कार्यों में (मा अवतु) मेरी रक्षा करे।

सूर्यश्चक्षुषामधिपतिः स० । ० ॥ ९ ॥

भा०—(सूर्यः) सबका प्रेरक, प्रकाशमय सूर्य जिस प्रकार अपने तेजो गुण से हमारी (चक्षुषां) आंखों का (अधि-पतिः) स्वामी है। उसी प्रकार वह ज्ञान-तेजोमय सब का प्रकाशक प्रभु हमारी ज्ञान चक्षुओं का भी स्वामी है। (सः०) वह उक्त शुभ कार्यों में मेरी रक्षा करे।

चन्द्रमा नक्षत्राणामधिपतिः स० । ० ॥ १० ॥

भा०—रात्रि के समय (चन्द्रमा) सब का आह्लादक चन्द्र (नक्षत्राणां अधिपतिः) नक्षत्रों, तारों का (अधि-पतिः) स्वामी है, सबसे अधिक प्रकाशक है उसी प्रकार राजा या वह प्रभु, प्रजाओं का स्वामी है (सः०) वह उक्त शुभ कार्यों में मेरी रक्षा करे।

इन्द्रो दिवोऽधिपतिः स० । ० ॥ ११ ॥

भा०—(दिवः) द्यौः ब्रह्माण्ड का जिस प्रकार (इन्द्रः) सूर्य ही (अधि-पतिः) स्वामी है उसी प्रकार वह सर्वैश्वर्यवान् प्रभु इन प्रकाशमान सूर्यों का भी स्वामी है। वह उक्त शुभ कार्यों में हमारी रक्षा करे।

मरुतां पिता पशूनामधिपतिः स० । ० १२ ॥

भा०—(मरुतां पिता) समस्त वायुओं या विद्वानों का (पिता)

११–'इन्द्रः कर्मणामधिपतिः' इति पैप्प० सं०। 'ज्येष्ठानामधिपतिः' इति शा० श्रौ० सू०।

१२–'रुद्रः पशूनामधिपतिः' इति पैप्प० सं०।

पालन कर्त्ता ही (पशूनाम्) पशुओं का या जीवों का (अधि-पतिः) स्वामी है, उसी प्रकार प्राणों का पालक जीव ही देह में (पशूनाम्) दर्शनकारी इन्द्रियों का स्वामी है (सः) वह उक्त शुभ कार्यों में हमारी रक्षा करे।

मृत्युः प्रजानामधिपतिः स० । ० ॥ १३ ॥

भा०—(मृत्युः) मारण-धर्मा मृत्यु, मौत ही (प्रजानाम्) जिस प्रकार समस्त उत्पन्न होने वाली प्रजाओं का (अधि-पतिः) स्वामी है उसी प्रकार वह प्रभु सबका अन्तकारी होने से सब का स्वामी है (सः) वह उक्त शुभ कामों में हमारी रक्षा करे।

यमः पितृणामधिपतिः स मावतु । ० ॥ १४ ॥

भा०—(यमः) सबका नियन्ता यम=ब्रह्मचारी जिस प्रकार (पितृणाम्) पालक-प्राणों का अधिपति है या नियन्ता राजा अन्य पितृ=शासकों का अधिपति है या नियन्ता जीव पितृ=इन्द्रियों का अधिपति है या यम=सूर्य पितृ=किरणों या ऋतुओं का स्वामी है उसी प्रकार प्रभु सब परिपालन करने वालों का भी स्वामी है। वह मेरी उक्त शुभ कार्यों में रक्षा करे।

पितरः परे ते मावन्तु । ० ॥ १५ ॥

भा०—(पितरः) पालन करने वाले (परे) वे जो हम से पूर्व विद्यमान हैं या हमसे श्रेष्ठ हैं (ते) वे (मा अवन्तु) मेरी उक्त शुभ कार्यों में रक्षा करें।

तता अवरे ते० । ० ॥ १६ ॥

१३–'प्रजापतिः प्रजानामधिपतिः' इति पैप्प० सं०।

१४–'यमः पृथिव्या अधिपतिः' इति तै० सं०।

भा०—(ततः) पूर्व पुरुषों की सन्तानें (अवरे) जो बाद में या उनसे उतर कर हैं (ते) वे भी मेरी उक्त शुभ कार्यों में रक्षा करें।

ततस्ततामहास्ते मावन्तु।
अस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥ १७ ॥

भा०—(ततः) उनसे उतर कर (ततामहाः) हमारे सन्तानों के भी सन्तान हैं (ते) वे (मा० अवन्तु) मेरी (अस्मिन् ब्रह्मणि०) उक्त वेदाध्ययन, यज्ञ, पुरोहिताई, प्रतिष्ठा, यज्ञ-चयन, सद्विचार, सदाशा, विद्वत्सभा आदि सत्कार्यों में रक्षा करें। यही हमारी शुभ प्रार्थना है।

[२५] गर्भाशय में वीर्यस्थापन का उपदेश।

ब्रह्मा ऋषिः। योनिगर्भो देवता। १–१२ अनुष्टुभः, १३ विराड् पुरस्ताद् बृहती।
त्रयोदशर्चं सूक्तम् ॥

१७—'ततस्ततामहा' इति ह्विटनिकामितः। 'पितरः परे तताः ततामहा-
[illegible]०' इति पैप्प० सं०। 'पितरः पितामहाः परेऽवरे ततास्तता-
महा इह मा-' इति तै० सं०। 'पितरः पितामहाः परेऽवरे ते नः' इति
मै० सं०। 'पुरोहितिर्यज्ञो [illegible]०, चित्तं [illegible]०, [illegible]
[illegible]०, [illegible]' इति [illegible]
[illegible] सं० [illegible]। [illegible], [illegible], [illegible],
[illegible], [illegible], [illegible], [illegible]
[illegible]' पैप्प० सं०।

पर्वताद् दिवो योनेरङ्गादङ्गात् समाभृतम् ।
शेपो गर्भस्य रेतोधाः सरौ पर्णमिवा दधत् ॥ १ ॥

भा०—गर्भाधान के अवसर में वीर्यस्थापन का उपदेश करते हैं। (पर्वतात्) मेघ से जिस प्रकार स्थान २ से जल बरसता है या जिस प्रकार पर्वत से रिस कर स्रोत प्रवाहित होता है, (दिवः) कारणभूत सूर्य से जिस प्रकार तेज निकलता है उसी प्रकार (योनेः) शरीर के (अङ्गात् अङ्गात्) प्रत्येक अंग से (सम् आभृतम्) लाकर एकत्र किये गये (शेपः) वीर्य सामर्थ्य को (गर्भस्य) गर्भ का (रेतोधाः) मूलभूत बीज का स्थापन करने वाला पुरुष (आदधत्) गर्भाशय में इस प्रकार आधान करे जैसे (सरौ पर्णम् इव) आकाश में पर्ण=सूर्य को ईश्वर ने स्थापन किया है।

यथेयं पृथिवी मही भूतानां गर्भमादधे ।
एवा दधामि ते गर्भं तस्मै त्वामवसे हुवे ॥ २ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (मही) विशाल (पृथिवी) पृथिवी (भूतानां) समस्त प्राणियों को (गर्भम्) अपने गर्भ में (आदधे) धारण करती है। इसी प्रकार मैं पति (ते) तुझ अपनी धर्मपत्नी के शरीर में (गर्भम्) गर्भ को (दधे) धारण कराता हूं क्योंकि तू ही मानव जीवों को गर्भ में धारण करने हारी भूमि के समान है। (तस्मै) उस गर्भ के (अवसे) रक्षा करने के लिये ही मैं (त्वाम् हुवे) तुझे बुलाता हूं या उपदेश करता हूं।

---

[२५] १–(च०) 'शरौ' इति ह्विटनिकामितः। 'त्सरौ' इति वेबरकामितः।
२–(द्वि०) 'उत्ताना गर्भमादधे' इति ऋ०। 'तिष्ठन्ती गर्भमादधे' इति आपस्त० म० पा०।

गर्भं धेहि सिनीवालि गर्भं धेहि सरस्वति ।
गर्भं ते अश्विनोभा धत्तां पुष्करस्रजा ॥ ३ ॥

ऋ० १० । १८४ । २ ॥

भा०—हे (सिनीवालि) सिनीवालि ! भूमे, जाये ! (गर्भं धेहि) तू गर्भ को धारण कर । हे (सरस्वति) सुभगे ! (गर्भं धेहि) तू गर्भ को धारण कर । (उभौ) दोनों (पुष्करस्रजा) पुष्कर पुष्टि करने वाले और सर्जन करने वाले मूलकारण को धारण करने वाले (अश्विनौ) परस्पर व्याप्त मातृ-पितृ-अंश दोनों (ते गर्भम् धत्तां) तेरे भीतर गर्भ को धारण करावें ।

पुरुष के वीर्य का अंश और स्त्री के रजोंऽश दोनों यहां पुष्करस्रज् 'अश्विन्' हैं । योषा वै सिनीवाली । श० ६ । ५ । १ । १० ॥

गर्भं ते मित्रावरुणौ गर्भं देवो बृहस्पतिः ।
गर्भं त इन्द्रश्चाग्निश्च गर्भं धाता दधातु ते ॥ ४ ॥

भा०—(मित्रावरुणौ) मित्र और वरुण (ते गर्भं) तेरे गर्भ को पुष्ट करें (देवः) प्रकाशमान् (बृहस्पतिः) सूर्य (गर्भं) गर्भ को पुष्ट करे और (इन्द्रः च अग्निः च) इन्द्र=वायु और अग्नि भी (ते गर्भं) तेरे गर्भ को पुष्ट करें और (धाता) पोषक परमात्मा भी (ते गर्भं) तेरे गर्भ को (दधातु) पालित पोषित करे ।

३–(तृ०) 'गर्भं तेऽश्विनौ देवाना-' इति ऋ० । (प्र० द्वि०) 'देहि' इति पैप्प० सं० । (द्वि०) 'धेहि पृथुष्टुके' इति तै० आ० । (तृ०) 'अश्विनावुभावा ध-' हि० गृ० सू० ।

४–(प्र०) 'गर्भं ते राजा वरुणो' इति पैप्प० सं० ।

विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिंशतु ।
आ सिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते ॥ ५ ॥

ऋ० १० । १८४ । १ ॥

भा०—(विष्णुः) शरीर में व्यापक रुधिर शक्ति (योनिम्) गर्भ के स्थान को (कल्पयतु) गर्भधारण में समर्थ बनावे और (त्वष्टा) शरीर को विशेष रूपवान् बनाने वाली शक्ति (रूपाणि) गर्भाशय में रूप को, सांचे को या स्त्री-योनि में स्थित विशेष डिम्बों को (पिंशतु) छोटे २ कणों के रूप में उत्पन्न करे । और (प्रजापतिः) प्रजा का पालक पति (आसिञ्चतु) वीर्य का योनि में आ सेचन करे और (धाता) मातृ-शरीर में विद्यमान् पोषक प्राणशक्ति (ते) तेरे उस (गर्भम्) गर्भ को (दधातु) धारण, पोषण, पालन करे । अर्थात् गिरने और विकृत होने से बचावे । पौराणिक पूजाओं में अर्घ-पात्र में लाल फूल और श्वेत फूलों की अर्घा देने में यही मन्त्र मूल है । इसी प्रकार शतपथ में उखा सम्भरण का प्रकरण इसी प्रकरण की रूपान्तर से व्याख्या है ।

यद् वेद राजा वरुणो यद् वा देवी सरस्वती ।
यदिन्द्रो वृत्रहा वेद तद् गर्भकरणं पिब ॥ ६ ॥

भा०—गर्भपोषक, गर्भविधायक पान करने योग्य ओषधि का उपदेश करते हैं । हे स्त्री ! (यद्) जिसको (राजा वरुणः) राजा वरुण=अपान, व्यान, वायु और क्लोम भाग (वेद) जानता है । (यद् वा) और जिसको (देवी सवस्वंती) देवी सरस्वती मान सशक्ति स्वतः स्त्री, (वेद) जानती है । और (यत्) जिसको (वृत्रहा) विघ्नों का नाशक (इन्द्रः) वह ऐश्वर्य-

६–(च०) 'गर्भंकरणं' इति क्वचित् । (द्वि०) 'वेद देवो बृहस्पति' (तृ०) 'इन्द्रो यद् वृत्रहा' इति पैप्प० सं० ।

शील इन्द्र. वीर्य प्राप्त (वेद) जानता है उस (गर्भकरणं) गर्भ के विधायक, गर्भ के पोषक ओषध को (पिब) पान कर ।

गर्भो अस्योषधीनां गर्भो वनस्पतीनाम् ।
गर्भो विश्वस्य भूतस्य सो अंग्ने गर्भमेह धाः ॥ ७ ॥

यजु० १२ । ३७ ॥

भा०—हे अग्ने ! तू (ओषधीनां गर्भः असि) ओषधियों का भी गर्भ है, उनके भीतर सार रूप से विद्यमान् है । और (वनस्पतीनाम् गर्भम् असि) वनस्पति=विशाल वृक्षों का भी गर्भ है, उनका भी सार है । और तू (विश्वस्य भूतस्य) समस्त उत्पन्न जगत् का भी (गर्भः) गर्भ-ग्रहण करने वाला आश्रय है (सः) वह तू (इह) इस योनि में भी (गर्भं) गर्भ को (धाः) धारण करा ।

अधि स्कन्द वीरयस्व गर्भमा धेहि योन्याम् ।
वृषासि वृष्ण्यावन् प्रजायै त्वा नयामसि ॥ ८ ॥

भा०—हे वीर पुरुष ! (अधि-स्कन्द) अपने क्षेत्र में जा, (वीरयस्व) विशेष नियम से अंग का प्रवेश कर, और (योन्याम्) योनिभाग में (गर्भम्) गर्भ को (आ धेहि) स्थापन कर । (वृषा असि तू वीर्यसेचन में समर्थ हो । हे (वृष्ण्यावन्) वीर्यसेचन से समर्थ पुरुष ! (प्रजायै) प्रजा के उत्पन्न करने के लिये ही (त्वा) तुझ को हम, स्त्रियां (नयामसि)

७-‘ अग्ने गर्भो असि ’ इति तै० सं०, मै० सं० ।

८-(प्र०) ‘ अधिस्कन्द ’, (तृ०) ‘ वृषाणां वृष्ण्यावन् ’ इति पै० सं० । (प्र०) ‘ अभिक्रन्द वीरयस्व ’ (द्वि०) ‘ धेहि योन्याम् ’ (तृ०) ‘ वृषाणां वृषभोसि ’ (च०) ‘ त्वा हवामहे ’ इति कौ० गृ० सू० ।

प्राप्त करती हैं। अथवा हम अनुभवी पुरुष (त्वा नयामसि) तुझे योग्य पत्नी के पास प्राप्त कराते हैं।

वि जिहीष्व बार्हत्सामे गर्भस्ते योनिमा शयाम्।
अदुष्टे देवाः पुत्रं सोमपा उभयाविनम् ॥ ९ ॥

भा०—हे (बार्हत्सामे) बार्हत्सामे ! जाये ! (वि जिहीष्व) तू भी विशेष रूप से प्रयत्न कर जिससे (गर्भः) वीर्यरूप गर्भ (ते) तेरी (योनिम्) गर्भस्थान के कमलभाग में (आ-शयाम्) अच्छी प्रकार चला जाय। (देवाः) देवगण, (सोम-पाः) वीर्य का पालन करने वाले, (ते) तुझे ऐसा (उभयाविनं) हमारा तुम्हारा दोनों का सम्मिलित (पुत्रं) पुत्र (अदुः) प्रदान करें।

धातः श्रेष्ठेन रूपेणास्या नार्यां गवीन्योः।
पुमांसं पुत्रमाधेहि दशमे मासि सूतवे ॥ १० ॥

ऋ० १० । १८४ । परि० ॥

भा०—हे (धातः) वीर्य के आधान करने हारे पुरुष ! तू (अस्याः नार्याः) इस नारी के (गवीन्योः) गविनी नामक दोनों नाड़ियों के बीच में (श्रेष्ठेन रूपेण) श्रेष्ठ, उत्तम रूप से युक्त सुन्दर (पुमांसं) पुमान् (पुत्रम्) पुत्र का (आ-धेहि) आधान कर जिससे (दशमे मासि) दसवें महीने (सूतवे) उत्पन्न हो।

त्वष्टः श्रेष्ठेन० । ० ॥ ११ ॥

९–(तृ०) 'ददन् ते पुत्रं देवा' इति पैप्प० सं०।

१०–(प्र०) 'विष्णोः श्रे०, अस्यां नार्यां गवीन्याम्' इति ऋ०। (तृ०) 'पुमांसं गर्भं' इति आप० म० पा०। (प्र०) 'विष्णोः श्रेष्ठेन०'

११–(प्र०) 'त्वष्टः' इति पैप्प० सं०।

भा०—हे (त्वष्टः) पुत्र के शरीर के सुघटित, सुरूप करने में समर्थ पुरुष ! तू इस नारी की गविनी नामक नाड़ियों के बीच (श्रेष्ठेन०) श्रेष्ठ रूप से युक्त सुन्दर पुमान् पुत्र को दसवें मास में प्रसव करने के लिये आधान कर ।

सवितुः श्रेष्ठेन० । ० ॥ १२ ॥

भा०—हे (सवितः) पुत्रोत्पादक पिता ! तू इस अपनी स्त्री की गवीनी नामक नाड़ियों के बीच में दसवें मास में प्रसव होने के लिये (श्रेष्ठेन रूपेण०) श्रेष्ठ सुन्दर रूप से सम्पन्न पुमान् पुत्र का आधान कर ।

प्रजापते श्रेष्ठेन रूपेणास्या नार्यां गवीन्योः ।
पुमांसं पुत्रमा धेहि दशमे मासि सूतवे ॥ १३ ॥

भा०—हे (प्रजापते) प्रजा के परिपालक पते ! तू (अस्याः नार्याः गवीन्योः) इस नारी की गवीनी नामक नाड़ियों के बीच में (दशमे मासि सूतवे) दसवें महीने में प्रसव करने के लिये (पुमांसं पुत्रम्) पुमान् पुत्र को (आ-धेहि) आधान कर ।

---

[२६] योग साधना ।

ब्रह्मा ऋषिः । वास्तोष्पत्यादयो मन्त्रोक्ता देवताः । १, ५ विराड्गायत्र्यौ, २, ४, ६, ७, ८, १०, ११ त्रिपदाप्राजापत्या बृहत्यः, ३ त्रिपदापिपीलिकामध्या पुरोष्णिक्, १—११ एकावसानाः, १२ परातिजागता विराड् जगती । द्वादशर्चं सूक्तम् ॥

यजूंषि यज्ञे समिधः स्वाहाग्निः प्रविद्वानिह वो युनक्तु ॥ १ ॥

भा०—(यज्ञे) यज्ञमय ब्रह्म में (यजूंषि) यजुष् रूप (समिधः) समिधें, प्राणों को ही (स्वाहा) उत्तम रूप से आहुति करे, (अग्निः)

१२-(प्र०) 'सं सवितुः' इति पैप्प० सं० ।

प्रकाशस्वरूप, ज्ञानी (प्र विद्वान्) उनको जानने हारा (वः) हे प्राणो ! तुम को (युनक्तु) यज्ञमय परमब्रह्म में समाधि द्वारा लगावे। प्राण, मन, अन्न, श्रद्धा, मज्जा ये सब पदार्थ यजु हैं, स मित् प्राण हैं ।

युनक्तु देवः सविता प्रजानन्नस्मिन् यज्ञे महिषः स्वाहा ॥ २ ॥

भा०—(सविता देवः) सब का प्रेरक आत्मा (महिषः) महान् (प्र-जानन्) समस्त पदार्थों को भली प्रकार जानता हुआ (अस्मिन् यज्ञे) इस श्रेष्ठतम ब्रह्म में (युनक्तु) समाहित करे (स्वाहा) यही उत्तम आहुति है ।

इन्द्र उक्थामदान्यस्मिन् यज्ञे प्रविद्वान् युनक्तु सुयुजः स्वाहा ॥३॥

भा०—(इन्द्रः) ऐश्वर्यवान्, ज्ञानी पुरुष (अस्मिन् यज्ञे) इस यज्ञमय परम आत्मा में (उक्थ-मदानि) ब्रह्म के आनन्दों को (प्र विद्वान्) भलीभांति लाभ करता हुआ (सु-युजः) उत्तम रूप से योग करने वाले योगियों को या इन्द्रियों को (युनक्तु) उसी प्रभु में लगा दे (स्वाहा) यह सब से उत्तम आहुति है ।

प्रैषा यज्ञे निविदः स्वाहा शिष्टाः पत्नीभिर्वहतेह युक्ताः ॥ ४ ॥

भा०—(प्रैषाः) प्रेषाएं ही (यज्ञे) यज्ञ में (नि-विदः) 'निवित्' हैं । हे पुरुषो ! यही उत्तम आहुतियां हैं। आप लोग (शिष्टाः) अपने मन और इन्द्रियों को वशीभूत कर विद्वान् होकर (युक्ताः) समाधि युक्त चित्त होकर (पत्नीभिः) अपनी पत्नियों और पालकशक्तियों सहित (इह) इस ब्रह्मयज्ञ में (वहत) प्राप्त होवो ।

[२६] २–' प्रजानन् यज्ञे सयुजः स्वाहा ' इति पैप्प० सं० ।

३–' उक्थमदानि ' इति क्वचित् ।

४–' प्रेषा निविदा प्रिया यजूंषि ' इति पैप्प० सं० ।

'प्रैषाः'=प्रकृष्ट, उत्तम मानस इच्छाएं प्रेरणाएं ही (निविदः) सब प्रकार के उत्कृष्ट ज्ञान कराने वाली शक्तियां हैं । उनको (यज्ञे स्वाहा) यज्ञमय प्रभु में आहुति करो, उसी में लगा दो ।

छन्दांसि यज्ञे मरुतः स्वाहा मातेव पुत्रं पिपृतेह युक्ताः ॥ ५ ॥

भा०—(माता पुत्रम् इव) जिस प्रकार माता अपने पुत्र को पालन पोषण करती है उस प्रकार आप लोग (युक्ताः) प्रेम से उस परमब्रह्म में समाधि मग्न होकर (पिपृत) प्राणों का पालन करो । (यज्ञे) उस संगम-स्थान, एकमात्र केन्द्र उपास्यदेव में (छन्दांसि) प्राण गण ही (मरुतः) मरुत् रूप हैं, वे भी (स्वाहा) उस यज्ञमय आत्मा में सुख से आहुति हों उसमें लीन हों ।

एयमंगन् बर्हिषा प्रोक्षणीभिर्यज्ञं तन्वानादितिः स्वाहा ॥ ६ ॥

भा०—(इयम्) यह (अदितिः) अखण्ड, चितिशक्ति प्रकाशस्वरूप विवेक ख्याति (प्रोक्षणीभिः) प्रोक्षण-दिव्य जलों द्वारा आनन्दधाराओं और ज्ञानों द्वारा और (बर्हिषा) बढ़ने वाले ब्रह्मज्ञान से (यज्ञं तन्वाना)- यज्ञमय देव का साक्षात् कराती हुई (आ अगन्) प्रकट होती है । (स्वाहा) इसमें मग्न होना ही परम आहुति है । दिव्याः आपः प्रोक्षण्यः । तै० २ । १ । ५ । १ ॥ धर्ममेघ समाधि में आत्म भूमि में वर्षने वाला सोमबिन्दु रस ही 'प्रोक्षणी' है ।

विष्णुर्युनक्तु बहुधा तपांस्यस्मिन् यज्ञे सुयुजः स्वाहा ॥ ७ ॥

भा०—हे (सुयुजः) उत्तम रीति से योग का सम्पादन करने हारे विद्वान् पुरुषो ! (अस्मिन् यज्ञे) इस योगमय अध्यात्म यज्ञ में (विष्णुः)

७–'सयुजः' इति पैप्प० सं० ।

वह प्रभु परमात्मा (तपांसि) तपस्याओं को (युनक्तु) आप में सफलता पूर्वक लगावे। (स्वाहा) यही सबसे श्रेष्ठ आहुति है।

त्वष्टा युनक्तु बहुधा नु रूपा अस्मिन् यज्ञे सुयुजः स्वाहा ॥ ८ ॥

भा०—हे (सुयुजः) उत्तम योगियो ! (अस्मिन् यज्ञे) इस योगमय आत्मयज्ञ साक्षात्कार में (त्वष्टा) सब का उत्पादक प्रभु (बहुधा रूपा) नाना प्रकार के रूपों—इन्द्रियों को (युनक्तु) युक्त करे (स्वाहा) यही उत्तम आहुति है।

भगो युनक्त्वाशिषो न्व१स्मा अस्मिन् यज्ञे प्रविद्वान् युनक्तु सुयुजः स्वाहा ॥ ९ ॥

भा०—हे (सुयुजः) उत्तम योगियो ! (भगः) ऐश्वर्यवान् समस्त विभूतियों का स्वामी, प्रभु, परमात्मा (अस्मै नु) इस योगी या आत्मा की (आशिषः युनक्तु) समस्त उत्तम अभिलाषाओं को पूर्ण करे। और इसी कारण (अस्मिन् यज्ञे) इस ब्रह्ममय यज्ञ में (प्र विद्वान्) उत्तम ज्ञानी पुरुष (युनक्तु) समाधिमग्न हो। (स्वाहा) यही सब से उत्तम आहुति है।

सोमो युनक्तु बहुधा पयांस्यस्मिन् यज्ञे सुयुजः स्वाहा ॥ १० ॥

भा०—हे (सु-युजः) सु-योगियो ! (अस्मिन् यज्ञे) इस ब्रह्ममय अध्यात्म यज्ञ में (सोमः) सब का प्रेरक प्रभु अथवा आनन्द रस का उत्पादक सोम प्रभु (बहुधा) नाना प्रकार के (पयांसि) आनन्द जलों का (युनक्तु) हमारे अन्तःकरण में प्रकट करे। 'ततो धर्ममेघः समाधिः'।

८–'बहुधा विरूपास्मिन्' इति पैप्प० सं०। 'बहुधाऽनुरूपाः' इति ह्विटनिकामितः।

९–पूर्ववत् 'सयुजः' इति पैप्प० सं०।

यो० सू० ॥ तब धर्ममेघ समाधि का उदय होता है 'ऋतंभरा तत्र प्रज्ञा'। यो० सू० ॥ वहां सत्यपूर्ण प्रज्ञा का उदय होता है।

इन्द्रो युनक्तु बहुधा वीर्याण्यस्मिन् यज्ञे सुयुजः स्वाहा ॥ ११ ॥

भा०—हे (सु-युजः) उत्तम योगियो! (अस्मिन् यज्ञे) इस यज्ञमय आत्मा में (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् सर्व शक्तिमान्, तेजोमय प्रभु (बहुधा) नाना प्रकार से (वीर्याणि) बलों, शक्तियों को (युनक्तु) प्राप्त करावे।

बलेषु हस्तिबलादीनि। यो० सू० ॥

अश्विना ब्रह्मणा यातमर्वाञ्चौ वषट्कारेण यज्ञं वर्धयन्तौ।
बृहस्पते ब्रह्मणा याह्यर्वाङ् यज्ञो अयं स्वरिदं यजमानाय स्वाहा ॥१२॥

भा०—हे (अश्विनौ) प्राण और उदान तुम दोनो (अर्वाञ्चौ) साक्षात् होकर या शरीर के सब गुह्य स्थानों में प्रविष्ट होते हुए, (वषट्-कारेण) वषट्कार=मुख्य प्राण के बल से (यज्ञं) यज्ञरूप आत्मा की शक्ति को (वर्धयन्तौ) बढ़ाते हुए (ब्रह्मणा) ब्रह्म, परमात्मा के बल से (यातम्) गमन करो। हे (बृहस्पते) बृहती वाणी या ब्रह्मविद्या के पालक योगिन् तूभी (ब्रह्मणा) ब्रह्मज्ञान से (अर्वाङ्) साक्षात् आत्मरूप को (याहि) प्राप्त कर। (अयं यज्ञः स्वः) यही आत्मा का 'स्व' स्वरूप साक्षात् स्वः–मोक्ष-धाम है। (इदं) यह साक्षात् ब्रह्म (यजमानाय) देवोपासना करने वाले आत्मा के लिये (स्वाहा) सब से श्रेष्ठ आहुति होने का विषय है।

प्राणो वै वषट्कारः। श० ४। २। १। २६ ॥ एते एव वषट्कारस्य प्रियतमे तनू यदोजश्च सहश्च। कौ० ३। ५ ॥ तस्य वा एतस्य ब्रह्मयज्ञस्य चत्वारो वषट्काराः यद् वातो वाति, यद्विद्योतते, यत्स्तनयति, यदवस्फूर्जयति ॥ श० ११। ५। ६। ६ ॥ त्रयो वै वषट्कारा वज्रो धामच्छद्रिक्तः।

१२–(च०) 'यज्ञं वयं स्वरितं यजमानाय धेहि स्वाहा' इति पैप्प० सं०।

स यद्देवोभ्यैर्बलं वषट्करोति स वज्रः । अथ यः संततो निर्हाणच्छत् स धामच्छत् अथ येनैव वषट् पराध्नोति स रिक्तः । मे० उ० ३ । ३ ॥

इति पञ्चमोऽनुवाकः ।

[तत्र सूक्तानि पञ्च, ऋचश्चैकोनसप्ततिः ।]

[२७] ब्रह्मोपासना ।

ब्रह्मा ऋषिः । अग्निर्देवता । १ बृहतीगर्भा त्रिष्टुप्, २ द्विपदा साम्नी भुरिगनुष्टुप्, ३ द्विपदा आर्ची बृहती, ४ द्विपदा *साम्नी भुरिक् बृहती*, ५ *द्विपदा साम्नी त्रिष्टुप्*, ६ द्विपदा विराड् नाम गायत्री, ७ द्विपदा साम्नीबृहती, २-७ एकावसानाः, ८ संस्तार पंक्तिः, ९ षट्पदा अनुष्टुब्गर्भा परातीजगती, १०-१२ परोष्णिगहः । द्वादशर्चं सूक्तम् ॥

ऊर्ध्वा अस्य समिधो भवन्त्यूर्ध्वा शुक्रा शोचींष्यग्नेः ।
द्युमत्तमा सुप्रतीकः ससूनुस्तनूनपादसुरो भूरिपाणिः ॥ १ ॥

यजु० २७ । ११ ॥

भा०—(अस्य) इस प्रभु परमात्मा रूप अग्नि के (समिधः) उत्तम *रीति से देदीप्यमान काष्ठाएं, सूर्यादि लोक* (ऊर्ध्वाः भवन्ति) ऊपर विराजमान हैं । (अग्नेः) उस ज्ञान और प्रकाशस्वरूप ईश्वर की (शुक्रा) कान्तिमान (शोचींषि) ज्योतियां (ऊर्ध्वा) सब से ऊपर विराजमान हैं । वह (द्युमत्तमा) सब से अधिक तेजस्वी, (सुप्रतीकः) सब से अधिक सुरूप

[२७] १–'द्युमत्तमाः सुप्रतीकस्यसूनोः' इत्यन्तां ऋक् स माप्यते । यजु० । (प्र०) 'भवन्तूर्ध्वा', 'सुप्रतीकस्य सूनोः' (च०) 'असुरो विश्ववेदाः' इति पैप्प० सं० ।

(ससूनुः) अपने समस्त पुत्ररूप प्रजाओं सहित (तनूनपात्) समस्त ब्रह्माण्ड रूप शरीरों को न गिरने देने हारा, उनका रक्षक (असुरः) प्राणों में भी व्यापक, महा बलवान् (भूरि-पाणिः) असंख्य हाथों से युक्त है, इसी लिये वह सब को संभालता है ।

अपाणिपादो जवनो गृहीतः पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः ॥ उप० ॥

विश्वतो बाहुरुतविश्वतस्पात् । अथर्व० ।

दे॒वो दे॒वेषु॑ दे॒वः प॒थो अ॑नक्ति मध्वा॑ घृ॒तेन॑ ॥ २ ॥

यजु० २७ । १२ ॥

भा०—(देवेषु) समस्त दिव्यगुणयुक्त प्रकाशमान् पदार्थों में से (देवः) वह एकमात्र देव सब का प्रकाशक है । वह (देवः) परमदेव (मध्वा) अमृतमय आनन्द और (घृतेन) तेजः-प्रकाश से (पथः) समस्त मार्गों को (अनक्ति) प्रकाशित करता है । देखो० ऋ० १ । १४२ । ३ ॥

मध्वा॑ य॒ज्ञं न॑क्षति प्रैणा॒नो न॒राशंसो॑ अ॒ग्निः

सु॒कृद् दे॒वः स॑वि॒ता वि॒श्ववा॑रः ॥ ३ ॥

भा०—(नराशंसः) समस्त पुरुषों, समस्त नेताओं=विद्वानों से प्रशंसा करने योग्य, सर्वस्तुत्य (अग्निः) प्रकाशस्वरूप (देवः) प्रभु (सविता) सब का प्रेरक और और उत्पादक होने से (विश्व-वारः[1]) समस्त पुरुषों से वरण करने योग्य है । वही (प्रैणानः) सब को प्रेरित या तृप्त करता हुआ (यज्ञं) यज्ञ रूप आत्मा को या समस्त भूतसर्ग को

२–(प्र०) ' देवो देवेभ्यो देवयानान् ' इति पैप्प० सं० । ' अनक्तु ' इति यजु० । ' अनक्ति ' इति तै० सं० ।

३–' नक्षसे प्रीणानः ' इति यजु० ।

१. ' सर्वस्य वरणीयः ' इति उव्वटः ।

(मध्वा) ज्ञान और आनन्द, अमृत से (नक्षति) व्याप्त करता है । इसी अर्थवाली ऋचा देखो ऋ० ६ । १४२ । ३ ॥ 'शुचिः पावको अद्‌भुतो मध्वा यज्ञं मिमिक्षति । नराशंसस्त्रिदिवो देवो देवेषु यज्ञियः ॥'

अच्छायमेति शवसा घृता चिदीडानो वह्निर्नमसा ॥ ४ ॥

यजु० २७ । १४ ॥ इत्यस्य पूर्वार्धः ॥

भा०—(घृता चित्) प्रकाशमय (शवसा) ज्ञान, बल से (नमसा) और भक्ति से (ईडानः) स्तुति करता हुआ (वह्निः) यज्ञ का निर्वाहक (अयम्) यह अध्वर्यु, अथवा ज्ञान यज्ञ का सम्पादक योगी (अच्छा) भली प्रकार उस प्रकाशमय प्रभु को (एति) प्राप्त होता है । समानार्थ ऋचा देखो ऋ० १ । १४२ । ४ ॥

अग्निः स्रुचो अध्वरेषु प्रयक्षु स यक्षदस्य महिमानमग्नेः ॥ ५ ॥

यजुः २७ । १४ इत्यस्यान्तिमश्चरणोऽस्याः पूर्वार्धः, स यक्षदादि अग्नेरित्यन्ता ऋग् यजु० २७ । १५ इत्यस्याः प्रथमश्चरणः ॥

भा०—उत्तम रीति से सम्पादित होते हुए, (अध्वरेषु) हिंसा कर्म से रहित यज्ञों में (प्रयक्षु) उस (अग्निः) प्रभु परमात्मा की ही (स्रुचः) ये सब स्तुतियां हैं । (अस्य) इस (अग्नेः) प्रभु ज्ञानमय परमेश्वर की ही (महिमानं) महिमा को (सः) वह पुरुष (यक्षत्) उपासना करे ।

तरी मन्द्रासु प्रयक्षु वसवश्चातिष्ठन् वसुधातरश्च ॥ ६ ॥

४—'घृतेन' इति क्वचित् । 'घृतेन ईडे वह्निं नमसा अग्निं स्रुचो-' इति पैप्प० सं० ।

५—' अग्निम् ', ' प्रयत्सु ' इति यजु० ।

६—'सा ईम् मन्द्रा सुप्रयसाः' इति यजुः । ' मन्द्रासु प्रयसः ' इति तै० सं० । ' प्रयसास्तरीमन् । वर्हिषो मित्रमाणाः । वसुश्चेतिष्ठो वसुधातमश्च । ' इति मै० सं० ।

भा०—(तन्त्रायु) आनन्द उत्पन्न करने हारी (प्रवतु) उत्तम रीति से की गयी योग साधनाओं में—(तरी) वह प्रभु ही समस्त दुःखों से तराने हारा होता है । उसी भवसागर से पार होने के जहाज़ में (वसवः) समस्त लोक और (मनुष्यातरः च) ज्ञान धन को धारण करने वाले ज्ञान योगी भी (अधितिष्ठन्) आश्रय लेते और उसमें विराजते हैं ।

" न तस्थिवुस्त उभे समासते " । ऋ० ॥

द्वारो देवीरन्वस्य विश्वे व्रतं रक्षन्ति विश्वहा ॥ ७ ॥

यजु० २७ । १६ [illegible] पूर्वार्धः भागः ॥

भा०—(देवीः) दिव्यगुण सम्पन्न, ज्ञानमय (द्वारः) द्वार-रूप इन्द्रियां (अनु अस्य) इस आत्मा की शक्ति के अनुकूल व्यापार करते हैं । और (विश्वे) समस्त लोक और समस्त विद्वान् भी (अस्य) इसके ही (व्रतं) उपदिष्ट कर्त्तव्यों का (विश्वहा) नाना प्रकार से (रक्षन्ति) पालन करते हैं । समानार्थ ऋचा देखो ऋ० १ । १४२ । ६ ॥

उरुव्यचसाग्नेर्धाम्ना पत्यमाने ।
आ सुष्वयन्ती यजते उपाके उषासानक्तेमं यज्ञमवतामध्वरं नः ॥८॥

यजु० २८ । २६ [illegible] उत्तरार्धः । २७ । १७ [illegible] पूर्वार्धः ॥

भा०—(अग्नेः) उस प्रकाशवान् सूर्य के समान प्रभु के (उरुव्यचसा) विशाल लोकों में व्यापक (धाम्ना) तेज से (पत्यमाने) स्वतः ऐश्वर्यवान् होती हुई (उपाके) समीप २ (यजते) परस्पर संगत होकर (आ सुस्वयन्ती) सुखपूर्वक आती हुई (उषासा-नक्ता) उषा और रात्रि-

---

७–'द्वारो देवीरन्वस्य [illegible]' इति [illegible], [illegible] ।

८–(प्र०) '[illegible]' (द्वि०) '[illegible] [illegible] यज्ञमवतामध्वरं नः' इति यजु० ।

दोनों देवी (नः) हमारे (अध्वरं) अविनाशी (इमं) इस प्रत्यक्ष (यज्ञं) यज्ञ - आत्मा की (अवताम्) रक्षा करें । समानार्थ ऋचा देखो ऋ० १ । १४२ । ७ ॥

दैव्या होतार ऊर्ध्वमध्वरं नोऽग्नेर्जिह्वयाभि गृणत गृणता नः स्विष्टये।
तिस्रो देवीर्बर्हिरेदं सदन्तामिडा सरस्वती मही भारती गृणाना ॥९॥

यजु० २७ । १८ । १९ ॥

भा०—हे (दैवा) दिव्यगुणों से युक्त (होतारः) ज्ञान ग्रहण करने वाले विद्वान् पुरुषो ! (नः) हमारे (अध्वरं) अविनाशी यज्ञ - आत्मा को (ऊर्ध्वं) उन्नत करो । (अग्नेः) उस प्रकाशस्वरूप सच्चिदानन्द प्रभु को (जिह्वया) अपनी मनोहर वाणी से (अभि गृणत) सब प्रकार से स्तुति करो । और (नः) हमारे (स्विष्टये) सुखपूर्वक ईष्ट देव पूजा के लिये या ईश्वर प्राप्ति के लिये (गृणत) हमें भी उपदेश करो । इडा—अन्न, सरस्वती=वाणी और (गृणाना) सब को उपदेश करने वाली (भारती) प्रकाशस्वरूप वेद वाणी, ये (तिस्रः देवीः) तीनों दिव्य शक्तियां (इदं) इस (बर्हिः) यज्ञ को (सदन्तां) सुशोभित करें । उसमें आ विराजमान् हों । समानार्थक ऋचा ऋ० १ । ४२ । १० ॥

तन्नस्तुरीपमद्भुतं पुरुक्षु ।
देव त्वष्टा रायस्पोषं वि ष्य नाभिमस्य ॥ १० ॥

ऋ० १ । १४२ । १० ॥ यजु० २७ । २० ॥

९–'दैव्याहोतारा' ऊर्ध्वमध्वरं नोऽग्नेर्जिह्वामभिगृणीतम् । कृणुतं नः स्विष्टिम् । तिस्रोदेवीर्बर्हिरेदं सदन्त्विडासरस्वती भारती महो गृणाना ।' इति यजुः० । (च०) 'महाभारती' इति पैप्प० सं० ।

१०–(द्वि०) 'त्वष्टासुवीर्यम्' । (तृ०) 'विष्यतु नाभिमस्मे' इति यजु० । 'पुरुवारं पुरुत्मना', 'त्वष्टा पोषाय विष्यतु राये नाभानो अस्मयुः' इति ऋ० ।

भा०—(नः) हमारा (तत्) वह चिर-स्मरणीय (तुरीपम्) अति शीघ्रता से प्राप्त करने योग्य अथवा शीघ्रता से सर्वत्र व्यापक (अद्भुतं) आश्चर्यजनक (पुरुक्षु) इन्द्रियों में स्वयं निवास करने वाला मन है। हे (देव) सर्व प्रकाशक (त्वष्टः) सूक्ष्म कर्तः परमात्मन् ! (अस्य) इस जीव के (रायः-पोषं) ज्ञान, प्राण एवं नाना सामर्थ्यों से पुष्टि को प्राप्त होने वाले (नाभिम्) बन्धन रूप देह या मन को (वि-स्य) खोल दे। हमें, मुक्ति प्रदान कर।

वन॑स्पते॒ऽव॑ सृजा॒ ररा॑णः ।
त्मना॑ दे॒वेभ्यो॑ अ॒ग्निर्ह॒व्यं श॑मि॒ता स्व॑दयतु ॥ ११ ॥

यजु० २७ । २१ ॥ ऋ० १ । १४२ । ११ ॥

भा०—आत्मा का निरूपण करते हैं। हे वनस्पते ! इन्द्रियों के परि-पालक ! तू (रराणः) रमण करता हुआ (त्मना) स्वयं (अव सृज) ईश्वर की ओर गति कर। और (शमिता) सब का कल्याणकारी, शान्ति-दायक प्रभु (अग्निः) वह प्रकाशस्वरूप (देवेभ्यः) समस्त ज्ञानी पुरुषों या इन्द्रियों के लिये (हव्यं) उपादेय, भोग्य पदार्थ या मोक्ष सुख का (स्वदयतु) आस्वादन करावे।

अग्ने॒ स्वाहा॑ कृणुहि जातवेदः ।
इन्द्रा॑य य॒ज्ञं विश्वे॑ दे॒वा ह॒विरि॒दं जु॑षन्ताम् ॥ १२ ॥

यजु० ११ । २२ ॥ ऋ० १ । १४२ । १२ ॥

११–'हव्यं शमिता सूदयाति' इति यजु०। 'अवसृजन्नुप त्मना देवान् यक्षि वनस्पते। अग्निर्हव्या सुषूदति देवो देवेषु मेधिरः' इति ऋ०। (द्वि०) 'सुम्ना देवेभ्यः' (तृ०) 'सूदयाति' इति मैत्रा० सं०।

१२–'इन्द्राय हव्यं' इति यजु०। 'इन्द्राय भागं' इति मैत्रा० सं०।

भा०—हे (जात-वेदाः) समस्त संसार के पदार्थों को जानने हारे ज्ञानमय ! हे (अग्ने) प्रकाशमय ! (स्वाहा) हमारी यही श्रेष्ठ प्रार्थना है कि आप (इन्द्राय) इस सामर्थ्यवान् आत्मा के लिये इस (यज्ञं) यज्ञ को (कृणुहि) सम्पादन करें उसके जीवनमय यज्ञ अथवा उसके कर्मफल भोग के लिये इस संसार को बनाओ (विश्वे-देवाः) समस्त देवगण, विद्वान्, इन्द्रियगण अथवा समस्त पञ्चभूत आदि (इदं हविः) इस कर्म-फल भोग या संसार में प्राप्त करने योग्य भोग को (जुषन्ताम्) प्राप्त करें। समानार्थक ऋचा देखो ऋ० १ । १४२ । १२ ॥

[२८] दीर्घ जीवन का उपाय और यज्ञोपवीत की व्याख्या।

अथर्वा ऋषिः । त्रिवृत् देवता । १—५, ८, ११, त्रिष्टुभः, ६ पञ्चपदा अतिशक्वरी, ७, ९, १०, १२, ककुम्मत्यनुष्टुप्, परोष्णिक् । चतुर्दशर्चं सूक्तम् ॥

नव॑ प्रा॒णान्न॒वभि॒: सं मि॑मीते दी॒र्घायु॒त्वाय॑ श॒तशा॑रदाय ।
हरि॑ते॒ त्रीणि॑ रज॒ते त्रीण्यय॑सि॒ त्रीणि॒ तप॒सावि॑ष्ठितानि ॥१॥

भा०—(शत-शारदाय) सौ वर्ष वाले (दीर्घायुत्वाय) दीर्घ जीवन के लिये (नव प्राणान्) नव प्राणों को (नवभिः) नव इन्द्रियों से (सं मिमीते) अच्छी प्रकार से मिला कर रखता है । जिनमें से (त्रीणि) तीन इन्द्रियें (तपसा) अपने तपः सामर्थ्य, वीर्य से (हरिते) हरित=सात्विक भाव में (वि-स्थितानि) नाना प्रकार से स्थित हैं और (त्रीणि रजते) तीन इन्द्रियें रजत=राजस भाव में विराजती हैं और (त्रीणि अयसि) तीन अयस्=तामस भाव में रहती हैं । शरीर के तीन भाग हैं, एक ग्रीवा, मुख से ऊपर का

[२८] १–(च०) 'रजसा विष्ठितानि' इति पैप्प० सं० ।

भाग, उसमें कान, आंख, नाक ये तीन प्राण विराजमान हैं। इससे आगे नाभी तक के भाग में तीन प्राण हैं, अन्न-ग्राहक मुख, रसग्राहक जीभ और हाथ। नाभि से चरणों तक या गुदा तक तीन प्राण हैं, लिंग, गुदा, चरण इस प्रकार नव प्राण शरीर के नव भागों में बंटे हुए हैं। इन तीन भागों का नाम हरित=सुवर्ण, रजत=चान्दी और अयस्=लोह हैं येही सात्विक, राजस और तामस तीन विभाग हैं।

अग्निः सूर्यश्चन्द्रमा भूमिरापो द्यौरन्तरिक्षं प्रदिशो दिशश्च।
आर्तवा ऋतुभिः संविदाना अनेन मा त्रिवृता पारयन्तु ॥ २ ॥

भा०—विराड् देह के विराड् प्राणों का वर्णन करते हैं। (अग्निः) अग्नि, (सूर्यः) सूर्य, (चन्द्रमाः) चन्द्र, (भूमिः) भूमि, (आपः) आप जल, (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष, (प्र-दिशः) दिशाएं और (दिशः) उप-दिशाएं और (आर्तवाः) ऋतुओं के विभाग, ये सब (ऋतुभिः) ऋतुओं के साथ (सं-विदानाः) सम्मेल खाते हुए (अनेन) इस (त्रिवृता) तीन तरह से बंटे हुए, तेहरे प्राण से (मा) मुझे (पारयन्तु) पार करें।

त्रयः पोषास्त्रिवृति श्रयन्तामनक्तु पूषा पयसा घृतेन।
अन्नस्य भूमा पुरुषस्य भूमा भूमा पशूनां त इह श्रयन्ताम् ॥ ३ ॥

भा०—तीन पुष्टियों का वर्णन करते हैं। (त्रि-वृति) त्रिविध प्राण में (त्रयः पोषाः) तीन प्रकार की पुष्टियां (श्रयन्तां) बनी रहें। और (पूषा) सब का पोषक परमात्मा (पयसा) वृद्धि करने वाले (घृतेन) घृत से, तेज से (अनक्तु) हमें चमकाए, पुष्ट करके प्रदीप्त करे, वे पुष्टियां तीन प्रकार की हैं एक तो (अन्नस्य भूमा) अन्न की अधिकता, (पुरुषस्य भूमा)

३–(प्र०) 'त्रिवृतः' (तृ०) 'अन्यस्य' (च०) 'भौमा', 'भौमा' इति पैप्प० सं०।

पुरुषों की अधिकता, और (पशूनां भूमा) पशुओं की अधिकता, ये तीनों ही पदार्थ अधिक मात्रा में (ते) हे पुरुष ! तुझे (इह) इस लोक में (श्रयन्ताम्) प्राप्त हों । तुझ में बने रहें ।

इममादित्या वसुना समुक्षतेममग्ने वर्धय वावृधानः ।
इममिन्द्र सं सृज वीर्येणास्मिन् त्रिवृच्छ्रयतां पोषयिष्णुः ॥ ४ ॥

भा०—हे (आदित्याः) आदित्यो ! वर्ष के १२ मासो ! तुम लोग (इयम्) इस पुरुष को (वसुना) वास के हेतु, जीवनीय पदार्थों से (सम् उक्षतम्) सींचो ! हे (अग्ने) अग्ने ! (ववृधानः) तू स्वयं बढ़ता हुआ (इमम्) इस पुरुष को (वर्धय) बढ़ा । हे (इन्द्र) परमात्मन् ! (इमं) इस पुरुष को (वीर्येण) वीर्य द्वारा (सं सृज) पुष्ट कर । और (अस्मिन्) इस पुरुष में (त्रि-वृत्) तीनों प्रकार का (पोषयिष्णुः) पुष्टिकारक अन्न (श्रयतां) निवास करे ।

भूमिष्ट्वा पातु हरितेन विश्वभृदग्निः पिपर्त्वयसा सजोषाः ।
वीरुद्भिष्टे अर्जुनं संविदानं दक्षं दधातु सुमनस्यमानम् ॥ ५ ॥

भा०—(भूमिः) भूमि (त्वा) तुझ पुरुष को (हरितेन) सुवर्ण से (पातु) रक्षा करे । और (विश्व-भृत्) सबका पालक पोषक (अग्निः) अग्नि (स-जोषाः) प्रेमपूर्वक (अयसा) अपने अयस्—लोह या तेजोमय सामर्थ्य से (पिपर्तु) पालन करे । और (ते) तेरा (अर्जुनम्) समस्त धन (वीरुद्भिः) लताओं से (सं-विदानं) सम्मिलित होकर (सु-मनस्यमानं) शुभ संकल्प उत्पन्न करता हुआ (दक्षं) बल को (दधातु) प्रदान करे ।

४–(तृ० च०) 'यस्मिन् त्रिवृच्छेतां पूपयिष्णुरिमं' इति पैप्प० सं० । 'पोषयिष्णु' इति क्वचित् ।

५–(तृ०) 'वीरुद्भिस्ते अर्जुनो सं' इति पैप्प० सं० ।

संक्षेप में--भूमि से सुवर्ण प्राप्त करे अग्नि द्वारा लोह को प्राप्त करे और लताओं के रसों से चान्दी आदि धातु को भस्म करके उत्तम बल प्राप्त करे।

त्रेधा जातं जन्मनेदं हिरण्यमग्नेरेकं प्रियतमं बभूव
सोमस्यैकं हिंसितस्य परापतत् ।
अपामेकं वेधसां रेत आहुस्तत् ते हिरण्यं त्रिवृदस्त्वायुषे ॥६॥

भा०—(इदं) यह (हिरण्यं) सुवर्ण (जन्मना) अपने जन्म से स्वरूप से ही (त्रेधा जातम्) तीन प्रकार से उत्पन्न हुआ। (एकं) एक तो (अग्नेः) अग्नि का (प्रिय-तमम्) अति अधिक प्रिय पदार्थ (बभूव) है। और (एकं) दूसरा एक (हिंसितस्य सोमस्य) पीड़ित सोम के भीतर से (परा पतत्) बाहर निकलता है। और (एकम्) तीसरा एक (वेधसाम्) सृष्टि उत्पन्न करने हारे (अपाम्) जलों का या जीवों का (रेतः) सर्व जीवों के उत्पादक वीर्य रूप (आहुः) कहते हैं। (तत्) वह (हिरण्यम्) सुवर्ण (त्रि-वृत्) तीन प्रकार का है। वह (ते) तुझ पुरुष के (आयुषे) दीर्घ जीवन के लिये (अस्तु) हो। १-अग्नि से तप्तसुवर्ण, २-ओषधियों का रस, ३ शरीर का वीर्य ये तीनों हिरण्य कहाते हैं। तीनों ही आयु को बढ़ावें।

त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम् ।
त्रेधामृतस्य चक्षणं त्रीण्यायूंषि तेऽकरम् ॥ ७ ॥

यजु० ३ । ६२ ॥

६—(द्वि०) 'वेधसः' इति ह्विटनि-कल्हिम् कामितः । 'वेधसोरेतआहुः' इति पैप्प० सं० ।

७-'त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम् । यद्देवेषु त्र्यायुषं तन्नोऽस्तु त्र्यायुषम् ॥' इति यजुर्वेदः यजु० । 'त्रिधायुषम्' (च०) 'मा कृधि' इति पैप्प० सं० । त्रिधायुषं कश्यपस्य जामदग्नेः त्रिधायुषम् । त्रीण्यमृतस्य पुष्पाणि त्रीण्यायूंषि मे कृधि । इति कौ० उ० भी० ।

भा०—(जमदग्नेः) प्रज्वलित है जाठर अग्नि जिसकी ऐसे निरोग पुरुष की (त्रि-आयुषम्) त्रिगुण आयु होती है। और (कश्यपस्य) कश्य= अमृत विन्दु या ज्ञान या वीर्य का पान या पालन करने वाले परमनिष्ठ ब्रह्मचारी की भी (त्रि-आयुषम्) त्रिगुण आयु होती है। (अमृतस्य) अमृत स्वरूप वीर्य का (त्रेधा) तीन प्रकार का (चक्षणं) साक्षात्कार होता है उनके बल पर मैं (ते) तुझ साधक के भी (त्रीणि) तीन (आयूंषि) आयुओं को (अकरम्) उत्पन्न करता हूं।

त्रयः सुपर्णास्त्रिवृता यदायन्नेकाक्षरमभिसंभूयं शक्राः।
प्रत्यौहन्मृत्युममृतेन साकमन्तर्दधाना दुरितानि विश्वा ॥ ८ ॥

भा०—(यद्) जब (शक्राः) शक्तिमान्, (त्रयः) तीन (सुपर्णाः) शुभ ज्ञानवान् आत्मा (त्रिवृता) त्रिगुण प्राण के बल से (एकाक्षरम्) एक मात्र अक्षर 'ओ३म्' पद वाच्या अविनाशी परमब्रह्म को (अभिसं-भूय) प्राप्त करके (आयन्) मोक्ष को प्राप्त होते हैं तब वे (अमृतेन) अमृतमय आत्मा के स्वरूप से (विश्वा दुरितानि) समस्त दुष्ट आचरणों को, पापों को (साकं) एक साथ ही (अन्तः दधानाः) भीतर ही रोक कर, नियमित करके (मृत्युम्) मौत को (प्रति-औहन्) वश कर लेते हैं।

तीन सुपर्ण तीन प्रकार के योगी। ध्यान योगी, कर्म योगी या वसु, रुद्र और आदित्य। अथवा इन्द्रिय मन और आत्मा।

दिवस्त्वा पातु हरितं मध्यात् त्वा पात्वर्जुनम्।
भूम्या अयस्मयं पातु प्रागाद् देवपुरा अयम् ॥ ९ ॥

भा०—वैदिक परिभाषा में शरीर के तीन भागों का वर्णन करते हैं। (अयम्) यह पुरुष, आत्मा (देव-पुराः) नाना देवों की वसी इन भोग

९–(च०) 'पुरायम्' इति पैप्प० सं०।

भूमियों में (प्र अगात्) उत्तम रीति से आता है । (हरितं) सुवर्ण=सात्विक भाव (त्वा) तुझ पुरुष को (दिवः पातु) द्यौः, मूर्धा-भाग या ऊपर के लोकों से रक्षा करें, (अर्जुनम्) अर्जुन, रजत=राजस अंश (त्वा) तुझ को (मध्यात्) बीच के भाग से अन्तरिक्ष-से (पातु) रक्षा करे । (अयस्मयं) लोहमय=तामस अंश तुझ को (भूम्याः पातु) भूमि से रक्षित करे ।

इमास्तिस्रो देवपुरास्तास्त्वा रक्षन्तु सर्वतः ।
तास्त्वं बिभ्रद् वर्चस्व्युत्तरो द्विषतां भव ॥ १० ॥

भा०—हे आत्मन् ! पुरुष ! (इमाः) ये (तिस्रः) तीन, (देव-पुराः) देव—ज्ञानप्रकाशक इन्द्रियों की नगरियां हैं। (ताः) वे ये देहरूप पुरियां (त्वा) तुझको (सर्वतः) सब प्रकार से (रक्षन्तु) रक्षा करें । हे पुरुष ! (त्वं) तू (ताः बिभ्रद्) उनको पालन पोषण और धारण करता हुआ (वर्चस्वी) वर्चस्वी, तेजस्वी होकर (द्विषतां उत्तरः) अपने शत्रु, काम क्रोध आदि भीतरी शत्रुओं पर विजयशील (भव) हो ।

पुरं देवानाममृतं हिरण्यं य आबेधे प्रथमो देवो अग्रे ।
तस्मै नमो दश प्राचीः कृणोम्यनु मन्यतां त्रिवृदाबधे मे ॥ ११ ॥

भा०—(देवानां) देवगण, इन्द्रियों महद् आदि २१ विकारों का (पुरं) पालन पोषण एवं निवास का स्थान (अमृतम्) अमृत—शुक्र है। अथवा वह अमर परम पद है इसका दूसरा नाम (हिरण्यम्) 'हिरण्य' या परम ज्योति या आत्मा (यः) जो (प्रथमः) सब से प्रथम, सब से श्रेष्ठ (देवः) जिसने परमप्रकाश स्वरूप, सर्व विजयी (अग्रे) सब से पूर्व (आ-बेधे) सबको नियमों में बांधता है। (तस्मै) उसी परम प्रभु को मैं (दश प्राचीः) दशों दिशाओं में उत्कृष्ट रूप में व्यापक जान कर (नमः कृणोमि)

११–(च०) 'त्रिवृता वधेन' इति पैप्प०सं० ।

नमस्कार करता हूं। वह (त्रिवृत्) त्रि-मात्र ओंकार, त्रिगुण शक्तिमय, प्रभु (अनु मन्यताम्) मेरे विनय को स्वीकार करे, उसी को (मे) मैं अपने लिये (आवधे) यज्ञोपवीत रूप में त्रिसूत्र करके बांधता हूं।

आ त्वा चृतत्वर्यमा पूषा बृहस्पतिः।
अहर्जातस्य यन्नाम तेन त्वाति चृतामसि ॥ १२ ॥

भा०—(अर्यमा) समस्त अरि=विघ्नकारियों, काम क्रोध आदि भीतरी दुष्ट भावों को यमन करने वाला, (पूषा) सबका पोषक (बृहस्पतिः) बृहत्-महान् लोकों का या बृहती=वेदवाणी का जो स्वामी है वह (त्वा) तुझ आत्मा को (चृतम्) बांध ले। (अहर्जातस्य) दिन में उत्पन्न होने वाले शुभ पदार्थ सूर्य का (यत् नाम) जो स्वरूप है (तेन) उससे (त्वा) तुझ पुरुष, उपनीत बालक को हम आचार्य गण भी (अति चृतामसि) सब दुष्ट भावों का अतिक्रमण करके इस भगवान् के पापनाशक, शरीरपोषक और ज्ञानवर्धक तीन गुणों से बने त्रिसूत्र से बांधते हैं।

ऋतुभिष्ट्वार्तवैरायुषे वर्चसे त्वा।
संवत्सरस्य तेजसा तेन संहनु कृण्मसि ॥ १३ ॥

अथर्व० १९ । ३७ । ४ ॥

भा०—हे पुरुष ! (ऋतुभिः) ऋतुओं से और (आर्त्तवैः) ऋतु के मास रूप भागों से जिस प्रकार यह प्रजापति का विशाल रूप बद्ध है उसी प्रकार इन ऋतुओं और ऋतु भागों से (त्वा) तुझको (आयुषे) दीर्घ जीवन, और (वर्चसे) ब्रह्मवर्चस की प्राप्ति के लिये (संवत्सरस्य तेजसे) संवत्सर=वर्ष के प्रकाश के सूर्य के समान सुवर्ण रूप तेज से (संहनु) खूब मज़बूत दृढ़ (कृण्मसि) करते हैं।

१२–' आपूषा आवृह ' इति ह्विटनिकामितः।

१३–' वर्चसे। संवत्सरस्य धायसा तेमसन्नतु गृह्णासि ' इति ह्वि० गृ० सू०।

घृतादुल्लुप्तं मधुना समक्तं भूमिदृंहमच्युतं पारयिष्णु ।
भिन्दत् सपत्नानधरांश्च कृण्वदा मां रोह महते सौभगाय ॥१४॥

ऋ० १० । १२८ खि० । आथ० १९ । ३३ । २ ॥

भा०—हे पुरुष जीव ! तू (घृतात् उत्-लुप्तं) घृत=प्रकाशमय ज्ञान से आवृत और (मधुना सम्-अक्तम्) मधु, सोममय तप या आत्मानन्द से व्याप्त (भूमि-दृंहम्) भूमि के समान दृढ़ (पारयिष्णु) समस्त विघ्नों को पार करने में समर्थ हो । और (स-पत्नान्) अपने शत्रुओं को (भिन्दत्) छिन्न भिन्न करता और (अधरान् च) उनको नीचे (कृण्वत्) करता हुआ (महते) बड़े भारी (सौभगाय) श्रेष्ठ ऐश्वर्य के प्राप्त करने के लिये (मा) मुझ आचार्य या ब्रह्म का (आ रोह) आश्रय ले ।

आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः पिता मूर्तिः प्रजापतेः । मनुः ।

[२६] रोगों का नाश करके आरोग्य होने का उपाय ।

चातन ऋषिः । जातवेदा मन्त्रोक्ताश्च देवताः । १-२, ४, ६-११, त्रिष्टुभः, ३ त्रिपदाविराड् नाम गायत्री, ५ पुरोतिजगती विराड्जगती १२-१५ अनुष्टुभ (१२ भुरिक्, १४, चतुष्पदा पराबृहती ककुम्मती) । पञ्चदशर्चं सूक्तम् ॥

पुरस्ताद् युक्तो वह जातवेदोऽग्ने विद्धि क्रियमाणं यथेदम् ।
त्वं भिषग् भेषजस्यासि कर्ता त्वया गामश्वं पुरुषं सनेम ॥ १ ॥

१४-(तृ०) 'भिन्दन्त्सपत्नान्' इति [illegible] । 'घृतादुल्लुप्तं मधुमत्सुवर्णं धनंजयं धरुणं धारयिष्णु । ऋणक् सपत्नानधरांश्च कृण्वदारोह मां महते सौभगाय ' इति ऋ० खि० ।

[२९] १-'युक्तो वह जातवेदः पुरस्तात्' अग्ने विद्धि कर्म क्रियमाणं यथेदम् (च०) ' गाः अश्वान् पुरुषान् ' इति हि० गृ० सू० ।

भा०—रोगनाशक अग्नि का उपदेश करते हैं। हे (जात-वेदः) समस्त पदार्थों को जानने वाले विद्वन्! अग्ने! तू (पुरस्तात्) सब कार्य के पूर्व ही कार्य में संचालकरूप से (नियुक्तः) नियुक्त होकर (वह) कार्य भार को अपने ऊपर ले। और (यथा) जिस प्रकार से भी (इदं) यह कार्य (क्रियमाणं) किया जाने योग्य है उसकी सब इतिकर्तव्यता को तू स्वयं (विद्धि) जान। तू ही स्वयं (भिषक्) सब रोगों, विघ्नों को दूर करने वाला है क्योंकि तू ही (भेषजस्य) रोग विनाशक औषधों का (कर्ता असि) बनाने वाला है। (त्वया) तुझ से, तेरी सहायता से (गाम्, अश्वम्, पुरुषम्) गौओं, अश्वों और पुरुषों को स्वस्थरूप में, (सनेम) प्राप्त करें।

तथा तद॑ग्ने कृणु जातवेदो विश्वे॑भिर्दे॒वैः स॒ह सं॑विदा॒नः।
यो नो॑ दि॒देव॑ यत॒मो ज॒घास॒ यथा॒ सो अ॒स्य प॑रि॒धिष्पता॑ति ॥२॥

भा०—अग्नि का दूसरा कार्य बतलाते हैं। हे (जात-वेदः) सर्व पदार्थों के ज्ञाता (अग्ने) प्रकाशक अग्ने! विद्वन्! (विश्वेभिः देवैः सह) समस्त प्रकाशक विद्वानों या विजेता, वीर, साहसी पुरुषों के साथ (सं-विदानः) सम्मति करके (तत्) उस २ विजय कार्य को (तथा) उस २ सुचारु ... से कर (यथा) जिस प्रकार से (नः यः दिदेव) जो हमें पीड़ा देता ... । (यतमः) जो कोई भी (जघास) हमें खा जाता है, हमारा माल मत्ता, बल वीर्य हर लेता है (सः अस्य) उसका वह (परिधिः) अहाता, मोर्चाबन्दी, सीमा (पताति) टूट कर गिर पड़े। डाक्टर और डाक्टरों के साथ सहमति करके रोगों को दूर करे और वीर पुरुष वीरों के साथ सम्मति करके, वे शत्रु का दुर्ग तोड़ें।

२–'त्वमग्ने' (द्वि० तृ०) 'तेना विदन् हविषा यविष्ठः' पिशाचोस्यतमो दिदेव यश्तमो ' इति पैप्प० सं०।

यथा सो अस्य परिधिष्पताति तथा तदग्ने कृणु जातवेदः ।
विश्वेभिर्देवैः सह संविदानः ॥ ३ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार भी हो (अस्य) इस शत्रु की भी (परिधिः) हदवन्दी (पताति) टूट कर गिर पड़े । हे (जातवेदः अग्ने) हे विद्वन् सेनापते ! (विश्वेभिः देवैः) समस्त विजयशील पुरुषों से (सं-विदानः) सहमति करके (तत्) वह कार्य (तथा कृणु) उसी प्रकार ही कर ।

अक्ष्यौ३ नि विध्य हृदयं नि विध्य जिह्वां नि तृन्द्धि प्र दतो मृणीहि ।
पिशाचो अस्य यतमो जघासाग्ने यविष्ठ प्रति तं शृणीहि ॥ ४ ॥

भा०—शत्रु का नाश किस प्रकार करे । हे (अग्ने) अग्ने ! सेनापते ! तू शत्रु के (अक्ष्यौ) आंखों को (नि विध्य) वेध डाल, (हृदयं निविध्य) हृदय पर भी प्रहार कर । (जिह्वां नि तृन्धि) उसकी जिह्वा को भी काट डाल, (दतः प्र मृणीहि) दांतों को भी तोड़ डाल । (अस्य) इस शत्रु का (यतमः पिशाचः) जो भी क्रूर मांसभक्षी जन्तु उसके मांस, या शरीरसम्पत्ति को (जघास) खा जाता हो (अग्ने) हे अग्ने (यविष्ठ) उसका नाश कर और (तं) उसको (प्रति शृणीहि) भून डाल ।

यदस्य हृतं विहृतं यत् पराभृतमात्मनो जग्धं यतमत् पिशाचैः ।
तदग्ने विद्वान् पुनरा भर त्वं शरीरे मांसमसुमेरयामः ॥ ५ ॥

भा०—हे अग्ने ! विद्वन् ! (अस्य आत्मनः) इस देह का (पिशाचैः) मांसभक्षी, रोग जन्तु (यद् हृतं) जो मांस, बल आदि चुरा ले गये हैं ।

३–(प्र०) 'यथासोमस्य परिधिष्पतातिस्तथात्वमग्ने' इति पैप्प० सं० ।
४–(प्र) 'मोक्षो नविद्धि हृद्यं नविद्धि' (तृ०) 'पिशाचो यतमो' इति पैप्प० सं० ।
५–'शरीरे प्राणमसुमेरया सं सृजेम' इति पैप्प० सं० ।

(यत् वि-हृतं) जो छीन ले गये हैं, (यत् परा-भृतम्) जो लूट ले गये हैं और (यतमत्) जो कुछ भी खा गये हैं। (तत् विद्वान्) उस सबको भली प्रकार जानता हुआ (त्वं) तू (पुनः आ भर) पुनः औषध प्रयोग से प्राप्त करा और इस प्रकार हम (शरीरे मांसम् असुम् आ ईरयामः) शरीर में मांस को और प्राण को पुनः स्थापित करें।

आमे सुपक्वे शवले विपक्वे यो मा पिशाचो अशने ददम्भ।
तदात्मना प्रजया पिशाचा वि यातयन्तामगदोऽयमस्तु ॥ ६ ॥

भा०—(यः पिशाचः) जो पिशाच, मांसभोजी, रोग जन्तु (आमे) कच्चे, (सुपक्के) पक्के, (शवले) कच्चे पक्के, (विपक्के) खूब पके (अशने) भोजन में (मा ददम्भ) मुझे हानि पहुंचाता है। (तद्) वह (आत्मना) स्वयं, (प्र-जया) और अपनी सन्तान सहित विनष्ट हो, और उसी जाति के (पिशाचाः) समस्त पिशाच (वि यातयन्ताम्) नाना प्रकार से पीड़ा को प्राप्त हों और शरीर को त्याग कर चले जांय जिससे (अयम्) यह पुरुष (अगदः अस्तु) रोग रहित हो जावे।

क्षीरे मा मन्थे यतमो ददम्भाकृष्टपच्ये अशने धान्येऽ यः।
तदा० ॥ ७ ॥

भा०—(यतमः) जो कोई भी रोगकारी पिशाच रूप जन्तु (क्षीरे) दूध में, (मन्थे) मठा में, (अकृष्ट-पच्ये धान्ये) और खेती के विना ही स्वयं पकने वाले धान्य में और (अशने) भोजन में घुस कर (मा ददम्भ) मुझे हानि पहुंचाता है। (तद् आत्मना०) वह स्वयं नष्ट हो जाय और अन्य जन्तु भी नष्ट हो जांय और यह पुरुष नीरोग हो।

६–(प्र० द्वि०) 'आमे सपक्के शबले विपक्के ओदने मन्थे दिव आलेहे' इति पैप्प० सं०। (द्वि०) ' दिदम्भ ' इति क्वचित्।

७–(प्र०) 'क्षीरे त्वा मांसे' (द्वि०) 'कृष्टपश्ये' इति पैप्प० सं०।

अपां मा पाने यतमो ददम्भ क्रव्याद् यातूनां शयने शयानम् ।
तदा० ॥ ८ ॥

भा०—(यतमः) जो कोई (क्रव्यात्) कच्चा मांस खाने वाले रोग जन्तु (अपां पाने) जलों के पान करने के स्थान, घाट, बावड़ी, प्याऊ आदि में और (यातूनां शयने) पीड़ाओं के बिस्तर में (मां शयानं) पड़े, मुझको असावधान अवस्था में (ददम्भ) विनाश करने का यत्न करता है (तत् आत्मना०) वह स्वयं अपनी सन्तानों सहित नष्ट हो और यह रोगी नीरोग हो ।

दिवा मा नक्तं यतमो ददम्भ क्रव्याद् यातूनां शयने शयानम् ।
तदात्मना प्रजया पिशाचा वि यातयन्तामगदो३ऽयमस्तु ॥ ९ ॥

भा०—(यतमः) जो भी (क्रव्याद्) कच्चे मांस का आहारी मच्छर, मत्कुण आदि रोगकारी जन्तु (दिवा नक्तं) दिन और रात के समय में और (यातूनां शयने) पीड़ा या रोगों के सेज पर (शयानम्) असावधान रूप में पड़े (मा) मुझ को (ददम्भ) पीड़ा देना चाहता है (तद्) वह (आत्मना) स्वयं और उसके सहचारी (पिशाचाः) मांसभोजी रोग कीट भी (वि यातयन्ताम्) नाना प्रकार से नष्ट किये जांय और (अयम् अगदः अस्तु) यह रोगी पुरुष नीरोग हो ।

अथवा—सोमचिकित्सा (होमियोपैथी) का उपदेश करते हैं कि (यतमः क्रव्याद् ददम्भ) जो भी रोग कीट या विषाणु रोगी को सताता है (तदात्मना) उसी के सम जाति के (प्रजया) प्रजा, अंश से वे (पिशाचाः) रोगकारी कीटाणु (वि यातयन्तां) विनाश को प्राप्त हों । और

८–' शयने शयानः ' इति लडविग्कामितः ।

९–(प्र०) 'दिवा त्वा' (द्वि०) 'क्रव्याद् यातुः शयते पिशाचः । उदग्ने-द्वानूपृथक् । शृणीह्यस्यैनं देहि निर्ऋतेरुपस्थे ' इति पैप्प० सं० ।

इस प्रकार (अयम् अगदः अस्तु) वह रोगी नीरोग हो जाय । इस पद्य में अग्नि जातवेदाः=प्रबल टिंक्चर है जो विशेष शक्ति से युक्त है ।

क्रव्यादमग्ने रुधिरं पिशाचं मनोहनं जहि जातवेदः ।
तमिन्द्रो वाजी वज्रेण हन्तु च्छिनत्तु सोमः शिरो अस्य धृष्णुः ॥१०॥

भा०—हे (जातवेदः) सर्वज्ञ अग्ने ! हे जात-वीर्य ! जात-बल (अग्ने) तेजःस्वरूप (क्रव्यादम्) कच्चे मांस के आहारी, (रुधिरम्) रक्त में फैलने वाले, (पिशाचं) मांस में जमे हुए और (मनः-हनं) रोगी के चित्त को या मननशक्ति पर आघात पहुंचाने वाले अपस्मार, उन्माद और मदकारी रोग को (जहि) तू विनाश कर । उस रोग को (इन्द्रः) इन्द्र रोग का विनाशक, (वाजी) बलवान्, शक्तिमान् होकर (वज्रेण) अपने रोग विनाशक बल से (हन्तु) मार दे और (सोमः) सोम या ओषधि का सूक्ष्म अंश (धृष्णुः) व्यस्थित होकर, शरीर में चिरकालिक प्रभाव करके (अस्य) इन रोगकारी मूल कीटों के (शिरः) शिर=हिंसाकारी प्रभाव को (छिनत्तु) काट दे ।

सनादग्ने मृणसि यातुधानान् न त्वा रक्षांसि पृतनासु जिग्युः ।
सहमूरानतु दह क्रव्यादो मा ते हेत्या मुक्षत दैव्यायाः ॥ ११ ॥

अथर्व० ८ । ३ । १८ ।

भा०—हे (अग्ने) विद्वन् ! या तेजोरूप ! (सनात्) चिरकाल सदा से तू (यातु-धानान्) पीड़ाजनक रोगों को (मृणसि) विनाश है । (रक्षांसि) बाधा, विघ्नकारी जन्तु (त्वा) तुझको (पृतनासु) ओं में या संग्रामों में (न जिग्युः) न जीत पावें ! इसलिये (क्रव्य रोगी का कच्चा मांस खा डालने वाले रोगांशों को (सह-मूरान्) स (अनु-दह) जलादे । और (दैव्यायाः) दिव्य गुण युक्त (ते हेत्याः) आघातकारी शक्तिरूप वज्र से (मा मुक्षत) वे छूट न जांय ।

समाहर जातवेदो यद्धृतं यत् पराभृतम् ।
गात्राण्यस्य वर्धन्तामंशुरिवाप्यायतामयम् ॥ १२ ॥

भा०—हे (जात-वेदः) अग्ने ! (अस्य) इस रोगी पुरुष के शरीर से (यत्) जो धातु और बल (हृतम्) रोगों ने हर लिया है, और (यत्) जो (परा-भृतम्) विनष्ट कर दिया है उसे (सम्-आ हर) पुनः भली प्रकार प्राप्त करा । (अस्य) इसके (गात्राणि) शरीर के अंग (वर्धन्ताम्) और (अयम्) यह (अंशुः-इव) चन्द्र के समान (आ प्यायताम्) दिनों दिन बढ़े, मोटा ताज़ा हो ।

सोमस्येव जातवेदो अंशुरा प्यायतामयम् ।
अग्ने विरप्शिनं मेध्यमयक्ष्मं कृणु जीवतु ॥ १३ ॥

भा०—हे (जात-वेदः) अग्ने ! (सोमस्य अंशुः इव) चन्द्र के एक भाग, कला के समान (अयम्) यह कृश पुरुष भी (आ प्यायताम्) पुष्टि को प्राप्त हो । हे (अग्ने) अग्ने ! (विरप्शिनम्) नाना प्रकार की विद्याओं का उपदेश करने वाले महान् विद्वान् (मेध्यं) मेधावी, पवित्राचारी पुरुष को (अयक्ष्मं) रोग, यक्ष्मादि कष्ट से रहित (कृणु) कर जिससे वह (जीवतु) चिरकाल तक जीवित रहे ।

एतास्ते अग्ने समिधः पिशाचजम्भनीः ।
तास्त्वं जुषस्व प्रति चैना गृहाण जातवेदः ॥ १४ ॥

(भा०)—हे (जातवेदः) हे अग्ने ! (एनाः ते सम्-इधः) ये तेरी उत्तम प्रकाश करने या चमकने वाली शक्तियां, ज्वालाएं ही (पिशाच-जम्भनीः) मांसशोषक या मांस में फैलने वाले रोगाणुओं की नाशक हैं ।

१२–(प्र०) 'समाभर' (द्वि०) 'यज्जरधं यत्' इति पैप्प० सं० ।
१३–(च०) 'जीवसे' इति पैप्प० सं० ।

(ताः) उनको (त्वं) तू (जुषस्व) अपने में धारण कर और (एनाः) इन को (प्रति गृहाण) अपने भीतर रख ।

ताष्टर्धीरग्ने सुमिधः प्रति गृह्णाह्यर्चिषा ।
जहातु क्रव्याद्रूपं यो अस्य मांसं जिहीर्षति ॥ १५ ॥

भा०—हे अग्ने ! आप (तार्ष्ट-अघीः) तृषा रोग को दूर करने वा इन (सम्-इधः) दीप्तिमय शक्तियों को अपने (आर्चिषा) तेज से (प्रति गृह्णाहि) अपने में धारण कर । जिससे वह (क्रव्याद्) मांसशोषक रोग अपने (रूपं जहातु) स्वरूप को त्याग दे (यः) जो (अस्य) इस के (मांसं) मांस को (जिहीर्षति) सुखा डालना चाहता है ।

---

[३०] आरोग्य और सुख की प्राप्ति का उपदेश ।

आयुष्काम उन्मोचन ऋषिः । आयुर्देवता । १ पथ्यापंक्तिः, २—८, १०, ११, १३, १५, १६ अनुष्टुभः, ९ भुरिक्, १२ चतुष्पदा विराड् जगती, १४ विराट् प्रस्तारपंक्तिः, १७ त्र्यवसाना षट्पदा जगती । सप्तदशर्चं सूक्तम् ॥

आवतस्त आवतः परावतस्त आवतः ।
इहैव भव मा नु गा मा पूर्वाननु गाः । पितॄन्
असुं बध्नामि ते दृढम् ॥ १ ॥

भा०—हे पुरुष ! (ते आवतः आवतः) तेरे समीप से समीप और (ते परावतः) तेरे दूर से भी (आवतः) दूर देश से (ते असुं) तेरे प्राण को और आत्मा को (दृढं) खूब बलपूर्वक (बध्नामि) बांधता हूं । तू (इह एव) यहां ही (भव) रह । (मा पूर्वान् अनु-गाः) अपने पूर्व के विनष्ट हु

---

[३०] १–(द्वि०) 'परावतस्ते परावतः' इति पैप्प० सं० ।

पुरुषों के पीछे मत जा। (मा अनु गाः पितॄन्) अपने बूढ़े मां बाप के पीछे भी मत जा, प्रत्युत मुझ आचार्य के पास ब्रह्मचर्य और विद्या का लाभ कर।

यत् त्वाभिचेरुः पुरुषः स्वो यदरणो जनः।
उन्मोचनप्रमोचने उभे वाचा वदामि ते ॥ २ ॥

भा०—(यत्) यदि तेरा (स्वः पुरुषः) अपना कोई सम्बन्धी पुरुष और (यद्) यदि कोई (अरणः) बुरा (जनः) आदमी (अभि-चेरुः) तुझ पर अपना अभिचार या बुरा आक्रमण, हानिकारक पापकार्य करना चाहता है तो मैं आचार्य हे शिष्य! तुझ को (वाचा) अपनी वाणी से उस जाल से छूटने के लिये (उन्मोचन-प्रमोचने) उन्मोचन और प्रमोचन (उभे) दोनों का अधिकार और शक्ति का (ते) तुझे, (वदामि) उपदेश करता हूं।

उन्मोचन=जाल से ऊपर निकल आना और प्रमोचन=जाल से दूर ही रहना। अर्थात्, फंस जाने पर छूटना और पहले ही न फंसना।

यद् दुद्रोहिथ शेपिषे स्त्रियै पुंसे अचित्त्या।
उन्मो० ॥ ३ ॥

भा०—हे शिष्य! (यद्) यदि (अचित्या) बिना जाने तेने (स्त्रियै) किसी स्त्री से या (पुंसे) पुरुष से (दुद्रोहिथ) द्रोह किया और उस को (शेपिषे) बुरा वचन कहा तो भी (ते उन्मोचन-प्रमोचने वाचा वदामि) मैं उस पाप से परे रहने और छूटने का उपदेश करता हूं।

यदेनसो मातृकृताच्छेषे पितृकृताच्च यत्।
उन्मोचनप्रमोचने उभे वाचा वदामि ते ॥ ४ ॥

२—(प्र०) 'पुरुषाः' इति ह्विटनिकामितः।

भा०—(यद्) यदि (मातृ-कृतात् एनसः) माता के किये दोष से (यत् च) और यदि (पितृ-कृतात् एनसः) पिता के किये दोष से (शेपे) तू आवृत रह कर अज्ञान में सो रहा है तो भी (वाचा) वेद वाणी से उन दोषों और व्यसनों से (उन्मोचन-प्रमोचने) छूटने और रहने दोनों का (वदामि) तुझे उपदेश करता हूं।

यत् ते माता यत् ते पिता जामिर्भ्राता च सर्जतः।
प्रत्यक् सेवस्व भेषजं जरदष्टिं कृणोमि त्वा ॥ ५ ॥

भा०—(यत) जिस (भेषजम्) रोग निवारक उपाय या औषध को (ते माता) तेरी माता और (यत् ते पिता) जिस औषध को तेरा पिता और (जामिः भ्राता च) तेरी भगिनी और भाई भी (सर्जतः) तैयार करते हैं उसको (प्रत्यक् भेषजं) साक्षात् दुःखहारी औषध को (सेवस्व) तू सेवन कर। (त्वा) तुझ को मैं (जरदष्टिं कृणोमि) बुढ़ापे तक जीवन विताने योग्य चिरजीवी रहने का उपदेश करता हूं। अर्थात् ऊटपटांग पदार्थ मत खा। हितकारी पुरुषों के बतलाये ज्ञान और पथ्यों का सेवन कर।

इहैधि पुरुष सर्वेण मनसा सह।
दूतौ यमस्य मानु गा अधि जीवपुरा इहि ॥ ६ ॥

भा०—हे पुरुष ! (सर्वेण मनसा सह) अपने समस्त मनन शक्ति चित्त और ज्ञान के साथ (इह) इस गुरु-गृह में (एधि) रह, निवास कर (यमस्य दूतौ) यम के दूत, दुख, उपताप के लाने वाले अशना और पिपासा, भूख और प्यास दोनों के पीछे (मा अनु गा) मत जाओ। (जीव पुराः) जीव के निवास भूत पुर अर्थात् देह के अंगों पर (अधि इहि) वश करो।

५–(तृ०) 'प्रत्यक् चेवस्य' इति पैप्प० सं०।

अनुहूतः पुनरेहि विद्वानुदयनं पथः ।
आरोहणमाक्रमणं जीवतोजीवतोयनम् ॥ ७ ॥

भा०—देवमार्ग या उत्तरायणमार्ग का उपदेश करते हैं । (अनुहूतः) विद्वानों से अनुशिष्ट, शिक्षित हो २ कर (पुनः) फिर भी (विद्वान्) ज्ञानी होकर हे शिष्य ! तू (उद्-अयनं) ऊपर मोक्ष धाम में, उन्नति की तरफ़ ले जाने वाले (पथः) मार्गों को (एहि) प्राप्त हो । (आ-रोहणं) ऊपर चढ़ना, (आ क्रमणम्) आगे की तरफ़ बढ़ना, यही (जीवतः-जीवतः) प्रत्येक जीवनयुक्त जीव की (अयनम्) वास्तविक गति है ।

मा विभे न मरिष्यसि जरदष्टिं कृणोमि त्वा ।
निरवोचमहं यक्ष्ममङ्गेभ्यो अङ्गज्वरं तव ॥ ८ ॥

भा०—रोगभय से मुक्त होने का उपदेश करते हैं । हे शिष्य (मा विभेः) भय मत कर, डर मत । (न मरिष्यसि) तू कभी मरेगा नहीं । क्योंकि (त्वां) तुझ को मैं आचार्य, (जरद्-अष्टिं) वृद्धावस्था तक जीवन विताने में समर्थ (कृणोमि) करता हूं । (तव अङ्गेभ्यः) तेरे अंगों से (यक्ष्मम्) सब प्रकार के रोगजनक अंश और (अङ्ग-ज्वरं) शरीर के भागों में विद्यमान् ज्वर=संताप पीड़ा को (निः अवोचम्) बाहर निकालता हूं ।

अङ्गभेदो अङ्गज्वरो यश्च ते हृदयामयः ।
यक्ष्मः श्येन इव प्रापप्तद् वाचा साढः परस्तराम् ॥ ९ ॥

भा०—हे शिष्य ! (ते) तेरे (अङ्ग-भेदः) शरीर में होने वाली पीड़ा जिससे देह टूटता हो, (यः च अङ्ग-ज्वरः) और जो अंगज्वर है और (हृदय-आमयः) हृदय-रोग और (यक्ष्मः) यक्ष्मा रोग है वह सब

८–(द्वि०) ' जरदष्टिर्भविष्यसि ' इति पैप्प० सं० ।
९–(प्र०) ' शीर्षरोगमङ्गरोगम् ', ' श्येनैव ' इति पैप्प० सं० ।

(वाचा सादः) मेरी उपदेश या वाणी के वल से पराजित होकर (श्येन इव) बाज़ के समान (परः-तराम्) परे (प्र-अपसत्) भाग जाय ।

ऋषीं बोधप्रतीबोधावंस्वप्नो यश्च जागृविः ।
तौ ते प्राणस्य गोप्तारौ दिवा नक्तं च जागृताम् ॥ १० ॥

भा०—(बोध-प्रतीबोधौ) बोध और प्रतिबोध, ज्ञान करने और उसको स्मरण करने की शक्ति, बुद्धि और मन (यः च) जो (ऋषी) सर्व कार्यों के द्रष्टा हैं, दोनों में एक (अस्वप्नः) कभी नहीं सोता और दूसरा मन या अन्तःकरण है वह भी (जागृविः) सदा जागता रहता है । (तौ) वे दोनों (ते प्राणस्य गोप्तारौ) तुझ जीव के प्राण=जीवन की रक्षा करने वाले (दिवा नक्तं च) दिन और रात सदा (जागृताम्) जागते रहें ।

अयमग्निरुपसद्य इह सूर्य उदेतु ते ।
उदेहि मृत्योर्गम्भीरात् कृष्णाच्चित् तमसस्परि ॥ ११ ॥

भा०—(अयम् अग्निः) यह अग्नि, आत्मा (उप-सद्यः) प्राप्त करने या ज्ञान करने—उपासना करने योग्य है । (इह) इसमें (ते) तेरा (सूर्यः) सब इन्द्रियों का प्रेरक मुख्य प्राण (उद्-एतु) उदित हो । (गम्भीरात्) गम्भीर भयावह (कृष्णात्) काले (तमसः चित्) अन्धकार के समान घोर (मृत्योः) मृत्यु, देह और आत्मा के विच्छेद के भय से भी (परि उद्-एहि) परे, ऊंचा चला जा ।

नमो यमाय नमो अस्तु मृत्यवे नमः पितृभ्य उत ये नयन्ति ।
उत्पारणस्य यो वेद तमग्निं पुरो दधे स्मा अरिष्टतातये ॥ १२ ॥

भा०—(नमः यमाय) उस सर्व-नियन्ता को नमस्कार है, हम उसके आगे झुकते हैं । (मृत्यवे नमः अस्तु) और देह को आत्मा से पृथक् करने

१०-(तृ० च०) 'ते ते प्राणस्य गोप्तारो दिवास्वप्नं च जाग्रतु' इति पैप्प० सं० ।

वाले उस कर्मफल दाता प्रभु को भी नमस्कार है, हम उसके भी आगे विनय से झुकते हैं। (उत) और (ये नयन्ति) जो हमको इस शरीर से दूसरे शरीर तक ले जाते हैं उन (पितृभ्यः) पालक प्राणों को भी (नमः) नमस्कार है या उन पालक पिताओं माता, पिता, गुरु, आचार्य, प्रभु इन पञ्च पितरों को भी नमस्कार है जो हमें इस लोक में जीवन पथ पर ले जाते हैं। और जो (अस्मै) इस जीव के (अरिष्टतातये) कल्याण के लिये (उत्-पारणस्य) इस शरीर के त्याग के अनन्तर इसके पालना, जीवन यात्रा के विषय में जो सब कुछ जानता है (तम् अग्निं) उस अग्नि तेजोमय परमेश्वर को भी मैं (पुरः दधे) सदा अपने आगे रखता हूं। उसका सदा साक्षात् प्रभुत्व मानता हूं। उत्पारणज्ञ विद्वान् का वर्णन देखो अथर्व० ८ । १ । १०-१६ । २ । ६ ॥

ऐतु प्राण ऐतु मन ऐतु चक्षुरथो बलम् ।
शरीरमस्य सं विदां तत् पद्भ्यां प्रति तिष्ठतु ॥ १३ ॥

भा०—इन्द्रियां किस प्रकार शरीर में कार्य करती हैं इसका उपदेश करते हैं। इस शरीर में प्रथम (प्राणः आ एतु) प्राण आता है, फिर (मनः आ एतु) मन, मननशक्ति आती है फिर (चक्षुः आ एतु) चक्षु दर्शनशक्ति अर्थात् उपलक्षण से आंख, नाक, कान, जिह्वा आदि इन्द्रियों में ज्ञानशक्ति का आगमन होता है। (अथो बलम्) और उसके पश्चात् बल, प्राणेन्द्रिय, हाथ, पांव, पेट आदि की शक्ति आती है। तब (अस्य) इस जीव का (शरीरम्) शरीर (विदां) बुद्धि को (सम्-एतु) प्राप्त होता है। (तत्) तब (पद्भ्यां) पैरों से (प्रति तिष्ठतु) यह शरीर खड़ा होने लगता है।

प्राणेनाग्ने चक्षुषा सं सृजेमं समीरय तन्वा३ सं बलेन ।
वेत्थामृतस्य मा नु गान्मा नु भूमिगृहो भुवत् ॥ १४ ॥

१४-(तृ०) 'वेत्थामृतस्यमृतस्य गान्मोसु' इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे (अग्ने) परमात्मन् ! (प्राणेन) प्राणशक्ति और (चक्षुषा) दर्शनशक्ति से (सं सृज) इस जीव को युक्त कर और (तन्वा) शरीर से और (बलेन) बल से (इमं) इस जीव को (सम्-ईरय) प्रेरित कर ! आप प्रभो ! (अमृतस्य वेत्थ) उस अमृत, जीवनशक्ति को जानते हो। आपकी दी जीवनशक्ति से युक्त होकर यह जीव (मा नु गात्) इस देह को छोड़ कर न जावे और (मा नु भूमिगृहः भुवत्) भूमि को अपना घर बना कर, खाक में मिल कर न रहे अर्थात् मर कर मिट्टी में न मिले। प्रत्युत शरीर का दीर्घ जीवन प्राप्त करके मोक्ष को प्राप्त करे।

मा ते॑ प्रा॒ण उप॑ दसन्मो अ॑पा॒नोऽपि॑ धायि ते।
सूर्य॒स्त्वाधि॑पतिर्मृ॒त्योरु॒दाय॑च्छतु र॒श्मिभि॑ः ॥ १५ ॥

भा०—हे जीव ! (ते प्राणः) तेरा प्राण (मा उप-दसत्) विनाश को प्राप्त न हो। और (ते अपानः) तेरा अपान भी (मा अपि धायि) कभी न रुके। अर्थात् तेरे शरीर में प्राण-अपान=श्वासोच्छ्वास की क्रिया कभी बन्द न हो। (अधि-पतिः) सब का मालिक (सूर्यः) सूर्य, सब का प्रेरक परमात्मा (त्वा) तुझ को (रश्मिभिः[1]) अपनी व्यापक बलकारिणी किरणों से (उद्-आ-यच्छतु) ऊंचा उठाये रखे। तेरे शरीर को और जीवन शक्ति को गिरने न दे।

इ॒यम॒न्तर्व॑दति जि॒ह्वा ब॒द्धा प॑नि॒ष्पदा॑।
त्वया॒ यक्ष्मं॒ निर॑वोचं श॒तं रोपी॑श्च त॒क्मनः॑ ॥ १६ ॥

१५-(द्वि०) 'मा पानो', (च०) 'आयच्छति' इति पैप्प० सं०।
१. अश्नोतरशच्। उणादि० ४। ४६॥ रश्मिः।

१६-(द्वि० तृ०) 'उग्रजिह्वापनिष्पदा तयारोमं निरायुषः' इति पैप्प० सं०। (तृ०) 'तया' ह्विटनिकामितः। 'त्वया' इति बहुत्र।

भा०—(इयम्) यह (जिह्वा) जीभ (अन्तः) मुख के भीतर (बद्धा) बंधी हुई। (पनिः-पदा) स्तुति करने और वाग्-व्यापार करने में चतुर, गति-शील होकर (वदति) व्यक्त वाणी का उच्चारण करती है। हे वाणि ! (त्वया) तेरे बल से (यक्ष्मं) यक्ष्म-रोग को और (तक्मनः) कष्टदायी ज्वर के (-शतं रोपीः च) सैकड़ों पीड़ाओं को भी (निः अवोचम्) दूर कर देता हूं।

अयं लोकः प्रियतमो देवानामपराजितः ।
यस्मै त्वमिह मृत्यवे दिष्टः पुरुष जज्ञिषे ।
स च त्वानु ह्वयामसि मा पुरा जरसो मृथाः ॥ १७ ॥

भा०—(अयं) यह (अपरा-जितः) किसी से न हारने वाला सदा बलवान् (प्रिय-तमः) अत्यन्त प्रिय, रुचिकर (देवानाम्) देवगण इन्द्रियों का (लोकः) शरीर है। हे पुरुष ! हे देहपुरी के वासी जीवात्मन् ! (यस्मै) जिसके कारण (त्वम्) तू (इह) इसमें रह कर (मृत्यवे दिष्टः) मृत्यु के भाग्य में पड़ा हुआ ही (जज्ञिषे) उत्पन्न होता है। अर्थात् शरीर त्यागने के लिये ही शरीर का ग्रहण करता है। इसलिये (सः च) वह तू इस देह से असंग है। (त्वा अनु-ह्वयामसि) हम विद्वान् मुक्तजन तुझ को बार २ फिर २ चेताते हैं कि (जरसः पुरा) बुढापे से पहले (मा मृथाः) प्राणों को मत छोड़।

[३१] गुप्त हिंसा के प्रयोग करने वालों का दमन ।

शुक्र ऋषिः । कृत्यादूषणं देवता । १–१० अनुष्टुभः, ११ बृहती गर्भा, १२ पथ्याबृहती । द्वादशर्चं सूक्तम् ॥

१७–(तृ० प्र०) 'तस्मै त्वामिह जज्ञिषे अदृष्टः पुरुष मृत्यवे तस्मै त्वा निह्वयामसि' इति पैप्प० सं० । (च०) 'पुरुष-जज्ञिषे' इत्येकपद-मिति पदपाठे प्रमादः ।

यां ते चक्रुरामे पात्रे यां चक्रुर्मिश्रधान्ये ।
आमे मांसे कृत्यां यां चक्रुः पुनः प्रति हरामि ताम् ॥ १ ॥

भा०—(याम्) जिस आपत्तिजनक कार्य को (ते) वे तेरे शत्रु लोग (आमे पात्रे) कच्चे वर्तनों में (चक्रुः) प्रयोग करते हैं (याम्) और जिस दुष्प्रयोग को (मिश्र-धान्ये) मिलेजुले धान्य, अन्नों में करते हैं और (यां कृत्यां) जिस विपत्तिजनक करतूत को वे (आमे मांसे) कच्चे मांस में (चक्रुः) करते हैं (ताम्) उसी दुःखदायी प्रयोग को दण्ड के रूप में (पुनः) फिर (प्रति-हरामि) उनको ही भुगतवा दूं । कच्चे पात्र में विषका लेप लगा कर अपने दुश्मनों के घर बेच आना, अनाज में विषैली बूंटी के दाने मिलाकर पर-राष्ट्र में बेच देना, कच्चे मांस में रोगकारी कीटों और विषकी धारा छोड़ देना, इत्यादि जनघातक लीला करने वालों को वैसा ही दण्ड होना चाहिये ।

यां ते चक्रुः कृकवाकावजे वा यां कुरीरिणि ।
अव्यां ते कृत्यां यां० ॥ २ ॥

भा०—(यां) जिस कृत्या=घातक प्रयोग को (ते) वे नीच पुरुष (कृकवाकौ) कृकवाकु=तीतर, (अजे) बकरे और (कुरीरिणि) कुरीर=चील, पर और (यां कृत्यां) जिस करतूत को वे (अव्यां) भेड़ पर करते हैं (तां) उस करतूत से (पुनः प्रति हरामि) फिर उनको दण्डित करूं ।

यां ते चक्रुरेकशफे पशूनामुभयादति ।
गर्दभे कृत्यां यां० ॥ ३ ॥

भा०—(यां) जिस हिंसा कार्य को वे (एकशफे) एक खुर वाले पशु पर या (गर्दभे) गधे की जाति के पशु पर (यां) जिस हिंसा को (उभयादति) दोनों जबाड़ों में दांत वाले गाय व भैंस आदि पशुओं पर (चक्रुः) करते हैं वही हत्या का दण्ड उन्हें मैं पुनः दूं ।

यां ते चक्रुरमूलायां वलगं वा नराच्याम् ।
क्षेत्रे ते कृत्यां यां० ॥ ४ ॥

भा०—(ते) वे लोग (यां) जिस हिंसा और (वलगम्) गुप्त पाप को (अमूलायां नराच्यां वा) अमूला और नराची नामक ओषधि के आधार पर (चक्रुः) करते हैं और (यां कृत्यां) जिस करतूत को (ते) वे (क्षेत्रे) खेत में करते हैं, वही दुःखदायी दण्ड मैं पुनः उनको दूं । अमूला और नराची दोनों विषैली ओषधि हैं। खेत में हत्या और गढ़े आदि द्वारा धोखाबाज़ी से परघात करते हैं ।

यां ते चक्रुर्गार्हपत्ये पूर्वाग्नावुत दुश्चितः ।
शालायां कृत्यां यां० ॥ ५ ॥

भा०—(ते) वे (दुः-चितः) दुष्ट चित्त वाले लोग (गार्हपत्ये) स्थिरता से घर में निरन्तर जलने वाली गार्हपत्य नामक (पूर्व-अग्नौ) प्रथ-माग्नि में करते हैं । (यां कृत्यां) जिस करतूत को (शालायां) शाला=गृह में लोग किया करते हैं, उसी करतूत को दण्ड के रूप में पुनः उन पर प्रयोग करूं । निरन्तर स्थिर गार्हपत्य में-लोग ज्वलनशील विस्फोटक पदार्थों को चोरी से डाल कर हानि पहुंचाते हैं, मकानों में लोग आग लगाते सेंध लगाते तथा अन्य दुष्कर्म करते हैं ।

यां ते चक्रुः सभायां यां चक्रुरधिदेवने ।
अक्षेषु कृत्यां यां० ॥ ६ ॥

भा०—(ते) वे दुष्ट पुरुष (यां) जिस दुष्टाचार को (सभायां चक्रुः) सभा में करते हैं और (यां) जिस नीच कर्म को (अधि-देवने) जूआखोरी में और (अक्षेषु यां कृत्यां चक्रुः०) अक्ष=जूएके पासों में करते हैं उस सब करतूत के बदले में वही अनर्थकारी दण्ड उनको भी दूं । सभा

में दलबन्दी करके परद्रोह करते हैं, जूए में परद्रव्यहरण और नाना दुराचार करते हैं।

यां ते चक्रुः सेनायां यां चक्रुरिष्वायुधे।
दुन्दुभौ कृत्यां यां० ॥ ७ ॥

भा०—(ते) वे दुष्ट पुरुष (यां) जिस घातक व्यवहार को (सेनायां) सेना में और (यां इषु-आयुधे) धनुषों और बाणों में (चक्रुः) करते हैं, और (यां कृत्यां) जिस घातक व्यवहार को (दुन्दुभौ) नक्कारे में करते हैं, उसके बदले में उसी अनर्थकारी प्रयोग को मैं उनके प्रति भी करूं। सेना में परद्रोह, धनुष बाण में कूट और विषैले बाणों का प्रयोग, नक्कारों में विष आदि लगा कर सेना वालों को देने से उनसे मृत्यु हो जाती है।

यां ते कृत्यां कूपेऽवदधुः श्मशाने वा निचख्नुः।
सद्मनि कृत्यां यां चक्रुः पुनः प्रति हरामि ताम् ॥ ८ ॥

भा०—(ते) वे लोग (यां कृत्यां) जिस हानिकारक प्रयोग को (कूपे) कूए में (अव-दधुः) करते हैं। या जिन बुरे हानिकारक पदार्थों को (श्मशाने वा नि-चख्नुः) श्मशान में गाड़ आते हैं और (सद्मनि) घर में (यां कृत्यां) बुरी २ हत्याओं को (चक्रुः) करते हैं। (ताम्) उसको मैं उनके ऊपर ही दंड के रूप में (प्रति हरामि) डालता हूं। कूए में विष डालने, श्मशान में भय आदि उत्पन्न करने या विस्फोटक पदार्थ चिता में जलाने या अन्य घोर अनर्थकारी सती दाहादि कार्य करने या घरों में बालक बालिकाओं की हत्या करने के अपराध करने वाले पुरुषों को यथोचित दंड दिया जाय।

यां ते चक्रुः पुरुषास्थे अग्नौ संकसुके च याम्।
म्रोकं निर्दाहं क्रव्यादं पुनः प्रति हरामि ताम् ॥ ९ ॥

भा०—(ते) वे दुष्ट पुरुष (याम्) जिस कुकृत्य को (पुरुषास्थे) पुरुष की हड्डियों में, और (यां च) जिस कुकृत्य को (सं-कसुके) नरद्रोही

चिता दाहक (अग्नौ) आग में (चक्रुः) करते हैं। ऐसे चोरी, (निर्दाहं) अग्नि से लोगों के घर भस्म करने और (क्रव्यादं) कच्चा मांस खाने वाले घोर पापी को फिर वैसा ही दण्ड प्राप्त कराऊं।

अपथेना जभारैणां तां पथेतः प्र हिण्मसि ।
अधीरो मर्याधीरेभ्यः सं जभाराचित्त्या ॥ १० ॥

भा०—जो दुष्ट पुरुष (एनां) इस कुकृत्य करतूती को (अपथेन) बुरे मार्ग से (आ जभार) राष्ट्र में लाता है (तां) उस करतूत को हम (इतः पथा) इस प्रकार के सरल मार्ग से (प्र हिण्मसि) राष्ट्र से बाहर निकाल दें। और प्रायः (अधीरः) मूर्ख, बेवकूफ लोग अपनी (अचित्त्या) अज्ञानिता या मूर्खता से ऐसे बुरे काम (मर्या धीरेभ्यः) बुद्धिमान् लोगों के लिये (सं जभार) ला पटकते हैं। इसलिये राजा उन दुष्ट कार्यों को कभी न चलने दे।

यश्चकार न शशाक कर्तुं शश्रे पादमङ्गुरिम् ।
चकार भद्रमस्मभ्यमभगो भगवद्भ्यः ॥ ११ ॥

अथर्व० ४ । १८ । (प्र० तृ०)

भा०—और (यः) जो (चकार) किसी बुरे काम को कर तो बैठता है और तो भी (कर्तुं) उसको करने में (न शशाक) समर्थ न हो तो वह अपने (पादम्) पैर और (अंगुरिम्) हाथों को भी (शश्रे) तोड़ लेता है। वह (अभगः) मूर्ख ऐसा करके भी (अस्मभ्यम्) हम (भगवद्भ्यः) ऐश्वर्यवान् पुरुषों के लिये तो (भद्रं चकार) भलाई ही करता है। वह बुरे काम में हाथ डाल कर अपना सत्यानाश आप कर लेता है।

१०—'मर्याः । धीरेभ्यः' इति पदच्छेदो ह्विटनिकामितः ।

कृत्याकृतं वलगिनं मूलिनं शपथेय्यम् ।

इन्द्रस्तं हन्तु महता वधेनाग्निर्विध्यत्वस्तया ॥ १२ ॥

भा०—(इन्द्रः) इन्द्र राजा, (तं कृत्या-कृतं) उस हिंसाकारी (वलगिनं) नीच कुटिलगामी (मूलिनं) विषैली जड़ों के आधारों पर दूसरों की हत्या करने वाले और (शपथेय्यं) व्यर्थनिन्दक पुरुष को (महता वधेन) बड़े भारी कठोर दण्ड से (हन्तु) मारे और (अग्निः) अग्नि सेनापति अपने (अस्तया) फेंके जाने वाले बाण या गोली से (विध्यतु) वेंध डाले ।

इति षष्ठोऽनुवाकः ।

[तत्र सूक्तानि पञ्च, ऋचश्च सप्ततिः]

इति पञ्चमं काण्डं समाप्तम् ।

अनुवाकाः पञ्चमे षडेकत्रिंशच्च सूक्तकम् ।

षट्सप्ततिश्च त्रिशती ऋचां च परिगण्यते ॥

वेदवस्वङ्कचन्द्राब्दे श्रावणे च सिते भृगौ ।

प्रतिपद्यगमत्पूर्त्तिं पञ्चमञ्चाप्यथर्वणः ॥

इति प्रतिष्ठितविद्यालंकार-मीमांसातीर्थविरुदोपशोभित-श्रीमज्जयदेवशर्मणा विरचितेऽथर्वणो ब्रह्मवेदस्यालोकभाष्ये पञ्चमं काण्डं समाप्तम् ।

१२–' इन्द्रस्तु सर्वांस्तान् हन्तु स त्वघ्नेन भवामिवः ' इति पैप्प० सं० ।